श्रीविद्या-साधना

(श्रीविद्या का साङ्गोपाङ्ग विवेचन)

डॉ० श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'

महत्त्वपूर्ण तन्त्रशास्त्रीय प्रकाशन

।। श्रीः ।।

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

३९१

श्रीविद्या-साधना

श्रीविद्या का साङ्गोपाङ्ग विवेचन

(द्वितीय भाग : ४-६ परिच्छेद)

लेखक

डॉ० श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'

Dr. Shyama Kant Dwivedi

M.A., M.Ed.,

Ph.D., D. Litt.

Vyākarnāchārya

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक

© चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी-२२१००१

दूरभाष : २३३५२६३; २३३३४३१

प्रथम संस्करण २००५ ई०

मूल्य : १२००.०० (१-२ भाग)

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू० ए०, जवाहरनगर, बंगलो रोड

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली-११०००७

दूरभाष : २३८५६३९१

❖

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बडौदा भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी-२२१००१

दूरभाष : २४२०४०४

अक्षर-संयोजक
मुकेश कम्प्यूटर्स, वाराणसी

मुद्रक
ए० के० लिथोग्राफर्स, दिल्ली

श्रीविद्या का निहितार्थ

'श्रीविद्या' वेदों की प्राचीनतम एवं गुह्यतम रहस्य विद्याओं में से अन्यतम विद्या है। यह सिद्धियों का रत्नाकर एवं मोक्ष का अन्यतम साधन है। 'श्रीविद्या' श्री की विद्या है। इसमें निहित 'श्री' शब्द 'शकार, रकार, ईकार एवं बिन्दु' का कल्पवृक्ष है। यही 'षोडशी कला' भी है और भगवती त्रिपुरसुन्दरी भी। लक्ष्मीधर ने ठीक ही कहा है—

'षोडशी कला शकार-रेफ-ईकार-बिन्द्वन्तो मन्त्रः। एतस्यैव बीजस्य नाम श्रीविद्येति। श्रीबीजात्मिका विद्या श्रीविद्येति रहस्यम्।'

श्रीविद्या 'चन्द्रविद्या' है, चन्द्रकला 'अमृतकला' है, भगवती कुण्डलिनी 'अमृतलहरी' हैं और वे 'श्रीस्वरूपा' (त्रिपुरसुन्दरीस्वरूपा) हैं।

दश महाविद्याओं में एक महाविद्या षोडशी या श्रीविद्या भी है। इसकी 'त्रिपुरसुन्दरी, राजराजेश्वरी, ललिता, कामेश्वरी, त्रिपुरा, महात्रिपुरसुन्दरी, सुभगा, बालत्रिपुरसुन्दरी' आदि अनेक नामों से पूजा की जाती है। आदि शङ्कराचार्य, भास्करराय, पुण्यानन्दनाथ आदि परमोपासक रहे हैं। पौराणिक परम्परा की दृष्टि से इसके द्वादश सम्प्रदाय और द्वादश उपासक हैं। इनका यन्त्र 'श्रीयन्त्र' कहलाता है। दश या अट्ठारह महाविद्याओं के दो कुल हैं। उनमें से एक 'काली-कुल' है और दूसरा 'श्रीकुल'। श्रीविद्या श्रीकुल से सम्बद्ध है। इस श्रीयन्त्र के मुख्यतः तीन सम्प्रदाय हैं— हयग्रीव सम्प्रदाय, आनन्दभैरव सम्प्रदाय और दक्षिणामूर्ति सम्प्रदाय। श्रीयन्त्र के अन्तरतम में जो 'बिन्दु' होता है, वही है— भगवती त्रिपुरसुन्दरी का स्वरूप, आसन एवं धाम। यही है— ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड, मायाण्ड एवं शक्त्यण्ड का उद्भव-केन्द्र। भगवती का श्रीयन्त्र समस्त सृष्टि का रेखात्मक चित्र तो है ही; साथ ही यह अनन्त देवी-देवताओं, शक्तियों तथा समस्त रचनास्तरों, लोकों एवं आध्यात्मिक सूक्ष्म मण्डलों का भी निवासस्थान है। देवी एवं उनके यन्त्र की आराधना यद्यपि 'पशु, वीर एवं दिव्य' तीन भावों से की जा सकती है; किन्तु दिव्यभाव सर्वोत्तम होता है। शाक्तों के तीन सम्प्र-दाय प्रमुख हैं— कौलमार्ग, मिश्रमार्ग एवं समयमार्ग। आदि शङ्कराचार्य समय-

मार्गी थे। समयमार्गी शाक्त वेदों, पुराणों, सदाचारों एवं विधि-निषेधों में आस्था रखते हैं; किन्तु कौल इस लक्ष्मणरेखा को नहीं मानते।

'समयाचार' श्रीविद्या की आन्तर पूजा का प्रतिपादक है— 'समयाचारो नाम आन्तरपूजारतिः।' 'परमशिव' के साथ 'शक्ति' का या 'समय' के साथ 'समया' का सामरस्य कराना ही समयाचारियों का परम लक्ष्य है।

श्री सम्प्रदाय अद्वैतवादी दर्शन में विश्वास रखता है; अतः 'अहं देवी न चान्योऽस्मि' की अनुभूति ही उनका काम्य है।

श्रीविद्या के साधनापथ में भक्ति, ज्ञान एवं योग तीनों स्वीकृत हैं। षट्-चक्र-वेधन के द्वारा मूलाधारस्थ कुलशक्ति को जागृत करके उसके वियुक्त प्रियतम 'अकुल' से उसका सम्मिलन कराना भी एक साधन-पथ है तथा 'ज्ञानोत्तरा भक्ति' के द्वारा (ज्ञान और भक्ति का सामञ्जस्य करके) विश्वात्मा (भगवती ललिता) का अपनी आत्मा के रूप में साक्षात्कार करना भी एक साधन-पथ है। ये दोनों पथ श्रीविद्या में स्वीकृत हैं। श्रीविद्या की साधना में 'बहिर्याग' से उत्कृष्टतर 'अन्तर्याग' का ही आत्मीकरण माना जाता है। भगवती महात्रिपुरसुन्दरी समस्त प्राणियों की आत्मा हैं। वे विश्वातीत भी हैं और विश्व-मय भी। यथार्थतः तो वे 'कामेश्वर' भी हैं और 'कामेश्वरी' भी।

बैन्दवस्थान में सहस्त्रदल कमल है और उसमें भगवती की पूजा आदर्श पूजा है। चन्द्रमण्डल से विगलित अमृत से सिक्त श्रीचक्ररूपी त्रिपुरा की पुरी में पूजा करना ही यथार्थ पूजा है। बैन्दवपुर ही 'चिन्तामणि गृह' है। सामयिकों के मत में इसी चिन्तामणि गृह में या सहस्त्रदल कमल में भगवती की पूजा की जानी चाहिये; न कि बाह्य पीठ आदि पर। 'समयिनां मते समयस्य सादाख्यतत्त्वस्य सपर्या सहस्त्रदलकमल एव न तु बाह्ये पीठादौ' कहकर लक्ष्मीधर ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।

▼

प्राक्कथन

वैदिक विद्याओं में 'श्रीविद्या' सर्वोच्च विद्या है। इसी का अपर रूप 'गायत्री मन्त्र' में स्फुरित हुआ है। देव्युपनिषद् एवं अथर्ववेद-सौभाग्यखण्ड इस विद्या को रहस्यात्मक आवरण या प्रतीकात्मक शब्दावली में इस प्रकार प्रकट करता है—

[१]कामो योनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः।
पुनर्गुहा सकला मायया चपुरुच्यैषा विश्वमाता दिविद्योम्।।

तैत्तिरीयारण्यक श्रुति में श्रीयन्त्र का भी उल्लेख किया गया है—

अष्ट चक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गे लोको ज्योतिषावृतः।।

शङ्कराचार्य के चारो पीठों में प्रारम्भ से आज तक श्रीयन्त्र एवं श्रीविद्या की अनवरत रूप में उपासना चली आ रही है; क्योंकि आद्य शङ्कराचार्य शैव होते हुये भी भगवती महात्रिपुरसुन्दरी के परमोपासक थे। हयग्रीव, अगस्त्य, दत्तात्रेय, दुर्वासा, परशुराम, गौड़पाद, शङ्कराचार्य, भास्करराय, उमानन्दनाथ एवं अमृतानन्दनाथ आदि आचार्यों ने श्रीविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थों का प्रणयन तो किया ही; पराभट्टारिका राजराजेश्वरी भगवती महात्रिपुरसुन्दरी या भगवती ललिता की उपासना भी की।

उत्तर भारत में श्रीविद्या एवं श्रीविद्या-सम्प्रदाय के प्रचलन की तो बात ही क्या; यहाँ तो सामान्यतः लोगों को इनका नाम भी ज्ञात नहीं है। इस विद्या की रहस्यात्मकता, उच्च स्तरीयता, अतिशय क्लिष्टता एवं अगम्यता के कारण समस्त उत्तर भारत में इसका प्रचार-प्रसार अवरुद्ध ही रहा और प्रायः लोग श्रीविद्या के नाम से भी अनजान रहे।

भगवती राजराजेश्वरी ललिता देवी का नाम 'त्रिपुरा' भी है; क्योंकि—

त्रिमूर्त्तिसर्गाच्च पुराभवत्वात् त्रयीमयत्वाच्च पुरैव देव्याः।
लये त्रिलोक्या अपि पूरणत्वात्प्रायोऽम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम।।

सिद्धेश्वरीमत के अनुसार—

ब्रह्मा-विष्णु-महेशानैस्त्रिदेवैरर्चिता पुरा।
त्रिपुरेति तदा नाम कथितं दैवतैः पुरा।।

आचार्य भास्करराय की दृष्टि में 'त्रिपुरा' नाम की सार्थकता इसलिये है; क्योंकि—

---

१. 'अथर्वशीर्ष' में पाठान्तर : 'कामो योनिः कमला वज्रपाणि।'

'अथ त्रीणि पुराणि ब्रह्म-विष्णु-शिवशरीराणि यस्मिन् सः त्रिपुरः परशिवः, तस्य पुराणि सुन्दरी शक्तिः।'

ऋग्वेदीय त्रिपुरोपनिषद् के अनुसार 'त्रिपुरा' पद की सार्थकता निम्न तथ्यों के कारण है—

१. भगवती त्रिपुरा तीन पुरों की अधीश्वरी हैं।
२. तीन पन्थ वाली हैं।
३. समस्त (त्रिलोक) एवं प्राणियों की जननी (जन्मदात्री) हैं।
४. वे 'अ-क-था' हैं।
५. वे अक्षरा हैं।
६. वे अजरा हैं।
७. वे पुराणी हैं।
८. वे देवों का अधिष्ठान हैं।

तिस्रः पुरस्त्रिप्रथा विश्वचर्षणी अत्राकथा अक्षरा सन्निविष्टा।
अधिष्ठायैनामजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम्।।

'त्रिपुराविद्या' के ज्ञानाधिगम से साधक सिद्ध-संघ का अधिपति बन जाता है—

अथ वक्ष्ये परां विद्यां त्रिपुरामतिगोपिताम्।
यं ज्ञात्वा सिद्धिसन्घानामधिपो जायते नरः।। (शारदातिलक)

यह विद्या वाग्भवबीज, कामबीज एवं कामराजबीज के भेद से बीजत्रयात्मिका है—

वाग्भवं प्रथमं बीजं काम बीजं द्वितीयकम्।
तृतीयं कामराजाख्यं त्रिभिर्बीजैरितीरिता।। (शारदातिलक)

भगवती त्रिपुरा की 'पञ्चदशी विद्या' का परिचय इस प्रकार है—

पञ्चकूटात्मिका विद्या वेद्या त्रिपुरसुन्दरी।
ऋषिः स्याद्दक्षिणामूर्तिश्छन्दः पंक्तिः समीरितः।।

भगवती त्रिपुरा की उपासना वाममार्ग एवं दक्षिणमार्ग दोनों में प्रचलित है। आचार्य विद्यानन्द (अर्थ० में) कहते हैं कि इनकी प्रधान साधना दक्षिणमार्गानुष्ठिता है। आचार्य दीपकनाथ (त्रिपुरसुन्दरीदण्डक में) कहते हैं कि उनकी प्रधान साधना का मार्ग वाम-मार्ग है—'सुस्फुटं वाममार्गस्य सर्वोत्तमत्वं समुपदिश्यते।' इनमें वाममार्ग तो कौलमार्ग है और दक्षिणमार्ग समयमार्ग है। भगवती त्रिपुरा की उपासना कौलमार्ग, मिश्रमार्ग एवं समयमार्ग—तीनों में प्रचलित है।

दस महाविद्याओं में भगवती 'षोडशी' (महात्रिपुरसुन्दरी) तृतीया 'महाविद्या' हैं। दस महाविद्यायें निम्नाङ्कित हैं—

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा।।
बगला सिद्धविद्या च मातङ्गी कमलात्मिका।
एता दश महाविद्याः सिद्धविद्याः प्रकीर्तिताः।।

वामकेश्वरतन्त्र में इन्हीं भगवती त्रिपुरा देवी को 'त्रिविधा' कहा गया है, जो कि ज्ञान-शक्ति, क्रियाशक्ति एवं इच्छाशक्ति के रूपों में तथा त्रिदेवों के रूप में विभाजित है—

त्रिपुरा त्रिविधा देवी ब्रह्मविष्ण्वीशरूपिणी।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिरिच्छाशक्त्यात्मिका प्रिये।।

अन्त में मैं इस पुस्तक के वैचारिक केन्द्र में स्थित 'श्रीविद्या' की अधिष्ठात्री परदेवता के श्रीपादपद्मों में नमन करते हुये ऋषि दुर्वासा के शब्दों में निवेदन करना चाहता हूँ कि—

आताम्रार्कसहस्रदीप्तिपरमा सौन्दर्यसारैरलं
लोकातीतमहोदयैरुपयुता सर्वोपमागोचरैः।
नानानर्घ्यविभूषणैरगणितैर्जाज्वल्यमानाभितः
श्रीमातस्त्रिपुरारि सुन्दरि कुरु स्वान्ते निवासं मम।।

सीधी (म० प्र०)
कार्त्तिकपूर्णिमा-२०६१

श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'

प्रस्तावना

भारतीय दर्शनों के आर्ष सूत्र-वाङ्मय पर दृष्टिपात किया जाय तो हमें उनमें तीन प्रकार की जिज्ञासायें दृष्टिगोचर होती हैं—

१. 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (वेदान्तसूत्र) : बादरायण व्यास।

२. 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (मीमांसासूत्र) : ऋषि जैमिनि।

३. 'अथातो शक्तिजिज्ञासा' (शक्तिसूत्र) : ऋषि हयग्रीव एवं ऋषि अगस्त्य।

उपर्युक्त तीनों सूत्रों की मानसपटल पर उपस्थिति होने के साथ ही यह स्पष्ट होता है कि जहाँ एक ओर बादरायण व्यास की जिज्ञासा का केन्द्र 'ब्रह्म' था तो दूसरी ओर ऋषि जैमिनि की जिज्ञासा का केन्द्र ब्रह्म न होकर 'धर्म' था। एक के ध्यान एवं उपासना का विषय निर्गुण, निराकार, निरञ्जन परात्पर सत्ता थी तो दूसरे के ध्यान एवं उपासना का विषय वेद एवं यज्ञ था। व्यास का 'वेदान्तदर्शन' यद्यपि निर्गुण परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करके उसके स्वरूप की मीमांसा करता रहा; किन्तु जैमिनि का 'मीमांसादर्शन' परमात्मा की सत्ता को अस्वीकार करते हुये स्वर्ग के साधनभूत वेद, धर्म, यज्ञ एवं यज्ञीय कर्म आदि की मीमांसा में रत रहा। एक की दृष्टि में विश्व के सृजन, पालन एवं संहार के लिये किसी परात्पर परमात्म सत्ता में विश्वास करना सर्वथा आवश्यक था, जबकि दूसरे को इन सृष्ट्यादिक व्यापारों के निष्पादन के लिये किसी भी परात्पर परमात्म सत्ता के अस्तित्व की आवश्यकता ही नहीं थी। इन दोनों ही दर्शनों की जिज्ञासाओं में किसी परात्पर, निरपेक्ष, सार्वभौम, नित्य एवं सर्वादिकारणभूता परा शक्ति के चिन्तन की कथमपि आवश्यकता नहीं थी। फलस्वरूप तान्त्रिकों ने वही कार्य किया, जिसे ब्रह्म-जिज्ञासुओं एवं धर्म-जिज्ञासुओं ने नहीं किया और इसीलिये उन तान्त्रिकों की जिज्ञासा का विषय परात्परा स्वातन्त्र्य शक्ति-समन्विता, अद्वितीया, सर्वादिकारणभूता, अजा, एका, ब्रह्मस्वरूपा एवं अवाङ्मनसगोचरा, अद्वैत महाशक्ति का अनुसन्धान बना; जिसके परिणामस्वरूप उनकी जिज्ञासा ने 'अथातो शक्तिजिज्ञासा' के रूप में आकार ग्रहण किया। इसी शक्ति को 'बह्वृचोपनिषद्' में कामकला, शृङ्गारकला, एका, सर्वाकारा महात्रिपुरसुन्दरी, परं ब्रह्म, आत्मा, ब्रह्मसंवित्ति, सच्चिदानन्दलहरी, चिन्मात्र, षोडशी, श्रीविद्या, सुन्दरी, बाला, अम्बिका, चामुण्डा, चण्डा, वाराही, सावित्री, सरस्वती, गायत्री और ब्रह्मानन्द कला कहा गया। 'भावनोपनिषद्' में इन्हें कामेश्वरी सदानन्दघना पूर्णा स्वात्मैक्यरूपा देवता एवं 'त्रिपुरातापिन्युपनिषद्' में भगवती त्रिपुरा, परमा विद्या, त्रिपुरा परमेश्वरी, त्रिपुरा शक्ति, महाकुण्डलिनी, कामाख्या, तुरीयरूपा, तुरीयातीता, सर्वोत्कटा, सर्वमन्त्रासनगता, पीठोपदेवतापरिवृता, सकलकलाव्यापिनी,

त्रिकूटा, त्रिपुरा, परमा माया, श्रेष्ठा, परा भगवती लक्ष्मी, परा वैष्णवी, चन्द्रमण्डलमध्यवर्तिनी चन्द्रकला, सप्तदशी, चैतन्यरूपिणी, सुन्दरी महामाया, सर्वसुभगा महाकुण्डलिनी, चित्कला एवं महात्रिपुरा आदि कहा गया। 'सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्' में इन्हें ही तुरीयरूपा, तुरीयातीता, सर्वोत्कटा, सर्वमन्त्रासनगता, पीठोपपीठ-देवतापरिवृता, चतुर्भुजा, श्रियं, हिरण्यवर्णा आदि कहा गया।

'त्रिपुरोपनिषद्' की उस 'एका स आसीत् प्रथमा सा', 'त्रिपुरातापिन्युपनिषद्' की 'सैवेयं भगवती त्रिपुरेति', 'बह्वृचोपनिषद्' की 'महात्रिपुरसुन्दरी, परब्रह्म, पञ्चदशाक्षरी महात्रिपुरसुन्दरी' एवं 'भावनोपनिषद्' की 'कुण्डलिनी ज्ञानशक्ति एवं इच्छाशक्तिर्महात्रिपुर-सुन्दरी' देवी एवं उनकी स्वात्मभूता 'श्रीविद्या' एवं 'श्रीचक्र' के स्वरूप की विवेचना ही शाक्तदर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय बना।

शाक्तदर्शन एवं शाक्तोपासना का आर्ष सूत्र है— 'अथातः शक्तिजिज्ञासा।'

ऋग्वेद की प्रथम ऋचा 'अग्निमीळे पुरोहितम्' से लेकर अथर्ववेद तक, संहिता से लेकर उपनिषद् तक, स्मृतियों से लेकर पुराणों तक, साङ्ख्य दर्शन से लेकर न्याय-वैशेषिक तक के समस्त दार्शनिक चिन्तनों में विश्व की आधारभूता परा सत्ता का विमर्शन पुरुषाकाररूप में ही किया गया है। कहीं उस सर्वानुस्यूत, सर्वाधार, सर्वव्याप्त, सर्वस्वरूप, सर्वाकार, सर्वात्मक एवं सर्वातीत परा सत्ता को 'ब्रह्म' कहा गया तो कहीं 'परमेश्वर'। कहीं उसे 'परमात्मा' कहा गया तो कहीं 'भगवान्'। कहीं 'परमशिव' कहा गया तो कहीं 'महाविष्णु'। प्रत्येक पुरुषाकार परा सत्ता के साथ उसकी शक्ति की भी कल्पना की गई और वही कल्पित शक्ति कहीं समवायिनी अभिन्न शक्ति के रूप में तो कहीं अचिन्त्य मायाशक्ति के रूप में, कहीं सत् रूप में तो कहीं असत् रूप में कल्पित की गई; लेकिन किसी ने भी उसे निरपेक्ष परात्पर परा सत्ता के रूप में कल्पित नहीं किया। वेदान्तसूत्रों की व्याख्या भी शक्तिवाद को मूल सिद्धान्त मान कर नहीं की गई।

यद्यपि वेदों में 'सरस्वती, ऊषा, अदिति, वाणी, रात्रि, गायत्री, सावित्री, राका, सिनीवाली, दुर्गा, त्रिपुरा, सुभगा, सुन्दरी, अम्बिका, चिति, श्रीविद्या, ललिता, श्री' आदि देवियों की परा शक्ति के रूप में कल्पना दृष्टिगोचर होती है; किन्तु दार्शनिक प्रस्थानों में 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' की भाँति 'अथातो शक्तिजिज्ञासा' के रूप में पृथक् दार्शनिक चिन्तन के रूप में उसे कोई स्थान नहीं मिला।

श्रीदेव्यथर्वशीर्ष (अथर्ववेद) में समस्त देवताओं द्वारा देवी से अपना परिचय देने के अनुरोध का उल्लेख है। सारे देवता पूछते हैं— हे महादेवी ! तुम कौन हो? : 'काऽसि त्वं महादेवीति'। देवी कहती हैं— 'अहं ब्रह्मस्वरूपिणी, मत्तः प्रकृति-पुरुषात्मकं जगत्, शून्यञ्चाशून्यञ्च, अहमानन्दानानन्दौ, अहं विज्ञानाविज्ञाने, अहं ब्रह्माब्रह्मणी वेदितव्ये। अहं पञ्चभूतान्यपञ्चभूतानि, अहमखिलं जगत्, वेदोऽहमवेदोऽहम्, विद्याहमविद्याहम्, अजाहमन-जाहम्, अधश्चोर्ध्वञ्च तिर्यक्चाहम्।' आदि।

इन्हीं के विषय में देवताओं ने भी कहा कि— 'एषाऽऽत्मशक्तिः। एषा विश्वमोहिनी। पाशाङ्कुशधनुर्बाणधरा। एषा श्रीमहाविद्या। .... सैष्टौ वसवः। सैषैकादश रुद्राः। सैषा द्वादशादित्याः। सैषा विश्वेदेवाः सोमपा असोमपाश्च। सैषा यातुधाना असुरा रक्षांसि पिशाचा यक्षाः सिद्धाः। सैषा सत्त्वरजस्तमांसि। सैषा ब्रह्मविष्णुरुद्रस्वरूपिणी। सैषा प्रजापतीन्द्रमनवः। सैषा ग्रहनक्षत्रज्योतींषि। विश्वरूपिणी, अज्ञेया, अनन्ता, अलक्ष्या, अजा, एका, मन्त्राणां मातृका, शब्दानां ज्ञानरूपिणी, ज्ञानानां चिन्मयातीता, शून्यानां शून्यसाक्षिणी।'

इस प्रकार शक्ति (नारी) को परात्पर परब्रह्म के रूप में स्थान तो मिल गया; किन्तु शक्तिवाद की सुदृढ़ स्थापना तो त्रिपुरोपनिषद्, त्रिपुरातापिन्युपनिषद्, देव्युपनिषद्, भावनोपनिषद्, सरस्वतीरहस्योपनिषद्, सीतोपनिषद्, बह्वृचोपनिषद्, सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् आदि; अगस्त्य के शक्तिसूत्र, हयग्रीव के शाक्तदर्शनम्, दत्तात्रेय की दत्तसंहिता, परशुराम के परशुरामकल्पसूत्र, त्रिपुरारहस्य, दुर्वासा के ललितास्तवरत्न, पराशम्भुस्तोत्र, त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र, सौभाग्यभास्कर, कालिकापुराण, देवीभागवतपुराण, ललितासहस्रनाम, सप्तशती, गौडपाद की सुभगोदयस्तुति, शङ्कराचार्य की सौन्दर्यलहरी, पुण्यानन्द के कामकलाविलास, अमृतानन्द एवं भास्कर के ग्रन्थों (दीपिका, सेतुबन्ध, वरिवस्यारहस्यम् आदि), अगस्त्य के शक्तिमहिम्नस्तोत्र एवं क्षेमराज के शक्तिसूत्र आदि ग्रन्थों के द्वारा ही हो पायी। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' की तरह 'अथातः शक्तिजिज्ञासा' प्रथम सूत्र के रूप में पहली बार हयग्रीव के 'शाक्तदर्शनम्' एवं अगस्त्य के 'शक्तिसूत्र' में ही अवस्थान प्राप्त कर सका।

यहाँ वही शक्ति जिज्ञास्य है, जो मन्त्रों में 'मातृका', शब्दों में 'ज्ञान', ज्ञानों में 'चिन्मयातीता' एवं शून्यों में 'शून्यसाक्षिणी' है। देव्युपनिषद् में कहा भी गया है—

मन्त्राणां मातृका देवी शब्दानां ज्ञानरूपिणी।
ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यसाक्षिणी।।[१]

यहाँ वही जिज्ञास्य है, जो कामकला, शृंगारकला, परा शक्ति, शाम्भवी विद्या, कादि विद्या, हादि विद्या, सादि विद्या तथा प्रत्यक् चितिस्वरूपा महात्रिपुरसुन्दरी है।[२] जो षोडशी, श्रीविद्या, पञ्चदशाक्षरी, श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी कहलाती है।[३] जो इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति एवं कुण्डलिनी तथा महात्रिपुरसुन्दरी है।[४] जो कामेश्वरी, सदानन्दघना, पूर्णा एवं स्वात्मैक्यरूपा देवता है।[५]

यहाँ वही शक्ति जिज्ञास्य है, जिसकी उपासना में 'इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक ब्रह्मग्रन्थिमत् रसतन्तु ब्रह्मनाडी' ब्रह्मसूत्र हैं, 'चिदग्निस्वरूपपरमानन्द शक्तिस्फुरण' ही वस्त्र है, 'चिच्चन्द्रमयी सर्वाङ्गस्रवण' ही स्नान है, 'रक्तशुक्लपदैकीकरण' ही पाद्य है, 'स्वच्छस्वपरिपूरणानुस्मरण' ही गन्ध है, 'सच्चिदुल्काऽकाशदेहो' दीप है और 'मूलाधारादाब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रादामूलाधारपर्यन्तं गतागत रूप' प्रादक्षिण्य है।[६] यह साधना का वह उच्चतम स्तर है—

१. देव्युपनिषत्
२. बह्वृचोपनिषत्
३. बह्वृचोपनिषत्
४. बह्वृचोपनिषत्
५. बह्वृचोपनिषत्
६. भावनोपनिषत्

● जहाँ निरोध, उत्पत्ति, बन्धन, साधना, मुमुक्षता, मुक्ति, बद्ध, साधक, मुमुक्षु एवं मुक्त की अवधारणा भी मिथ्या हो जाती है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।।[१]

● जहाँ ज्ञान-विज्ञान-तत्पर योगी धान्यार्थी की भाँति समस्त बाह्याडम्बरों का 'पलाल' की भाँति त्याग कर देता है—

पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः।[२]

● जहाँ आन्तर पूजा ही यथार्थ पूजा होती है—

'अतः समयिनामैहिकामुष्मिकफलसाधनोपायः आन्तरपूजेति समयमततत्त्वम्।'

(लक्ष्मीधरा)

● जहाँ मन्त्रों का पुरश्चरण, जप, बाह्य होम, बाह्य पूजा के लिये कोई स्थान नहीं है और हृत्कमल एवं सहस्रार में पूजा ही यथार्थ पूजा है—

'समयिनां मन्त्रस्य पुरश्चरणं नास्ति, जपो नास्ति, बाह्यहोमोऽपि नास्ति, बाह्यपूजाविधयो न सन्त्येव। हृत्कमल एव सर्वं यावदनुष्ठेयम्।'

● जहाँ बाह्य पूजा निषिद्ध है; सनत्कुमारसंहिता में कहा भी गया है—

बाह्यापूजा न कर्तव्या कर्तव्या बाह्यजातिभिः।

● जहाँ मन्त्र-जप-जपाङ्ग, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, द्रष्टा-दृश्य-दर्शन, ध्याता-ध्यान-ध्येय, उपासक-उपासना-उपास्य, साधक-साधना-साध्य, देवता, ऋषि, छन्द, वर्ण, नाद, शून्य, अवस्था, मन्त्रार्थ, जगत्, ग्रह, नक्षत्र, चक्र, राशि, शक्तिचक्र, गुरु एवं भगवती महात्रिपुरसुन्दरी के मध्य स्थित सारे द्वैत ध्वस्त होकर पूर्ण सामरस्य की अनुभूति होती है।

● जहाँ शिव और शक्ति, भक्त और भगवान्, कुल एवं अकुल, षट्चक्र एवं श्रीचक्र, श्रीचक्र एवं शरीर, शिवचक्र एवं शक्तिचक्र, मूलाधार एवं सहस्रार, कुण्डलिनी एवं महाकुण्डलिनी आदि सभी अपनी-अपनी भेदात्मकता का त्याग करके अद्वैतभावापन्न होकर एक हो जाते हैं।

● जहाँ समग्र, सार्वभौम, सर्वव्यापक एवं नित्य सामरस्य ही पूर्ण उपलब्धि होती है।

● जहाँ कर्म-ज्ञान-भक्ति-उपासना एवं योग अपने-अपने भेद-भाव का त्याग करके गंगा-जमुनी संगम में रूपान्तरित होकर एक हो जाते हैं।

यह 'श्रीविद्या' ब्राह्मीभाव, ब्रह्माद्वैत एवं पञ्चकृत्यकारी परमशिव की विमर्शस्वरूपा आत्मशक्ति की साधना की संदेशवाहिका है। यहाँ पहुँचकर ज्ञान एवं योग एक हो जाते

---

१. त्रिपुरातापिन्युपनिषत् २. त्रिपुरातापिन्युपनिषत्

हैं तथा यहाँ ज्ञान एवं योग का प्राधान्य होते हुये भी 'भक्ति' की मन्दाकिनी ही सर्वाधिक पूज्या है। आचार्य उत्पलदेव कहते हैं—

न योगो न तपो नार्चाक्रमः कोऽपि प्रणीयते।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते।।[१]

यहाँ पहुँचकर ज्ञानमार्गी, केवलाद्वैतवेदान्ती आचार्य शंकर भी अपनी ब्रह्मरूपता की अस्मिता भूलकर कह उठते हैं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ ! तवैवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो वै तरङ्गः न तारङ्गो वै समुद्रः।।

यहाँ जगत् ब्रह्म एवं जीव से भिन्न 'विवर्त' नहीं है; प्रत्युत यहाँ यह परा शक्तिस्वरूप है, ब्रह्माभिन्न है और 'परिणाम' है—

'शिवादिक्षित्यन्तरूपेण परिणमत इत्यर्थः। यथा क्षीरं दध्याकारेण परिणमते, तथा चिच्छक्तिरेव सर्वाकारेण परिणमते.................................. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः।[२]

आचार्य भास्कर अपने वरिवस्यारहस्यम् में कहते हैं—

'स्वाभिमतः परिणामवाद एव स्फुटीकृतः।'

आचार्य शंकर ने भी इसकी पुष्टि की है। शक्तिसूत्र की व्याख्या में आचार्य क्षेमराज ने जगत् को शिव एवं शिवा से अभिन्न माना है—

'स्वात्मदेवताया एव सर्वत्र कारणत्वम्, चिदेव भगवती.............................. स्वच्छस्वतन्त्ररूपा .... जगदात्मना स्फुरति .... कार्यकारणभावः, विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव, श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति; जगतः प्रकाशात्म्येनावस्थानम्।'

जगत् दुःख नहीं है; प्रत्युत शिव को आह्लादित करने वाला एवं उनके द्वारा संरचित आह्लादकारी चित्र है—

जगच्चित्रं समालिख्य स्वेच्छातूलिकयात्मनि।
स्वयमेव समालोक्य प्रीणाति भगवान् शिवः।।

अगस्त्यकृत शक्तिसूत्र के अनुसार तो मुक्ति की प्रक्रिया एवं उसका स्वरूप इस प्रकार है—

'प्रथमं प्रकृतिं मनसा विभाव्य तामपि स्वात्मनि स्वात्मानं तस्यां मिथो विलाप्य तत एकोऽवशिष्यते। मुक्तः शुद्धः पूर्णः प्रत्यगात्मैव भवति प्रत्यगात्मैव भवति।'[३]

शिवसूत्रविमर्शिनी (आचार्य क्षेमराज) के अनुसार तो बन्धन एवं मुक्ति का स्वरूप निम्नानुसार है—

'आत्मन्यनात्मताभिमानरूपाख्यातिलक्षणाज्ञानात्मकं ज्ञानं केवलं बन्धो, यावदानात्मनि शरीरादावात्मताभिमानात्मकमज्ञानमूलं ज्ञानमपि बन्ध एव। शिवाभेदाख्यात्यात्मका ज्ञानस्वभावो-

१. शिवस्तोत्रावली
२. योगिनीहृदयदीपिका : अमृतानन्द
३. शक्तिसूत्र

ऽपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलसतत्वसङ्कुचितज्ञानात्मा बन्धः।'[१]

प्रत्यभिज्ञा भी मुक्ति है।

यहाँ आसन, कम्बल आदि बाह्य वस्तु नहीं हैं। यहाँ ३६ तत्त्व ही 'आसन' हैं। इसीलिये योगिनीहृदय में कहा भी गया है—

षट्त्रिंशत्तत्त्वपर्यन्तमासनं परिकल्प्य च।

शाक्तदर्शन के अनुसार जगत् चिन्मय एवं आनन्दमय है।[२]

भगवती हैं तो एक; किन्तु क्रीड़ा-व्यापार में अनेक बन जाती हैं—

त्वमेव तासां रूपेण क्रीडसे विश्वमोहिनी।

एका सती भगवती परमार्थतोऽपि
सन्दृश्यसे बहुविधा ननु नर्वकीव।

जगत् शक्ति की क्रीड़ा है।

यहाँ माना गया है कि जगत् परमाणुओं से नहीं; बल्कि इच्छा-ज्ञान-क्रिया, परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी से उत्पन्न होने के कारण मूलतः परमाण्वात्मक न होकर मातृकात्मक एवं शक्त्यात्मक है।

यहाँ गुरु बाह्य विग्रह नहीं; प्रत्युत भगवती स्वयं गुरु हैं—

त्वामिच्छाविग्रहां देवी गुरुरूपां विभावयेत्।[३]

यहाँ परमशिव, जगत्, चक्र, श्रीविद्या एवं भगवती से तादात्म्य प्राप्त कर लेना ही 'मुक्ति' है।

वर्ण, पद, मन्त्र (शब्दाध्व) एवं कला, तत्त्व तथा भुवन (अर्थाध्व) से ही जगत् की उत्पत्ति होती है। शिव एवं शक्ति ही 'शब्द' एवं 'अर्थ' हैं। शाब्दी सृष्टि से ही आर्थी सृष्टि का उदय हुआ है। अतः शाक्तदर्शन वर्ण, मन्त्र, नाद आदि की विवेचना पर अधिक चिन्तन करता है। 'जगत्' शब्द का विवर्त है; अतः मूल तत्त्व तो 'शब्द' ही है। शब्दों की मूल चेतना परा, पश्यन्ती और मध्यमा वाक् में अन्तःगर्भित है और भगवती स्वयं ही परा-पश्यन्ती-मध्यमास्वरूपा वर्णात्मिका एवं मन्त्रात्मिका हैं। चूँकि मन्त्र एवं यन्त्र तथा श्रीविद्या एवं देवतातत्त्व मूलतः अभिन्न हैं; अतः अद्वैत से प्रारम्भ की जाने वाली यह शाक्तोपासना तभी चरितार्थ होती है, जबकि उपासक सभी के साथ अपना सामरस्य स्थापित कर सके। शाक्तोपासना 'शक्ति' की उपासना है, स्वात्मस्वरूपा भगवती ललिता का साक्षात्कार है तथा 'अहं देवी न चान्योऽस्मि' की अद्वैतानुभूति है।

---

१. क्षेमराज : शिवसूत्रविमर्शिनी

२. योगिनीहृदय

३. योगिनीहृदय-१९८

श्रीचक्र में स्थित सर्वानन्दमय 'बिन्दुचक्र' सहस्रार का प्रतीक है और निःशेष विश्व एवं विश्व की निःशेष सत्ताओं के उद्भव का केन्द्र है। यहीं कामेश्वर एवं कामेश्वरी सामरस्यावस्था में परस्पर लीन हैं। यही स्थान 'आदि दम्पति' का राजशौध है।

'श्रीविद्या' एक रहस्यविद्या है। 'श्रीयन्त्र' चक्राधिपति यन्त्र है। श्रीविद्या, श्रीचक्र, श्रीदेवी, जगत्, साधक एवं साधना में ऐकात्म्य की अनुभूति ही श्रीविद्योपासना का उद्देश्य है।

मैंने इस ग्रन्थ में उपासना के क्रमिक सोपानों का विवेचन नहीं किया है और न तो मैंने इस दृष्टि से ही इसे प्रणीत किया है कि इसके आलोक में प्रातःकाल से चतुर्थ याम (चतुर्थ सन्ध्या)-पर्यन्त अनुष्ठीयमान, साधना-सोपानों पर आरूढ़ होकर उपासना-यात्रा यथाक्रम निष्पादित की जा सके। अन्य बहुत-से ऐसे ग्रन्थ हैं, जो कि एतदर्थ द्रष्टव्य हैं।

इस ग्रन्थ के प्रणयन में मेरा मुख्य उद्देश्य 'श्रीसम्प्रदाय, श्रीविद्या, भगवती महात्रिपुरसुन्दरी, मन्त्र, यन्त्र, श्रीयन्त्र, पीठ, देवता, ध्यान, भक्ति, भाव, पूजा, जप, न्यास, गुरु, दीक्षा' आदि तत्त्वों के मूल स्वरूप का उद्घाटन करना एवं उनमें अन्तर्निहित रहस्यात्मक बिन्दुओं की विवेचना करना है। इसमें दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना भी जान-बूझ कर छोड़ दी गई है और साथ ही श्रीविद्या, श्रीचक्र एवं श्रीदेवी (भगवती ललितादेवी) की साङ्गोपाङ्ग, क्रमिक उपासना के पृथुल कर्मकाण्डीय विधानों को भी चिन्तन का विषय नहीं बनाया गया है।

भगवती की उपासना के पूर्व उपासना के अङ्गों, उपाङ्गों, साधनों, अधिकारों, भावनात्मक स्तरों, मानसिक वृत्तियों एवं अपने आधिकारिक स्तरों का ज्ञान अत्यावश्यक है। इसी उद्देश्य को केन्द्र में रखकर मैंने इन बिन्दुओं पर सविस्तार प्रकाश डाला है। इसकी विवेचना इसलिये भी आवश्यक थी, क्योंकि श्रीसम्प्रदाय की उपासना में प्रयुक्त समस्त साधनतत्त्व अन्य उपासनाओं की तुलना में अधिक सूक्ष्म, रहस्यमय, प्रतीकात्मक, विशिष्टार्थगर्भित एवं अद्वैतात्मक है।

श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'

चतुर्थ परिच्छेद

(अध्याय : २३-३३)

यन्त्रतत्त्व

* यन्त्रतत्त्व *
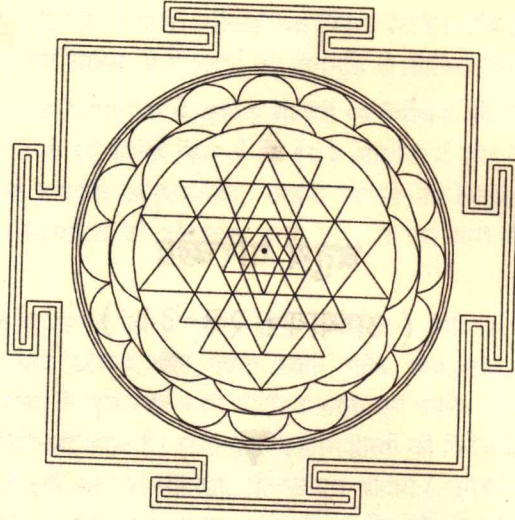
पाँच शक्तित्रिकोण ऊर्ध्वमुखी एवं चार शिवत्रिकोण अधोमुखी

श्रीयन्त्र : समयाचार मतानुयायियों द्वारा पूजित सृष्टिक्रम
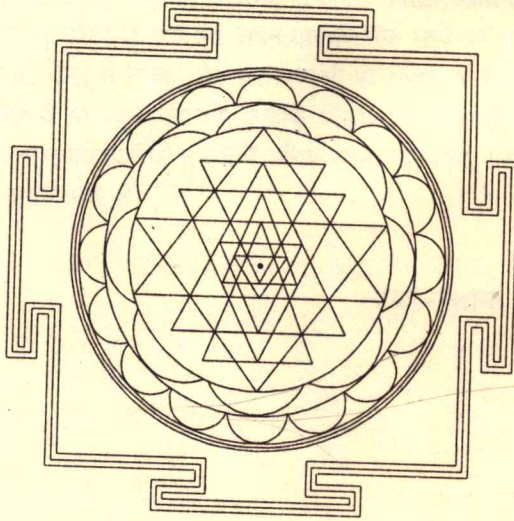
पाँच शक्तित्रिकोण अधोमुखी एवं चार शिवत्रिकोण ऊर्ध्वमुखी

श्रीयन्त्र : कौलाचार मतानुयायियों द्वारा पूजित संहारक्रम

॥ श्रीः ॥

चतुर्थ परिच्छेद

यन्त्रतत्त्व

सम्यक् शतक्रतून् कृत्वा यत्फलं समवाप्नुयात्।
तत्फलं लभते भक्त्या कृत्वा श्रीचक्रदर्शनात्।।
महाषोडशदानानि कृत्वा यल्लभते फलम्।
तत्फलं समवाप्नोति कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम्।।

सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नात्वा यत्फलमश्नुते।
लभते तत्फलं भक्त्या कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम्।। (यामल)

नवरन्ध्ररूपो देहो नवशक्तिमयं श्रीचक्रम्।
(भावनोपनिषद्)

त्रिखण्डं ते चक्रं शुचिरविशशाङ्कात्मकतया
मयूखैः षट्त्रिंशद्दशयुततया खण्डकलितैः।
पृथिव्यादौ तत्त्वे पृथगुदितवद्भिः परिवृतं
भवेन्मूलाधारात्प्रभृति तव षट्चक्रसदनम्।।
(गौडपादाचार्य : सुभगोदय-स्तुति)

नवयोन्यात्मकं चक्रं चिदानन्दघनं महत्।
चक्रं नवात्मकमिदं नवधा भिन्नमन्त्रकम्।।
(योगिनीहृदय)

यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य सम्भवः।।
(योगिनीहृदय)

तच्छक्तिपञ्चकं सृष्ट्या लयेनाग्निचतुष्टयम्।
पञ्चशक्तिचतुर्वह्निसंयोगाच्चक्रसम्भवः ।।
(योगिनीहृदय)

▼

त्रयोविंश अध्याय
यन्त्रतत्त्व

यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र— 'मन्त्र' के साधक विभिन्न ज्यामितिक रेखाओं के माध्यम से जो रचनायें निर्मित करते हैं, उन्हें 'यन्त्र' कहकर हम उनकी पूजा करते हैं। 'यन्त्र' का अर्थ है— संयमित या केन्द्रित करना। यन्त्र मूलत: विभिन्न शक्तिकेन्द्रों के मानचित्र के समान हैं, जो साधक को अभीष्ट शक्ति को उद्बुद्ध करने की साधना में सहायता प्रदान करते हैं। यन्त्र मन को संयत करके उसे केन्द्रित करने के एक प्रयास की संज्ञा है। जिस प्रकार केन्द्रित चेतना मन्त्र की सिद्धि में सहायक होती है, उसी प्रकार यन्त्र भी मन्त्रचैतन्य का सहायक बनकर साधक को कृतार्थ कर देता है।

'यन्त्र' और 'मन्त्र' दोनों चैतन्य-जागरण के साधन हैं। मन्त्रशास्त्र का विश्वास है कि यदि किसी शब्द के अर्थ का ध्यान किया जाय और उसके साथ चैतन्य का सम्पूर्ण योग साध लिया जाय तो वह अर्थ प्रकट हो जाता है। शरीर के विभिन्न विशिष्ट केन्द्र शक्ति के केन्द्र हैं। अभीष्ट-सिद्धि के लिए शक्ति पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। ध्यान के माध्यम से अभीष्ट देवता का आविर्भाव करके अभीष्ट-सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। शरीर के जिन-जिन केन्द्रों में शक्ति स्थित है, यदि उनका परिज्ञान भी हो तो तत्रस्थ शक्ति को उद्बुद्ध करने में सौकर्य होता है। उसके ध्यान में भी सौकर्य होता है। यन्त्र विभिन्न शक्ति-केन्द्रों के मानचित्र हैं, जो साधक की अभीष्ट शक्ति को उद्बुद्ध में सहायक होते हैं।

तन्त्र का अर्थ है— विस्तार। जब 'शक्ति' एक स्थान पर उद्बुद्ध हो जाय तब उसे सम्पूर्ण देह के विभिन्न केन्द्रों में प्रसारित करने की प्रक्रिया ही 'तन्त्र' है।[१]

केन्द्रीयकरण— सम्पूर्ण देह में व्याप्ति एवं चैतन्य का संयोग ही मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र के विशिष्ट कार्य हैं।

मन:संयोगपूर्वक की गई शब्दसाधना ही कबीर आदि का 'सुमिरन' है। यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र द्वारा जो चैतन्य-सम्पादन (मन्त्र-चैतन्य) निष्पादित होता है, वह है— मन्त्र; मन्त्र के अर्थ एवं देवता का साधक के साथ एकीकरण। सभी का लक्ष्य है— 'मन्त्रसिद्धि'। मन्त्र की स्वनिहित शक्ति, गुरु द्वारा सञ्चारित शक्ति या शक्तिपात, मान्त्रिक साधक की साधन-शक्ति —ये तीनों मिलकर ही मन्त्रसिद्धि प्रदान करते हैं।

यन्त्र के अंग– यन्त्र के निम्न अंग हैं—

बीजं प्राणं च शक्तिं च दृष्टिं वश्यादिकं तथा।
मन्त्रयन्त्राख्यगायत्री प्राणस्थापनमेव च।
भूतदिक्पालबीजानि यन्त्रस्याङ्गानि वै दश।।

---

१. सहज साधना।

इन्हीं दस अंगों से यन्त्र निर्मित होता है।

यन्त्रों में 'श्रीयन्त्र' या 'श्रीचक्र' का तो इतना अधिक महत्त्व है कि सम्यक् विधान-पूर्वक १०० यज्ञ करने पर जो फल प्राप्त होता है, वह अकेले श्रीचक्र के दर्शनमात्र से ही प्राप्त हो जाता है—

सम्यक् शतं क्रतून्कृत्वा यत्फलं समवाप्नुयात्।
तत्फलं समवाप्नोति कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम्।।

भगवती की उपासना में श्रीविद्या के तीन प्रकार बताये गये हैं— स्थूलोपास्ति, सूक्ष्मोपास्ति और परोपास्ति। इनमें से स्थूल उपासना श्रीचक्र की ही उपासना है। ललिता-सहस्रनाम में भगवती के सहस्रनाम का पाठ भी श्रीचक्र की पूजा के साथ ही करने का विधान किया गया है।

रूप और यन्त्र— यन्त्र तन्त्रसाधना का द्वितीय साधन है। प्रथम साधन है— 'मन्त्र' और द्वितीय साधन है— 'यन्त्र'। यन्त्र शब्द के तीन पक्ष हैं— आकृतिरूप (Form pattern), क्रियारूप (Function pattern) एवं शक्तिरूप (Power pattern)। यन्त्र के मुख्यत: तीन प्रकार हैं— वास्तविक (Realistic), सांकेतिक (Symbolic) एवं तात्त्विक (Ideal)।

इन तीनों के मूल में मौलिक (Basic) या स्वाभाविक यन्त्र रहता है।

यदि मुझे त्रिपुरसुन्दरी शक्ति का ध्यान करना है तो तन्त्र में उसका ध्यान-विधान है। 'बीज' मन्त्र है। यदि हमें उस शक्ति का सन्दर्शन करना है तो मुझे उसका सूक्ष्म शक्तिकूट या यन्त्र उपस्थित करना होगा। सूक्ष्म यन्त्र ही स्थूल यन्त्र का अधिष्ठान या कारण है। यदि सूक्ष्म यन्त्र श्रीयन्त्र है तो यह भी समझें कि—

क. शब्द की ओर से जो 'मन्त्र' करता है, वही

ख. रूप की ओर से 'यन्त्र' भी करता है।

ग. जिसका मन्त्र या यन्त्र है, उसे यन्त्र एवं मन्त्र पकड़ कर सामने ला देगा। 'यन्त्रम्' शब्द में 'यम्' यमन (Control) का वाचक है। कोई भी प्रस्तावित शक्तिक्षेत्र (Given power field) जिसके द्वारा एक निर्दिष्ट आकृति या Pattern या रूप ग्रहण करता है, उसे 'यन्त्र' कहते हैं। यमन (नियन्त्रण) के अनेक उद्देश्य होते हैं; अत: यन्त्र भी अनेक प्रकार के होते हैं।

मनु → मन्त्र। यम् → यन्त्र।

यदि किसी पदार्थ को स्थूल भाव से देखना हो तो उसके सूक्ष्म शक्तिकूट या यन्त्र की सहायता लेनी पड़ेगी। यदि हमें किसी फौलाद को चुम्बक बनाना हो तो हमें वैद्युतिक शक्ति-सम्पात या अन्य चुम्बक के संस्पर्श से फौलाद के Molecules को एक ऐसे शक्तिकूट में सजाना होगा, जिसके द्वारा फौलाद में भी Signes of force चुम्बक के

रीतिक्रम से दो ध्रुव (Poles) इधर-उधर प्रसारित हों। फौलाद चुम्बक बन चुका या नहीं? इसका प्रमाण तो इसी से प्राप्त होगा कि वह लोहे के चूर्ण को खींच रहा है या नहीं। वह मूल चुम्बक के सदृश है या नहीं। निष्कर्ष यह कि स्थूल यन्त्र प्राप्त करने के लिये सूक्ष्म यन्त्र को पहले पाना होता है।

विज्ञान के क्षेत्र में अन्वीक्षा-हेतु प्रयुक्त यन्त्रों को Apparatus Instrument कहते हैं। विचार के क्षेत्र में जिस यन्त्र का उपयोग किया जाता है, उसकी संज्ञा है— Calculus। इन्हीं दो यन्त्रों की सहायता से विज्ञान सृष्टि के अणुओं में जो मौलिक यन्त्र है, उसे पकड़ने का प्रयास कर रहा है। अणु के भीतर जो नाभि (न्यूक्लियस) एवं नेमि है, उसमें जो नाभि या केन्द्रनिष्ठ यन्त्र है, उसी में 'महाशक्तिव्यूह' है। यह शक्तियन्त्र ही वास्तविक वस्तु है। अणु की नाभि में एक शक्तिव्यूह है। अणु की नाभि भी बाह्यावरण (Shell of forces) ही है। सृष्टि-प्रवाह ने मूल से नीचे उतर कर अपनी व्यक्त शक्तिराशि को प्राणरूप से, मन के रूप से तथा चैतन्य एवं आनन्द के रूप से शक्ति के गुप्त राजमहल (यन्त्र) में सजा रक्खा है। प्राणादिक यन्त्र को प्राप्त करने पर ही उस शक्तिराशि का सन्धान सम्भव है।

यन्त्र— सृष्टि के सभी जड़-चेतन पदार्थों का स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण धरातलों पर जो रूपायन होता है, उसका मूल सूत्रधार है— 'अग्नि' या उसकी 'रूपतन्मात्रा'। इसीलिये अग्नितत्त्व (रूपायन) का यन्त्र से सम्बन्ध है। यन्त्र शब्द का 'र' (यं + त + रं = यन्त्र) अक्षर यही संकेतित करता है। 'यन्त्रम्' शब्द का 'त' अक्षर अमृत का बोधक है। 'त' (अमृत) सुसंगति (Harmony) का बोधक है।

यन्त्र के अंग— यन्त्र में तीन शक्तियाँ हैं— 'यं' = वायु = उपादान (स्पन्द), 'र' = अग्नितत्त्व = रूपायन एवं 'त' = अमृत = छन्द (Harmony) = सुसंगति।

यन्त्र का व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ— यन्त्र शब्द 'यम्' धातु से निष्पन्न होता है (यन्त् + अच् अथवा यम् + त्र)। रोकना, निग्रह करना, संयम करना, नियन्त्रण करना, विस्तृत शक्ति को केन्द्रीभूत करना— 'यन्त्' धातु का अर्थ है। यन्तृ का अर्थ है— परिचालक। यन्त्रिन् का अर्थ है— नियन्त्रण करने वाला।

'मौलेक्यूल' और 'ऐटम' (यौगिक अणु एवं अणु) दोनों यन्त्र हैं; क्योंकि उन दोनों में अनन्त शक्तिभण्डार है, किन्तु उस शक्तिभण्डार को न्यूक्लियस के यन्त्र से इस प्रकार नियन्त्रित करके रक्खा गया है कि उसके एलेक्ट्रान अपनी कक्षायें छोड़कर बाहर निकलते हुए प्रलयंकारी ताण्डव नहीं मचा सकते।

(एक बीज को लें। यह भी एक 'यन्त्र' है। इसके भीतर एक पूर्ण वृक्ष (जड़, तना, शाखा, पत्ते, फूल, फल, ऊँचाई, लम्बाई, चौड़ाई, रूप, रंग, आन्तरिक व्यावर्तक गुण, बाह्य गुण, औषधीय गुण आदि) उत्पन्न करने की पूर्ण शक्ति सम्पीड़ित करके भरी

हुई है। इसी में जेनेटिक कोडिंग एवं पूर्ण जैवसंरचना भी निहित है। बीज एक सूक्ष्म यन्त्र है, किन्तु इस बीज की शक्तियों को नियन्त्रित करने वाला कोई और सूक्ष्म यन्त्र स्थित होगा और वही 'मूल यन्त्र' होगा।)

चक्र, केन्द्र एवं यन्त्र— प्रत्येक परमाणु के भीतर अनन्त शक्ति सन्निहित है और इस सुप्त शक्ति को जागृत एवं विकसित तथा कार्यक्षम बनाना ही 'साधना' का लक्ष्य है। यह शक्ति जहाँ बीजाकाररूप में स्थित है और जहाँ से यह बीजशक्ति पूर्णतया प्रकट होती है, उसी आधार का नाम है— यन्त्र। हमारे शरीर के मेरुदण्ड में जो विभिन्न चक्राकार केन्द्र हैं, वे भी यन्त्र ही हैं। हम विविध आन्तर केन्द्रों में मन को स्थिर करके अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त कर सकते हैं। जैसे कि यदि हम दर्शन-केन्द्र (Optic centre) में मन को स्थिर करें तो दूरदर्शन, सूक्ष्म दर्शन, दिव्य दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। सूर्य की विकीर्ण किरणें पेट्रोल को भी नहीं जला सकतीं, किन्तु 'लेंस' नामक यन्त्र में उन्हें संकेन्द्रित करने पर वे किसी भी वस्तु को जला सकती हैं। 'लेंस' सूर्यताप के केन्द्रीयकरण का यन्त्र है। कर्णेन्द्रिय भी एक यन्त्र है। उसे विकसित करने पर दूरश्रवण की शक्ति आयत्त होती है। रसनेन्द्रिय भी एक यन्त्र है, उसे विकसित करने पर किसी भी स्वाद का (उस पदार्थ की अनुपस्थिति में भी) अनुभव किया जा सकता है। नासिकेन्द्रिय के यन्त्र को विकसित करने पर अनन्त सुगन्धों को आयत्त किया जा सकता है। विराट महाशक्ति का भी एक यन्त्ररूप है। यह आकृति, क्रिया एवं शक्तिविन्यास तीनों रूपों में स्थित है।

यन्त्र तो आदिम गुहा एवं पर्वतों में भी थे। मिस्र, बेबीलोन एवं मोहनजोदड़ो सभ्यता के समय भी यन्त्र थे। वैदिक यज्ञों, तान्त्रिक अनुष्ठानों आदि सभी में यन्त्र थे और हैं। अपनी पूँछ को मुख में डाल कर पड़ा रहने वाला साँप (कुण्डलिनी) भी सांकेतिक है। यह भी एक यन्त्र है। बाहर एक शक्ति की क्रीड़ा चल रही है। उस शक्ति की क्रीड़ा ने मेरे रेटिना, स्नायु, मस्तिष्क एवं मन को ज्ञात कराकर जिसे दिखाया, वही तो पेड़ का पत्ता है। बाहर 'ईथर' के स्थानविशेष में इस प्रकार शक्ति का विन्यास एवं विलास ही शक्तिकूट एवं शक्तिव्यूह है।

आज के वैज्ञानिक 'ईथर' पर विश्वास करना छोड़ चुके हैं, किन्तु शक्ति को कौन अस्वीकार कर सकता है? वस्तुमात्र में ही शक्तिमूर्ति एवं शक्तिविग्रह या शक्तिकूट विद्यमान है। ऋषिगण प्रत्येक वस्तु को शिव एवं शक्ति के रूप में देखते थे। वे प्रत्येक पदार्थ की शक्तिकूट मूर्ति एवं निरञ्जन 'शान्तं शिवमद्वैतं' मूर्ति पास-पास रखकर अभिन्नतया देखते थे; यही युगल मूर्ति है— अर्द्धनारी-नटेश्वर मूर्ति। 'हर्बर्ट स्पेन्सर' ने इस अचिन्त्य शक्ति को नमन भी किया है। वैज्ञानिक आज भी इसके स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। प्रत्येक एटम के भीतर एक लीला, एक रसान्वेषण चल रहा है; किन्तु इसका ज्ञान गतिविज्ञान (Dynamics) को नहीं है। यह शक्ति स्वरूपतः शिव एवं रस से अभिन्न है। स्वाभाविक रूप का जो चरम भाव है, वह अभी विज्ञान की पहुँच के बाहर है।

प्रत्येक वस्तु के अन्तरतम में, उसकी गहराई में शक्तिविग्रह Systems of force या Stress system है। गहराई में देखने पर नाद, बिन्दु, कला के भी मूल में स्पन्द ही है। मूल 'स्पन्द' का स्थूल स्पन्दन भी विज्ञान को मान्य है।

'क्रेस्क्रोग्राक' से पौधों के भीतरी सूक्ष्म व्यापार वसु ने देखा; लाखों गुना बढ़ाकर देखने पर ये दिखाई पड़े। किन्तु क्या इस अतीन्द्रिय का साक्षात्कार ही अन्तिम पड़ाव है? सेल के भीतर स्थित अणुओं (Molecules) की संहति से जिस सेल का गठन हुआहै, उस Molecules (आणविक) पदार्थ को भी देखना है। 'एलेक्ट्रान माइक्रोस्कोप' से Molecules (यौगिक अणु) भी दिखाई पड़ने लगते हैं, किन्तु क्या यही चरम स्थिति है? Molecules को तोड़ने पर अणु दृष्टिगत होंगे। पत्तों की भाँति Molecules भी Atoms के संघात (व्यूह) हैं। शक्तिविन्यास से ही Molecules एवं Atoms की व्यूहरचना होती है। Physical Chemistry बताती है कि किस प्रकार यौगिक अणु (Molecules) में Atoms शक्तिविन्यास करके किस प्रकार व्यूह-रचना करते हैं। पत्ते के Cell में प्रोटोप्लाज्म (जैव पदार्थ) चक्कर काट रहे हैं।

Atom की अन्वीक्षा करने पर उसमें रूप, रस, गन्ध, शब्द आदि गौण लक्षण (Secondary qualities) नहीं मिलते। इनमें मात्र Primary qualities ही मिलता है। ये सावयव गुरुत्वविशिष्ट, गतिमान, परस्पर व्यावर्तक सूक्ष्म रेणुपुञ्ज मात्र रह गये हैं। Molecules में रंग है, किन्तु आगे Atoms में नहीं है। Molecules के बीच अणुओं ने शक्तिव्यूह की रचना भी की है। अणुओं (Atoms) का शक्तिव्यूह यौगिक अणु (Molecules) के शक्तिव्यूह (शक्ति-विन्यास) से अधिक सूक्ष्म एवं मौलिक है। अब तो Atom भी ठोस एवं मौलिक पदार्थ नहीं रह गया; क्योंकि उसके भी भीतर एक-एक अणु के बीच तड़िदणु ग्रहोपग्रह की भाँति चक्कर काट रहे हैं। Atom के भीतर की शक्ति असीम है, उसका वेग असीम है। इसकी शक्ति की तुलना विश्व की किसी भी शक्ति से करना असम्भव है। Atom एक निगूढ़ शक्तिव्यूह है।

तड़िदणु भी परिमित एवं सावयव हैं; अत: वहाँ भी शक्ति की क्रीड़ा चल रही है— एक नया संसार है। यह माना गया था कि ईथर के समुद्र में Electron चक्कर काट रहे हैं और एलेक्ट्रान ईथर की अवस्थाविशेष हैं, किन्तु अब वैज्ञानिक ईथर को भी अस्वीकार कर रहे हैं और Energy quanta, Four dimension continuum, Point event माने विना सब कुछ अपूर्ण ही रह जायगा।

शक्तिकूट मूर्ति (Stress system) रूपी यन्त्र के भीतर भी अनेक स्तरीय शक्ति-यन्त्र हैं—

१. पत्ते का स्थूल रूप भी एक प्रकार का शक्तिरूप है।

२. पत्ते के शिरा-प्रशिरा के मध्य रससञ्चार करने वाली भी एक शक्ति है।

३. Cell के मध्य प्रोटोप्लाज्म को चक्कर खिलाने वाली भी एक शक्ति है (इसी शक्ति

से पत्ते का बढ़ना, घटना, हरा होना एवं पीला पड़ना तथा झड़ना सभी कुछ होता है)।

४. पत्ते के मध्य यह व्यवस्था बनाये रखने, पत्ते को किसी पेड़विशेष का ही पत्ता बनाये रखने के लिए एक शक्तिव्यूह (Stress system, Constiuent forces) स्वीकार करना अपरिहार्य है। पत्ते की जीवनयात्रा चलाने हेतु शक्ति की जो व्यवस्था (शक्तिकूट) है, वही पत्ते का 'स्थूल यन्त्र' है। यही है— पत्ते का स्वाभाविक रूप।

चुम्बक के Signes of forces भी चरम तत्त्व नहीं हैं। इसके दो पोलों से शक्ति रेखायें इस प्रकार प्रसृत कैसे हुईं? चुम्बक के Signes of forces जो शक्तिकूट (यन्त्र) हमें दिखा रहे हैं, वह शक्तिकूट (यन्त्र) एक सूक्ष्मतर शक्तिकूट का कार्य है अर्थात् Dynamic frame (सचल चौखटा) एवं यौगिक अणु (मौलेक्यूल) समूह के मध्य जो शक्तिपिण्ड (Stresses) है, वही चुम्बक को दो ध्रुवों (Lines of force) से विशिष्ट यन्त्र बनाये हुये है; अन्यथा Stresses के न रहने पर चुम्बक मात्र पत्थर का टुकड़ा होता, न कि चुम्बक। चुम्बक के अभिव्यक्त गुणों (धर्मों) के मूल में इतस्तत: विक्षिप्त Lines of force को लेकर स्थित स्थूल यन्त्रमूर्ति है। Lines of force यदि इस प्रकार विखरे न होते तो चुम्बक लोहे के चूर्ण को खींच ही न पाता।

क. स्थूल शक्तिकूट या यन्त्र स्थूल रूप एवं स्थूल धर्म का आश्रय या कारण है।

ख. सूक्ष्म शक्तिकूट या यन्त्र (यथा— Molecules) स्थूल शक्तिकूट या यन्त्र का आश्रय या कारण है।

परम यन्त्र— सूक्ष्म यन्त्र → स्थूल यन्त्र। सूक्ष्म शक्तिकूट → स्थूल शक्तिकूट। इसी कार्य-कारणशृंखला को पकड़कर अन्त में चरम (परम सूक्ष्म अधिष्ठान) या सूक्ष्मतम यन्त्र तक पहुँच पायेंगे। यही चरम अधिष्ठान या चरम यन्त्र है— 'प्रकृति' या 'प्रधान'। अणुओं के शक्तिकूट (यन्त्र) में ही यौगिक अणुओं के अधिष्ठान हैं।

'बिन्दु' ही सभी यन्त्रों का यन्त्र है। बिन्दु ही शक्तिकूट की या यन्त्र की मूल प्रकृति है। यन्त्र में दो तत्त्व प्रमुख हैं—

१. यं = वायुबीज = स्पन्द, स्पर्शतन्मात्रा, गति।

२. रं = अग्निबीज = रूपायन का मूल, रूपतन्मात्रा।

रूप बाहर का ही नहीं, प्रत्युत बाह्य एवं आन्तर दोनों। वायु द्वारा विश्वस्पन्द Cosmic stress स्पन्द रूप में वायु ने दिया उपादान Material, अग्नि निमित्त बना।

३. त = 'यन्त्रम्' में य, र, त— तीन तत्त्व हैं। तं = अमृत = इष्ट = श्रेय = प्रेय। उपादान + आकृति + छन्दस— तीनों महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। जहाँ जड़, प्राण या मन के रूप में व्यक्त सत्ताशक्ति सस्पन्दावस्था में है, वहीं किसी भी श्रेय-प्रेय की सिद्धि के लिये 'छन्दस्' के आश्रय में निर्दिष्ट रूपायण ही 'यन्त्र' है। वेदों ने 'छन्दस्' से सृष्टि होने का प्रतिपादन किया है।

४. मूल, आकृति या हृल्लेखा ही स्वाभाविक रूप या यन्त्र है—

क. शब्दतन्मात्रा = मन्त्र का सम्बन्ध।
ख. रूपतन्मात्रा = यन्त्र का सम्बन्ध। } 'तदभावे तदभाव: तद्भावे तद्भाव:।'

शक्ति का जो निरतिशय केन्द्रीय घनीभाव है, उसे 'बिन्दु' कहते हैं। बिन्दु की ही कोई सविशेष सृष्टि की ओर उन्मुख कारण यन्त्र के रूप में प्राथमिक अभिव्यक्ति की अवस्था का नाम है— 'हृल्लेखा'। बिन्दु तो Cosmic casual potency (निखिल सृष्टि-बीज) है। शब्द की ओर से हृल्लेखा की अनुकृति मायाबीज 'ह्रीं' है।

ह्रीं

१. हकार = शक्ति की नादावस्था।

२. रकार = जिस शक्ति के द्वारा शक्ति रूपायित होती है।

३. ईकार = मन्थनदण्ड, जिस धुरा का आश्रय लेकर रूपायण-क्रिया चलती है ।

४. अनुस्वार = नाद।

५. सभी के मूल में स्पन्द है।

६. समस्त पदार्थों की मूल वस्तु Energy या शक्ति नाद (या Continuum) बिन्दु (या Quantum) है एवं शक्ति की विभिन्न संस्था एवं व्यूह से ही विभिन्न पदार्थ होते हैं।

यन्त्रों के विभिन्न प्रकार

साधन राज्य में विभिन्न स्नायुकेन्द्र ही 'यन्त्र' हैं। इन यन्त्रों में प्राणशक्ति को चालित करके एवं मन को स्थिर करके अनेक अलौकिक कार्य साधित किये जाते हैं। श्रीकृष्ण के शरीर के समस्त यन्त्र पूर्ण विकसित थे। इसीलिये उनकी प्रत्येक इन्द्रिय में समस्त इन्द्रियों की शक्तियाँ विकसित थीं— 'अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति।'

जिस प्रकार अणुवीक्षण यन्त्र, दूरवीक्षण यन्त्र की सहायता से हम सूक्ष्म एवं दूरस्थ पदार्थों को देखते हैं, उसी प्रकार योगी एक-एक स्नायुकेन्द्र में प्राणशक्ति चालित करके वहाँ मन के स्थिरीकरण द्वारा अतीन्द्रिय तत्त्वों का प्रत्यक्षीकरण किया करते थे।

क. प्राणशक्ति को चालित करने की प्रणाली 'तन्त्रतत्त्व' (योगतत्त्व)।

ख. मनन शक्ति को केन्द्रीभूत करने की प्रणाली 'मन्त्रतत्त्व'।

ग. शरीर के समस्त स्नायुओं के विभिन्न केन्द्रों को जागृत करके अतीन्द्रिय शक्तियों का आयत्तीकरण 'यन्त्रतत्त्व' का विषय है।

१. हृदय भी एक यन्त्र है— हृदय में संयम करने से चित्त के स्वरूप का ज्ञान होता है— 'हृदये चित्तसंवित्' (३.३४)।

२. मूर्द्धा भी एक यन्त्र है— 'मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्' (३.३२)। मूर्द्धा की ज्योति में संयम करने से सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं।

३. नाभिचक्र भी एक यन्त्र है— 'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्' (३.२९)। नाभि-चक्र में संयम करने से शरीर के व्यूह (उसकी स्थिति) का ज्ञान होता है।

४. ध्रुव भी एक यन्त्र है— 'ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्' (३.२८)। ध्रुव में संयम करने से ताराओं की गति का ज्ञान होता है।

५. सूर्य भी एक यन्त्र है— 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्'। सूर्य में संयम करने से समस्त लोकों का ज्ञान होता है।

६. कण्ठकूप भी एक यन्त्र है— 'कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः' (३.३०)। कण्ठकूप में संयम करने से भूख-प्यास की निवृत्ति हो जाती है।

७. चन्द्रमा भी एक यन्त्र है— 'चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्' (३.२७)। चन्द्रमा में संयम करने से समस्त तारों के व्यूह (स्थितिविशेष) का ज्ञान होता है।

८. स्वार्थसंयम भी एक यन्त्र है— 'ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते' (३.३६)। सत्त्वपुरुषान्यताख्याति के द्वारा स्वार्थसंयम करने से—

१. श्रावण — दिव्य शब्दश्रवण,
२. वेदन — दिव्य स्पर्श का अनुभव,
३. आदर्श — दिव्य रूप का अनुभव,
४. आस्वाद — दिव्य रस का अनुभव,
५. वार्ता — दिव्य गन्ध का अनुभव— प्राप्त होता है।

९. पञ्चभूत भी यन्त्र हैं— 'ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च' (३.४५)। भूतों पर विजय प्राप्त करने से अणिमादिक अष्ट सिद्धियाँ कायसम्पत् की प्राप्ति एवं उन भूतों के धर्मों के बन्धन से मुक्ति प्राप्त होती है।

१०. चित्त भी एक यन्त्र है— 'बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः' (३.३८)। बन्धन के कारण की शिथिलता एवं चित्त की गति का सम्यक् ज्ञान होने से चित्त को दूसरे शरीर में प्रवेश करने की शक्ति प्राप्त होती है।

११. संस्कार भी यन्त्र है— 'संस्कारसाक्षात्कारात् पूर्वजातिज्ञानम्' (३.१८)। संयम के द्वारा संस्कारों का साक्षात्कार कर लेने पर पूर्वजन्मों का ज्ञान हो जाता है।

१२. चक्र भी यन्त्र है— मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, आज्ञा, बिन्दु, अर्द्धेन्दु, व्यापिनी, रोधिनी, शक्ति, समना, उन्मना, सहस्रार आदि सभी यन्त्र हैं। इनके ४, ६, १०, १२, १६, २ दल, लं, वं, रं, यं, हं, ओं आदि बीज; डाकिनी, राकिनी, लाकिनी, काकिनी, शाकिनी, हाकिनी आदि शक्तियाँ; कामाख्या, पूर्णगिरि, जालन्धर, उड्डीयान पीठ; पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन आदि तत्त्व; ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश, सदाशिव शम्भु देवता— इन यन्त्रों के अंग हैं।

Atoms (अणु) भी एक सौर जगत् है। उनके भीतर भी तैजस् रेणुसमूह की शक्तिराशि क्रीड़ा कर रही है। अणु के यन्त्र (शक्तिकूट) के भीतर भी सूक्ष्मतर शक्ति-यन्त्र है। यह यन्त्र आणविक यन्त्र का भी कारण है। यन्त्र के भीतर यन्त्र, उसके भीतर यन्त्र और फिर उसके भी भीतर यन्त्र स्थित है। 'श्रीयन्त्र' को ही लें— वृत्त के भीतर वृत्त, उसके भीतर सूक्ष्म त्रिभुज, उसके भीतर पुन: त्रिभुज, उसके भीतर पुन: त्रिभुज का सातत्य।

विश्व के प्रत्येक पदार्थ के मध्य यन्त्र है और उस यन्त्र के मध्य भी यन्त्र है। सभी यन्त्र कार्य-कारण रूप से या अधिष्ठाता-अधिष्ठेय रूप से स्थित हैं।

बिन्दु एवं शक्तिकूट या मूल यन्त्र— यन्त्र का अर्थ है— Stresses या शक्तिकूट। भीतर का यन्त्र न रहने पर बाहर का यन्त्र भी अस्तित्व में नहीं रहेगा। पदार्थ का सबसे अधिक केन्द्रीय यन्त्र कौन है?

१. क्या यौगिक अणु-(Molecule)-सम्बन्धी यन्त्र? नहीं।

२. क्या अणु-(Atom)-सम्बन्धी यन्त्र? नहीं।

३. क्या कोश (कार्पसल Carpuscules) या एलेक्ट्रानसम्बन्धी यन्त्र? नहीं।

४. क्या ईथरसम्बन्धी यन्त्र? यह भी नहीं।

फिर वह कौन है? वह है— शक्ति की सूक्ष्मतमावस्था। यही है समस्त अवस्थाओं का कारण या अधिष्ठान।

५. शक्ति की यह केन्द्रीभूत या चरम (सूक्ष्मतम, परम कारण) अवस्था ही वह मूलाधिष्ठान है। इसी का नाम है— 'बिन्दु'। इसी बिन्दु का आश्रय लेकर ही समस्त शक्तियाँ क्रीड़ा कर रही हैं। समस्त यन्त्र इस बिन्दु की अभिव्यक्ति या उच्छूनावस्था हैं। बिन्दु चेतन-अचेतन, सजीव-निर्जीव, स्थूल-सूक्ष्म सभी यन्त्रों का यन्त्र है। यही शक्तिकूट या यन्त्र की मूलप्रकृति (कारण) है।

शैव-शाक्त ग्रन्थों में कहा गया है कि यन्त्र देवता का आसन है, उसका स्थूल शरीर है या देवता एवं समस्त विश्व का रेखात्मक सूक्ष्म ढाँचा है।

यन्त्र का शाब्दिक अर्थ— 'यन्त्र' शब्द में 'यं' वायुबीज है। वायु केवल हवा ही नहीं है, वह प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय आदि १० प्राण, ४९ मरुत, मन आदि पदार्थों को गतिमान रखने की आन्तर शक्ति आदि अनेक रूपों में व्याप्त है। 'वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' कहकर उपनिषदों में सर्वव्यापी सत्ता के सचल भाव को वायु की संज्ञा दी गयी है। उसकी यह सचलता देश-काल मात्र में ही नहीं, प्रत्युत विराट मन में काम, संकल्प, स्पन्द, चाञ्चल्य, क्षोभ आदि सभी में विद्यमान है। शाक्त तन्त्रों ने इसे ही 'स्पन्द' भी कहा। समस्त जड़ एवं चेतन सभी इसके अधिकार में हैं। यह स्पर्शतन्मात्रा भी तो है, क्योंकि वायु का गुण है— स्पर्श। मूल वस्तु निस्पन्द (गतिहीन) है। उसी का स्पन्दभाव या गतिस्वरूप वायु

है। 'यं' का अर्थसंकेत स्पन्द की ओर है। यं अर्थात् स्पन्द। इसीलिये वायु को श्रुतियों ने ब्रह्मा का एक रूप भी माना है, क्योंकि ब्रह्मा स्रष्टा है और सृष्टि के लिये गति एवं स्पन्द चाहिये।

'यन्त्रम्' में 'रं' मन्त्र भी है। 'रं' अग्निबीज है। अग्नि भी ब्रह्मा का एक रूप है। जिसके द्वारा रूपायन होता है, रूप या आकृति का निर्माण होता है या रूपान्तरण होता है, उसे कहते हैं— अग्नि। अग्नि का विशिष्ट गुण है— रूप।

यन्त्र, तन्त्र और मन्त्र— दूरवीक्षण यन्त्र को लें। उसके तीन तत्त्व दृष्टिगत होते हैं—

क. भौतिक ढाँचा (दूरवीक्षण) = यन्त्र।

ख. उसको केन्द्रगत करने (Focus) की प्रणाली = तन्त्र।

ग. मन को स्थिर करके देखना = मन्त्र।

भारतीय ऋषियों ने पिण्डस्थ प्रधान केन्द्रों (यन्त्रों) का आविष्कार किया। फिर उन यन्त्रों में प्राणशक्ति चालित करके वहाँ की गुप्त शक्ति को जागृत करने की प्रक्रिया का आविष्कार किया। इसके अनन्तर उन समस्त केन्द्रों (यन्त्रों) में मन को स्थिर करके भगवान् की अलौकिक शक्ति के प्रत्यक्षीकरण की पद्धति का आविष्कार किया गया। इन बाह्य यन्त्रों के प्रतीकों द्वारा भीतर के तत्त्वों में प्रवेश करने की व्यवस्था थी। यथा—

१. मूलाधार यन्त्र द्वारा — पृथ्वी तत्त्व में,
२. स्वाधिष्ठान यन्त्र द्वारा — जल तत्त्व में,
३. मणिपूरक यन्त्र द्वारा — अग्नि तत्त्व में,
४. अनाहत यन्त्र द्वारा — वायु तत्त्व में,
५. विशुद्धाख्य यन्त्र द्वारा — आकाश तत्त्व में,
६. आज्ञा यन्त्र द्वारा — मनस्तत्त्व में—

इनकी सिद्धि होने पर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश एवं मनस्तत्त्व पर विजय प्राप्त की जाती थी।

यन्त्र, तन्त्र और मन्त्र हमारी पूजा के अंग हैं।

'यन्त्र' हमारे देहस्थ (मेरुदण्ड में स्थित) चक्रविशेष हैं। इनमें साधनराज्य के अनेक तत्त्व बीज के रूप में स्थित हैं।

'तन्त्र' वह प्रक्रिया है, जिसके अवलम्बन द्वारा हम यन्त्रों के भीतर की गुप्त शक्ति को प्रकट करके नाना प्रकार की अलौकिक शक्तियों की सहायता से सृष्टि के रहस्य (भगवल्लीलारहस्य) के निगूढ़ रहस्यों को जान सकते हैं।

'मन्त्र' के सन्दर्भ में कहा गया है कि 'मननात् त्रायते यस्मात् तस्मात् मन्त्र उदाहृत:।' अर्थात् जिसके मनन द्वारा (चिन्तन एवं ध्यान द्वारा) संसारसागर से उत्तीर्ण होकर सांसारिक दु:खों से त्राण प्राप्त करता है, उसे मन्त्र कहते हैं।

मन्त्र के विभिन्न तत्त्व— प्रत्येक मन्त्र में निम्न तीन तत्त्व निहित हैं—

क. प्रणव या व्याहृति— परम तत्त्व के निकट जाना।

ख. बीज— परम तत्त्व का साक्षात्कार करना।

ग. देवता— लौटते समय अपने समस्त तत्त्वों को तद्भाव से परिभावित करना।

यन्त्रसाधना की आवश्यकता— यन्त्रों की पूजा के विना तत्सम्बद्ध देवता प्रसन्न नहीं होता; अतः समस्त देवताओं की पूजा में यन्त्र-पूजा का विधान है—

विना यन्त्रेण पूजायां देवता न प्रसीदति।
सर्वेषामपि देवानां यन्त्रे पूजा प्रशस्यते।।

(शाक्तानन्दतरङ्गिणी : उल्लास-१३)

स्वर्ण, रजत्, ताम्र, रौप्य, स्फटिक ६, ७, ५, ४, ३, २ या १ तोला लेकर अपने इष्टदेवता का यन्त्र निर्मित करके यन्त्र का संस्कार, यन्त्रस्नान, पञ्चगव्य-पञ्चामृतदान, स्वर्णपीठ पर यन्त्रस्थापना, अर्घ्यादि से पूजन, गायत्री मन्त्र द्वारा कुशाग्र से अभिमन्त्रण, मुद्रा-प्रदर्शन, न्यास आदि निष्पादित करना चाहिये।[1]

प्रणव शक्तिमान एवं शक्ति के रहस्यों का केन्द्र है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश का एकीकृत विग्रह है। ॐ में स्थित अर्द्धमात्रा 'शान्तं शिवं अद्वैतं' है। ॐ के अ, उ, म द्वारा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण जगत् का भी बोध है। अर्धमात्रा इन सबसे परे है। ॐ सबसे परे तत्त्व है।[2]

१. शाक्तानन्दतरंगिणी।

२. मन्त्र के बीज या वृक्ष के बीजतत्त्व में वृक्ष के इतिहास, वृक्ष के माँ-बाप का इतिहास एवं उसके भविष्य का जीवन निहित है।

चतुर्विंश अध्याय
श्रीयन्त्र

श्रीयन्त्र का अर्थ— 'श्री' का यन्त्र = श्रीयन्त्र। नियमनार्थक 'यम्' धातु से 'यन्त्र' शब्द निष्पन्न होता है। यन्त्र = गृह (नियमन का घर)। श्रीविद्या का सन्धान उसके अपने घर 'श्रीयन्त्र' में ही सम्भव है। 'श्री' उपाय एवं उपेय दोनों है। (यस्य सत्त्वस्य या योनिस्तस्यां तत्परिमार्ग्यते' (वा० रा०) अर्थात् जिस प्राणी की जो योनि होती है, वह उसी में ढूँढ़ा जा सकता है।) यह विश्व ही श्रीविद्या का गृह है। पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड दोनों ही श्रीविद्या के निकेतन हैं। मायाण्ड, प्रकृत्यण्ड, शाक्ताण्ड आदि श्रीविद्या के आलय हैं।

१. श्रीयन्त्र ब्रह्माण्डाकार है— भैरवयामलतन्त्र में कहा गया है कि हे ईश्वरि ! त्रिपुरसुन्दरी का चक्र ब्रह्माण्डाकार है—

चक्रं त्रिपुरसुन्दर्या ब्रह्माण्डाकारमीश्वरि।

२. देह श्रीचक्रस्वरूप है— भावनोपनिषद में कहा गया है कि देह नवचक्रमय है— 'नवचक्रमयो देह:'। ९ चक्र तो श्रीयन्त्र के ही हैं, न कि शरीर के; अत: अर्थ यह निकला कि शरीर नवचक्रात्मक श्रीयन्त्र है।

३. श्रीयन्त्र सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय तीनों का शक्तिकेन्द्र है।

क. बिन्दुचक्र (शिव की मूल प्रकृति से निर्मित होने के कारण) प्रकृतिस्वरूप है।
ख. शेष आठ चक्र प्रकृति-विकृति दोनों हैं।
ग. श्रीचक्र त्रितयात्मक है।
घ. बिन्दु, त्रिकोण, अष्टार सृष्टिचक्र हैं।
ङ. दशारद्वय, चतुर्दशार स्थितिचक्र हैं।
च. अष्टदल, षोडशदल, भूपुर (चतुरस्र) संहारचक्र हैं।
छ. बिन्द्वादि भूपुरान्त चक्र = सृष्टिक्रम।
ज. भूपुरादि बिन्द्वन्त चक्र = संहारक्रम।

श्री— श्री का क्या अर्थ है? 'श्रयते या सा श्री:' जो श्रयण करे, वही 'श्री' है। श्री का श्रयण व्यापार परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई हो ही नहीं सकता। जो नित्य परब्रह्म का आश्रयण करती है, वही 'श्री' है। ब्रह्म से उसकी शक्ति (श्री) अभिन्न है और उससे कभी पृथक् नहीं हो सकती। श्री के कारण ही ब्रह्म को अनन्त शक्ति (सृष्टि-स्थिति-पालन) वाला कहते हैं—

शिव: शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त: प्रभवितुम्।
न चेदेवं देवो न खलु कुशल: स्पन्दितुमपि।।

परमात्मा विना शक्ति के तो स्पन्दित तक भी नहीं हो सकता। विना शक्ति के शक्तिमान का अस्तित्व कहाँ—

न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः।
नानयोरन्तरं किञ्चिच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव।।

श्री की विश्रमण अवस्था— परमशिव की यह श्रीरूपा शक्ति (विमर्श शक्ति) विश्रमणावस्था में (प्रलयावस्था में) ब्रह्मरूप से विराजमान रहती है। इस अवस्था में शक्ति का शक्तिमान से पृथक् अस्तित्व (विवेक) सम्भव नहीं है। यह ब्रह्म में लीन रहती है। इसी अवस्था में इसे 'महाबिन्दु' या 'परब्रह्म' कहते हैं। चूँकि ब्रह्म को अनन्त शक्ति प्रदान करने वाली यह शक्ति प्रलयकाल में ब्रह्म में लीन रहती है; अतः ब्रह्म के रहते हुये भी प्रलयकाल में सृष्टि नहीं हो पाती। शक्ति के लीन रहने से ब्रह्म अशक्त-सा हो जाता है। विमर्श शक्ति के सम्मुख हुये विना अनन्त शक्तिमान ब्रह्म में कोई शक्ति नहीं रहती, क्योंकि वह स्वरूपतः तो निर्गुण, निष्कल एवं निरञ्जन है। विश्रमणावस्थापन्न शक्ति के इसी स्वरूप का इस प्रकार से वर्णन किया गया है—

अचिन्त्यामिताकारशक्तिस्वरूपा प्रतिव्यक्त्यधिष्ठानसत्तैकमूर्तिः।
गुणातीतनिर्द्वन्द्वबोधैकगम्या त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा।।

इस श्रीयन्त्र के स्वरूप का जिसे ज्ञान हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है और महात्रिपुरसुन्दरीस्वरूप हो जाता है—

विदिता येन स मुक्तो भवति महात्रिपुरसुन्दरीरूपः।

श्रीचक्र के तीन पुर हैं— सोमात्मक, सूर्यात्मक एवं अनिलात्मक। कहा भी है—

पुरत्रयञ्च चक्रस्य सोमसूर्यानलात्मकम्।

श्रीचक्र के तीन खण्ड हैं—

१. जाग्रत्	२. स्वप्न	३. सुषुप्ति
१. प्रमाता	२. प्रमेय	३. प्रमाण
१. सूर्य	२. चन्द्र	३. अग्नि।

भगवती त्रिपुरसुन्दरी का रम्य राजमहल (श्रीयन्त्र) पुरत्रय, खण्डत्रय से युक्त है—

१. पुरत्रयञ्च चक्रस्य सोमसूर्यानलात्मकम्।
२. त्रिखण्डं मातृकाचक्रं सोमसूर्यानलात्मकम्।

श्रीचक्र विश्वमय है। 'शब्दसृष्टि' की दृष्टि से मातृकामय भी है। श्रीचक्र ब्रह्माण्ड एवं पिण्डाण्ड दोनों है।

सृष्टि— १. शब्दसृष्टि (मातृकारूपा) : शब्दात्मिका।
२. अर्थसृष्टि (तत्त्वरूपा) : तत्त्वात्मिका।

मातृका के खण्डत्रय— १. स्वर = चान्द्र खण्ड।
(ब्रह्माण्ड में) २. स्पर्श = सौर खण्ड।
३. अन्तस्थ ऊष्म = आग्नेय खण्ड।

(पिण्डाण्ड में)— शिर, हृदय, मूलाधारान्त ३ भाग = तेजत्रयात्मक।
हाथ = मध्यभाग की शाखा।
पैर = अन्त्य भाग की शाखा।

श्रीचक्र— चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।
शिवशक्त्यात्मकं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः।।

श्रीचक्र शिव-शक्ति का शरीर है— 'श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः'।

५ शक्तिचक्र + ४ शिवचक्र— श्रीयन्त्र।

इसके पुरत्रय हैं—

क. प्रमातृपुर— बिन्दु, त्रिकोण, अष्टार, अष्टदल (आग्नेयखण्ड = प्रमातृपुर)।
ख. प्रमाणपुर— दशारद्वय, चतुरस्र (सौरखण्ड)।
ग. प्रमेयपुर— चतुर्दशार, षोडशदल (चान्द्रखण्ड)।

श्रीयन्त्र इच्छा-ज्ञान-क्रिया एवं नाद-बिन्दु-कला के रूप में भी पुरत्रय से युक्त है।

मर्मस्थान— श्रीचक्र में २८ मर्मस्थान हैं।

सन्धिस्थान— श्रीचक्र में २४ सन्धियाँ हैं—

सन्धि = द्विरेखासङ्गमस्थानं सन्धिरित्यभिधीयते।
मर्म = त्रिरेखासङ्गमस्थानं मर्मं मर्मविदो विदुः।।
सन्धि = मन्वश्रद्विदशाराष्टकोणवृत्तचतुष्टयम्।
मर्म = अष्टाविंशतिमर्माणि चतुर्विंशतिसन्धयः।।

अष्टदल-षोडशदल-मेखलात्रय-भूपुरत्रय शिवचक्रों का त्रिरेखासंगमस्थानत्वाभाव होने पर भी वाचनिका मर्म संज्ञा होती है।

नवयोनिचक्र— अन्तरतम बैन्दव चक्र से नौ त्रिकोण नवयोनिचक्र के नाम से आविर्भूत होते हैं। नवयोनिचक्र के नौ अवयव निम्नांकित हैं—

१. धर्म	४. अन्तरात्मा	७. प्रमाता जीव
२. अधर्म	५. परमात्मा	८. प्रमेय
३. आत्मा	६. ज्ञानात्मा	९. प्रमा

ये नवयोनिचक्र भीतर एवं बाहर चिदानन्दमय हैं। ये चैतन्यकलामय एवं पूर्णहन्ता-स्फुरणात्मक एवं आनन्दपूर्ण हैं। ये देश-काल एवं आकार से अपरिच्छिन्न हैं। बैन्दव चक्र, आभ्यन्तर एवं वैखरी वाङ्मय— ये नवयोनिचक्र बाह्य हैं।

नवयोनिचक्र ही श्रीचक्र के नव चक्रों के रूप में परिणत हो गये हैं। अन्तरतम से बाह्य की ओर प्रसृत होने वाले इन चक्रों की आख्या निम्नांकित है—

श्रीचक्र के विभिन्न चक्र—

१. महाबिन्दु (सर्वानन्दमय चक्र)।

२. त्रिकोण (सर्वसिद्धिप्रद चक्र)।

३. अष्टकोण (सर्वरक्षाकर चक्र)।

४-५. दशारद्वय— क. सर्वार्थसाधक चक्र, ख. सर्वरोगहर चक्र।

६. चतुर्दशार (सर्वाशापरिपूरक चक्र)।

७. अष्टदल कमल (सर्वसंक्षोभण चक्र)।

८. षोडशदलकमल (सर्वसौभाग्यदायक चक्र)।

९. तीन चतुरस्र (भूपुर = त्रैलोक्यमोहन चक्र)।

त्रिकोण के ३ स्पन्दनों से अष्टकोण का आविर्भाव होता है। यह त्रिकोण को वेष्टित करके रखता है।

दश कोण = १. आभ्यन्तर, २. बाह्य।

आभ्यन्तर दश कोण— नौ त्रिकोणों एवं बैन्दव के चारो ओर स्फुरणशील प्रकाशों से निर्मित है। इनसे 'य र ल व श ष ह ल क्ष'— इन दश वर्णों की स्फूर्ति होती है।

इन १० वर्णों से पृथिव्यादिक पञ्चभूत एवं गन्धादिक पञ्च तन्मात्राओं या भूतसूक्ष्म प्रकाशित होते हैं।

वर्ण शक्तिस्वरूप हैं, जबकि अर्थ शिवस्वरूप हैं। दश कोण प्रकाश-विमर्शमय हैं।

द्वितीय दश कोण (बाह्य दशार) आभ्यन्तर दश कोणों की छाया है। इसमें 'क' से 'ञ' तक १० वर्ण हैं। इनसे शब्दादि पाँच एवं वचनादि पाँच इन्द्रियार्थों का स्फुरण होता है। द्वितीय दशार— चतुर्दशार।

चतुर्दशार में १४ 'अर' हैं, जिनमें बैन्दव, त्रिकोण, अष्टकोण एवं प्रथम दशार की प्रभाचतुष्टय हैं। चतुर्दशार संवित्तिकरणात्मक १४ शक्तियों के रूप हैं— बाह्य इन्द्रियाँ १० एवं अन्तःकरणचतुष्टय। यहाँ 'ट' से 'भ' तक १४ वर्ण विद्यमान हैं। इसके पश्चात् आते हैं— अष्टदल एवं षोडशदल। इन दो कमलों के साथ तीन वृत्त हैं। इसके पश्चात् आते हैं— ४ चतुष्कोण या भूपुर। ये भी श्रीचक्र की बाह्य सीमा या बाह्य प्राचीर है।

श्रीचक्र का आविर्भाव— योगिनीहृदय में कहा गया है कि जब परमा शक्ति स्वेच्छापूर्वक अपनी स्फुरत्ता (विश्वसर्जनमेव परा शक्तेः स्फुरत्ता) का अवलोकन करती है, तभी चक्र का प्रादुर्भाव हो उठता है—

यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य सम्भवः।।९।।

स्वान्त:संहृत विश्व को सिसृक्षा द्वारा विश्वरूपिणी परमा शक्ति (विमर्शरूपिणी परा शक्ति) विश्वसृजन करती है और शिव? शिव तटस्थ या उदासीन रहता है; क्योंकि 'न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते'। विमर्शस्वरूपा यह शक्ति ही जगत् का निगिरण-उद्गिरणं करती है—

स्वेच्छयैव जगत्सर्वं निगिरत्युद्गिरत्यपि। (आज्ञावतार)

अर्थात् 'सा देवी स्वेच्छया स्वनिष्ठां स्फुरत्तां यदा पश्यति तदा चक्रस्य विश्वाभिन्नस्य त्रिकोणादिचक्रस्य सम्भव उत्पतिर्भवतीत्यर्थ:।'[१]

५ शक्तियों एवं ४ वह्नियों के संयोग से ही चक्रों का आविर्भाव होता है—

तच्छक्तिपञ्चकं सृष्ट्या लयेनाग्निचतुष्टयम्।
पञ्चशक्तिचतुर्वह्निसंयोगात् चक्रसम्भव:।।

(संयोग— चक्राविर्भाव। संयोग = ५ शक्ति + ४ वह्नि का सम्यक् योग = संयोग। शक्ति + वह्नि + संश्लेष = संयोगचक्रोत्पत्ति)।

श्रीचक्र का स्वरूप— यह नवयोन्यात्मक है—

नवयोन्यात्मकं चक्रं चिदानन्दघनं महत्।
चक्रं नवात्मकमिदं नवधा भिन्नमन्त्रकम्।। (योगिनीहृदय)

श्रीचक्र चिदानन्दघन है।

यन्त्र के अंग— यन्त्र के दश अंग होते हैं और वे निम्नांकित हैं—

१. बीज
२. प्राण
३. शक्ति
४. दृष्टि
५. वश्यादिक
६. मन्त्र
७. मन्त्रयन्त्राख्य गायत्री
८. प्राणस्थापन
९. भूत
१०. दिक्पाल बीज

बीजं प्राणं च शक्तिं च दृष्टिं वश्यादिकं तथा।
मन्त्रतन्त्राख्यगायत्री प्राणस्थापनमेव च।
भूतदिक्पालबीजानि यन्त्रस्याङ्गानि वै दश।। (यन्त्राङ्गदशक)

श्रीचक्र का चिदानन्दघनत्व क्या है? (चित् = चैतन्य कला। 'आनन्द' विश्वा-हन्तापरिणाम, उससे घन (बाहर-भीतर सर्वत्र निबिड़), यथा— लवण) प्रथम त्रिकोण पश्यन्ती आदि त्रितयात्मक हैं। बाह्य चक्र वैखरीमय है। त्रिकोणत्रय रूप से यह नवात्मक है अर्थात् त्रैलोक्यमोहन आदि चक्रों के रूप में परिणत होकर नवात्मक है। त्रिकोण चक्र ही नवचक्रात्मक स्वरूप में परिणत हो जाता है।

इन्दुमण्डलात्मक श्रीचक्र का स्वरूप है क्या?

---

१. योगिनीहृदय (सेतुबन्ध : भास्कर)

चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः।
चतुश्चत्वारिंशद्वसुदलकलात्रिवलय
त्रिरेखाभिः सार्धं तव शरणकोणाः परिणताः।। (सौन्दर्यलहरी)

श्रीचक्र के आवरण— श्रीचक्र के नौ आवरण होते हैं, जो कि निम्नवत् हैं—

१. भूपुर ४. चतुर्दशार कोण ७. अष्टकोण
२. षोडशदल पद्म ५. बहिर्दशार ८. त्रिकोण
३. अष्टदल पद्म ६. अन्तर्दशार ९. बिन्दु

श्रीयन्त्र अयोध्या है— तैत्तरीयारण्यक श्रुति में कहा गया है कि अष्टकोण, दश-कोण, द्वितय, चतुर्दश कोण, अष्टपत्र, षोडशपत्र, त्रिवलय, त्रिरेखा आदि आठ चक्रों वाली ९ त्रिकोणात्मक (अर्थात् ९ द्वारों वाली) देवपूज्या, सोम-सूर्य-अनल से युक्त अयोध्या नाम की पुरी है। इसमें हिरण्मय कोष (सहस्रदल कमल) है, जिसकी ज्योति से स्वर्ग-लोक आच्छादित है—

अष्ट चक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गे लोको ज्योतिषावृत्तः।।

श्रीचक्रपुरी ही अयोध्या नगरी है।

श्रीचक्र परमशिव का विश्राम-निलय है।

मूल चैतन्य के दो पक्ष (दो शक्तियाँ)

चैतन्य = शिव। चैतन्यभाव = शिव।
(महाशक्ति का चैतन्यभाव)

गति (गतिभाव = शक्ति)
(महाशक्ति का गतिप्रवाह = शक्ति)

बाह्य दिदृक्षा की उत्तरोत्तर उत्कटता— मूल चिति में अभिन्न रूप से स्थित चैतन्य + क्रिया (शिव + शक्ति) में भेद का प्रादुर्भाव एकाग्रता— भेद का शमन— दोनों धाराओं में सामरस्य की उत्तरोत्तर वृद्धि = अद्वैतभाव, भेदाभाव = ऐक्य।

श्रीचक्र भगवती महाशक्ति के क्रियाभाव का दिग्दर्शक है।

श्रीचक्र महाशिव का विश्रामस्थान है। इसमें महाशक्ति की गतिशक्ति— श्रीमहाविद्या का अखण्ड स्फुरण (स्पन्दन) भी प्रवाहित है। श्रीचक्र शिव के चैतन्यभाव एवं शक्ति के क्रियाशील गतिभाव या स्पन्द का मिथुनात्मक रूप अवस्थित है। श्रीचक्र में पञ्चविध साम्य— १. अवस्थानसाम्य, २. अधिष्ठानसाम्य, ३. अनुष्ठानसाम्य, ४. रूपसाम्य एवं ५. नामसाम्य— द्वारा सामरस्यापन्न शिवशक्ति दम्पति का एकात्मक मिथुन स्वरूप परमो-पास्य माना जाता है। श्रीचक्र शिव-शक्ति का श्रीविग्रह है। इसके सतत् चिन्तन, मनन, निदिध्यासन एवं पूजन से अपने इष्टदेवता के साथ तादात्म्य एवं महामुक्ति दोनों प्राप्त

होती है। श्रीचक्र की उपासना या पूजा भगवती की ही पूजा का पर्याय है। विश्वरूप परा शक्ति स्वेच्छावश जैसे ही अपनी स्फुरत्ता का चिन्तन करती है, वैसे ही श्रीचक्र उत्पन्न हो जाता है।

श्रीचक्र पिण्डब्रह्माण्डैक्य का एक निदर्शन है। यहाँ आकर व्यष्टि और समष्टि दोनों एकीभूत हो जाते हैं। यह सृष्टिक्रम भी है और लयक्रम भी।

बिन्दु से आरम्भ करके बाह्योन्मुखी यात्रा पर जाने पर सृष्टि होती है, इसे ही सृष्टि-क्रम कहते हैं। यह भगवती त्रिपुरसुन्दरी (परमा शक्ति) की स्फुरत्ता का मार्ग है— सृष्टि की यात्रा है। बाहर के चक्र से आरम्भ करके भीतर की ओर यात्रा करने पर लय की यात्रा होती है। इसे लयक्रम कहते हैं।
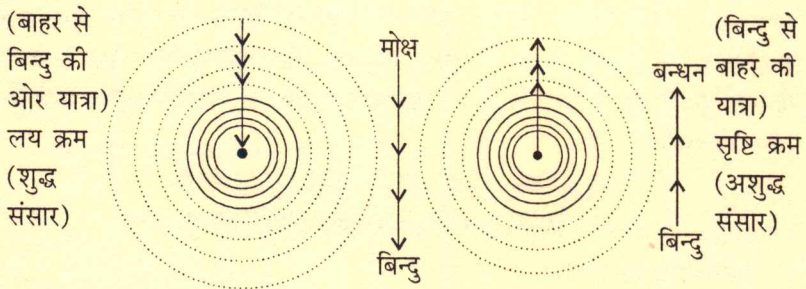
(बिन्दु से बाहर की ओर यात्रा : सृष्टि-क्रम : सृजन : बन्धन)
(बाहर से बिन्दु की ओर यात्रा : संहार-क्रम : प्रलय : मुक्ति)

पञ्चदशाक्षरात्मक मन्त्ररूप पञ्चदशी विद्या भी उसी प्रकार की (त्रिपुरा की ही) भाँति चिदानन्दस्वरूपिणी, विश्वात्मिका एवं विश्वोत्तीर्णा है। यह सूक्ष्मा त्रिपुरा सुन्दरी देवी है। तत्त्वविद् योगियों ने विद्या (पञ्चदशी विद्या) एवं वेद्य (त्रिपुरसुन्दरी देवी) दोनों में शाश्वतिक सामरस्य (अभेद) का प्रतिपादन किया है।

देवी मातृका एवं चक्रों से भी अभिन्न हैं। वितर्कातीतस्वरूप वाली महेशी देवी, जो कि पश्यन्ती आदि मातृकाओं के रूप में व्यक्त होने के कारण त्रिरूपात्मिका हैं और चक्र के रूप में परिणत हो गई हैं—

स्पष्टा पश्यन्त्यादि त्रिमातृकात्मा च चक्रतां याता।।

महेशी एवं चक्र में रञ्चमात्र भी भेद नहीं है—

चक्रस्यापि महेश्या न भेदलेशोऽपि भाव्यते विबुधैः।।

यही है— चक्र एवं देवी में अभेदात्मकता।

त्रिकोण, पश्यन्ती एवं अन्य वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, अम्बिका एवं परा शक्ति इस शक्तिचक्र का एक भाग है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया एवं शान्ता उत्तरवर्ती भाग है। 'अ' एवं

'ह' व्यष्टि एवं समष्टि रूप में गृहीत किये जाने पर ग्यारह रूपों वाली पश्यन्ती का निर्माण करते हैं।
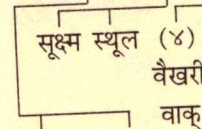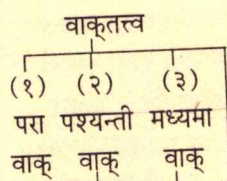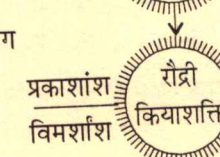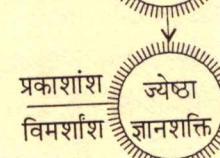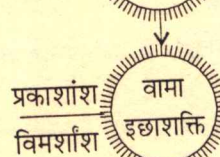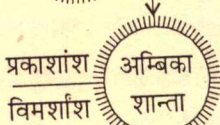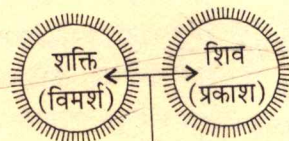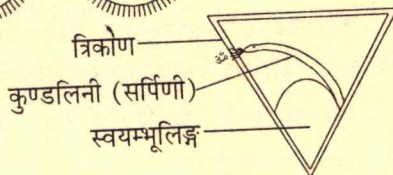
परा भूर्जन्म पश्यन्ती वल्ली गुच्छसमुद्भवा।
मध्यमा सौरभा वैखर्यक्षमाला जयत्यसौ।।

(सुभगोदयवासना)

१. इच्छाशक्तिस्तदा सेयं पश्यन्ती वपुषा स्थिता।

२. ज्ञानशक्तिस्तथा ज्येष्ठा मध्यमा वागुदीरिता।
ऋजुरेखामयी शृङ्गाटग्ररेखाकारा मध्यमा वागुदीरिता।।

३. क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा।।

श्रीचक्र एवं पिण्डस्थ यौगिक चक्रों में तादात्म्य—

१. त्रिकोण=आधार चक्र
२. अष्टकोण=स्वाधिष्ठान चक्र
३. दशार=मणिपूर चक्र
४. द्वितीय दशार=अनाहत चक्र
५. चतुर्दशार=विशुद्धि चक्र
६. शिवचक्रचतुष्टय=आज्ञाचक्र
७. बिन्दुस्थान चतुरस्र=सहस्रकमल

→ श्रीचक्र एवं श्रीयन्त्र में ऐकात्म्य है—

त्रिखण्डं ते चक्रं शुचिरविशशांकात्मकतया
मयूखैः षट्त्रिंशद्दशयुततया खण्डकलितैः।
पृथिव्यादौ तत्त्वे पृथगुदितवद्भिः परिवृतं
भवेन्मूलाधारात्प्रभृति तव षट्चक्रसदनम्।।
(गौड़पादाचार्य)

८. षोडशी कला का प्रतिफलन = आज्ञाचक्रगत चन्द्रमा की १५ कलायें। (८६)

सहस्रारस्थ चन्द्रमा नित्यकल है। कला सादाख्या कहलाती है। (८६)

भैरवयामल में श्रीचक्र एवं पिण्डस्थ चक्रों में अविनाभाव सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है और कहा गया है—

मूलाधारं तथा स्वाधिष्ठानं च मणिपूरकम्।
अनाहतं विशुद्ध्याख्यमाज्ञाचक्रं विदुर्बुधाः।।

तवाधारस्वरूपाणि कोणचक्राणि पार्वति।
त्रिकोणरूपिणी शक्तिः बिन्दुरूपशिवः स्मृतः।।

अविनाभावसम्बन्धः तस्माद्बिन्दुत्रिकोणयोः।
अधोमुखं चतुष्कोणं शिवचक्रात्मकं विदुः।।

अधोमुखानि चत्वारि त्रिकोणानि शिवात्मकानि।
शिवचक्राणि बाह्यानि तद्रूपेणावस्थितानि।।

कौलमत— ४ अधोमुख ४ त्रिकोण शिवात्मक हैं एवं ऊर्ध्वमुख ५ त्रिकोण शक्ति-त्रिकोण हैं। कौलमत में संहारक्रम से नवत्रिकोणात्मक श्रीचक्र का लेखन किया जाता है।[1]

योगिनीहृदय के चक्रसंकेत में श्रीचक्र की नव योनियों एवं ९ चक्रों का नाम इस प्रकार बताया गया है—

यस्य विज्ञानमात्रेण त्रिपुराज्ञानवान् भवेत्।
चक्रस्य नवधात्वं च कथयामि तव प्रिये।।७९।।

(क) आदिमं भूत्रयेण स्याद् द्वितीयं षोडशारकम्।
अन्यदष्टदलं प्रोक्तं मनुकोणमनन्तकम्।।८०।।

पञ्चमं दशकोणं स्यात् षष्ठं चापि दशारकम्।
सप्तमं वसुकोणं स्यान्मध्यत्र्यस्रमथाष्टमम्।।८१।।

---

१. लक्ष्मीधर : लक्ष्मीधरा।

नवमं त्र्यस्रमध्यं स्यात्तेषां नामान्यतः शृणु।

* * * * *

(ख) त्रैलोक्यमोहनं चक्रं सर्वाशापरिपूरकम्।।८२।।

सर्वसंक्षोभणं गौरि ! सर्वसौभाग्यदायकम्।
सर्वार्थसाधकं चक्रं सर्वरक्षाकरं परम्।।८३।।

सर्वरोगहरं देवि ! सर्वसिद्धिमयं तथा।
सर्वानन्दमयं चापि नवमं शृणु सुन्दरि।।८४।।

अत्र पूज्या महादेवी महात्रिपुरसुन्दरी।
परिपूर्णं महाचक्रमजरामरकारकम्।।८५।।

श्रीचक्र से सम्बद्ध महाचक्रसंकेत, जो त्रिपुरा देवी से सम्बद्ध है, जीवन्मुक्ति प्रदान करता है। योगिनीहृदय में कहा भी गया है—

एवमेव महाचक्रसंकेतः परमेश्वरि।
कथितस्त्रिपुरादेव्याः जीवन्मुक्तिप्रवर्तकः।।

पिण्डस्थ षट् चक्रों एवं श्रीयन्त्र के नौ चक्रों में भी तादात्म्य है। मूलतः षट्चक्र एवं ९ चक्र एक ही हैं। महाबिन्दु दोनों का मूलाधार है।

नव चक्र एवं उनमें अधिष्ठित शक्तियाँ और उनका तादात्म्य— योगिनीहृदय के मन्त्रसंकेत में इनका विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

तासां नामानि वक्ष्यामि यथानुक्रमयोगतः।
तत्राद्या त्रिपुरा देवी द्वितीया त्रिपुरेश्वरी।।९।।

तृतीया च तथा प्रोक्ता देवी त्रिपुरसुन्दरी।
चतुर्थी च महादेवी देवी त्रिपुरवासिनी।।१०।।

पञ्चमी त्रिपुराश्रीः स्यात्षष्ठी त्रिपुरमालिनी।
सप्तमी त्रिपुरासिद्धिरष्टमी त्रिपुराम्बिका।।११।।

नवमी तु महादेवी महात्रिपुरसुन्दरी।
पूजयेच्च क्रमादेता नवचक्रे पुरोदिते।।१२।।

ये नव देवियाँ (विद्यायें) नवचक्रेश्वरी कहलाती हैं। इनका न्यासक्रम 'एता विद्या नवचक्रेश्वर्यः पादाग्रादिष्वकुलादिषु स्वस्वस्थानेषु च स्वरूपेण भावनारूपेण क्रमेण न्यस्तव्या।' (सेतुबन्ध) के रूप में निर्धारित है।

ये चक्रेश्वरी देवियाँ आद्या शक्ति (शिवादि क्षित्यन्त समस्त जगत् की मूल कारण-भूता शक्ति) परशिव की विमर्श शक्ति से एकाकार हैं। मूलतः उनमें एवं आद्या विमर्श शक्ति में भेद नहीं है। 'परा पूजा' में शक्तियों की यह सामरस्यापन्नावस्था अनुसन्धेय है—

एवं नवप्रकाराद्या पूजाकाले तु पार्वति।
एकाकारा ह्याद्यशक्तिरजरामरणकारिणी।।

(योगिनीहृदय : मन्त्रसंकेत-१३)

चूँकि श्रीचक्र शिव-शक्ति के समायोग से आविर्भूत हुआ है और उसी प्रकार मन्त्र-राज भी— 'शिवशक्तिसमायोगाज्जनितो मन्त्रराजकः' (मन्त्रसंकेत-१७); अतः पूजा के समय श्रीचक्र एवं श्रीविद्या में तो अभेदात्मकता मानकर पूजा करनी ही चाहिये; साथ ही देवता, गुरु, मन्त्र, श्रीचक्र, कुण्डलिनी, नाद, शक्ति आदि सभी के साथ अपनी अभेदात्मकता की भावना करते हुये समस्त साधनायें अनुष्ठित करनी चाहिये। श्रीविद्या एवं श्रीचक्र भी मूलतः एकाकार हैं।

श्रीमन्त्र उभयात्मक है— १. शैवमार्ग, २. शक्तिमार्ग, ३. उभयात्मक—

कत्रयं हद्वयं चैव शैवो मार्गः प्रकीर्तितः।
शक्त्यक्षराणि शेषाणि ह्रींकार उभयात्मकः।।

(हकार = शिव। सकार = शक्ति। ह्रींकार = उभयात्मक)

'हंसः' शिवशक्त्यात्मक है; क्योंकि 'ह' शिव है और 'स' शक्ति है; अतः 'हंसः' परस्पर समरसापन्न शिव-शक्तिरूप है।

चक्र, मन्त्र, मातृका एवं अधिष्ठात्री शक्तियाँ परा शक्ति मातृका (परा मातृका = पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीरूप से सर्वव्याप्त) से अभिन्न हैं—

ज्ञातृज्ञानमयाकारमननान्मन्त्ररूपिणी ।
तेषां समष्टिरूपेण पराशक्तिस्तु मातृका।।

(योगिनीहृदय : मन्त्र-२०)

तेषां समष्टिरूपेण पराशक्तिं तु मातृकाम्।
कूटत्रयात्मिकां देवीं समष्टिव्यष्टिरूपिणीम्।।

(योगिनीहृदय : मन्त्र-२४)

यह एकाकारता ही तो श्रीविद्या का भावार्थ है। अतः नवचक्रार्चन एवं चक्रों की विभावना में एकाकारता प्राणतत्त्व है। शाक्त दर्शन सिद्धान्त एवं उपासना दोनों क्षेत्रों में अद्वैतवाद को लेकर चलता है।

श्रीचक्र एवं उनकी अधिष्ठात्री शक्तियों में भी तादात्म्य है।

षट्चक्रों एवं श्रीयन्त्र के नौ चक्रों में तादात्म्य

योगिनीहृदय में कहा गया है—

अकुलादिषु पूर्वोक्तस्थानेषु परिचिन्तयेत्।
चक्रेश्वरीसमायुक्तं नवचक्रं पुरोदितम्।। (मन्त्रसंकेत-८)

योगिनीहृदयदीपिका में अमृतानन्द कहते हैं— १. अकुले सुषुम्नामूलारुणसहस्रदल-कमले त्रिपुराधिष्ठितं त्रैलोक्यमोहनचक्रम्। २. वह्नावाधारे चतुर्दलकमले त्रिपुरेश्यधिष्ठितं सर्वाशापरिपूरणं चक्रम्। ३. शाक्ते स्वाधिष्ठानस्थितषड्दलकमले त्रिपुरसुन्दर्यधिष्ठितं सर्व-संक्षोभणं चक्रम्। ४. नाभौ दशदलकमले त्रिपुरवासिन्यधिष्ठितं सर्वसौभाग्यदायकचक्रम्। ५. अनाहते द्वादशदलकमले त्रिपुराश्रीसमधिष्ठितं सर्वार्थसाधकं चक्रम्। ६. विशुद्धौ षोडशदल-कमले त्रिपुरमालिन्यधिष्ठितं सर्वरक्षाकरं चक्रम्। ७. लम्बिकाग्रे तालुमूले अष्टदलकमले त्रिपुरासिद्ध्यधिष्ठितं सर्वरोगहरं चक्रम्। ८. भ्रुवोरन्तरे द्विदलकमले त्रिपुराम्बिकाधिष्ठितं सर्व-सिद्धिप्रदं चक्रम्। ९. इन्दौ ललाटे बिन्दौ महात्रिपुरसुन्दर्यधिष्ठितं सर्वानन्दमयं चक्रं भावयेत्।

* मूलाधार चक्र *
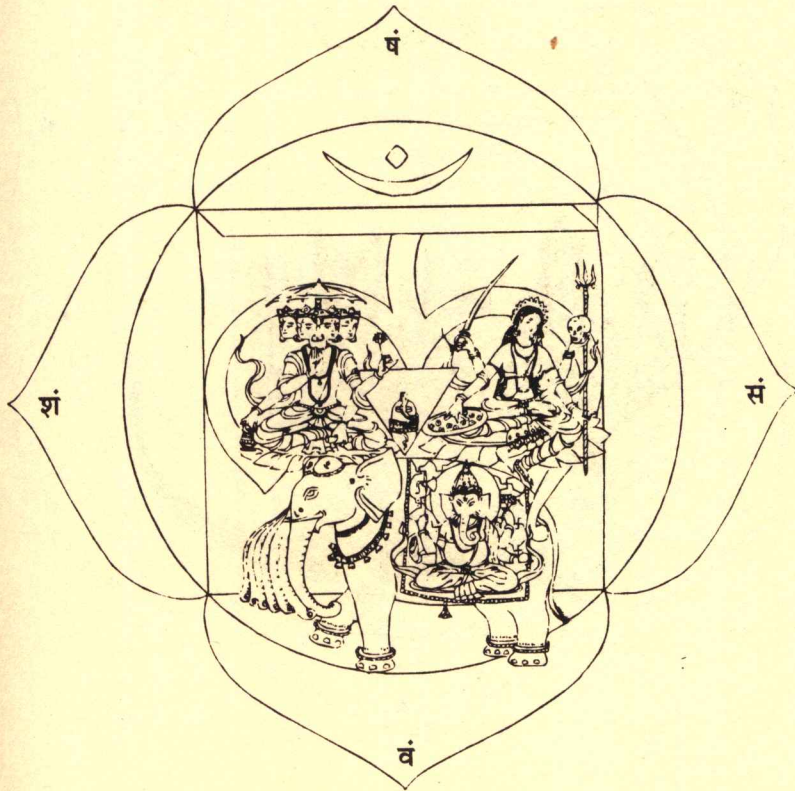
योनि की तीन रेखायें हैं— इच्छा, ज्ञान, क्रिया।

* स्वाधिष्ठान चक्र *
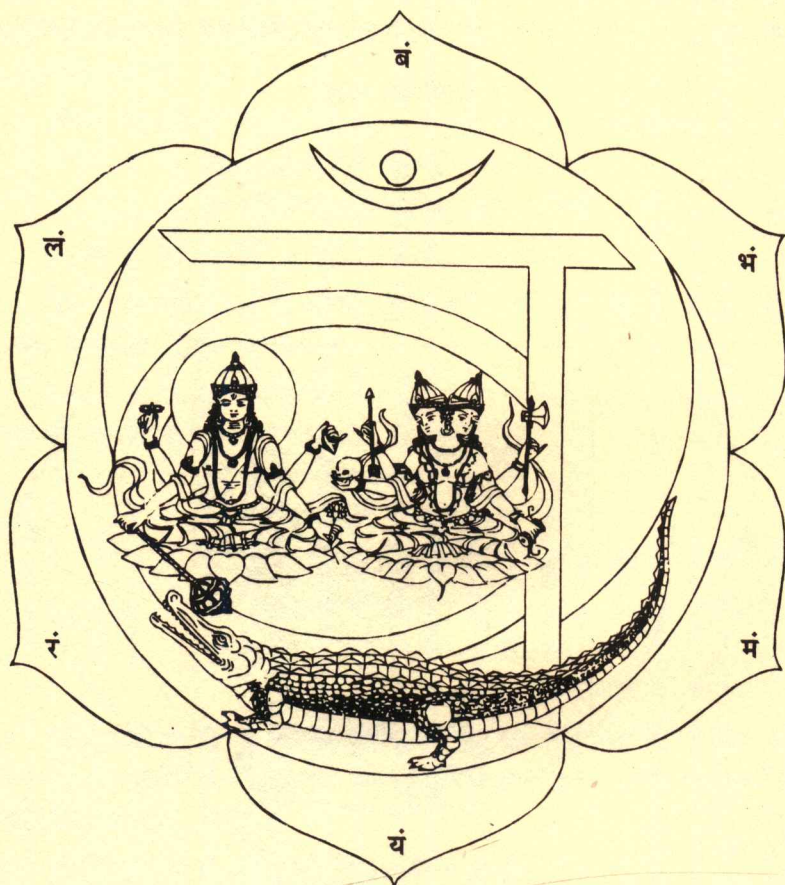
* मणिपूरक चक्र *
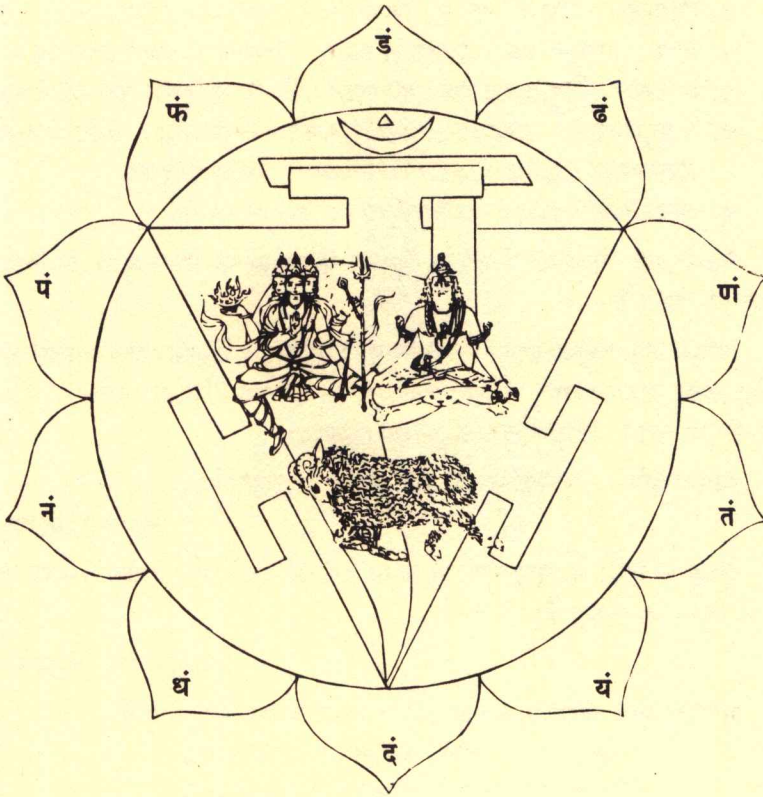
षट्चक्रों एवं श्रीचत्र के नौ चक्रों में तादात्म्य का विवरण

१. अकुल : सुषम्ना मूलारुण सहस्रदलकमल में त्रैलोक्यमोहन चक्र एवं भगवती त्रिपुरा अधिष्ठात्री शक्ति के रूप में अधिष्ठित हैं। इसी प्रकार—

२. वह्नि का आधार : चतुर्दल पद्म : त्रिपुरेशी : सर्वाशापरिपूरणचक्र।

३. शाक्त स्वाधिष्ठान : षड्दल पद्म : त्रिपुरसुन्दरी : सर्वसंक्षोभणचक्र।

४. नाभिस्थान : दशदल कमल : त्रिपुरवासिनी : सर्वसौभाग्यदायकचक्र।

५. हृदय : अनाहत चक्र : द्वादशदल कमल : त्रिपुराश्री : सर्वार्थसाधकचक्र।

६. कण्ठस्थान : विशुद्धाख्य चक्र : षोडशदल पद्म : त्रिपुरमालिनी : सर्वरक्षाकरचक्र।

७. तालुमूलस्थान : लम्बिकाग्र : अष्टदल कमल : त्रिपुरासिद्धि : सर्वरोगहरचक्र।

८. भ्रूमध्यस्थान : द्विदल कमल : त्रिपुराम्बिका : सर्वसिद्धिप्रदचक्र।

९. ललाटस्थान : बिन्दु : महात्रिपुरसुन्दरी : सर्वानन्दमयचक्र।

भास्कर राय 'सेतुबन्ध' में उपर्युक्त विवरण के आधार पर न्यास करने का विधान करते हुये कहते हैं—

'अकुलं विषुराधारस्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतं विशुद्धिरिन्द्रियोनिराज्ञा चेति नवस्थानेष्वपि क्रमेण तत्तत् विद्यान्ते तत्तत् चक्रेश्वरी तच्चक्रनामनी उल्लिख्य न्यसेत्। यथा— अं आं सौः त्रिपुरासहिताय त्रैलोक्यमोहनचक्राय नमः।' आदि।

न्यासपद्धति— 'पुष्पैर्वाऽनामया वापि मनसा वा न्यसेद्गुणम्।'

(दक्षिणामूर्तिसंहिता)

देवता के शरीर में न्यास पुष्पों से करना चाहिये। अपने अन्तःशरीर में न्यास मन से भी किया जा सकता है।

(भास्कर राय : सेतुबन्ध)

भगवती स्वयं चक्राकार रूप में परिणत होकर श्रीचक्र बन जाती हैं—

सेयं परा महेशी चक्राकारेण परिणमेद्यदा।
स्पष्टा पश्यन्तादि त्रिमात्रिकाला च चक्रतां याता।।

(कामकलाविलास)

* अनाहत चक्र *
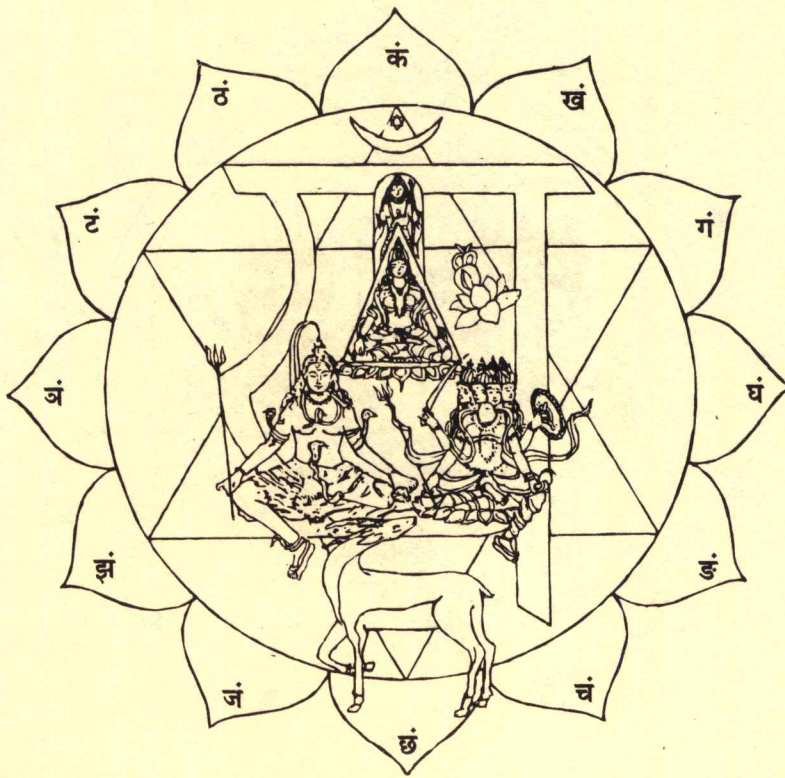
* विशुद्धि चक्र *
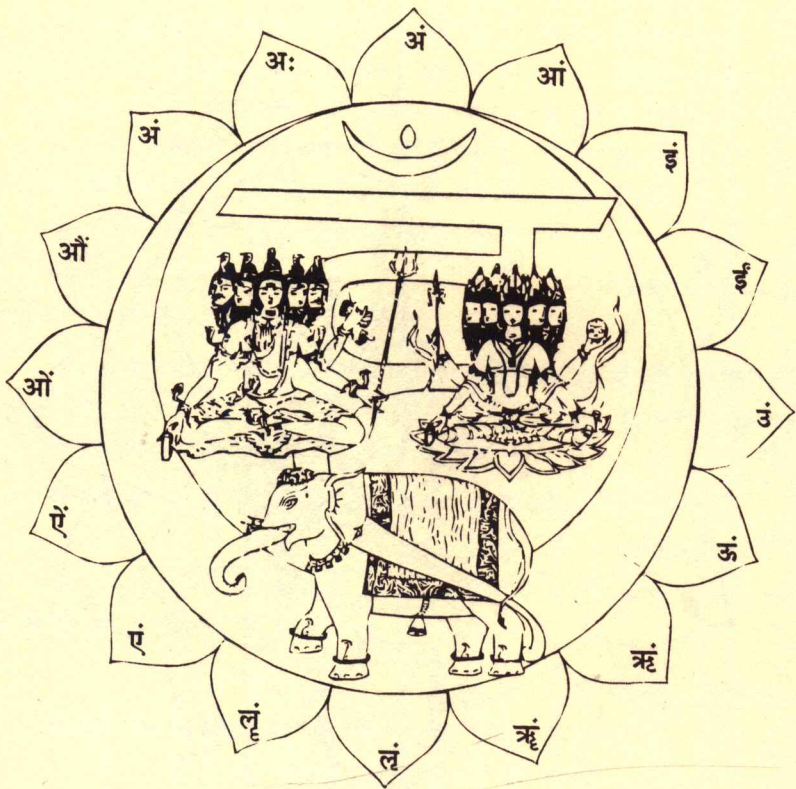
* आज्ञा चक्र *
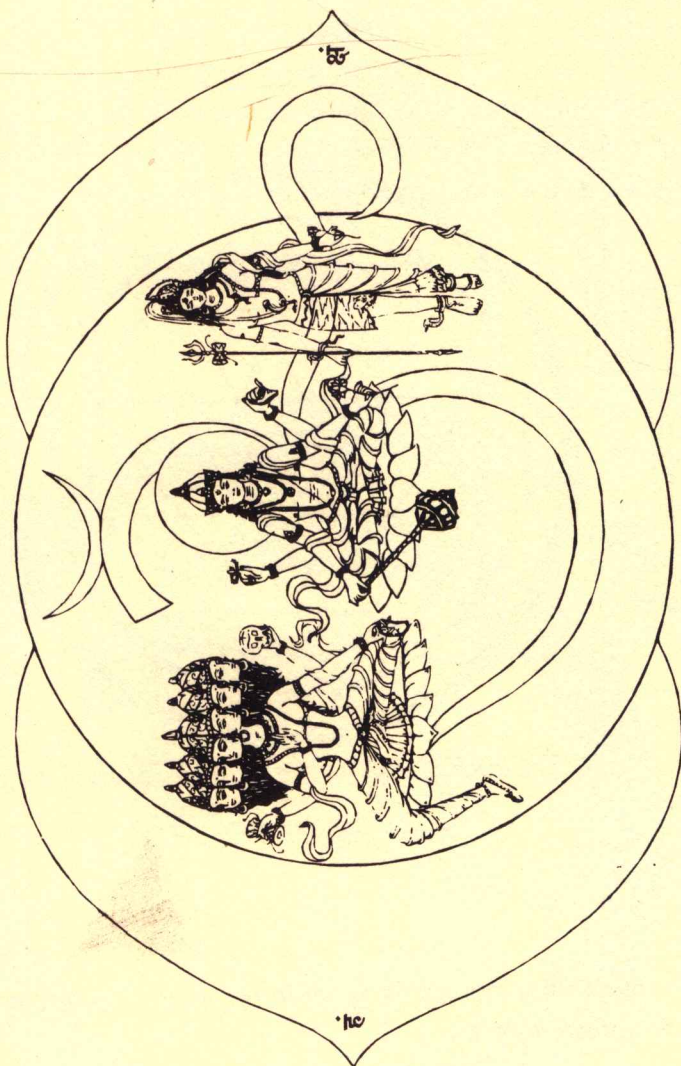
* श्रीयन्त्र *
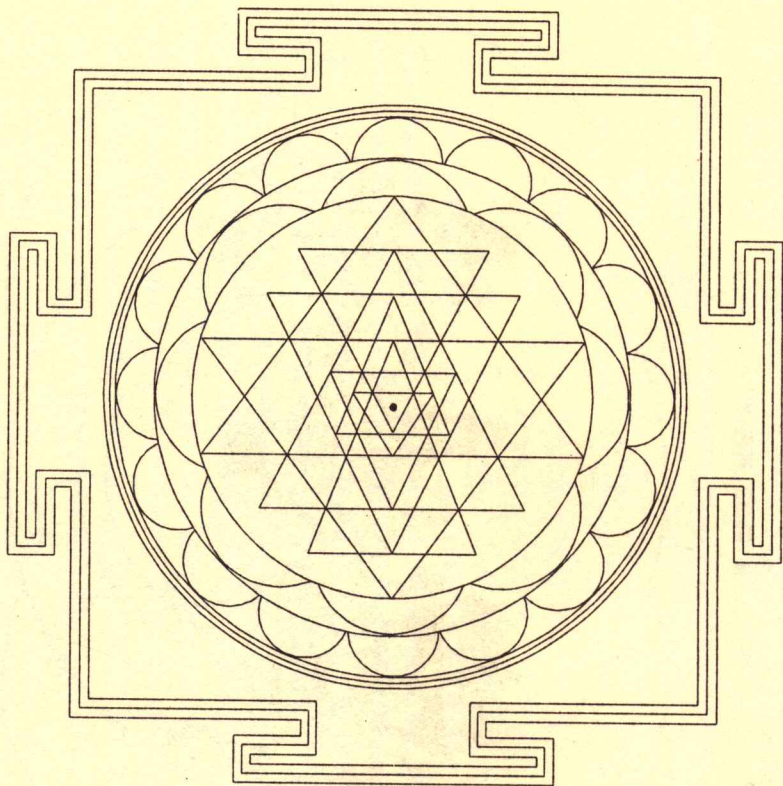
श्रीयन्त्र एवं षट्‌चक्र दोनों के ही अग्निखण्ड, सूर्यखण्ड एवं सोमखण्ड हैं; अतः दोनों में पर्याप्त साम्य है—

त्रिखण्डं मातृकाचक्रं सोमसूर्यानलात्मकम्। (रुद्रयामल)

षट्‌चक्र का अग्निखण्ड मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान है; सूर्यखण्ड मणिपूर एवं अनाहत है तथा सोमखण्ड विशुद्धि एवं आज्ञाचक्र है; जैसा कि रुद्रयामल में कहा भी है—

अग्नीषोमात्मकं चक्रं अग्नीषोममयं जगत्।

श्रीयन्त्र में गुरुतत्त्व

(आदिगुरु का स्थान)

१. सहस्त्रदल पद्म।

२. श्रीचक्र में सहस्रार के समतुल्य सर्वानन्दमय चक्र के त्रिकोण-स्थित बिन्दु में सतयुग के गुरु चर्यानन्द नाथ एवं शक्ति कामेश्वरी तथा त्रेता के गुरु ऊर्ध्वदेवनाथ, द्वापर के गुरु षष्ठदेवनाथ, कलियुग के गुरु मित्रदेवनाथ श्रीपीठ-त्रिकोण के मध्य उड्डीयान श्रीपीठ में स्थित हैं।

* कुण्डलिनी *
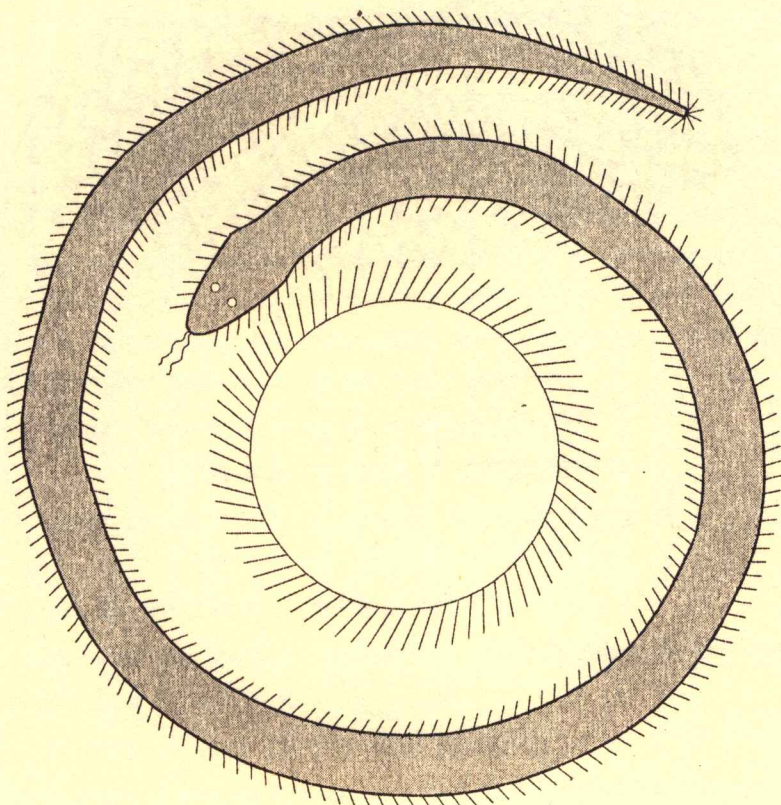
सहस्रार चक्र और श्रीचक्र अभिन्न है। श्रीचक्रस्थ गुरु हैं— चर्यानन्दनाथ, ऊर्ध्वदेवनाथ, षष्ठदेवनाथ एवं मित्रदेवनाथ।

श्रीयन्त्र में स्थित हैं— **त्रेता** के गुरु वाग्भव पीठ के अधिष्ठाता हैं। इनका पीठ कामरूप पीठ है। ऊर्ध्वमुख त्रिकोण के ऊर्ध्व में स्थित बिन्दु : कामपीठ में कामेश्वरी स्थित है। गुरु का नाम है— ऊर्ध्वदेवनाथ। **द्वापर** युग के गुरु दक्षिण कोण में जालन्धर पीठ पर स्थित हैं। ये हैं— षष्ठदेवनाथ और शक्ति हैं— व्रज्रेश्वरी। कामराज बीज के अधिष्ठाता। **कलियुग** के गुरु का स्थान है— बिन्द्वात्मक सर्वानन्दमय चक्र। बिन्दुपीठ की अधीश्वरी (परा शक्ति का रूप) हैं— भगमालिनी और गुरु हैं— मित्रदेवनाथ। पीठ है— पूर्णगिरि पीठ, जिस पर मित्रदेवनाथ भगमालिनी के साथ आसीन हैं। गुरु : शक्ति बीज के अधिष्ठाता।

*** सहस्रार चक्र ***
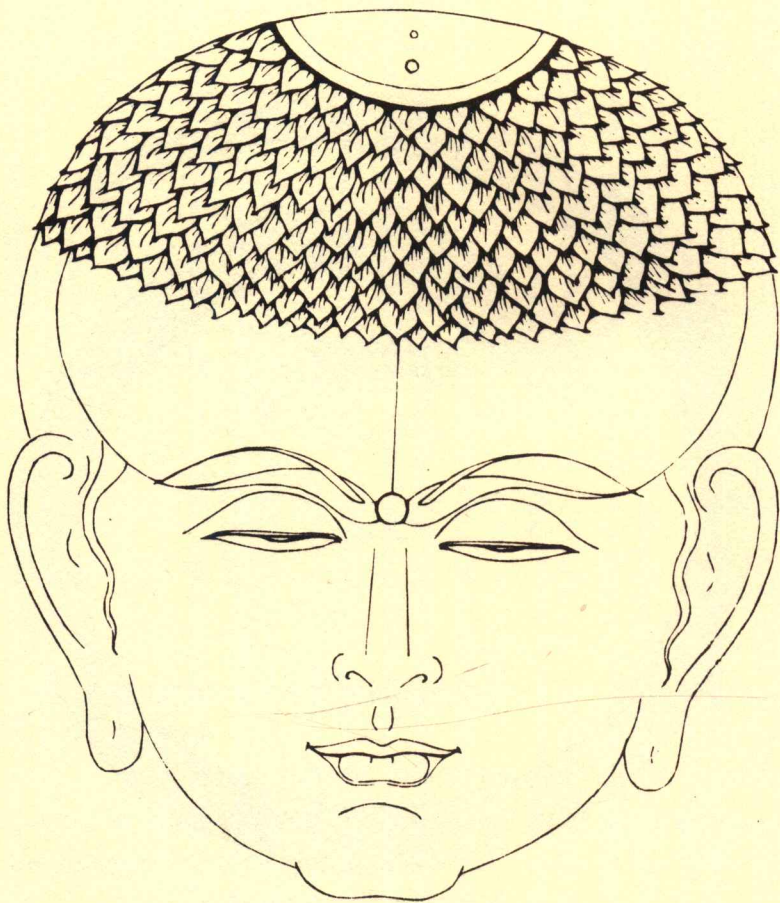
नाड़ीयोग एवं चक्र— सनत्कुमारसंहिता में कहा गया है—

सूर्य एवं चन्द्रमा का देवयान एवं पितृयानस्वरूप इडा-पिंगला मार्ग द्वारा अहोरात्र-सञ्चरण होता रहता है। चन्द्रमा तो वाम नाड़ीमार्ग द्वारा सञ्चरण करता हुआ बहत्तर हजार नाड़ीमार्ग को अमृत से सींचता है। सूर्य दक्षिण नाड़ीमार्ग से सञ्चरण करता हुआ तदुत्क्षिप्त अमृतबिन्दुओं को पी लेता है।

जब चन्द्रमा एवं सूर्य दोनों का आधारचक्र में समावेश होता है, तब अमावस्या तिथि होती है। उससे कृष्णपक्ष की तिथियाँ उत्पन्न होती हैं—

क. आधारचक्र में सूर्य-चन्द्र का समावेश— अमावस्या।

ख. अमावस्या— कृष्ण पक्ष की समस्त तिथियों का आविर्भाव।

अतः कुण्डलिनी शक्ति आधारकुण्ड में सूर्यकिरण के सम्पर्क से विलीन चन्द्रमण्डल के मध्य गलित होने वाले पीयूष से अपने को सन्तुष्ट (पूरित) करके सोती है।

स्वापावस्था ही कृष्णपक्ष है।

योगी जब भी समाहितचित्त होकर चन्द्रमा को चन्द्रस्थान में एवं सूर्य को सूर्य के स्थान में वायु के द्वारा निरुद्ध करने में सक्षम होता है, तब सूर्य एवं चन्द्र निरुद्ध होकर अमृत-सेचन एवं आहरणकार्य करने में अक्षम हो जाते हैं। तब वायु से प्रेरित स्वाधिष्ठा-नाग्नि के द्वारा अमृतकुण्ड के शुष्कीभूत होने के कारण कुण्डलिनी अपने आहार से वञ्चित होकर सोते से उठकर सुप्तोत्थित सर्पिणी की भाति फुफकारती हुई तीनों ग्रन्थियों का भेदन करके सहस्रदल कमल के मध्यवर्ती चन्द्रमण्डल को ड़सती है। इस सर्पिणी-दंशन से बहता हुआ अमृत आज्ञाचक्र के ऊपर स्थित चन्द्रमण्डल को आप्लावित करता है। उस नीचे झरते हुए अमृतप्रवाह से समस्त देह आप्लावित हो उठता है। उससे आज्ञाचक्र के ऊपर स्थित चन्द्रमा की १५ कलायें अस्तित्व में आती हैं और ये १५ कलायें अपने नीचे स्थित विशुद्धिचक्र का आश्रय लेकर चक्कर लगाती हैं।

सहस्रदल कमल में स्थित चन्द्रमण्डल ही बैन्दवस्थान है—

सहस्रदलकमलान्तस्स्थितचन्द्रमण्डलं बैन्दवस्थानम्।

उसकी कला ही चिन्मयी एवं आनन्दरूपी आत्मा कही जाती है—

तत्कल। चिन्मयी आनन्दरूपा आत्मेति गीयते।

वही त्रिपुरसुन्दरी भी है— 'सैव त्रिपुरसुन्दरी' (पृ०-८५)।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि शुक्लपक्ष में ही कुण्डलिनी-प्रबोधन कर पाना सम्भव हो पाता है, न कि कृष्णपक्ष में।

शुक्लपक्ष की समस्त तिथियाँ पौर्णमासी कहलाती हैं।

कृष्णपक्ष की समस्त तिथियाँ अमावस्या में अन्तर्भूत हैं। केवल एक अमावास्या ही कृष्ण-कृष्ण के नाम से कही जाती है। अतः सिद्ध होता है कि—

क. आधारचक्र अन्धतामिस्र है— 'आधारमन्धतामिस्रम्'।

ख. स्वाधिष्ठान चक्र सूर्यकिरणों के सम्पर्क के कारण मिश्रलोक है।

ग. मणिपूर चक्र अग्निस्थान होने पर भी अपने स्थान में स्थित जल के कारण सूर्य-किरण के प्रतिबिम्ब के कारण मिश्रलोक है।

घ. अनाहत चक्र ज्योतिर्लोक है— 'अनाहतं ज्योतिर्लोकः'।

इस प्रकार अनाहत चक्रपर्यन्त लोक 'अनाहतचक्रपर्यन्तं ज्योतिस्तमोमिश्रको लोकः' है।

ङ. विशुद्धि चक्र चान्द्र लोक है— 'विशुद्धिचक्रं चान्द्रो लोकः'।

च. आज्ञाचक्र सुधा लोक है— 'आज्ञाचक्रं तु चन्द्रस्थानत्वात् सुधालोकः'।

इन दोनों लोकों में सूर्यकिरणों के सम्पर्क के कारण ज्योत्स्ना नहीं है।

छ. सहस्रदल कमल ज्योत्स्नामय लोक है— 'सहस्रकमलं तु ज्योत्स्नामय एव लोकः'। यहाँ स्थित चन्द्रमा नित्य कलायुक्त है— 'तत्र स्थितश्चन्द्रो नित्यकलायुक्तः'। चन्द्रबिम्ब ही श्रीचक्र है— 'चन्द्रबिम्बं श्रीचक्रम्'।

चतुर्दशार के देवता— अलम्बुसा, कुहू, विश्वोदरी, वरुणा, हस्तिजिह्वा, यशस्वती, अश्विनी, गान्धारी, पूषा, शंखिनी, सरस्वती, इडा, पिंगला, सुषुम्ना, सर्वसंक्षोभिणी आदि।

बहिर्दशार के देवता— प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त धनंजय— ये १० वायु सर्वसिद्धिप्रद बहिर्दशार के देवता है।[१]

शक्त्यष्टक— शीत, ऊष्ण, सुख, दुःख, इच्छा, सत्त्व, रज, तम ही वशिन्यादि शक्तियाँ हैं।

अष्ट शक्तियाँ— काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, पुण्य, पाप ही ब्राह्मी आदि अष्ट शक्तियाँ हैं।

षोडश शक्तियाँ— पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश-श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राण-वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ-विकार ही १६ शक्तियाँ हैं।

अष्ट शक्तियाँ— वचन-आदान-गमन-विसर्ग-आनन्द-हान-उपादान-उपेक्षा-बुद्धि अनंग कुसुमादि अष्ट शक्तियाँ हैं।

अणिमादिक सिद्धियाँ— नियति एवं शृंगारादिक नव रस ही अणिमादिक सिद्धियाँ हैं।

पञ्चबाण (पाँच पुष्पबाण)— शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध —ये पञ्च तन्मात्रायें ही मन, इक्षु, धनुष आदि पञ्च बाण हैं।

त्रिकोणाग्र देवता— अव्यक्त, महत्तत्त्व-अहंकार, कामेश्वरी-वज्रेश्वरी-भगमालिनी अन्तस्त्रिकोण के अग्र देवता हैं।

अधिदेवता— १५ तिथियों के रूप में काल का परिणामावलोकन ही पञ्चदश नित्यायें अधिदेवता हैं।

---

१. भावनोपनिषद २. भावनोपनिषद

श्रीचक्र— ९ रन्ध्रों से युक्त शरीर ही श्रीचक्र है— 'नवरन्ध्ररूपो देहो नवशक्तिमयं श्रीचक्रम्'।

नवरत्नद्वीप— देह ही नवरत्नद्वीप है— 'देहो नवरत्नद्वीपः'।

कल्पतरु— शरीर की त्वचा आदि सात धातुओं से युक्त संकल्प ही कल्पतरु है।

उद्यान— तेजःकल्प ही उद्यान है— 'तेजःकल्पोद्यानम्'।

षड् ऋतुयें— जिह्वा द्वारा अनुभवगम्य मधुर-अम्ल-तिक्त-कषाय-लवण-कटु रस ही ६ ऋतुयें हैं।

पीठ— क्रियाशक्ति ही पीठ है— 'क्रियाशक्तिः पीठः'।

इच्छाशक्ति— इच्छाशक्ति महात्रिपुरसुन्दरी है— 'इच्छाशक्तिर्महात्रिपुरसुन्दरी'।

होता— ज्ञाता ही होता है— 'ज्ञाता होता'।

अर्घ्य— ज्ञान ही अर्घ्य है— 'ज्ञानमर्घ्यम्'।

हवि— ज्ञेय ही हवि है— 'ज्ञेयं हविः'।

श्रीचक्र का पूजन— ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय में अभेद की भावना ही श्रीचक्र का पूजन है।

कुण्डलिनी— ज्ञानशक्ति का गृह ही कुण्डलिनी है— 'कुण्डलिनी ज्ञानशक्तिर्गृहम्'।

पञ्चदशी मन्त्र के सकार से चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह, राशि आदि उत्पन्न होते हैं। नित्याषोडशिकार्णवतन्त्र में कहा भी गया है—

गणेशग्रहनक्षत्रयोगिनीं राशिरूपिणीम्।
देवीं मन्त्रमयीं नौमि मातृकां पीठरूपिणीम्।।

'हं' बीज से आकाश की उत्पत्ति होती है— 'हकारादाकाशसम्भूतः'।

हकाराद्व्योमसम्भूतः ककारात्तु प्रभञ्जनः।
रेफादग्निः सकाराच्च जलतत्त्वस्य सम्भवः।
लकारात्पृथिवी जाता तस्मात्तन्मयी शिवा।।

भुवनेश्वरी बीज ईकार से १४ भुवनों की उत्पत्ति हुई है।

दशावतार विष्णुस्वरूप एकार वैष्णवी शक्तिरूप है।

'रं' बीजरूप रेफ परम ज्योतिर्मयी परा शक्ति है।

ककार सर्वकामप्रदायिनी कामदा शक्ति है।

अर्धचन्द्र विश्वयोनि का प्रतीक है।

बिन्दु महाकामेश्वरी का प्रतीक है।

बिन्दु ही सर्वानन्दमय चक्र है, जो कि ब्रह्म से अभिन्न है। इसी में महाकामेश्वर एवं महाकामेश्वरी का निवास है।

'तत्' पदवाच्य निर्गुण ब्रह्म महाकामेश्वर एवं 'त्वं' पदवाच्य संविद्रूप साक्षी महाकामेश्वरी हैं और दोनों में अभेद एवं सामरस्य है। इस प्रकार ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान, अहन्ता एवं इदन्ता तथा प्रकाश एवं विमर्श में भी ऐक्य है।

भूमि बिन्दु चक्र एवं परापरातिरहस्ययोगिनी में भी वही ऐक्य है। वहीं तुरीयाम्बा का यजन है।

सर्वानन्दमय चक्र ही उड्डीयान पीठ है।

श्रीचक्र शक्तियों का आलय है। नित्याषोडशिकायें इसमें निवास करती हैं—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि नित्याषोडशकं तव।
न कस्यचिन्मयाऽख्यातं सर्वतन्त्रेषु गोपितम्।।

तत्रादौ प्रथमा नित्या महात्रिपुरसुन्दरी।
ततः कामेश्वरी नित्या नित्या च भगमालिनी।।

नित्या क्लिन्ना तथा चैव भेरुण्डा वह्निवासिनी।
महाविद्येश्वरी रौद्री त्वरिता कुलसुन्दरी।।

नित्या नीलपताका च विजया सर्वमङ्गला।
ज्वालामालिनी चिद्रूपा एता नित्यासु षोडश।।

प्रतिपत्प्रभृतौ देव्याः पौर्णमास्यन्तमर्चयेत्।
एकादिवृद्ध्या हान्या च दर्शान्तं देवि! विग्रहम्।।

षोडशनित्यायें श्रीचक्र की अंग हैं। १६ नित्यायें अष्टवर्गात्मक होने के कारण अष्टदल पद्म के अष्ट पत्रों में स्थित हैं। ये यथाक्रम अष्टकोण चक्र में प्रागादि कोण से आरम्भ करके एक-एक कोण में २-२ करके अन्तर्भूत हैं। इस प्रकार १६ नित्यायें अष्टकोणों में ८-८ के दो द्विकों के रूप में अन्तर्भूत हैं। ये नित्यायें १६ स्वरों के रूप में षोडशदल पद्म में स्थित हैं, किन्तु द्विदशारों में अन्तर्भूत हैं।

श्रीचक्र का निर्माण

सृष्टिक्रम	संहारक्रम
(बिन्दुचक्र से भूपुरपर्यन्त ९ चक्रों के निर्माण का क्रम)	(भूपुर से बिन्दुपर्यन्त। जीव की जाग्रतावस्था से लेकर मोक्ष तक दशाओं का दिग्दर्शक क्रम)

▼

पञ्चविंश अध्याय

श्रीचक्र (श्रीयन्त्र) के नवयोन्यात्मक अवयव

१. महाबिन्दु— आकार (रक्तबिन्दु के भीतर गुप्त श्वेत बिन्दु), वर्ण (रंग), खण्ड (निर्गुण), चक्र (सृष्टि-स्थिति-संहार-समष्टि), वर्णाक्षर (क्ष' एवं 'म' की समष्टि), चक्रस्थ मूल शक्ति (परा शक्ति), चक्रेश्वरी (प्रकाश-विमर्शरूपिणी परा भट्टारिका), शरीर में अवस्थान (ब्रह्मरन्ध्र), शारीरचक्र (सहस्रदल कमल), अवस्था (तुरीयावस्था)।

२. बिन्दु (सर्वानन्दमय चक्र)— आकार (बिन्दु), वर्ण (बिन्दु), चक्र (सृष्टि-स्थिति-संहार) सृष्टिचक्र, अक्षर ('क्ष' वर्ण, मूल प्रकृति),चक्र की मूल शक्ति (ललिता), चक्रेश्वरी (श्री ललितामहाचक्रेश्वरी), योगिनी चक्र (परापर रहस्य योगिनी चक्र), मुद्रा (योनिमुद्रा), शरीरावयव (श्रद्धा), शरीरस्थान (भ्रूमध्य), शरीरचक्र (आज्ञाचक्र), अवस्था तुरीया (महाकारण)।

३. त्रिकोण (सर्वसिद्धिप्रदचक्र)— आकार (त्रिकोण), रंग (पीत), खण्ड (अग्निखण्ड), चक्र (सृष्टिचक्र), अक्षर ('म' वर्ण), चक्र की मूल शक्तियाँ (१. कामेश्वरी, २. वज्रेश्वरी, ३. भगमालिनी, मूल शक्ति के आयुध (बाण, धनुष, अंकुश), चक्रेश्वरी (त्रिपुराम्बा), योगिनीचक्र (अतिरहस्य योगिनी चक्र), मुद्रा (बीजमुद्रा), शरीरांग (अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार, ५ तन्मात्रायें), शरीरस्थान (लम्बिका), शरीरचक्र (इन्द्र-योनि = अष्टदल), अवस्था (सुषप्ति कारण)।

४. अष्टकोण (सर्वरोगहरचक्र)— आकार (अष्टकोण), रंग (हरा), खण्ड (अग्निखण्ड), चक्र (सृष्टिचक्र), अक्षर (य, र, ल, व, श, ष, स, ह), अग्निकला (१०), चक्र की मूल शक्तियाँ (८), चक्रेश्वरी (त्रिपुरा सिद्धा), योगिनीचक्र (रहस्य-योगिनी), मुद्रा (खेचरी), देहांग (शीत, उष्ण, सुख, दुःख, त्रिगुण) शरीरस्थान (कण्ठ), शरीरचक्र-विशुद्धचक्र (षोडशदल) १६ स्वर।

क. अग्निदलकला— १. धूमार्चिषी, २. ऊष्मा, ३. ज्वलिनी, ४. ज्वालिनी, ५. विस्फुलिङ्गिनी, ६. सुश्री, ७. सुरूपा, ८. कपिला, ९. हव्यवहा, १०. कव्यवहा।

ख. चक्रस्थ मूल शक्तियाँ— १. वशिनी, २. कामेश्वरी, ३. मोदिनी, ४. विमला, ५. अरुणा, ६. जयिनी, ७. सर्वेश्वरी, ८. कौलिनी।

५. अन्तर्दशार (सर्वरक्षाकरचक्र)— आकार (भीतर के दश कोण), रंग (काला), खण्ड (सूर्यखण्ड), चक्र (स्थितिचक्र), वर्ण (ट, ठ, ड, ढ़, ण, त, थ, द, ध, न), रुद्र की कला (१०), चक्र की मूल शक्तियाँ (१०), चक्रेश्वरी (त्रिपुरमालिनी), योगिनीचक्र (निगर्भ योगिनी चक्र), मुद्रा (महांकुश), देहस्थ अवयव (१०), शरीरचक्र (अनाहत) १२ दल।

क. देहस्थ अवयव— रेचक, पूरक, शोषक, दाहक, प्लावक, क्षारक, दारक, क्षोभक, मोहक, जृम्भक।

ख. शरीरचक्र (द्वादश दल)— क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ।

६. बहिर्दशार (सर्वार्थसाधक चक्र)— आकार (बाहर के दश कोण), रंग (लाल), खण्ड (सूर्यखण्ड), चक्र (स्थितिचक्र), अक्षर (१४), विष्णु की कलायें (१०), सूर्य की कलायें (१२), चक्र में स्थित मूल शक्तियाँ (१०), चक्रेश्वरी (त्रिपुराश्री), योगिनीचक्र (कुलोत्तीर्ण योगिनीचक्र), मुद्रा (उन्मादिनी मुद्रा), देहस्थ अवयव (१० प्राण), शरीरस्थ चक्र एवं शरीरस्थान।

क. वर्णाक्षर— प, फ, ब, भ, म, क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ।

ख. विष्णु की कलायें— १. जरा, २. पालिनी, ३. शान्ति, ४. ईश्वरी, ५. रति, ६. कामिका, ७. वरदा, ८. ह्लादिनी, ९. प्रीता, १०. दीर्घा।

ग. सूर्य की कलायें— १. तपिनी, २. तापिनी, ३. धूम्रा, ४. मरीची, ५. ज्वालिनी, ६. रुचि, ७. सुषुम्ना, ८. भोगदा, ९. विश्वा, १०. बोधिनी, ११. धारिणी, १२. क्षमा।

घ. चक्र की मूल शक्तियाँ— १. सर्वसिद्धिप्रदा, २. सर्वसम्पत्प्रदा, ३. सर्वप्रियंकरी, ४. सर्वमंगलकारिणी, ५. सर्वकामप्रदा, ६. सर्वदुःखविमोचिनी, ७. सर्वमृत्युप्रशमनी, ८. सर्वविघ्ननिवारिणी, ९. सर्वाङ्गसुन्दरी, १०. सर्वसौभाग्यदायिनी।

ङ. देहस्थ अवयव— प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनञ्जय।

च. शरीरस्थान एवं चक्र— नाभि, मणिपूर चक्र, १० दल : ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ— व्यञ्जन।

७. चतुर्दशार (सर्वसौभाग्यदायक चक्र)— आकार (१४ कोण), रंग (नीला), खण्ड (चन्द्र), चक्र (स्थितिचक्र), अक्षर (स्वर), ब्रह्मा की कलायें (१०), चक्र की मूल शक्तियाँ (१०), चक्रेश्वरी (त्रिपुरवासिनी), योगिनीचक्र (सम्प्रदाययोगिनी चक्र), मुद्रा (सर्ववशङ्करी मुद्रा), शरीरांग (१४ नाड़ियाँ), शरीरस्थान एवं चक्र (बस्ति-स्वाधिष्ठान)।

क. ब्रह्मा की कलायें— १. सृष्टि, २. ऋद्धि, ३. स्मृति, ४.मेधा, ५. कान्ति, ६. लक्ष्मी, ७. द्युति, ८. स्थिरा, ९. स्थिति, १०. सिद्धि।

ख. चक्र की मूल शक्तियाँ— १. सर्वसंक्षोभिणी, २. सर्वविद्राविणी, ३. सर्वाकर्षिणी, ४.सर्वाह्लादिनी, ५.सर्वसम्मोहिनी, ६. सर्वस्तम्भिनी, ७. सर्वजृम्भिणी, ८. सर्ववशंकरी, ९. सर्वरञ्जिनी, १०. सर्वोन्मादिनी, ११. सर्वार्थसाधिनी, १२. सर्वसम्पत्तिपूरिणी, १३. सर्वमन्त्रमयी, १४. सर्वद्वन्द्वकरी।

ग. देहस्थ अवयव— अलम्बुषा, कुहू, विश्वोदरी, वरुणा, हस्तिजिह्वा, यशस्वती,

अश्विनी, गान्धारी, पूषा, शंखिनी, सरस्वती, इडा, पिंगला, सुषुम्ना।

घ. शरीरस्थान एवं चक्र— स्वाधिष्ठान : षड् दल : ब, भ, म, य, र, ल, (६ व्यञ्जन)।

८. अष्टदल (सर्वसंक्षोभण चक्र)— आकार, रंग, खण्ड, चक्र, अक्षर, चक्र की मूल शक्तियाँ (८), चक्रेश्वरी (त्रिपुरसुन्दरी), योगिनीचक्र (गुप्ततर योगिनी चक्र), मुद्रा (सर्वाकर्षिणी), देहस्थ अवयव (८), शरीरस्थान : चक्र (गुदा : मूलाधार)।

क. चक्रस्थ मूल शक्तियाँ— १. अनंगकुसुमा, २. अनंगमेखला, ३. अनंगमदना, ४. अनंगमदनातुरा, ५. अनंगरेखा, ६. अनंगवेगिनी, ७. अनंगांकुशा, ८. अनंगमालिनी।

ख. देहस्थ अवयव— वचन, आदान, गमन, विसर्ग, आनन्द, हानि, उपेक्षा, बुद्धि।

ग. शरीरस्थान एवं चक्र— गुदा एवं मूलाधार। ४ दल। व, श, ष, स—४ व्यञ्जन।

९. षोडश दल (सर्वाशापरिपूरक चक्र)— आकार (१६ दल), रंग (पीत), खण्ड (चक्र), चक्र (संहार), वर्ण (स्वर), सदाशिव की कलायें (१६), चन्द्रमा की कलायें (१६), नित्यायें (१६), चक्रेश्वरी (त्रिपुरेशी), योगिनीचक्र (गुप्तयोगिनीचक्र), मुद्रा, देहस्थ अवयव (पञ्च तत्त्व, १० इन्द्रियाँ, मन), शरीरस्थान (गुदा से नीचे का देश), शरीरस्थ चक्र (कुल : षड् दल : नादसमन्वित)।

क. सदाशिव की १६ कलायें— १. निवृत्ति, २. प्रतिष्ठा, ३. विद्या, ४. शान्ति, ५. इन्धिका, ६. दीपिका, ७. रेचिका, ८. मोचिका, ९. परा, १०. सूक्ष्मा, ११. सूक्ष्मामृता, १२. ज्ञाना, १३. ज्ञानामृता, १४. आप्यायिनी, १५. व्यापिनी, १६. व्योमरूपा।

ख. चन्द्रमा की १६ कलायें— १. अमृता, २. मानदा, ३. पूषा, ४. तुष्टि, ५. पुष्टि, ६. रति, ७. धृति, ८. शशिनी, ९. चन्द्रिका, १०. कान्ति, ११. ज्योत्स्ना, १२. श्री, १३. प्रीति, १४. अंगदा, १५. पूर्णा, १६. पूर्णामृता।

ग. षोडश नित्यायें— १. कामेश्वरी, २. भगमालिनी, ३. नित्यक्लिन्ना, ४. भेरुण्डा, ५. वह्निवासिनी, ६. महावज्रेश्वरी, ७. शिवदूती, ८. त्वरिता, ९. कुलसुन्दरी, १०. नित्या, ११. नीलपताका, १२. विजया, १३. सर्वमंगला, १४. ज्वालामालिनी, १५. चित्रा, १६. ललिता महानित्या।

घ. चक्र में स्थित मूल शक्तियाँ— १. कामाकर्षिणी, २. बुद्ध्याकर्षिणी, ३. अहंकाराकर्षिणी, ४. शब्दाकर्षिणी, ५. स्पर्शाकर्षिणी, ६. रूपाकर्षिणी, ७. रसाकर्षिणी, ८. गन्धाकर्षिणी, ९. चित्ताकर्षिणी, १०. धैर्याकर्षिणी, ११. स्मृत्याकर्षिणी, १२. नामाकर्षिणी, १३. बीजाकर्षिणी, १४. आत्माकर्षिणी, १५. आत्माकर्षिणी, १६.शरीराकर्षिणी।

ङ. मुद्रा— सर्वविद्राविणी।

१०. भूपुर— आकार (भूपुर, चतुर्द्वार), रंग (हरा), चक्र (संहारचक्र), ईश्वर की कलायें (४), दिक्पाल (१०), सिद्धियाँ (१०), शक्तियाँ (८), चक्रस्थ

मूल शक्तियाँ (१०), चक्रेश्वरी (त्रिपुरा), योगिनीचक्र (प्रकटयोगिनी), सर्वसंक्षोभिणी, देहस्थ अंग (१८), शरीरस्थान : चक्र।

क. ईश्वर की चार कलायें— १. पीता, २. श्वेता, ३. अरुणा, ४. असिता।

ख. दश दिक्पाल— १. इन्द्र, २. अग्नि, ३. यम, ४. निर्ऋत्, ५. वरुण, ६. वायु, ७. कुबेर, ८. ईशान, ९. ब्रह्मा, १०. अनन्त।

ग. सिद्धियाँ— १. अणिमा, २. लघिमा, ३. महिमा, ४. ईशत्व, ५. वशित्व, ६. प्राप्ति, ७. मुक्ति, ८. इच्छा, ९. प्राकाम्य, १०. सर्वकामसिद्धि।

घ. अष्ट शक्तियाँ— १. ब्राह्मी, २. माहेश्वरी, ३. कौमारी, ४. वैष्णवी, ५. वाराही, ६. माहेन्द्री, ७. चामुण्डा, ८. महालक्ष्मी।

ङ. चक्रस्थ मूल शक्तियाँ— १. सर्वसंक्षोभिणी, २. सर्वविद्राविणी, ३. सर्वाकर्षिणी, ४. सर्ववशंकरी, ५. सर्वोन्मादिनी, ६. सर्वमहांकुशा, ७. सर्वखेचरी, ८. सर्वबीज, ९. सर्वयोनि, १०. सर्वत्रिखण्ड।

च. देहस्थ अवयव— नवरन्ध्रमय देह, त्वगादि सप्त धातु, षड् रस, इच्छा, ज्ञान, क्रिया, शक्ति, अयमात्मा ब्रह्म।

छ. शरीरस्थान एवं चक्र— गुदा से अध:प्रदेश। अकुल (सहस्रदल कमल)।

इन समस्त चक्रों का श्रीचक्र के चक्रों के साथ तादात्म्य है। योगी अमृतानन्द योगिनीहृदयदीपिका में कहते हैं—

'आद्यं सहस्रारं विषुनामकं मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतं विशुद्धिलम्बिकाग्रं भ्रूमध्यञ्चेति नवसु स्थानेषु त्रैलोक्यमोहनादिसर्वानन्दमयान्तानि नवचक्राणि क्रमेण वर्तन्त इति ।'

श्रीयन्त्र का आविर्भाव— श्रीयन्त्र तो अनादिकालीन है; क्योंकि यह श्रीविद्या का यन्त्र है और श्रीविद्या वेदकाल या उससे पूर्व से चली आ रही है। त्रिपुरोपनिषद, त्रिपुर-तापनीयोपनिषद, भावनोपनिषद आदि ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं। परवर्ती काल में शंकराचार्य के परमगुरु आचार्य गौड़पाद, स्वयं आचार्य शंकर, उनके शिष्य सुरेश्वर, पद्मपाद, विद्यारण्य आदि वेदान्ती आचार्य भी श्रीविद्या के उपासक हुये। मीमांसकों में आचार्य खण्डदेव के शिष्य शम्भुभट्ट, भास्कर राय आदि आचार्य भी श्रीविद्या के उपासक हुये। महाप्रभु चैतन्यदेव द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय के सिद्धान्त के मूल में भी इसी साधना का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। किसी-किसी स्थल में इनका अर्द्धप्रच्छन्नभाव भी इसी उपर्युक्त देवी-पूजा की ओर स्पष्ट होता है। महाप्रभु श्री चैतन्य के नित्य संगी नित्यानन्द महाप्रभु भी श्रीविद्या के उपासक थे। शैवाचार्य अभिनवगुप्त आदि भी श्रीविद्या के उपासक थे। दश महाविद्या में षोडशी नाम की तृतीया महाविद्या श्रीविद्या ही है—

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च सुन्दरी बगलामुखी।
धूमावती च मातङ्गी नामान्यन्यानि वै शिव !।।

देवी की उपासना समझने हेतु देवी के स्वरूपभूत श्रीचक्र या श्रीयन्त्र का सम्यक् रूप से समझना आवश्यक है। संक्षेप में कहा जाय तो पाँच शक्तिचक्ररूप अधोमुख त्रिकोण एवं चार शिवचक्ररूप ऊर्ध्वमुख त्रिकोण के संयोग से (सम्मिलित होने से) श्रीचक्र का निर्माण होता है।

श्रीयन्त्र के प्रादुर्भाव की दार्शनिक दृष्टि— योगिनीहृदय के चक्रसङ्केत में कहा गया है कि 'यदा विश्वरूपिणी सा परमा शक्तिः स्वेच्छया आत्मनः स्फुरत्तां पश्येत्तदा चक्रस्य सम्भवः'—

यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य सम्भवः।। (१.९)

योगिवर्य अमृतानन्द ने दीपिका में इसकी व्याख्या करते हुए कहा है 'यदा यस्मिन् काले प्राणिनामदृष्टवशात्स्वान्तःसंहृतविश्वसिसृक्षया सैव सा शक्तिर्विमर्शरूपिणी स्वेच्छया विश्वरूपिणी विश्वं सृजति, शिवस्तटस्थ उदासीनः। अत्र श्रुतिः—

न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।

विश्वसर्जनमेव परा शक्तेः स्फुरत्ता, तस्याः सृष्टिरूपत्वात्। तदा षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकविश्व-सृष्टिकाले चक्रस्य विश्वमयस्य परदेवताचक्रस्य सम्भवः।'

सारांश यह कि प्राणियों के अदृष्ट के कारण विमर्श शक्ति स्वान्तःसंहृत् विश्व की सृष्टि करने हेतु जैसे ही अपनी आत्मनिष्ठ स्फुरत्ता को देखती है, वैसे ही चक्र का आविर्भाव हो जाता है। इस सृष्टि-व्यापार में शिव सक्रिय नहीं होता; क्योंकि वह तो उदासीन एवं तटस्थ है। सृष्टि स्वयं शक्ति का रूपान्तर है और शक्ति सृष्टिरूपा है।

जिस प्रकार जगत् ३६ तत्त्वों से निर्मित है, उसी प्रकार श्रीचक्र भी ३६ तत्त्वों को अन्तर्गर्भित करके स्थित है। श्रीयन्त्र विश्व का संक्षिप्त संस्करण है। विश्व श्रीयन्त्र का बीजात्मक सूक्ष्म रूप है।

शान्ता और श्रीचक्र का आविर्भाव— भास्कर राय सेतुबन्ध में कहते हैं कि पूर्ववर्तिनी सृष्टि में जो प्राणी ज्ञानोदय न होने के कारण मुक्त नहीं हो पाते, वे प्राणी अदृष्ट तथा स्थूल-सूक्ष्म महाभूत (कार्पासबीज में पट की भाँति) प्रलयकाल में सूक्ष्म रूप से ब्रह्म में स्थित रहते हैं और समय आने पर वे सुप्तोत्थित प्राणी की भाँति अपने अदृष्टजन्य कर्म से अगली सृष्टि में कर्मभोग के लिये जन्म लेते हैं। इसी अदृष्ट या कर्मपरिपाक के समय भगवती में इच्छाज्ञानोभया स्वनिष्ठस्फुरत्ता की दिदृक्षा होती है। इसी की अभिव्यक्ति श्रुति में इस प्रकार की गई है—

१. तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय।
२. सोऽकामयत बहु स्याम।
३. तत्तपोऽकुरुत।

वह सत्ता स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया द्वारा (अपनी स्वाभाविक आत्मनिष्ठ, आत्मस्वरूपज्ञान, बल एवं क्रिया द्वारा) इच्छाभिन्न ईक्षण करती है। उसकी स्फुरत्ता ही क्रिया है— 'सेयं स्फुरत्तारूपा सृष्टिरेव क्रिया कृतिः' (सेतुबन्ध)। प्राथमिकी सिसृक्षारूपा वृत्ति (इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मिका प्राथमिकी वृत्ति) शान्ता उत्पन्न होती है। जब शान्ता का आविर्भाव होता है, तभी श्रीचक्र का भी आविर्भाव हो जाता है— 'प्राथमिकी वृत्तिरिच्छाज्ञान-क्रियात्मिका शान्तानाम्नो यदा जाता तदा तत्काल एव चक्रस्य सम्भवः 'इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिः' इति वचनेन विलम्बाभावात्।'

दीपिकाकार अमृतानन्द योगी पूछते हैं कि अक्रिय परमशिवतत्त्व से चक्र की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है, फिर चक्रोत्पत्ति हुई कैसे— 'ननु कथमक्रियातः परमशिवतत्त्वमयं चक्रं सम्भवति?' इसी का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि 'स्वान्तःसंहृतविश्वसिसृक्षया सैव परा शक्तिर्विमर्शरूपिणी स्वेच्छया विश्वरूपिणी विश्वं सृजति।'

सृष्टि-विधात्री यह कौन शक्ति है? यही शक्ति त्रिपुरा है— 'त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या ज्ञानादितः प्रिये।' भास्कर राय सेतुबन्ध में कहते हैं कि ज्ञान-इच्छा एवं क्रिया के पूर्व सृष्टिप्रागभाव की विनश्यदवस्थारूपा दशा त्रिपुरा शक्ति है। उसे ही स्मरण दिलाते हुये योगिनीहृदय में 'यदा सा परमा शक्तिः' वाक्य में 'सा' (वह शक्ति) संकेतित की गई है।

प्रलय काल में समस्त जीव इसी शक्ति में सोते रहते हैं—

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति।
पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः।।

श्रीचक्र का शिव-शक्तिचक्रात्मक आविर्भाव— जिस श्रीचक्र का रेखात्मक या रेखाचित्ररूप में आविर्भाव होता है, उसके विषय में योगिनीहृदय (चक्रसंकेत) में कहा गया है—

तच्छक्तिपञ्चकं सृष्ट्या लयेनाग्निचतुष्टयम्।
पञ्चशक्ति-चतुर्वह्नि-संयोगाच्चक्रसम्भवः ।। (१.८)

क. शक्तिपञ्चक = स्वाभिमुखाग्रत्रिकोणशक्तिरुच्यते। (सेतुबन्ध)
ख. अग्निचतुष्टय = पराङ्मुखाग्रत्रिकोणमग्निरुच्यते। (सेतुबन्ध)
ग. संयोग : ५ शक्ति + ४ वह्नि का योग। (सेतुबन्ध)
= ५ शक्तिचक्र +४ शिवचक्र— 'श्रीचक्र'।
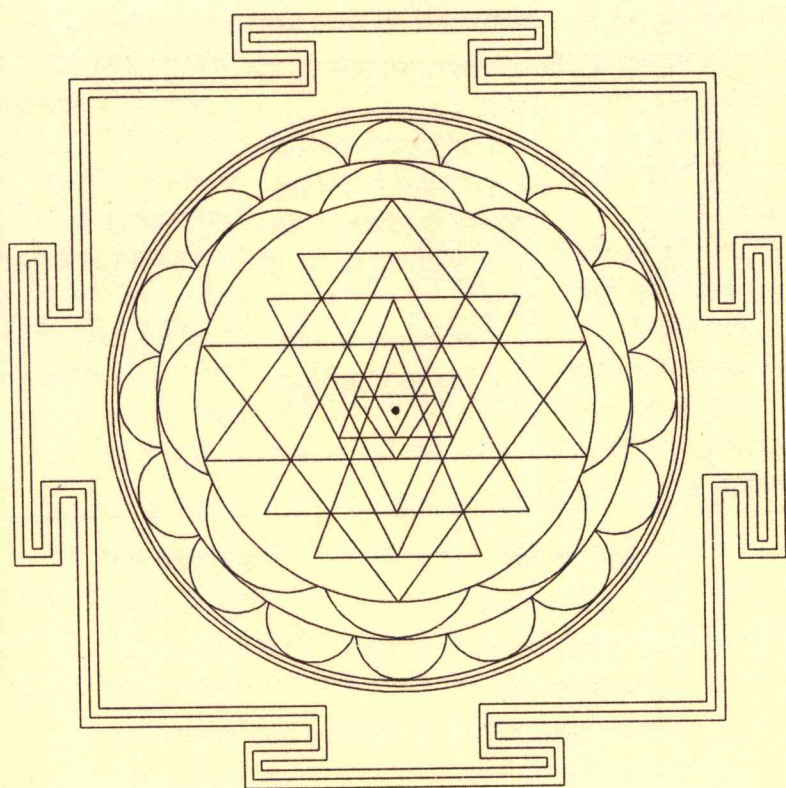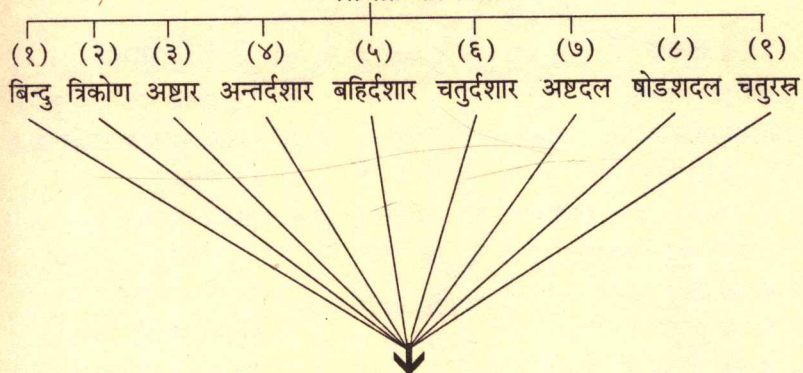
'सृष्टिक्रम' समयाचार मतानुयायियों द्वारा पूजित— ५ शक्तित्रिकोण ऊर्ध्वमुखी ४. शिव-त्रिकोण अधोमुखी।

श्रीचक्र के मुख्य ९ भाग हैं, जिन्हें ९ चक्र कहते हैं। श्रीचक्र के ४३ त्रिकोण हैं।

श्रीचक्र

१.चक्रं त्रिपुरसुन्दर्या ब्रह्माण्डाकारमीश्वरि = श्रीचक्र ब्रह्माण्डाकार है।
२.नवचक्रमयो देहः- (देह नव चक्रों से युक्त श्रीयन्त्र है।)
३.श्रीचक्र विश्वमय है।
४.श्रीचक्र मातृकामय है।
५.श्रीचक्र श्रीविद्यामय है।
६.श्रीचक्र त्रिपुरामय है।
७.श्रीचक्र तेजस्त्रयात्मक है।
८.श्रीचक्र सृष्टि-स्थिति-संहारात्मक है।
९.श्रीचक्र चान्द्र, सौर, आग्नेय है।
१०.श्रीचक्र पुरत्रयात्मक है।
११.श्रीचक्र इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक है।
१२.श्रीचक्र वामा-ज्येष्ठा-रौद्रीयुक्त है।
१३.श्रीचक्र नाद-बिन्दु-कलायुक्त है।

संहारक्रम के श्रीयन्त्र का स्वरूप

१.कौलाचारमतानुयायियों द्वारा पूजित
२.५ शक्तित्रिकोण अधोमुखी
३.४ शिवत्रिकोण ऊर्ध्वमुखी

सृष्टिक्रम के श्रीयन्त्र का स्वरूप

१.समयाचारमतानुयायियों द्वारा पूजित
२.५ शक्तित्रिकोण ऊर्ध्वमुखी
३.४ शिवत्रिकोण अधोमुखी।

श्रीचक्र

१.श्रीचक्र पुरत्रय से युक्त है। इसके पुरत्रय निम्नाङ्कित हैं—
१.प्रमातृपुर
२.प्रमाणपुर
३.प्रमेयपुर
पुरत्रयञ्च चक्रस्य सोमसूर्यानलात्मकम्।
२.श्रीचक्र शिवशक्त्यात्मक है। इसमें शिवचक्र एवं शक्तिचक्र स्थित है।
३.श्रीचक्र पिण्ड-ब्रह्माण्डमय एक साथ है।
४.श्रीचक्र शरीरचक्र एवं मातृकाचक्रमय भी है।
५.श्रीचक्र ३६ तत्त्वों से युक्त है।
६.श्रीचक्र आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व एवं शिवतत्त्व से युक्त है।

चक्रों के नाम	अधिष्ठात्री देवी
१. सर्वानन्दमय चक्र	महात्रिपुरसुन्दरी
२. सर्वसिद्धिप्रद चक्र	त्रिपुराम्बा
३. सर्वरोगहर चक्र	त्रिपुरसिद्धा
४. सर्वरक्षाकर चक्र	त्रिपुरमालिनी
५. सर्वार्थसाधक चक्र	त्रिपुराश्री
६. सर्वसौभाग्यदायक चक्र	त्रिपुरवासिनी
७. सर्वसंक्षोभणकारक चक्र	त्रिपुरसुन्दरी
८. सर्वाशापरिपूरक चक्र	त्रिपुरेशी
९. त्रैलोक्यमन चक्र	त्रिपुरा

मातृका एवं तत्त्वों का सम्बन्ध

क	ख	ग	घ	ङ
पृथ्वी	जल	तेज	वायु	आकाश
च	छ	ज	झ	ञ
गन्ध	रस	रूप	स्पर्श	शब्द
ट	ठ	ड	ढ	ण
पायु	उपस्थ	हाथ	पैर	वाक्
त	थ	द	ध	न
नाक	जिह्वा	आँख	त्वक्	कान
प	फ	ब	भ	म
प्रकृति	अहंकार	बुद्धि	मन	पुरुष

वाग्देवता

१. वशिनी
२. कामेश्वरी
३. मोदिनी
४. विमला
५. अरुणा
६. जयिनी
७. सर्वेश्वरी
८. कौलिनी

सर्वज्ञादि १० देवता

१. सर्वज्ञा
२. सर्वशक्ति
३. सर्वैश्वर्यप्रदा
४. सर्वज्ञानमयी
५. सर्वव्याधि विनाशिनी
६. सर्वाधारस्वरूपा
७. सर्वपापहरा
८. सर्वानन्दमयी
९. सर्वरक्षास्वरूपिणी
१०. सर्वेप्सित फलप्रदा

महाबिन्दु में सबका अन्तर्भाव

१. एक ही बिन्दु में श्रीचक्र के नवों चक्रों का अन्तर्भाव है।

२. एक ही सहस्रात्मक बिन्दु में शरीरस्थ षट् चक्रों का भी अन्तर्भाव है।

३. बिन्दु = मूलाधारादि चक्रों की समष्टि, जगत् की सृष्टि-स्थिति-संहार का कारण, शिव की शक्तिविशेष है।

४. वह एक होता हुआ भी सहस्रदल कमल के मध्य ४ द्वारों से निर्मित कर्णिका के मध्य चतुष्कोणात्मक शक्तितत्त्व के रूप में स्थित है।

५. उसके मध्य में नादरूप शिवतत्त्व है। वह भी ४ प्रकार का है।

६. यह बिन्दु दशधा विभक्त है—

दशधा भिद्यते बिन्दुरेक एव परात्मकः।
चतुर्धाधारकमले षोढाधिष्ठानपङ्कजे।
उभयाकाररूपत्वादितरेषां तदात्मना।।
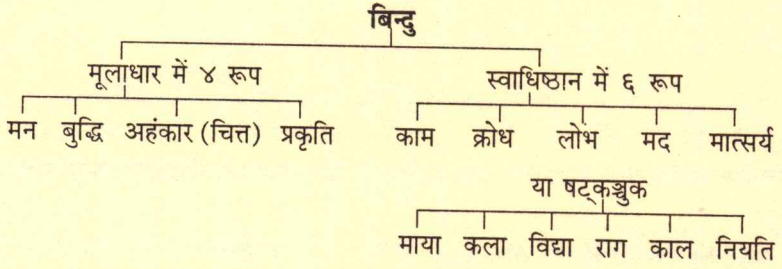
७. यही एक ही बिन्दु ४, ६ बनकर सभी चक्रों (मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि आज्ञा आदि) में व्याप्त हो जाता है।

१. सर्वसिद्धिप्रदा २. सर्वसम्पत्प्रदा ३. सर्वप्रियंकरी ४. सर्वमंगलकारिणी ५. सर्वकामप्रदा ६. सर्वसौभाग्यदायिनी ७. सर्वमृत्युप्रशमिनी ८. सर्वविघ्ननिवारिणी ९. सर्वांगसुन्दरी १०. सर्वदुःखविमोचिनी

चक्र

त्रिकोणमष्टकोणञ्च दशकोणद्वयं तथा।
चतुर्दशारञ्चैतानि शक्तिचक्राणि पञ्च च।।

* * * * *

बिन्दुश्चाष्टदलं पद्मं पद्मं षोडशपत्रकम्।
चतुरस्रञ्च चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमात्।।

योगिनीहृदय इस बैन्दव चक्र एवं नवयोन्यात्मक श्रीचक्र को इस प्रकार प्रस्तुत करता है—

शून्याकाराद्विसर्गान्ताद्बिन्दोः प्रस्पन्दसंविदः।।१०।।

प्रकाशपरमार्थत्वात् स्फुरत्ता लहरीयुताम्।
प्रसृतं विश्वलहरीस्थानं मातृत्रयात्मकम्।।११।।

बैन्दवं चक्रमेतस्य त्रिरूपत्वं पुनर्भवेत्।
धर्माधर्मौ तथात्मानौ मातृमेयौ तथा प्रमा।।१२।।

नवयोन्यात्मकं चक्रं चिदानन्दघनं महत्।
चक्रं नवात्मकमिदं नवधा भिन्नमन्त्रकम्।।१३।।

श्रीयन्त्र त्रितयात्मक है। यह त्रिपुरसुन्दरी का गृह है। इसके अनेक रूप हैं?

श्रीयन्त्र = त्रिपुरात्मक

१.जाग्रत् २.स्वप्न ३.सुषुप्ति १.प्रमाता २.प्रमेय ३.प्रमाण

श्रीयन्त्र = त्रिखण्डात्मक

सूर्य　　चन्द्र　　अग्नि

श्रीयन्त्र शरीरयन्त्र के समतुल्य

१. पुरत्रयञ्च चक्रस्य सोमसूर्यानलात्मकम्।

२. त्रिखण्डं मातृकाचक्रं सोमसूर्यानलात्मकम्।

श्रीचक्र = विश्वमय + मातृकामय। (ब्रह्माण्ड + पिण्ड दोनों है।)

सृष्टि— १. अर्थसृष्टि = तत्त्वात्मिका २. शब्दसृष्टि = मातृकात्मिका।

मातृका— १.चान्द्रखण्ड २. सौरखण्ड ३. आग्नेय खण्ड।

पिण्डाण्ड में शिर, हृदय एवं मूलाधारान्त भागत्रय = तेजस्त्रयात्मक। श्रीचक्र ५ शक्तिचक्र + ४ शिवचक्र से निर्मित होने से तेजस्त्रयात्मक है।

श्रीचक्र = (त्रितयात्मक रूपों में)

१.प्रमातृपुर (आग्नेय खण्ड) (बिन्दु, त्रिकोण, अष्टार, अष्टदल)
२.प्रमाणपुर (सौर खण्ड) (दशारद्वय, चतुरस्र)
३.प्रमेयपुर = (चान्द्रखण्ड) (चतुर्दशार : षोडशदल)

१.वामा　२.ज्येष्ठा　३.रौद्री　१.नाद　२.बिन्दु　३.कला

(इच्छा-ज्ञान-क्रियारूप में भी त्रितयात्मक)

सारांश—　**श्रीचक्र**

आग्नेयखण्ड (प्रमातृपुर)　सौरखण्ड (प्रमाणपुर)　चान्द्रखण्ड (प्रमेयपुर)

श्रीचक्र

सृष्टियुक्त = (बिन्दु, त्रिकोण, अष्टार) = सृष्टिचक्र (बिन्द्वादि भूपुरान्त चक्र = सृष्टिक्रम)

स्थितियुक्त = दशारद्वय तथा चतुर्दशार = (स्थितिचक्र)

लययुक्त = अष्टदल, षोडशदल, भूपुर = संहारचक्र (भूपुरादि बिन्द्वन्तचक्र = संहारक्रम)

पिण्ड में सहस्रार

ऊर्ध्व सहस्रार　अध: सहस्रार
(सुषुम्णा के दोनों भागों में स्थित। मध्य में ९ चक्र) } ब्रह्मरन्ध्र में महाबिन्दु ही सहस्रार है।

श्रीचक्र + शरीरचक्र में पुष्कल साम्य है।

सहस्रार → नवचक्र → सहस्रार।

मन्त्र और चक्र में तादात्म्य

आधारादि षट्चक्रों की त्रिकोणादि षट्चक्रों के साथ एकता	बिन्दुस्थान का चतुरस्र सहस्रदल कमल के साथ तादात्म्य	बिन्दु एवं शिव में तादात्म्य	देवी एवं शिव में तादात्म्य

(लक्ष्मीधरा)

परमशिव

काश्मीरीय त्रिकदर्शन की अपनी दृष्टि इस प्रकार है— एक ही तत्त्वातीत परमशिव अन्तर्बाह्य सर्वत्र व्याप्त है। वह चिद्रूप होने के कारण 'चिति' भी कहा गया है। चिति ही परासंवित् है— 'चितिस्तुर्यातीतपदात्मिका परासंवित्' (तन्त्रालोक)। शिवसूत्र में कहा गया है— 'चैतन्यमात्मा'। यह चैतन्य परमार्थतः शिव ही है और विश्व की आत्मा है। आचार्य क्षेमराज ने शिवसूत्रविमर्शिनी में इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुये कहा है— 'चैतन्यपरमार्थतः शिव एव विश्वस्य आत्मा। चैतन्यमुक्तं स एव आत्मा स्वभावः............ भावभावरूपस्य विश्वस्य जगतः। चैतन्यं विश्वस्य स्वभावः'। यह कहकर आचार्य क्षेमराज ने चैतन्य को आत्मा, परमशिव, जीव एवं जगत् सभी का स्वभाव घोषित किया है। चेतन एवं अचेतन, जड़ एवं अजड़ सभी को परमशिवरूप, चैतन्य एवं चैतन्यस्वभाव कहा है— 'जीवजडात्मनो विश्वस्य परमशिवरूपं चैतन्यमेव स्वभावः'। इस प्रकार शिवसूत्रों में चिति एवं परमशिव का नाम बताया गया है— आत्मा। सृष्टि के आदि में यही आत्मा विद्यमान थी।

शिव से लेकर पृथ्वीपर्यन्त सभी तत्त्वों का अवस्थान इसी चिति तत्त्व में है। यही परतत्त्व है। इसी परतत्त्व में षट्त्रिंशदात्मक जगत् विभासित है[१]— 'यत् परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्मजगत्' (परमार्थसारकारिका)। इसी कारण इसे परासंवित्, परमशिव एवं अनुत्तर आदि नामों से पुकारा गया है— 'अनुत्तरं न विद्यते प्रकृष्टमुत्तरं यतस्तदनुत्तरं चिद्घनम्' (परात्रिंशिकाविवृत्ति)। तथापि आत्मा के पूर्ण रूप को परिभाषाबद्ध करना सम्भव नहीं है— 'न विद्यते उत्तरं प्रश्नप्रतिवचोरूपं यत्र' (पत्रात्रिंशिकाविवृत्ति)। शैव दर्शन के अनुसार ये ही प्रकाश एवं विमर्श हैं। प्रकाश एवं विमर्श में अविनाभाव सम्बन्ध है— परस्पर अभिन्न है। ये एक-दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते—

प्रकाशमानं न पृथक्प्रकाशात्स च प्रकाशो न पृथग्विमर्शात्। 'विज्ञानभैरवविवृत्ति'

प्रकाश आत्मा का स्वरूप है और विमर्श परमात्मा के स्वस्वरूप की संवेदना या प्रतीति है। विमर्श ही महेश्वरता की पूर्ण प्रतीति है— 'स एव विमर्शतत्त्वेन नियतेन महेश्वरः'।

अहम्— विमर्श तत्त्व परमशिव का पूर्ण 'अहं' कहा जाता है। प्रकाश शिवरूप है और विमर्श शक्तिरूप है। शिव एवं शक्ति का नित्य सामरस्य ही तो परमशिव है।

१. परमार्थ-सार कारिका (११)

जिस प्रकार स्फटिक एवं मणि प्रकाशस्वरूप तो हैं, किन्तु उन्हें अपनी सत्ता की प्रतीति (विमर्श) नहीं है; अत: वे जड़ हैं। इसी प्रकार विमर्श के विना प्रकाश भी जड़ हो जायगा। इसीलिये कहा गया है कि 'प्रकाशमानं न पृथक्प्रकाशात्स च प्रकाशो न पृथग्विमर्शात्'।

यह स्व (स्वकीय सत्ता, प्रत्यभिज्ञा, आत्मप्रतीति, अहं) की प्रतीति कराने वाला तत्त्व विमर्श, परमशिव का पूर्ण अहं है। विमर्श (शक्ति) शक्तिमान (शिव) से पृथक् नहीं है—

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवशक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।।
(सोमानन्द : शिवदृष्टि)

शक्ति के द्वारा ही शिव शक्त (शक्तिमान) होते हैं और तभी वे कर्त्ता बन पाते हैं; शक्ति के विना नहीं।

शक्ति क्या है? आत्मारूपी शिव का विमर्श ही शक्ति है। शिव की स्वतन्त्र इच्छा ही स्वातन्त्र्य कहलाती है। यह इच्छा परोन्मुखी इच्छा नहीं है; क्योंकि शिव में परापेक्षा है ही नहीं और न तो अपने से अतिरिक्त कोई सत्ता ही है। शिव की इच्छा परोन्मुख न होकर आत्मस्वरूप में ही विश्रान्त रहती है।

स्वात्मविश्रान्ति— चूँकि आत्मा से अतिरिक्त कोई भी जड़-चेतन पदार्थ तो है ही नहीं; अत: परापेक्षा शून्य परमशिव स्वात्मविश्रान्त रहते हैं। उनकी यह स्वात्मविश्रान्ति ही उनका पूर्णानन्द है—

स्वात्मविश्रान्तिरेवैषा देवस्यानन्द उच्यते।
(मालिनीविजयवार्त्तिक)

शक्ति (विमर्श, स्वातन्त्र्य शक्ति) आत्मारूपी परमशिव का विमर्श है और इसी विमर्श से वह कर्तुं, अकर्तुं एवं अन्यथाकर्तुं व्यापारों में सक्षम है। विमर्श का यही स्वभाव है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग-२) में विमर्श की इसी अचिन्त्यशक्तिसम्पन्नता का वर्णन इस प्रकार किया गया है— 'विमर्शो हि सर्वसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं च परीकरोति, उभयमेकीकरोति, एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः'।

विश्वातीत एवं तत्त्वातीत अवस्था— सभी पदार्थ शक्ति-स्फार हैं और शक्ति परमशिव का हृदय है; अत: सभी पदार्थ प्रकाशस्वरूप एवं शिवस्वरूप है— 'प्रकाशो नाम यश्चायं सर्वत्रैव प्रकाशते'। परमशिव ही विश्वभाव से स्फुरित (प्रकाशित) हो रहा है। वह सर्वाकार है। वह विश्वात्मक तो है; किन्तु इसके साथ ही विश्वातीत भी है।

परमशिव अपने विमर्श का प्रकाशन विश्वरूप में करके भी अपने विश्वोत्तीर्ण स्वरूप

से रञ्चमात्र भी स्खलित नहीं होता—

१. विश्वमयत्वेऽप्यस्य स्वस्वरूपान्न प्रच्याव:।

२. अतएव अयं विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्णस्तदुत्तीर्णत्वेऽपि तन्मय:।

यह चिदात्मा ही विश्वोल्लास का कारण है— विश्वरूप है; फिर भी विश्वातीत है।

अपनी अभेद भूमिका में परमशिव तत्त्वातीत है और उसे न शिव कहा जा सकता है और न तो शक्ति। उसे न तो विश्वोत्तीर्ण कहा जा सकता है और न ही विश्वमय। उसकी कल्पना या भावना भी सम्भव नहीं है। वह एक ऐसी सामरस्यावस्था है, जिसमें शक्ति एवं शक्तिमान शब्दों की कल्पना सम्भव नहीं है। तत्त्वातीतावस्था 'अकथ्या' है— अन्त:-स्वानन्दगोचरामात्र है। जिस प्रकार अनन्त पत्रों, पुष्पों, शाखाओं वाला विशालकाय न्यग्रोध वृक्ष अपनी बीजावस्था में सामरस्यभाव से बीज में रहता है, तद्वत् ३६ तत्त्व समरसतापूर्वक परमशिव में रहते हैं।

आत्मानन्द में विश्रान्त, स्वान्त:स्थित, आत्मानन्द में सातिशय घूर्णमान परमशिव के आनन्दोच्छलन से सामरस्य की स्थिति में ही जब उसका स्वस्वरूप प्रकाशरूपता या विमर्शरूपता के प्रामुख्य से स्फुरित होता है तभी स्वस्वरूप में स्थित परमशिव के लिये शक्तिमान एवं उसके स्वभाव को शक्ति (या विश्वोतीर्ण और विश्वमय) शब्दों का व्यवहार सम्भव हो पाता है। अपनी विश्वोत्तीर्णावस्था में तो वह न्यग्रोधबीज के समान है—

यथा न्यग्रोधबीजस्थ: शक्तिरूपो महाद्रुम:।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्।। (परात्रिंशिका)

उसका प्रथम स्पन्द ही शिवतत्त्व है—

यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्रष्टुम्।
पस्पन्दे स स्पन्द: प्रथम: शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञै:।।
(षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह)

चिन्मात्र स्वभाव पर शिव पूर्णता के कारण निराशंस होने पर भी स्वस्वातन्त्र्य की महिमा के कारण परानन्दचमत्कारतारतम्य द्वारा प्रथमत: 'अहं' इस प्रकार का परामर्श करके शक्तिदशा में अवस्थित (शयन करता हुआ) प्रस्फुरित होता है— 'चिन्मात्रस्वभाव: पर एव शिव: पूर्णत्वात् निराशंसोऽपि स्वातन्त्र्यमाहात्म्याद्बहिरुल्लिलसिषया परानन्दचमत्कार-तारतम्येन प्रथममहमिति परामर्शतया शक्तिदशायामधिशयान: प्रस्फुरेत्'।[1]

आत्मविश्रान्ति एवं शुद्ध अहं— विश्वोत्तीर्णता शिव की प्रकाशरूपता है और विश्वमयता उसकी विमर्शरूपता है। शिवरूप की अभिव्यक्ति है— प्रकाश का विमर्श (बोध) पक्ष। शक्ति-रूप की अभिव्यक्ति है— विमर्श का प्रकाश। प्रकाश का विमर्श (बोध) है— शिव-रूप की अभिव्यक्ति। विमर्श का प्रकाश (अभिव्यक्ति) है— शक्ति-रूप की अभिव्यक्ति।

---

१. तन्त्रालोकटीका (भाग-६)

एक ही संवित्तत्त्व में शिवतत्त्व एवं शक्तितत्त्व का यह आभास अभेदभूमिका का आभास है। यह शिव अकृत्रिमाहमर्शप्रकाशैकघन भी विमर्श के कारण बनता है—

अकृत्रिमाहमामर्शप्रकाशैकघनः शिवः।
शक्त्या विमर्शवपुषा स्वात्मनोऽनन्यरूपया।।[१]

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में भी कहा गया है— 'प्रकाशस्य यदात्ममात्रविश्रमणमनन्योन्मुख-स्वात्मप्रकाशताविश्रान्तिलक्षणो विमर्शः सोऽहम् इति उच्यते'।

अर्थात् प्रकाशरूप शिव की अपनी आत्मा में ही स्फुरत्ता होने से इस तत्त्व के परप्र-माता शिव का जो अनन्योन्मुख स्वात्मप्रकाशपूर्ण पूर्णबोध (प्रत्यय) होता है, उसे ही शुद्ध अहं कहा जाता है। शिवतत्त्व के परप्रमाता का प्रत्यय मात्र 'अहं'रूप में ही व्यक्त होता है।

▼

१. अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिका

षड्विंश अध्याय

श्रीयन्त्र और उसका स्वरूप

श्रीयन्त्र भगवती त्रिपुरसुन्दरी का यन्त्र है। यह श्रेष्ठतम यन्त्र होने के कारण यन्त्रराज कहलाता है। इस यन्त्र में समग्र ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एवं विकास दिखलाया गया है। यह यन्त्र मानवशरीर का भी प्रतीक है।

इस यन्त्र के सबसे भीतरी वृत्त में वृत्त के केन्द्रस्थ बिन्दु के चारो ओर नौ त्रिकोण हैं। उनमें पाँच त्रिकोण तो ऊर्ध्वमुखी हैं और चार त्रिकोण अधोमुखी हैं। अखोमुखी चार त्रिकोण शिव के द्योतक हैं और 'श्रीकण्ठ' कहलाते हैं तथा शेष पाँच त्रिकोण शक्ति के वाचक हैं और 'शिवयुवती' कहलाते हैं।

सारांश— अधोमुख ४ त्रिकोण = शिव के द्योतक = श्रीकण्ठ।
ऊर्ध्वमुख ५ त्रिकोण = शक्ति के द्योतक = शिवयुवती।

पाँच शक्तित्रिकोण ब्रह्माण्ड की दृष्टि से पञ्चमहाभूत, पञ्चतन्मात्रा, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय एवं पञ्च प्राण के द्योतक हैं।

मानवशरीर की दृष्टि से ये उपर्युक्त पाँच शक्तित्रिकोण त्वक्, अस्थि, असृक्, मांस, मेद एवं अस्थि के द्योतक हैं।

चार शिवत्रिकोण ब्रह्माण्ड की दृष्टि से चित्, बुद्धि, अहंकार एवं मन के प्रतीक हैं और ये ही पिण्ड की दृष्टि से मज्जा, शुक्र, प्राण एवं जीव के प्रतीक हैं।

सृष्टिक्रम के अनुसार निर्मित श्रीचक्र— इस श्रीयन्त्र में पाँच शक्तित्रिकोण ऊर्ध्वमुखी एवं चार शिवत्रिकोण अधोमुखी रहते हैं। समयमत के अनुयायी इसी यन्त्र की पूजा करते हैं। स्वामी शङ्कराचार्य समयमत के ही अनुवर्ती हैं।

संहारक्रम के अनुसार निर्मित श्रीचक्र— इस श्रीयन्त्र में पाँच शक्तित्रिकोण अधो-मुखी एवं चार शिवत्रिकोण ऊर्ध्वमुखी बने होते हैं। संहारक्रम के यन्त्र की पूजा कौलमत के अनुयायी करते हैं। कौलमतानुयायी काश्मीर सम्प्रदाय के हैं।

श्रीचक्रनिर्माण की दो पद्धतियाँ

(सृष्टिक्रम)	(संहारक्रम)
समयाचारमतानुयायियों द्वारा पूजित = सृष्टिक्रम	कौलमतानुयायियों द्वारा पूजित = संहारक्रम
५ शक्तित्रिकोण ऊर्ध्वमुखी	५ शक्तित्रिकोण अधोमुखी
४ शिवत्रिकोण अधोमुखी	४ शिवत्रिकोण ऊर्ध्वमुखी

इन्हीं त्रिकोणों से श्रीयन्त्र का निर्माण हुआ करता है—

चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः।
त्रयश्चत्वारिंशद् वसुदलकलाब्जत्रिवलय-
त्रिरेखाभिः सार्धं तव भवनकोणः परिणताः।।

(सौन्दर्यलहरी : शङ्कराचार्य)

ये नौ त्रिकोण निराकार शिव की नौ मूल प्रकृतियों के द्योतक हैं। इन नौ त्रिकोणों के सम्मिश्रण से सैंतालीस त्रिकोण निर्मित होते हैं।

इसमें सबसे बाहर भूपुर है; फिर वृत्त के भीतर प्रथमावर्त में सोलह दलों का कमल (षोडशदल कमल) है तथा उसके भीतर के दूसरे वृत्त के भीतर चार दलों का कमल (अष्टदल कमल) है। ९ त्रिकोण शम्भु की ९ मूल प्रकृतियों के प्रतीक हैं।

९ त्रिकोण कौन-कौन से हैं? रुद्रयामलतन्त्र में इनका उल्लेख स्पष्टतया मिलता है, जो निम्नांकित है—

९ चक्र = शम्भु की ९ मूल प्रकृतियाँ—

१.बिन्दु
२.मूलत्रिकोण
३.अष्टत्रिकोणों का समूह
४.दस त्रिकोणों का समूह (दशार)
५.दस त्रिकोणों का समूह (दशार)
६.चौदह त्रिकोणों का समूह
७.अष्टदल कमल
८.षोडशदल कमल
९.भूपुर

बिन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्ममन्वस्रनागदलसंयुतषोडशारम्।
वृत्तत्रयञ्च धरणीसदनत्रयञ्च श्रीचक्रराजमुदितं परदेवतायाः।।

(रुद्रयामलतन्त्र)

ये नौ त्रिकोण ही नौ योनियाँ भी कहे जाते हैं।

चक्रों के नाम एवं अधिष्ठात्री देवी

१. बिन्दु तथा महाबिन्दु			सर्वानन्दमय चक्र : महात्रिपुरसुन्दरी	केन्द्रस्थ रक्तबिन्दु
२. त्रिकोण	सर्वसिद्धिप्रद	त्रिपुराम्बा	पीतवर्ण का त्रिकोण	विमर्शशक्ति, जीव का अहम्भाव
३. अष्टार	सर्वरोगहर	त्रिपुरसिद्धा	कृष्णवर्ण का त्रिकोण	पुर्यष्टक, कारणशरीर
४. अन्तर्दशार	सर्वरक्षाकर	त्रिपुरमालिनी	हरिद्वर्ण का त्रिकोण	इन्द्रियवासना (लिङ्गशरीर)

५. बहिर्दशार	सर्वार्थसाधक	त्रिपुराश्री	रक्तवर्ण का त्रिकोण	तन्मात्रा तथा पञ्चभूत
६. चतुर्दशार	सर्वसौभाग्य-दायक	त्रिपुरवासिनी	नीलवर्ण का त्रिकोण	जाग्रत् स्थूलशरीर
७. अष्टदल पद्म	सर्वसंक्षोभण	त्रिपुरसुन्दरी	गुलाबी रंग का त्रिकोण	अष्टारवासना
८. षोडशदल पद्म	सर्वाशा-परिपूरक	त्रिपुरेशी	पीतवर्ण का त्रिकोण	दशारद्वयवासना
९. भूपुर	त्रैलोक्यमोहन	त्रिपुरा	हरिद्वर्ण का बाह्यप्रदेश	बिन्दु+ त्रिकोण+ अष्टदल+ षोडशदल की समष्टि, प्रमातृपुर + प्रमाणपुर का सामरस्य

१. सर्वानन्दमय चक्र

इस चक्र का केन्द्रस्थ बिन्दु भगवती त्रिपुरसुन्दरी या ललिता का स्वस्वरूप है। यह बिन्दु नाद तथा बिन्दु ॅ = तीन बिन्दुओं के संयोग से निर्मित होता है। तन्त्र के ग्रन्थों में भगवती त्रिपुरा के धाम 'सुधासिन्धु' में स्थित मणिद्वीप का बार-बार उल्लेख आता है। यह बिन्दु उसी मणिद्वीप का प्रतीक है। मानव-हृदय में इसे हृत्पुण्डरीक कहते हैं। ध्यान-बिन्दूपनिषद् में इसी हृत्पुण्डरीक में इष्टदेव के ध्यान का विधान किया गया है। इसी मणि-द्वीप में निवास करने से मुक्ति प्राप्त होती है—

क. मणिद्वीपवासो मुक्तिरेवेति हयग्रीवः। (९.२.१९-शा० द०)

ख. सर्वलोकमणिद्वीपवासो मुक्तिरेवेति हयग्रीवः। (९.४.१४)

कल्पवृक्ष से परिवृत्त सुधासिन्धु में नीप या कदम्बवृक्षों से घिरा हुआ एक मणिमय मण्डप है। उस मण्डप में ही चिन्तामणिगृह है। इसी में ईशानी त्रिपुरसुन्दरी पर्यङ्क पर विराजमान है। शिव, सदाशिव, अमेहान उनके मञ्च, पर्यङ्क एवं उपबर्हण हैं तथा ब्रह्मदेव, हरि, रुद्र एवं ईश्वर उस मञ्च के पाये हैं।

शंकराचार्य ने सौन्दर्यलहरी (श्लोक-८) में इसका इस प्रकार से वर्णन किया है—

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम्।।

आचार्य लक्ष्मीधर ने लक्ष्मीधरा में कहा है कि सुधासिन्धु बैन्दवस्थान है— 'तत्र

योनिष्वध:स्थितशिवात्मकयोनिचतुष्कस्योपरि ऊर्ध्वस्थितशक्त्यात्मकयोनिपञ्चकाध:प्रदेशस्य बैन्दवस्थानस्य नाम सुधासिन्धुरिति'।

भैरवयामल (वामकेश्वर महातन्त्र के बहुरूपाष्टक विद्या) में सुधासिन्धु का सविस्तार चित्रण किया गया है और वह इस प्रकार है—

बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्चयोन्यः सुरद्रमाः।
तत्रैव नीपत्रेणी च तन्मध्ये मणिमष्टपम्।।

तत्र चिन्तामणिकृतं देव्या मन्दिरमुत्तमम्।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हणे।।

अतिरम्यतरे तत्र कशिपुश्च सदाशिवः।
भृतकाश्च चतुष्पादा महेन्द्रश्च पतद्ग्रहः।।

तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी।
शिवार्कमण्डलं भित्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम्।।

तदुद्भूतामृतस्यन्दिपरमानन्दनन्दिता।
कुलयोषित्कुलं त्यक्त्वा वरं वर्षणमेत्य सा।।

अमृत-समुद्र के मध्य नन्दनोद्यान में ही यह रत्नमण्डप है—

सुधाब्धौ नन्दनोद्याने रत्नमण्डपमध्यगाम्।

इसमें—

बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहां त्रिलोचनाम्।
पाशाङ्कुशशरांश्चापं धारयन्तीं शिवां श्रियम्।।

ध्यात्वा च हृद्गतं चक्रं व्रतस्थः परमेश्वरीम्।
पूर्वोक्तध्यानयोगेन चिन्तयन् जपमाचरेत्।।

इस स्वरूप वाली त्रिपुरसुन्दरी देवी का ध्यान करना चाहिये। देवीमन्दिर क्या है? इस प्रश्न पर लक्ष्मीधर कहते हैं कि 'त्रयश्चत्वारिंशत्त्रिकोणात्मक श्रीचक्र'।

इसी मणिद्वीप में शंकर से संयुक्त शक्ति निवास करती है। मणिद्वीप को श्रीचक्र में बिन्दु द्वारा प्रदर्शित किया गया है। प्रथम चक्र की अधिष्ठात्री देवी ललिता या त्रिपुरसुन्दरी अपनी आवरणदेवताओं के भेद से कहीं १६ नित्याओं में मुख्य, कहीं ८ मातृकाओं में श्रेष्ठ एवं कहीं ८ वशिनियों में श्रेष्ठ कही गई हैं।

यह भेद प्रस्तार-भेद (मेरुप्रस्तार, कैलासप्रस्तार, भूप्रस्तार) के कारण है। ये ही श्रीयन्त्र की उपासना के मुख्य प्रकार भी हैं।

बिन्दु एवं महाबिन्दु— यही समस्त ब्रह्माण्ड एवं समस्त सत्ताओं का मूल कारण है। यही है— महात्रिपुरसुन्दरी। यहाँ स्थित है— कामेश्वर-कामेश्वरी का सामरस्य। यहीं स्थित है— जगत् की मूल योनि एवं शिवभाव।

श्रीचक्र एवं देवी का अन्तस्सम्बन्ध— कामकलाविलास में कहा गया है कि 'सेयं परा महेशी चक्राकारेण परिणमेद्यदा'। सर्वोत्कृष्ट सर्वोपरि महासाम्राज्ञी चक्र के रूप में परिणत हो जाती है।

बिन्दुचक्र (पूर्णाहन्ता या शिवभाव)— प्रलयकाल में समस्त स्थूल-सूक्ष्म जगत् अपने परम कारण ब्रह्म में लीन हो जाने के कारण ब्रह्मस्वरूप में स्थित रहता है। जगत् की इस महासुषुप्ति की अवस्था को श्रीचक्र के सन्दर्भ में 'महाबिन्दु' कहा जाता है। इस अवस्था में प्रकाश-विमर्श, शक्ति-शक्तिमान जैसे व्यावर्तक शब्दों का व्यवहार भी अनुपपन्न रहता है और भास्य-भासक, स्रष्टव्य-स्रष्टृभाव, द्रष्टा-दृश्य-दर्शन, प्रमाण-प्रमेय-प्रमाता आदि कोई भी भाव शेष नहीं रह जाता। यही 'सुषुप्ति' या 'शिव का विश्रमण' कहलाता है— 'सुप्त्याह्वयं किमपि विश्रमणं शिवस्य'।

पूर्णाहन्ता— महाप्रलय की अवस्था में आदिविमर्शशक्ति जगत् को अपने कुक्षि में लीन करके विश्राम करती है और सिसृक्षा होने पर ब्रह्म के सम्मुख होकर ब्रह्म को अपने समक्ष करती है। परिणामत: (दोनों के दर्पणवत् निर्मल होने के कारण) दोनों परस्पर में प्रतिबिम्बित हो उठते हैं और तब शिवशक्त्यात्मक अहंविमर्श से युक्त आद्या शक्ति का आविर्भाव होता है। अपनी शक्ति में प्रतिबिम्बित ब्रह्म के भीतर शक्ति का प्रतिबिम्ब पड़ने से पूर्णाहम्भाव आविर्भूत होता है। यही समस्त सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय का कारण है। यही है— शब्दार्थ-सृष्टि का मूल बीज। वेदों में इसे ही नाम-रूप की अव्याकृत अवस्था कहा गया है।

कामकलाविलास में इसी अवस्था का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

चित्तमयोऽहङ्कार: सुव्यक्तहार्णसमरसाकार:।
शिवशक्तिमिथुनपिण्ड: कवलीकृतभुवनमण्डलो जयति।।

यही है— 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'; ईक्षण, स्फुरण या आद्य विश्वसृजन। पूर्णाहम्भाव विमर्श ही विश्व की सृष्टि-स्थिति-प्रलय का कारण एवं शब्दार्थसृष्टि का बीज है। विमर्शशक्ति का भी यही स्वरूप है, जो विश्वाकार, विश्वप्रकाशन एव विश्वसंहार की अकृत्रिम अहंरूप स्फुरण है। नादानन्द कहते भी हैं— 'विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहारेण वा अकृत्रिमोऽहमिति स्फुरणम्'।

'अहं' इस प्रकार का स्वाभाविक स्फुरण (ज्ञान) ही विमर्शशक्ति है। विमर्श (अहं)— जगत् की सृष्टि, स्थिति, प्रलय। पूर्णाहंभाव (शुद्धाहन्ता) ब्रह्मस्वरूप है। जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति दर्पण के सामने उपस्थित होने पर ही अपना मुख देख सकता है, उसी प्रकार विमर्श शक्ति में प्रतिबिम्बित हुये विना आत्मा की स्पष्ट अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। अहम्भाव विमर्शमय है। अहं अर्थात् अ + ह + अनुस्वार = ३ वर्ण।

१. अकार— अकार: सर्ववर्णाग्र्य: प्रकाश: परम: शिव:।

२. हकार— हकारोऽन्त्यकलारूपो विमर्शाख्य: प्रकीर्तित:।

३. अनुस्वार— बिन्दु। पूर्णाहन्ताभाव = शिवभाव : मोक्ष।

'मोचयति चोन्नमिताहमशात्' (मातृकाचक्रविवेक)

जीवपाश = पशुपाश = बन्धन। पूर्णाहन्ता— पशुपाश से मुक्ति— 'अहमिप्रलयं कुर्वन्निदम: प्रतियोगिन:'।

सम्पूर्ण विश्व इसी अहम्भाव में डूबा हुआ है। तान्त्रिकमत में अहम्भाव ही समस्त जगत् है।

नि:शेष सृष्टि, स्थिति एवं सहांर से युक्त नि:शेष जगत् को अपनी कुक्षि में अवस्थित करके जिस अहमाकार भाव से शक्ति अवस्थित रहती है, वही अहम्भाव 'बिन्दु' है और यही बिन्दु श्रीयन्त्र का सर्वस्व है।

महाबिन्दु और बिन्दु— महाबिन्दु से बिन्दु तक की जो यात्रा है, उसमें उन्मनी, समनी (अर्द्धबिन्दु तक की समस्त अवस्थायें) आदि जो नौ अवस्थायें आती हैं, उनके द्योतक नौ चक्र और हैं। इनका स्वपांश में काल के साथ योग है; किन्तु महाबिन्दु के साथ देश-काल का कोई योग नहीं है—

देशकालानवच्छिन्नं तदूर्ध्वं परमं महत्।
निसर्गसुन्दरं तत्तु परानन्दविघूर्णितम्।।

महाबिन्दु से बिन्दु तक के मध्य स्थित अवस्थायें योगिमात्रैकगम्य हैं; अत: बिन्दु (अहम्भाव) पर ही प्रकाश डालना उचित है।

बिन्दु (अहम्भाव) में बीजभाव से समस्त प्रपञ्च के समाविष्ट होने के कारण समस्त चक्र भी इसी के भीतर स्थित है; अत: बिन्दु चक्र ही सर्वाधिक प्रमुख चक्र है। बिन्दुचक्र में श्री कामेश्वर कामेश्वरी के साथ नित्य नित्यानन्दमग्न होकर विहार करते हैं; इसीलिये इस चक्र का अभिधान है— सर्वानन्दमय चक्र। भैरवयामल में कहा भी गया है—

कलाविद्यापराशक्ते..................................।
..................................श्री चक्राकाररूपिणी।।

तन्मध्ये बैन्दवस्थानं तत्रास्ते परमेश्वरी।
सदाशिवेन सम्पृक्ता सर्वतत्त्वातिगा सती।।

चक्र की उत्पत्ति कैसे हुई? 'चक्र' परमा शक्ति का अपनी स्फुरत्ता को देखने का परिणाम है—

यदा सा परमा शक्ति: स्वेच्छया विश्वरूपिणी।
स्फुरत्तामात्मन: पश्येत्तदा चक्रस्य सम्भव:।।

स्वेच्छावश विश्वरूप धारण करने वाली परमा शक्ति जब अपनी स्फुरत्ता का दर्शन करती है, तभी चक्र का आविर्भाव हो जाता है।

महाबिन्दु क्या है? प्रकाशैकस्वभाव परशिवभट्टारकरूप भास्कर की रश्मियों के समूह का विमर्शरूपी स्वच्छ दर्पण में प्रतिफलन होने से प्रतिप्रकाश द्वारा सुरम्य चित्तरूपी दीवार पर जो (प्रकाश) प्रकाशित होता है, उसे ही 'महाबिन्दु' कहते हैं— 'परशिवरविकरनिकरे प्रतिफलति विमर्शदर्पणे विशदे प्रतिरुचिरे कुड्ये चित्तमये निविशते महाबिन्दुः'।

(कामकलाविलास)

श्रीचक्र परदेवता का चक्र है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है—

बिन्दु-त्रिकोण-वसुकोण-दशारयुग्म मन्वश्रनागदलसंयुतषोडशारम्।
वृत्तत्रिभूपुरयुतं परितश्चतुर्द्धा श्रीचक्रमेतदुदितं परदेवतायाः।।

२. सर्वसिद्धिप्रद चक्र

यह चक्र श्रीचक्र में द्वितीय त्रिकोणात्मक चक्र है और इसका नाम है— सर्वसिद्धिप्रद चक्र। इसके तीनों कोण कामरूप पीठ, पूर्णगिरि पीठ एवं जालन्धर पीठ हैं। इनकी अधिष्ठात्री देवियाँ कामेश्वरी, वज्रेश्वरी एवं भगमालिनी हैं, जो सृष्टि की दृष्टि से प्रकृति, महत्तत्व एवं अहंकार हैं।

प्रकृतिसम्बन्धिनी विभिन्न दृष्टियाँ— सांख्यदर्शन एवं काश्मीरी शैव दर्शन की प्रकृतिसम्बन्धिनी दृष्टि भी भिन्न-भिन्न है। सांख्य दर्शन में प्रकृति जड़ है और पुरुष कर्तृत्व-विहीन होते हुये भी प्रकृति से निर्लिप्त है। काश्मीरी शैवदर्शन में अनन्त या स्वतन्त्रेश जीवों के कर्मों के अनुसार उन्हें सुख-दुःखादिक के भोगों का अनुभव कराने हेतु प्रकृति को क्षुब्ध करता है और तीनों गुण क्षुब्ध होकर जगद्व्यापार का विस्तार करते हैं—

ईश्वरेच्छावशात्क्षुब्धलोलिकं पुरुषं प्रति।
भोक्तृत्वाय स्वतन्त्रेशः प्रकृतिं क्षोभयेद्दृशम्।।

(तन्त्रालोक-६.९-२२५)

सांख्य दर्शन में प्रकृति एक मानी गई है, जबकि काश्मीरीय शैव दर्शन में प्रत्येक पुरुष की भिन्न-भिन्न प्रकृति होने के कारण भिन्न-भिन्न अनन्त प्रकृति स्वीकार की गई है। प्रकृति (गुणत्रय) → बुद्धितत्त्व → अहंकार।

प्रकृति का स्वरूप क्या है? इस विषय में अभिनव गुप्तपाद तन्त्रालोक (भाग-६.९-२१३) में कहते हैं—

एवं कलाख्यतत्त्वस्य किञ्चित्कर्तृत्वलक्षणे।
विशेषभागे कर्तृत्वं चर्चितं भोक्तृपूर्वकम्।।

विशेषणतया योऽत्र किञ्चिद्भागस्तदोत्थितम्।
वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्नं प्रधानं सूयते कला।।

श्रीचक्र का सम्बन्ध शरीर के नौ धातुओं एवं शिव तथा शक्ति से भी है। इस अन्तः-सम्बन्ध के सम्बन्ध में कामिकागम में प्रतिपादन किया गया है।

क. शक्ति = त्वगसृङ्मांसमेदोस्थिधातवः शक्तिमूलकाः।

ख. शिव = मज्जाशुक्रप्राणजीवधातवः शिवमूलका।

देह = नवधातुरयं देहो नवयोनिसमुद्भवः।

(९ योनियाँ → नव धातुओं का जन्म)।

दशवीं योनि— दशमी योनिरेकैवपराशक्तिस्तदीश्वरी।।

दशवीं योनि = पराशक्ति।

लक्ष्मीधरा के अनुसार दशवीं योनि है— बैन्दवस्थान। उसकी ईश्वरी ही देह की भी ईश्वरी है। इस प्रकार समस्त जगत् शिव-शक्त्यात्मक है—

शिवशक्त्यात्मकं विद्धि जगदेतच्चराचरम्।।

(चर = पिण्डाण्ड। अचर = ब्रह्माण्ड)।

२५ तत्त्वों में भी शिव-शक्ति की अनुस्यूतता है—

एवं पिण्डाण्डमुत्पन्नं तद् ब्रह्माण्डाण्डमुद्भवौ।
पञ्चभूतानि शाक्तानि मायादीनि शिवस्य तु।
माया च शुद्धविद्या च महेश्वरसदाशिवौ।
पञ्चविंशतितत्त्वानि तत्रैवान्तर्भवन्ति ते।।

त्रिकोणचक्र (शक्ति या जीवभाव)

विवर्तवाद (मायावाद)— आद्य सिसृक्षाकाल में ही अक्रमसृष्टि प्रारम्भ। कणाद-मतानुयायी : 'इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिः'। कणादानुयायी क्रमसृष्टि का प्रतिपादन करते हैं।

विमर्शशक्ति सिसृक्षा के कारण बिन्दुरूप में प्रकट होती है—

विचिकीर्षुर्घनीभूता सा चिदभ्येति बिन्दुताम्।

विमर्शशक्ति → बिन्दु। बिन्दु में (वटबीज की भाँति) समस्त प्रपञ्च एवं ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान, द्रष्टा-दृश्य-दर्शन बीजात्मना स्थित हैं—

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्।।

विमर्श के बिन्द्वाकार से सृष्टि— अन्तर्लीन जगत् को अभिव्यक्त करने की इच्छा से बिन्दु में 'क्रिया → बिन्दु → त्रिकोण' रूप में परिवर्तित। बिन्दु → त्रिकोण। विमर्श → बिन्दु → त्रिकोण।

कालेन भिद्यमानस्तु स बिन्दुर्भवति त्रिधा।

सृष्टि— क. शब्दसृष्टि ख. अर्थसृष्टि।

भास्कर की दृष्टि में—

१. शब्दमयी सृष्टि ३. चक्रमयी सृष्टि
२. अर्थमयी सृष्टि ४. देहमयी सृष्टि (वरिवस्यारहस्यम्)

नैसर्गिकी विमर्शरूपा स्फुरत्ता शक्ति— परिणाम : उपर्युक्त चतुर्धा सृष्टि—

नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपास्य वर्तते शक्तिः।
तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति।।४।।

सावश्यं विज्ञेया यत्परिणामादभूदेषा।
अर्थमयी शब्दमयी चक्रमयी देहमय्यपि च सृष्टिः।।५।।

१. अर्थमयी— शिवादिक्षित्यन्त षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपा।
२. शब्दमयी— परादिवैखर्यन्ता।
३. चक्रमयी— बिन्द्वादिभूगृहान्ता।
४. देहमयी— स्थूल, सूक्ष्म, कारणादिरूपा।

तान्त्रिकों के मत में शब्द ही अर्थसृष्टि का भी मूल है। प्रलयकाल में समस्त अर्थसमूह परा वाक् रूप शब्दब्रह्म में लीन हो जाते हैं और सृष्टिकाल में पुनः आविर्भूत हो जाते हैं—

विश्रान्तमात्मनि पराह्वयवाचि सुप्तौ।
विश्वं वमत्यथ विबोधपदे विमर्शः।। (मातृकाचक्रविवेक)

त्रिकोणात्मक सृष्टि— परा वाक् (मूल कारणस्वरूप एवं बिन्दुरूप) से ही पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीरूप त्रितय से त्रिकोणात्मक शब्दसृष्टि होती है।

बिन्दु के भेद

कारणबिन्दु	कार्यबिन्दु
(परा वाक)	(पश्यन्ती वाक्, मध्यमा वाक्, वैखरी वाक्)
(शान्ता)	(वामा, ज्येष्ठा, रौद्री)
(अम्बिका)	(इच्छा, ज्ञान, क्रिया)

१. अधिदैवत– (अव्यक्त, मूल प्रकृति) **अधि**– (ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट)
२. अधिदैवत– (कामरूप) (पूर्णगिरि, जालन्धर, उड्डीयान)
३. अध्यात्म– मूलाधारस्थ कुण्डलिनी शक्ति।

परा वाक् = बिन्दु तत्त्व का अध्यात्मरूप।

कालेन भिद्यमानस्तु स बिन्दुर्भवति त्रिधा।

१. कारणबिन्दु (परा वाक्) कार्यबिन्दु, २. पश्यन्ती, ३. मध्यमा।

१. रव : शब्दब्रह्म— अव्यक्त कारणबिन्दु जब पश्यन्ती आदि कार्यबिन्दुओं की

सृष्टि में संलग्न रहता है, तब उसी कारणबिन्दु को रव (शब्दब्रह्म) कहा जाता है। यही रव शब्दब्रह्म कहा जाता है—

स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते।

२. पश्यन्ती वाक्— निस्पन्द रवात्मक शब्दब्रह्म वक्ता की विवक्षा से प्रादुर्भूत व्यापार से संस्कारित होकर शरीरस्थ वायु के द्वारा नाभि में आता है और तब मनोमात्र-विमर्श से अ, क, च, ट, त, प, य आदि वर्णविशेषशून्य स्पन्दात्मक प्रकाशमात्र रहकर पश्यन्ती नामक कार्यबिन्दु कहलाता है।

३. मध्यमा वाक्— जब यह रवात्मक ब्रह्म पश्यन्ती वाक् का रूप ग्रहण करके शरीरस्थ वायु के द्वारा हृदय तक आ पहुँचता है तब वह निश्चयात्मिका बुद्धि से संयुक्त होकर अ, क, च, ट, त, प आदि वर्णविशेष के सहित स्पन्द से प्रकाशित होकर नादात्मक मध्यमा नाम कार्यबिन्दु कहलाता है।

४. वैखरी वाक्— जब यह रवात्मक शब्दब्रह्म मध्यमा वाक् का रूप धारण करके हृदयस्थ वायु से प्रेरित होकर मुख तक आ जाता है तब कण्ठ, तालु, दन्त, जिह्वा, ओष्ठ आदि मुखोच्चारणावयवों से संस्पृष्ट होकर दूसरों के श्रोत्रों को अ, क, च, ट, त, प आदि वर्णों के स्पष्ट प्रकाशरूप में बीजात्मक वैखरी वाक् कहलाता है।

प्रपञ्चसारतन्त्र में आचार्य शंकर ने इसी रहस्य को इस प्रकार उद्घाटित किया है—

मूलाधारात् प्रथममुदितो यश्च भावः पराख्यः
पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्यः।
व्यक्ते वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्णा-
बद्धस्तस्माद्भवति पवनप्रेरिता वर्णसंज्ञा।।

परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी का श्रवण-अधिकार—

१. परा— मन-बुद्धि दोनों से अतीत होने के कारण मन-बुद्धि दोनों का भेदन करके पूर्णाहम्भावप्राप्त परम योगी (ज्ञानी) को ही परा वाक् श्रुतिगम्य है।

२. पश्यन्ती— पश्यन्ती रव का केवल मन से सम्बन्ध होता है; अतः मन का भेदन करके जो योगी तुरीयावस्था में पहुँच चुका हो, वही योगी पश्यन्ती वाक् सुन सकता है।

३. मध्यमा— अव्यक्त मध्यमा रव का सम्बन्ध बुद्धि से होता है; अतः सभी बुद्धि-युक्त प्राणी अन्तर्जगत् में मध्यमा सुन सकते हैं।

४. वैखरी वाक् तो सभी प्राणी सुन सकते हैं।

परा वाक् = शब्द ब्रह्म = पूर्ण अहम्भाव + प्रकाशरूप।

परा वाक् → शब्द, मन्त्र, अर्थ, चक्र, देह आदि।

मुख से नीचे नाभिपर्यन्त के शब्दों को हम नहीं सुन सकते।

ज्ञानी शुद्ध परा वाक् रूप पूर्णाहम्भाव को ग्रहण करता है। समस्त मन्त्रों एवं कादि, हादि, षोडशी, पञ्चदशी, बाला, महात्रिपुरसुन्दरी, भुवनेवरी, काली आदि विद्याओं की माता परा वाक् है।

बिन्दुरूप परा वाक् की सर्वकारणरूपता—

१. परा वाक् → समस्त वाक्, समस्त ध्वनि, समस्त अक्षर, समस्त मन्त्र, समस्त ज्ञान।

२. परा वाक् → ३६ तत्त्व : ५ महाभूत, ५ तन्मात्रा, १० ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति, पुरुष, कला, अविद्या, राग, काल, नियति, माया, शुद्ध विद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति, शिव।

३ परा वाक् → १. अर्थसृष्टि, २. शब्दसृष्टि, ३. चक्रसृष्टि एवं ४. देहसृष्टि।

३६ तत्त्व अर्थसृष्टि के अन्तर्गत हैं।

चूँकि बिन्दु ही सम्पूर्ण चक्र का केन्द्र है और बिन्दु से ही समस्त चक्रों का जन्म होता है; अत: परा वाक् ही चक्रसृष्टि का भी मूल कारण है। बिन्दु ही नवचक्रमय देह की भी सृष्टि का कारण है।

त्रिकोण— त्रिकोण ही योनिचक्र या शक्तिचक्र और जीव त्रिकोण या विसर्ग कहलाता है।

बिन्दु = शिव। तुरीयावस्था। त्रिकोण = जीव जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति ३ अवस्थायें तीन कोण हैं। अन्तर्मुख होकर जो शक्ति शुद्धाहन्तापूर्वक शिवरूप में विश्राम लेती है, वही शक्ति बहिर्मुख होकर जीवरूप में संसरण करती है। शिव एवं जीव की समष्टिरूपा यही शक्ति है— त्रिपुरा, महात्रिपुरसुन्दरी।

जिस प्रकार जीव एवं शिव पृथक्-पृथक् नहीं हैं, उसी प्रकार बिन्दु एवं त्रिकोण भी पृथक्-पृथक् नहीं है; क्योंकि बिन्दु कारण है और त्रिकोण कार्य है। कामकलाविलास में यही अद्वैत प्रतिपादित किया गया है—

आद्या कारणमन्या कार्यं त्वनयोर्यतस्ततो हेतो:।
सैवेयं नहि भेदस्तादात्म्यं हेतुहेतुमतो:।।

शक्ति के तीन रूप
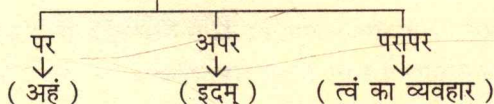
पर, अपर एवं परापर के द्वारा ही अहं, इदम् एवं त्वं का लौकिक व्यवहार प्रचलित है।

जब यह शक्ति परापेक्षा शून्य होकर प्रवृत्त होती है, तब पूर्णाहम्भाव से सोऽहं रूप विमर्श प्रकाशित करती है। यही शिवतत्त्व है।

जब यह शक्ति परापेक्षा विरत रहकर 'स इदम्' रूप अपूर्ण विमर्श के साथ विमर्शन करती है, तब शुद्ध विद्या कहलाती है। जब यह शक्ति 'स इदम्— अहमिदम्' इत्याकारक (दोनों भावों में समान रूप से उदासीन होकर) विमर्शन करती है, तब सदाशिव (महेश्वर) कहलाती है।

सदाशिव— सदाशिव 'अहमिदम्' विमर्श में 'इदं' का उल्लास होता है। शिवतत्त्व के इदमहम् विमर्श में अहं का उल्लास रहता है। शुद्ध विद्या में ग्राह्य-ग्राहक भाव सामानाधिकरण्य में रहते हैं— सामानाधिकरण्यं हि सद्विद्याहमिदंधियोः।

अशुद्ध विद्या = वैयधिकरण्य से इदं में ग्राह्य बुद्धि एवं अहं में ग्राहक बुद्धि का होना ही अशुद्ध विद्या (माया) है।

जब उक्त विलासत्रय सामानाधिकरण्यरूप शुद्ध विद्या से प्राप्त होते हैं तब शुद्ध विद्या ईश्वर एवं सदाशिव कहे जाते हैं; किन्तु जब वे विलासत्रय माया (अशुद्ध विद्या) से उत्पन्न होते हैं, तब 'मैं, तू एवं वह' बन जाते हैं।

बिन्दु से त्रिकोण— त्रिकोण शक्ति मातृ-मेय-मान, ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान, हरि-हर-हिरण्यगर्भ, इच्छा-ज्ञान-क्रिया, मन-बुद्धि-अहंकार एवं सतोगुण-रजोगुण-तमोगुण से संवलित हो जाती है। इस त्रिपुटीभाव से शून्य अकोणात्मक बिन्दु त्रिपुटी के अभिव्यक्त्यर्थ आकार ग्रहण करता है और एक ही बिन्दु त्रिकोण में विभक्त हो जाता है—

सेयं त्रिकोणरूपं माता त्रिगुणरूपिणी माता।[१] (कामकलाविलास)

इसी महात्रिकोण में श्री कामेश्वर एवं कामेश्वरी इच्छा आदि शक्तित्रितय के साथ निवास करते हैं—

इच्छादिशक्तित्रितयं पशोः सत्वादिसंज्ञकम्।
महत्र्यस्रं चिन्तयामि गुरुवक्त्रादनुत्तरात्।।

अकोणाकार, शून्यात्मक बिन्दु ही त्रिपुटी (ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान आदि) के प्रकटीकरण हेतु त्रिकोण स्वरूप धारण कर लेता है।

महाबिन्दु और बिन्दु— शास्त्रों में शब्द की जो चार अवस्थायें (भाव) बताई गई हैं, उनमें जो परा है, वह महाबिन्दु के विस्फोट के पूर्व की अवस्था है।[२]

• बिन्दु → ▽। बिन्दु → त्रिकोण।

१. महाबिन्दु— रक्तबिन्दु के भीतर गुप्त श्वेतबिन्दु है। इसका वर्ण श्वेत है, इसका स्थान ब्रह्मरन्ध्र है और चक्र की दृष्टि से इसका स्थान सहस्रदल कमल है। यह शरीरावस्था की दृष्टि से तुरीयातीता है और चक्र की मूल शक्ति के रूप में यह परा शक्ति है और चक्र की अधिष्ठात्री शक्ति के रूप में यह प्रकाशविमर्शरूपिणी परा भट्टारिका है।

---

१. कामकलाविलास २. सहज साधना

परबिन्दु का जब विस्फोट होता है तो यह तीन भागों में विभाजित हो जाता है, जो निम्न हैं— १. बिन्दु (शिव), २. बीज (शक्ति) एवं ३. नाद (शिव-शक्ति का संयोग, शिव-शक्ति का मैथुन, शिव-शक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध या एकता ही नाद है)। नाद क्रियाशक्ति है। इसी का सार कुण्डलिनी है; क्योंकि वह नादमयी है। नाद कुण्डलिनीमय है। शक्ति, नाद एवं बिन्दु के रूप मे होने वाले प्रथम विभाजन में जो नादतत्त्व है, वह शिव-शक्ति का योग या उनका मैथुन है।

सारांश— यह कि तीन बिन्दु निम्नांकित हैं—

१. सूर्य, २. चन्द्र एवं ३. अग्नि या १. सितबिन्दु : प्रकाश का प्रतिनिधि, २. शोणबिन्दु : विमर्श का प्रतिनिधि एवं ३. मिश्रबिन्दु : प्रकाश एवं विमर्श दोनों का प्रतिनिधि।[1]

शारदातिलक में कहा गया है—

१. आसीच्छक्तिस्ततो नादः नादाद्बिन्दुसमुद्भवः।

सारांश यह कि सचिदानन्द सकल परमात्मा से शक्ति का आविर्भाव हुआ और शक्ति से नाद एवं नाद से बिन्दु का आविर्भाव हुआ।

२. भिद्यमानात्पराद्बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत्।
शब्दब्रह्मेति तं प्राहुः सर्वागमविशारदः।। (१.२)

इसमें प्रथम बिन्दु परबिन्दु कहा गया है। प्राणतोषिणी के मतानुसार परबिन्दु ही प्रथम बिन्दु है और शक्ति की एक अवस्था है।[2]

महाबिन्दु ही सदाशिव है, जिसके ऊपर चित्कला (चिच्छक्ति) स्वातन्त्र्यमयी होकर क्रीड़ा करती है। यह क्रीड़ा परा वाक् या परा मात्रा का विलास है। शुक्ल एवं रक्त बिन्दु (प्रकाश एवं विमर्श) से युक्त कामकलाक्षर के परस्पर संघट्ट से ही चित्कला की अभिव्यक्ति होती है। महाबिन्दु के स्पन्दन से तीनों विलीन बिन्दु पृथक्-पृथक् रूप में परिणत होकर महात्रिकोण का आकार धारण कर लेते हैं। इसी से शिव से पृथ्वीपर्यन्त ३६ तत्त्वों का आविर्भाव होता है।

महात्रिकोण का मध्यस्थ महाबिन्दु अभिन्न विग्रह शिव एवं शक्ति का आसन है। महाबिन्दु ही विश्व का हृदय है और विश्वातीत परमेश्वर या शिव-शक्ति का आविर्भाव स्थान या आसन है। महाबिन्दु के स्पन्दन से तीनों विलीन बिन्दु पृथक्-पृथक् रूप होकर रेखारूप बनकर महात्रिकोण का आकार धारण करते हैं।

वामकेश्वर तन्त्र में इस महात्रिकोण की विस्तृत व्याख्या की गई है।

---

१. शारदातिलक

२. बृहत् त्रिकोण सिसृक्षा का रूप है और कामकला का निर्माण करती है।

महात्रिकोण एवं वाक्चतुष्टय

परमशिव

१. प्रकाश (शिव) — अम्बिका, वामा, ज्येष्ठा, रौद्री (प्रकाश के अंश)

२. विमर्श (शक्ति) — शान्ता, इच्छा, ज्ञान, क्रिया (विमर्श के अंश)
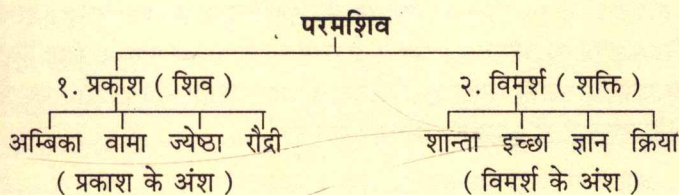
अम्बिका (प्रकाशांश) तथा शान्ता (विमर्शांश) की सामरस्यावस्था में शान्ता-भावापन्ना परा शक्ति परा वाक् कहलाती है। यह परा वाक ही आत्मस्फुरण की अवस्था है—

आत्मन: स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला।
अम्बिकारूपमापन्ना परा वाक् समुदीरिता।। (योगिनीहृदय)

अर्थात् जिस समय वह परा शक्ति अपने स्फुरण को देखती है, उस समय वह अम्बिकारूप को प्राप्त हुई परा वाक् कही जाती है।

आत्मस्फुरण की अवस्था में समस्त विश्व बीजरूप में (अस्फुट रूप में) आत्म-सत्ता में वर्त्तमान रहता है। शान्ता से इच्छा का उदय होने पर अव्यक्त जगत् विश्वशक्ति के गर्भ से बाहर निकलता है।

इस समय वामा शक्ति के साथ इच्छा शक्ति तादात्म्य प्राप्त करती है, जिससे पश्यन्ती वाक् का आविर्भाव होता है।

सारांश यह कि अम्बिका एवं शान्ता की सामरस्यावस्था में परा शक्ति परा वाक् कहलाती है।

क. परा वाक् = आत्मस्फुरण की अवस्था। परा शक्ति की वह अवस्था जो अम्बिका एवं शान्ता की सामरस्यावस्था से युक्त है।

ख. पश्यन्ती वाक् = इच्छा शक्ति का वामा शक्ति के साथ सामरस्य।

ग. मध्यमा वाक् = ज्ञानशक्ति एवं ज्येष्ठा का सामरस्य।

घ. वैखरी वाक् = क्रिया शक्ति एवं रौद्री का सामरस्य।

ये चार वाक् (परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी) मिल कर ही मूल त्रिकोण या महायोनि का निर्माण करते हैं।

महात्रिकोण (महायोनि)—

१. इस त्रिकोण का केन्द्र या बिन्दु ही परा वाक् है। यह बिन्दु या केन्द्र नित्य स्पन्द-मय है।

२. इसकी वाम रेखा पश्यन्ती वाक् है।

३. इसकी दाक्षिण रेखा वैखरी वाक् है।

४. इसकी सरल अग्ररेखा (Bare) मध्यमा वाक् है। भूपुर से महाबिन्दुपर्यन्त समस्त विश्वचक्र ही महाशक्ति का विकास है। महाबिन्दु (मध्यस्थ बिन्दु) ही अभिन्न विग्रह शिव-शक्ति का आसन है। अकुल से महाबिन्दुपर्यन्त महामार्ग के भीतर जितने भी अवान्तर चक्र हैं, उनकी समष्टि ही विश्वचक्र है। मध्य त्रिकोण बिन्दु-विसर्गमय है। इस त्रिकोण के स्पन्दनों से अष्टकोण कल्पित होते हैं।

१. अकुल से आज्ञाचक्र तक के अंश = सकल।

२. आज्ञाचक्र से ऊपर बिन्दु से उन्मना तक के अंश = सकल निष्कल।

३. महाबिन्दु अंश = निष्कल।

१. सकल— मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्य एवं आज्ञा चक्र। अग्नि, सूर्य एवं चन्द्रबिम्ब। मूलाधार में अग्निबिम्ब, अनाहत में सूर्यबिम्ब एवं विशुद्ध चक्र में चन्द्रबिम्ब।

२. सकल निष्कल— (आज्ञाचक्र के ऊपर) बिन्दु से उन्मनाभूमियों अर्थात् बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका (व्यापिनी), समना एवं उन्मना।

उन्मना तक पहुँचने पर काल की कलायें, तत्त्व, देवता एवं मन सभी निरुद्ध हो जाते हैं। ये ही रुद्रवक्त्र हैं और यह अन्तिम भूमि निराकार, शून्यमय एवं विश्वातीत है।

३. निष्कल— उपर्युक्त दूसरी अवस्था के बाद ही आती है— महाबिन्दु की अवस्था, जो कि निष्कल भूमि है। इसी की अपर संज्ञा है— सादाख्य, सदाशिवरूप आसन। इसी भूमिका पर तत्त्वातीत शिव एवं शक्ति की क्रीड़ा चलती है।

४. श्रीचक्र में प्रविष्ट होकर तत्त्वातीतावस्था में चलने के मार्ग में तीन विभाग हैं, जो निम्नवत् हैं—

क. चतुष्कोण से त्रिकोण तक— सकल मार्ग।

ख. बिन्दु से उन्मना तक— सकल निष्कल मार्ग।

ग. महाबिन्दु — निष्कल मार्ग।

भूपुर, षोडशदल, अष्टदल, चतुर्दश कोण, बाह्य दश कोण, आन्तर दश कोण, अष्टकोण, त्रिकोण— ये सुषुम्णा मार्ग में निम्नतम अकुल से आज्ञा चक्रपर्यन्त।

तत्वातीतावस्था में शिव-शक्ति का सामरस्य है। इस समय विश्व शक्ति के गर्भ में अन्तःसंहृत भाव से (शक्ति से अभिन्न) रहता है। जब परा शक्ति स्वेच्छया अपने स्फुरण का दर्शन करती है तभी विश्व की सृष्टि होती है। इस स्फुरण का दर्शन ही विश्वदर्शन है। विश्वदर्शन ही सृष्टि है। दृष्टि ही सृष्टि है।

शिव अग्निस्वरूप है। शक्ति सोमस्वरूप है। बिन्दु दोनों का सामरस्य है। बिन्दु = रवि या काम। क्षोभ (साम्यभंग) यानि सृष्टि का आरम्भ। साम्यावस्था में अग्नि + चन्द्र (रक्तबिन्दु + शुक्लबिन्दु) (अ + ह)। प्रकाशस्वरूप अग्नि के सम्बन्ध से विमर्शरूपा

शक्ति का स्राव; जैसे कि अग्निसंसर्ग से घृत पिघल जाता है; ठीक उसी प्रकार श्वेत + रक्तबिन्दुओं के मध्य से चित्कला का नि:सरण होता है।

यन्त्र और पीठ— देवता का यान्त्रिक रूप ही जगत् का रूप है। प्रत्येक यन्त्र में सबसे बाहर जो चतुष्कोण होता है, उसका नाम होता है— भूपुर। किसी भी मार्ग से उसमें प्रवेश करना ही साधनामार्ग है। इन सभी यन्त्रों के केन्द्र में स्थित बिन्दु ही अन्तिम भूमि है।

महात्रिकोण एवं पीठ— महात्रिकोण में चार पीठ हैं। प्रत्येक पीठ में ही विश्व का रूप भासमान होता है। स्वरूप से उसका भान बीजरूप से होता है और बाहर सृष्टिरूप से।

पीठतत्त्व— प्रकाश और विमर्श की मात्राओं का सामरस्य ही पीठ है।

क. अम्बिका + शान्ता शक्तियों का सामरस्य = कामरूप पीठ।

ख. कामरूप पीठ आधारस्थान में स्थित है। यह पीत वर्ण एवं चतुष्कोणात्मक है। इसका दूसरा नाम है— मन। जब इसमें बिन्दुचैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब उसे 'स्वयम्भू लिंग' कहते हैं।

यह पीठ महात्रिकोण का अग्रकोण है। त्रिकोण के अन्य दो कोण पूर्णगिरि पीठ एवं जालन्धर पीठ हैं। उनमें प्रतिफलित होने वाला चैतन्य 'इतर लिंग' एवं 'बाण लिंग' हैं। ये बुद्धि एवं अहंकार के ही अपर पर्याय हैं। ये हृदय एवं भ्रूमध्य में स्थित हैं। मध्यबिन्दु 'उड्डीयान पीठ' या 'श्रीपीठ' है; जो कि चित्तस्वरूप है। इनमें जो ज्योति प्रतिबिम्बित होती है, उसी का नाम है— परलिंग। परलिंग समस्त वर्णों से वेष्टित है। परलिंग ही परमपद से प्रथम स्पन्द रूप में उदित होता है।

शिव-शक्ति यामल का अहंपरामर्श ही पूर्णाहन्ता है। पूर्णाहन्ता या परा वाक् ही पश्यन्ती आदि तीन वाकों का रूप धारण करती है। परा वाक् प्रथमत: इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया का रूप धारण करता है और बाद में वह मातृका का रूप धारण करता है। सृष्टि के समस्त व्यापारों के मूल में प्रकाश एवं विमर्श दोनों ही की सत्ता रहती है। (परावाक— १. इच्छा-ज्ञान-क्रिया; २. मातृका)।

बिन्दु से महाबिन्दु की यात्रा— बिन्दु के बाद अर्धचन्द्र, अर्धचन्द्र से रोधिनी, रोधिनी से नाद, नाद से नादान्त, नादान्त से शक्ति, शक्ति से व्यापिका, व्यापिका से समना, समना से उन्मना एवं उन्मना से महाबिन्दु की यात्रा होती है।

महाबिन्दु— उन्मनी— समना— व्यापिका— शक्ति— नादान्त— नाद— रोधिनी— अर्धचन्द्र— बिन्दु इस यात्रा का द्वितीय मार्ग है।

महाबिन्दु एवं मानवपिण्ड के चक्र— सहस्रारस्थ बिन्दु ही १० भागों में विभाजित होकर मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान के १० दल बनाता है—

दशधा भिद्यते बिन्दुः एक एव परात्मकः।
चतुर्धाऽऽधारकमले षोढाऽधिष्ठानपङ्कजे।
उभयाकाररूपत्वादितरेषां तदात्मता।।

परम बिन्दु का दशधा विभाजन— मूलाधार ४ दल एवं स्वाधिष्ठान ६ दल (१० दल)। इस प्रकार परमबिन्दु की अभिव्यक्ति १० रूपों में होती है—

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के रूप में मूलाधार चक्र में चार रूपों में एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य के रूप में स्वाधिष्ठान चक्र में ६ रूपों। सहस्रार बिन्दु होता है— 'सहस्रारं बिन्दुर्भवति' (सुभोगदय)। इसीलिये इसे बैन्दवगृह कहते हैं— 'च ततो बैन्दवगृहम्'। इसी बिन्दु से सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि हुई है—

तदेतस्माज्जातं जगदिदमशेषं स करणम्। (गौड़पादाचार्य)

सहस्रारस्थ बिन्दु (परबिन्दु) का अभिव्यक्ति-क्रम (सृष्टिक्रम)

सहस्रारस्थ परबिन्दु का १० रूपों में विभाजन—

अधिष्ठानाधारद्वितयमिदमेवं दलदलम्।
दशधा भिद्यते बिन्दुः एक एव परात्मकः।।

मूलाधार के ४ दलों के रूप में— मन, बुद्धि, चित्त, एवं अहंकार।

स्वाधिष्ठान के ६ दलों के रूप में— काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य।

परमबिन्दु और उसकी चक्रात्मक सृष्टि— मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्र का जन्म सहस्रारस्थ परम बिन्दु से होता है। परम बिन्दु का दशधा विभाजन इस प्रकार होता है—

क. १. मन ३. चित्त
२. बुद्धि ४. अहङ्कार = मूलाधार चक्र।

ख. १. काम ४. मोह
२. क्रोध ५. मद
३. लोभ ६. मात्सर्य = स्वाधिष्ठान चक्र।

मणिपूर चक्र का जन्म— मूलाधार के चार एवं स्वाधिष्ठान के छः दलों से मणिपूर चक्र का प्रादुर्भाव होता है। इसीलिये मणिपूर में दश दल होते हैं।

अनाहत चक्र का जन्म— मणिपूर चक्र के दश दल के साथ-साथ मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान को मिलाकर अनाहत चक्र की उत्पत्ति होती है। इसीलिये इस अनाहत चक्र में बारह दल होते हैं।

विशुद्धाख्य चक्र का जन्म— अनाहत चक्र के बारह एवं मूलाधार के चार दलों को मिलाकर विशुद्धाख्य चक्र का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार यह विशुद्धाख्य चक्र सोलह दलों वाला कहलाता है।

आज्ञाचक्र का जन्म— दो दलों वाले आज्ञाचक्र का प्रादुर्भाव मूलाधार एवं स्वाधि-ष्ठान चक्र के संयोग से होता है। अतएव यह आज्ञाचक्र दो दलों वाला होता है।

निष्कर्ष यह कि—

क. सहस्रार में स्थित परमबिन्दु द्वारा प्रत्यक्ष रूप में अपनी अभिव्यक्ति मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्र के रूप में होती है।

ख. छः चक्रों में मूल चक्र मात्र दो ही हैं— मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान।

ग. मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान से ही शेष चार चक्रों का निर्माण हुआ है।

इसीलिये कहा भी गया है—

दशधा भिद्यते बिन्दुः एक एव परात्मकः।
चतुर्धाऽधारकमले षोढाऽधिष्ठानपङ्कजे।।

जिन दश मानवीय वृत्तियों से परमबिन्दु की अभिव्यक्ति होती है, वे दश मानवीय वृत्तियाँ निम्नवत् हैं—

१. मन ३. चित्त ५. काम ७. लोभ ९. मद
२. बुद्धि ४. अहंकार ६. क्रोध ८. मोह १०. मात्सर्य
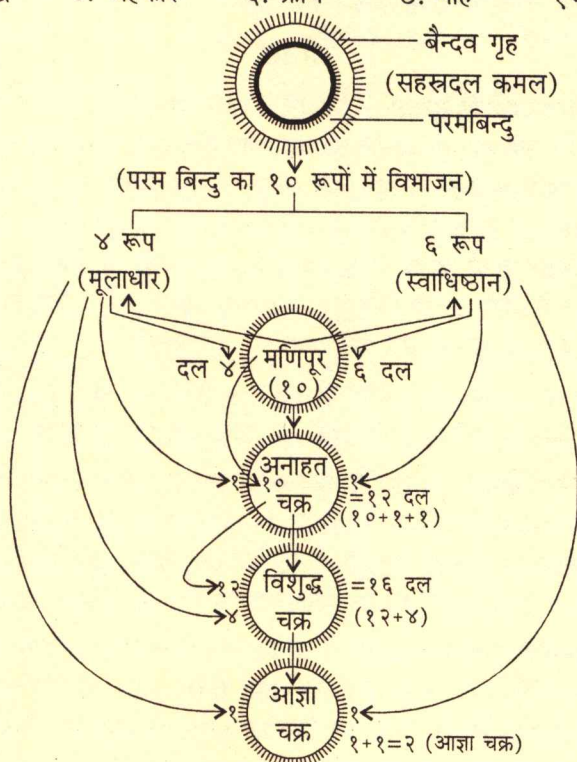
सहस्रारं बिन्दुर्भवति च ततो बैन्दवगृहम्।

१. तदेतस्माज्जातं जगदिदमशेषञ्च करणम्।
ततो मूलाधाराद्वितयमभवत्तद्दशदलम्।
सहस्राराज्जातं तदिति दशधा बिन्दुरभवत्।।
(आचार्य गौड़पाद : सुभगोदयस्तुति)

२. दशधा भिद्यते बिन्दुः एक एव परात्मकः।
चतुर्धाधारकमले षोढाऽधिष्ठानपङ्कजे।
उभयाकाररूपत्वादितरेषां तदात्मता।।

३. अतएव मूलाधारद्विके उत्तरकमलचतुष्कमन्तर्भूतमिति एकस्यैव बिन्दोः दशधात्वं नान्यथेति सिद्धम् (लक्ष्मीधरा) अर्थात् मूलाधारद्विक (मूलाधार + स्वाधिष्ठान), उत्तर कमलचतुष्क (मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि)।

आज्ञा के भीतर एक ही परम बिन्दु दशधा विभक्त होकर व्याप्त है।

जिस प्रकार षट्‌चक्र एवं श्रीचक्र में ऐकात्म्य है, उसी प्रकार श्रीचक्र के प्रत्येक चक्र के साथ अनेक तत्त्वों का सामरस्य है। जैसे कि—

श्रीचक्र

१. सर्वानन्दमय बिन्दुचक्र— सहस्रार में स्थित परमाकाश सर्वानन्दमय बिन्दुचक्र के समतुल्य है। यहीं भगवती आसीन है। यह स्थान देश-काल-आकार से शून्य है। यहीं पर भगवती त्रिपुरा कामेश्वर के वाम भाग अंक में नित्य निवास करती है। यही आद्य दम्पति है। इस एक ही रूप में गुरु एवं इष्टदेवता दोनों समाविष्ट हैं। सहस्रारस्थ चन्द्र-मण्डल में निवास करने वाली त्रिपुरा देवी की अन्तिम षोडशी कला उनका श्रेष्ठतम आवरण है। यही आदि दम्पति त्रिबिन्दु (तीन रूप) बनता है— मित्रेशनाथ— कामेश्वरी, उड्डीशनाथ— वज्रेश्वरी एवं षष्ठीशनाथ— भगमालिनी।

सत्-रज-तम (त्रिगुण), कामगिरि-उड्डीयान-पूर्णगिरि (पीठत्रय), दिव्य-सिद्ध-मानव (ओघत्रय), लोकत्रय आदि त्रिकों का उद्गम यही त्रिबिन्दु ही है।

२. अष्टार चक्र— त्रिकोण के विकास की अपनी परिणति अष्टार चक्र में होती है। यह सान्ध्य प्रकाश की रक्तिमा से मण्डित है। सूक्ष्मस्वरूपा एवं चिन्मयी वशिनी आदि वाणी की अधिष्ठात्री शक्तियाँ नित्य हैं। ये पूर्णाऽहंभाव प्रदान करती हैं और अपूर्णता के रोग को नष्ट करती हैं। इसीलिये इस चक्र का नाम है— सर्वरोगहर चक्र।

३. अन्तर्दशार चक्र— अष्टार से सम्बद्ध चक्र अन्तर्दशार है। इसमें दसों इन्द्रियों के विषयों की वृत्तियाँ स्थित हैं। यहाँ विद्युत्समा सर्वज्ञा आदि १० शक्तियाँ रहती हैं। इनकी कृपा अर्थात् ऐन्द्रिय विषयों पर विजय। विषयों के आक्रमण से रक्षा करने के कारण ही इस चक्र का नाम है— सर्वरक्षाकर चक्र।

४. बहिर्दशार चक्र— अन्तर्दशार के बाद आता है— बहिर्दशार। यह स्फटिकाभ, शुभ्र, निर्मल चक्र है। इसमें दसों इन्द्रियों के विषय कार्यरूप से निवास करते हैं। इस चक्र का नाम है— सर्वसिद्धिप्रद चक्र।

५. चतुर्दशार चक्र— इसमें मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, १० इन्द्रियाँ अर्थात् कुल चौदह शक्तियाँ निवास करती हैं। यह भी अरुण है। यह भगवती का अन्तःकरण है। इसे सर्वसौभाग्यदायक चक्र कहते हैं।

६. अष्टदल चक्र— इस अष्टदल चक्र में अव्यक्त तत्त्व, महत्तत्त्व, अहंकार एवं ५ महाभूतों की तन्मात्रायें रहती हैं। इस चक्र का नाम सर्वसंक्षोभण चक्र है।

७. षोडशार चक्र— इसमें पाँच महाभूत, १० इन्द्रियाँ एवं १६हवाँ मन रहता है। षोडश स्वर प्रत्येक दल पर कामाकर्षिणी आदि नित्य षोडश कलाओं के प्रतीक हैं। इस चक्र का नाम है— सर्वाशापरिपूरक चक्र।

८. भूपुर— श्रीचक्र के ३ भूपुर हैं। प्रथम में त्रिखण्डा मुद्रा के सहित बालसूर्यवत् रत्तभ संक्षोभिणी आदि ९ मुद्रायें हैं। यह चिन्मयी संवित्स्वरूपिणी परा शक्ति के ही स्वरूप में स्थित है। इन्हीं मुद्राओं के रूप में अकुल, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, लम्बिका, आज्ञा की सहस्रार की शक्तियाँ हैं। इन्हीं में ९ नाथ स्थित हैं।

श्रीयन्त्र की उपासना के मुख्य प्रकार (प्रस्तारभेद)

मेरुप्रस्तार कैलासप्रस्तार भूप्रस्तार

१. सर्वानन्दमय (केन्द्रस्थ रक्तबिन्दु) चक्र— इसकी अधिष्ठात्री देवी ललिता या त्रिपुरसुन्दरी हैं। ये अपने आवरण-देवताओं के भेद से कहीं तो षोडश नित्याओं में मुख्य मानी जाती हैं, कहीं अष्ट मातृकाओं में श्रेष्ठतमा कही गई हैं और कहीं अष्टवशिनी देवताओं में श्रेष्ठतमा अधिनायिका कही गई हैं। यह भेद प्रस्तारभेद के कारण है।

२. सर्वसिद्धिप्रद (त्रिकोण चक्र)— यह पीत वर्ण के एक त्रिकोण से निर्मित है। इस त्रिकोण के तीनों कोण कामरूप, पूर्णगिरि एवं जालन्धर पीठ हैं। इसके मध्य में औडयाण पीठ है। तीनों पीठों की अधिष्ठात्री देवता कामेश्वरी, वज्रेश्वरी एवं भगमालिनी हैं, जो कि प्रकृति, महत्तत्त्व एवं अहंकाररूपा हैं।

३. सर्वरोगहर चक्र (अष्टकोण)— काले रंग के त्रिकोण वाले इस चक्र के आठ त्रिकोणों की अधिष्ठात्री देवता क्रमशः वशिनी, कामेश्वरी, मोहिनी, विमला, अरुणा, जयिनी, सर्वेश्वरी एवं कौलिनी हैं। ये शीत, ऊष्ण, सुख, दुःख, इच्छा, सत्त्व, रज एवं तम की स्वामिनी हैं।

सर्वानन्दमय चक्र (प्रथम चक्र) बिन्दु, नाद एवं बिन्दु ँ — इन तीन बिन्दुओं के संयोग से निर्मित है। बिन्दु मणिद्वीप है। यही हृत्पुण्डरीक भी कहा गया है। मणिद्वीप (बिन्दु) में शंकर एवं शक्ति सामरस्ययुक्त रूप में रहते हैं।

तुर्यातीतावस्था महाबिन्दु उन्मनी समना व्यापिका शक्ति नादान्त ० ०̆ ०̊ ०̆ ०।० ०।̆				षट्चक्र-श्रीचक्र-अवस्थापञ्चक-श्रीविद्या-पीठ-वर्ण-शक्ति-नाथ-कूट-लिङ्ग आदि का सामरस्यात्मक अन्तःसम्बन्ध												'शक्तिकूट' १.सर्वरोगहर २.सर्वसिद्धिप्रद ३.सर्वानन्दमय १.अष्टार २.त्र्यक्ष ३.बिन्दु
तुर्यावस्था नाद रोधिनी अर्धचन्द्र ०।० ∨∪ ∪			**सुषप्त्यवस्था** बिन्दु ÷̆		साम रस्य	ब्रह्म	चर्या- नन्द	तुरीय	अम्बिका शान्ता तुर्या	ज्ञानात्मा	सर्व	ओड् याण	उत्तर	पर- लिङ्ग		
१.सहस्रार	स्वप्न जागरण		१०० दल अमृतादि याकिनी (योगिनी) शुक्ल													'कामराजकूट' १.सर्वसौभाग्य २.सर्वार्थसाधक ३.सर्वरक्षाकर १.चतुर्दशार २.बहिर्दशार ३.अन्तर्दशार
	भूमि विष्णु भारती				ज्ञेय	सोम	उड्डीश	सुषुप्ति	रौद्री क्रिया भगमा लिनी	परमात्मा	शिव	जाल न्धर	पश्चिम	इतर- लिङ्ग	सोम कुण्ड- लिनी	
२.भ्रूमध्य में आज्ञाचक्र			२ दल ह, क्ष। हस इत्यादि (अक्षर)। हाकिनी (योगिनी) मज्जा (धातु)													
	भूमि ब्रह्मा		स्वप्न													
३.कण्ठ में विशुद्धिचक्र			१६ दल अ-अः (अक्षर) अमृता- दि डाकिनी (यो- गिनी) त्वक् (धातु)												वैखरी	

	विष्णु भारती ब्रह्मा	क स ह		स्थिति	ज्ञान	सूर्य	षष्ठी-श	स्वप्न	ज्येष्ठा-ज्ञाना वज्रेश्वरी	अन्त-रात्मा	विद्या	पूर्णा गिरि	दक्षिण	बाण लिङ्ग	सूर्य-कुण्ड-लिनी	
															मध्यमा	'वाग्भवकूट' १.त्रैलोक्यमोहन २.सर्वाशापरिपूरक ३.सर्वसंक्षोभण १.भूपुर २.षोडशदल ३.अष्टदल
४.हृदयस्थान में अनाहतचक्र			१२ दल क-ठ (अक्षर) कालरात्र्यादि राकिनी (योगिनी) असृक् (धातु)													
	ई-मिथुन र-रुद्राणी ह्-रुद्र	ह्रीं													वह्नि कुण्ड-लिनी	
५.नाभिस्थान में मणिपूरचक्र			१० दल ड-क (अक्षर) डामर्यादि लाकिनी (योगिनी) मास (धातु)												पश्यन्ती	
	विष्णु	ल ई		सृष्टि	ज्ञाता	अग्नि	मित्रेश	जागर	वामा,इच्छा कामेश्वरी	आत्मा	आत्म	काम गिरि	प्राक्	स्वयंभू लिङ्ग		
६.लिङ्गस्थान में स्वाधिष्ठानचक्र			६ दल ब-ल (अक्षर) बन्दिन्यादि काकिनी (योगिनी) मेद (धातु)													
	भारती ब्रह्मा	ए,क														
७.गुदा से दो अंगुल ऊपर मूलाधारचक्र		▽	४ दल व-स (अक्षर) परदादि शकिनी (योगिनी) अस्थि (धातु)												परा वाक्	
			दल, अक्षर, परिवार, योगिनयाँ, धातु।	कृत्य	त्रिपुटी	चक्र	नाथ	अव-स्था	शक्ति	आत्मा	तत्त्व	पीठ	अन्वय	लिङ्ग	मातृका	

अक्षरों में तत्त्वों का समावेश तथा चक्रों से सम्बन्ध

		तत्त्व और उनकी किरणें						
चक्र	**वर्ण**	**पृथ्वी**	**जल**	**अग्नि**	**वायु**	**आकाश**	**मन**	**योग**
आज्ञा	ह	२८	२६	३१	२७	३६	३२	१८०
	क्ष	२८	२६	३१	२७	३६	३२	१८०
	योग	**५६**	**५२**	**६२**	**५४**	**७२**	**६४**	**३६०**
विशुद्ध	अ	२.५०	२.२५	३.८७५	३.३७५	४.५०	४	२२.५०
	शेष १५ स्वरों के किरणों की संख्या भी इसी प्रकार है। १६ स्वरों का योग नीचे दिया है—							
	योग	**५६**	**५२**	**६२**	**५४**	**७२**	**६४**	**३६०**
अनाहत	क	४.५०	४.७५	५	४.५०	६	५.२५	३०
	ख	४.५०	४.७५	५	४.५०	६	५.२५	३०
	ग	५	४.२५	५	४.५०	६	५.२५	३०
	घ	४.५०	४.२५	५.५०	४.५०	६	५.२५	३०
	ङ	४.५०	४.२५	५.५०	४.५०	६	५.२५	३०
	च	४.५०	४.२५	५.५०	४.५०	६	५.२५	३०
	छ	४.५०	४.२५	५.५०	४.५०	६	५.२५	३०
	ज	५	४.२५	५	४.५०	६	५.२५	३०
	झ	४.५०	४.२५	५	४.५०	६	५.५०	३०
	ञ	४.५०	४.२५	५	४.५०	६	५.५०	३०
	ट	५	४.२५	५	४.५०	६	५.५०	३०
	ठ	५	४.२५	५	४.५०	६	५.५०	३०
	योग	**५६**	**५२**	**६२**	**५४**	**७२**	**६४**	**३६०**
मणिपूर	ड	५.७५	५.२५	६.५०	५	७	६.५०	३६
	ढ	५.७५	५.२५	६.५०	५	७	६.५०	३६
	ण	५.७५	५.२५	६.५०	५	७	६.५०	३६
	त	५.७५	५.२५	६.५०	५	७	६.५०	३६
	थ	५.५०	५.२५	६	५.७५	७	६.५०	३६
	द	५.५०	५.२५	६	५.७५	७	६.५०	३६
	ध	५.५०	५.२५	६	५.७५	७	६.५०	३६
	न	५.५०	५.२५	६	५.७५	७	६.५०	३६

	वर्ण	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु	आकाश	मन	योग
	प	५.५०	५	६	५.५०	८	६	३६
	फ	५.५०	५	६	५.५०	८	६	३६
	योग	**५६**	**५२**	**६२**	**५४**	**७२**	**६४**	**३६०**
स्वाधिष्ठान	ब	१०	८.५०	१०	९	१२	१०.५०	६०
	भ	९	९.५०	१०	९	१२	१०.५०	६०
	म	९	८.५०	११	९	१२	१०.७५	६०
	य	९	८.५०	१०	९	१२	१०.७५	६०
	र	९	८.५०	११	९	१२	१०.७५	६०
	ल	१०	८.५०	१०	९	१२	१०.७५	६०
	योग	**५६**	**५२**	**६२**	**५४**	**७२**	**६४**	**३६०**
मूलाधार	व	१४	१३	१५.५०	१३.५०	१८	१६	९०
	श	१४	१३	१५.५०	१३.५०	१८	१६	९०
	ष	१४	१३	१५.५०	१३.५०	१८	१६	९०
	स	१४	१३	१५.५०	१३.५०	१८	१६	९०
	योग	**५६**	**५२**	**६२**	**५४**	**७२**	**६४**	**३६०**

अष्टार (नवयोन्यात्मक) चक्र

ब्रह्माण्ड एवं पिण्डाण्ड ही श्रीचक्र है। इसमें बिन्दु तो शिव है और जीव त्रिकोण है। बिन्दु एवं त्रिकोण दोनों चेतन एवं जड़ तथा उभयात्मक विश्व के त्रिपुटीरूप हैं। बिन्दु एवं त्रिकोण दोनों चक्र जड़, चेतन एवं उभयात्मक विश्व के त्रिपुटीरूप, जड़-चेतनरूप, शिव-शक्तिरूप एवं चित् और चैत्य के पारस्परिक संश्लेष बोधित करते हैं। बिन्दु अन्त-र्मुख विलास करने वाली महाशक्ति का अधिष्ठान है तथा त्रिकोण बहिर्मुख विलास करने वाली विमर्श शक्ति का अधिष्ठान है। 'इच्छामात्रं प्रभो सृष्टिः' के अनुसार यहाँ किसी क्रम की अपेक्षा नहीं है। चित् एवं चैत्य का सम्बन्ध जड़-चैतन्य दो भागों में विभक्त हो जाता है। शिव के चार तत्त्व— शिवतत्त्व, शुद्ध विद्यातत्त्व, ईश्वरतत्त्व एवं सदाशिव तत्त्व चार त्रिकोणों में फैल जाते हैं। जीव के चार तत्त्व— कला, राग, अविद्या एवं कञ्चुक शेष चार त्रिकोणों में फैल जाते हैं। ये दोनों मिलकर अष्ट त्रिकोण अष्टार हो जाते हैं। इस स्थिति में महाशक्ति महामाया का स्वरूप ग्रहण करके शिव एवं जीव दोनों की कलायें प्रदर्शित करती है—

चितिश्चैत्यं च चैतन्यं चेतनाद्वय कर्म च।
जीवः कला च देवेशि ! सूक्ष्मपुर्यष्टकं मतम्।।

अष्टारव्यपदेशोऽयं चिन्तिर्वाणौषणादिकम्।
सूक्ष्मं पुर्यष्टकं देव्या मतिरेषा हि गौरवी।।

१. बिन्दु : सर्वानन्दमय चक्र
२. त्रिकोण : सर्वसिद्धप्रद चक्र
३. अष्टकोण : सर्वरोगहर चक्र
४. अन्तर्दशार : सर्वरक्षाकर चक्र
५. बहिर्दशार : सर्वार्थसाधक चक्र
६. चतुर्दशार : सर्वसौभाग्यदायक चक्र
७. अष्टदल : सर्वसंक्षोभण चक्र
८. षोडश दल : सर्वाशापरिपूरक चक्र
९. भूपुर

शिव-शक्ति का प्रकाश अष्ट त्रिकोण में विभक्त होकर महा एक-एक त्रिकोण की एक-एक शक्ति वाग्देवता के रूप रूपान्तरित हो जाती है। मातृका-सृष्टि में (१) जीव-चतुरस्र— य, र, ल, व, (यवर्ग) के रूप में तथा (२) शिवचतुरस्र— श, ष, स, ह (शवर्ग) के रूप में अष्टार (अष्टकोणों) में प्रकाशित होते हैं। 'श' मध्य बिन्दु कूटाक्षर शिवतत्त्व (कूटतत्त्व) है। यवर्ग और शवर्ग की मातृका शक्तियाँ अष्ट त्रिकोण में आठ तत्त्वों की द्योतिका हैं। इस अष्टार में अवतरित होकर महाशक्ति जीव-शिव दोनों की समष्टि रूप हो जाती हैं और फिर अष्ट शक्तियों में विभक्त शीत-ऊष्ण, सुख-दुःख, स्वेच्छा, सत्-रज-तम का विश्व में सञ्चार करती हैं। इन अष्ट शक्तियों (वाग्देवताओं) के आठ नाम निम्नांकित हैं—

१. वशिनी	३. मोदिनी	५. अरुणा	७. सर्वेश्वरी
२. कामेश्वरी	४. विमला	६. जयिनी	८. कौलिनी

प्रमातृपुर— रक्तबिन्दु, त्रिकोण और अष्टकोण चक्र— ये तीनों मिलकर प्रमातृपुर एवं अग्निखण्ड कहलाते हैं। प्रमातृपुर विश्व की स्वप्नावस्था है। यह त्रयसमष्टि सृष्टि-द्योतक है।

१. बिन्दु— इच्छाशक्ति द्वारा सृष्टि सृष्टि के रूप का,
२. त्रिकोण— ज्ञानशक्ति द्वारा सृष्टि स्थिति के रूप का,
३. अष्टकोण— क्रियाशक्ति द्वारा सृष्टि संहार के रूप का द्योतक है।
४. अष्टकोण— क्रियाशक्तिरूप अग्निखण्ड है। यहाँ से अग्नि की १० कलायें विश्व में फैल जाती हैं। विश्व की सूक्ष्म रचना का श्रीगणेश हो जाता है। जीव-शिवा का साम्य भी भंग होने से ये पृथक्-पृथक् भासित होने लगते हैं। यहीं द्वैतारम्भ होता है।

महाशक्ति से मायाशक्ति प्रादुर्भूत होकर चैतन्य की शुद्ध पूर्णता को भंग करके देश-काल, जन्म-मरण, विषय-वासना के द्वन्द्वों को फैलाकर आत्माओं को संसरण चक्र में ड़ाल देती है। अत: सभी पूर्णता को प्राप्त होकर द्वैतभावापन्न हो जाते हैं।

महाशक्ति की इच्छा परा संवित् से समस्त प्रपञ्च का उदय है। निष्फल एवं निस्पन्द परम शिव-शक्ति के संयोग से विश्वातीत अवस्था का त्याग करके सकल रूप धारण

करके उन्मनी स्थिति में विश्वोत्पादक बन जाते हैं। यही शिव का आदिस्पन्द (शिवतत्त्व) है। फिर वह विश्वात्मक रूप ग्रहण करके समनी के स्तर पर विश्वोदय करते हैं। यही है— सदाशिव तत्त्व। सम्पूर्ण विश्व परा संवित् के रूपान्तरण द्वारा चित् (श्वेत बिन्दु की चैतन्यता), चिति (श्वेत बिन्दु की व्यापिनी शक्ति), चित्त (बाह्याभ्यन्तर में क्रियामय होना), चैतन्य (बाहर से लौट कर आन्तर बोध प्राप्त करना), चेतना (आन्तर बोध की दृढ़ धारणा), इन्द्रियकर्म (कर्म-ज्ञान की इन्द्रियों के व्यापार), शरीर (स्थूल देह की इन्द्रियों द्वारा तन्मात्राओं की अनुभूति करना) एवं कला (अग्नि-सूर्य-चन्द्रमा की कलायें)— इन अष्ट भूमिकाओं से व्याप्त हो जाता है। शरीर की सूक्ष्म क्रियाशील शक्तियाँ हैं— सतोगुणात्मक चन्द्रमा, तमोगुणात्मक अग्नि एवं रजोगुणात्मक सूर्य। चतुरस्र के दो प्रकार हैं— शिवचतुरस्र (चार तत्त्वों का चतुरस्र) एवं जीवचतुरस्र (कला, राग अविद्या आदि कञ्चुक)। इन दोनों के योग से अष्टार निर्मित होता है। यह शिव एवं जीव दोनों भावों को निष्पादित करने वाली सामग्री का उद्भावक है। यही है— तत्त्व-सृष्टि। शब्दसृष्टि में भी जीवचतुरस्र (यवर्ग) एवं शिवचतुरस्र (शवर्ग) को जन्म देने वाला अष्टार चक्र ही है।

श्रीचक्र में स्थित त्रिपुटि चक्र— त्रिपुटिचक्र का गति-संघर्षणभाव बाह्य योनि, कोण एवं दलों में प्रस्फुटित होते हैं।

श्रीचक्र की योनि— श्रीचक्र की मध्य योनि का तात्पय है— मूल इच्छाशक्ति का भाव। यह तमभाव है, जो कि कृष्ण वर्ण का है। यह 'मूल तमभाव' 'महाविष्णु तम' कहा जाता है।

मध्य योनि के दोनों ओर योनिज चतुष्कोण होते हैं।

तमज मूल क्रियाभाव— चतुष्कोणों में आस्फुरणायत्तीकरण— मूल रज (आदिनाथ शिव) + मूल सत्त्व (महादुर्गा) का उद्भव। मूल सत्त्व की प्रशान्त गति = सिद्ध योगियों एवं इन्द्र आदि के लिए भी अगम्य। मूल रज = स्पन्द के भाव का बोधक। ये तीन भाव शक्तियाँ = त्रिपुटिचक्र।

श्रीचक्र में स्थित मूल योनि (कारण) विश्वोद्भव का स्थान है। यह उद्भव स्थान (त्रिपुटि) तीन रूपों वाला है।

१. प्रथम ऊर्ध्व स्थित बिन्दु त्रिपुरा के मुख का बोधक है।

२. शेष दो त्रिपुरा के स्तनद्वय के बोधक हैं।

३. ये तीनों सूर्य, चन्द्र, अग्नि के बोधक हैं (किन्तु प्रतीकरूप में)।

४. ये तीनों परा बिन्दु की प्रकाश + विमर्श अवस्थाओं के नाम हैं। ये सृष्टिकाल में उद्भूत होती हैं। इनके चतुर्दिक ५ महाभूतों एवं ३ गुणों की द्योतिका नित्यायें (आवरण देवता) स्थित रहती हैं।

इस प्रकार श्रीचक्र सम्पूर्ण विश्वसत्ता, उसके सृजन, पालन, संहार एवं सृष्टि-स्थिति-प्रलय का द्योतक है। श्रीचक्र मातृकामय भी है; अत: इसमें शब्दसृष्टि और अर्थसृष्टि भी सन्निविष्ट है। मातृका के भी चन्द्र, सूर्य, अग्नि खण्ड हैं और श्रीचक्र के भी।

ॐकार (शब्दब्रह्म) के पाँच अवयव अ, उ, म, नाद एवं बिन्दु श्रीचक्र के क्रमश: सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या एवं भासा के प्रतीक या बोधक हैं। श्रीचक्र बाह्य सृष्टि एवं सूक्ष्म सृष्टि दोनों का द्योतक है।

महाबिन्दु

१. श्वेत बिन्दु ही महाबिन्दु है। यही चैतन्य ज्योतिर्लिंग, स्वयम्भू लिंग एवं कामरूप पीठ कहलाता है। यही अहं रूप में स्फुरित होता है।

२. महाबिन्दु जब क्रीड़ारत होता है, तब शिव-शक्ति का एकीभूत साम्य भंग हो जाता है और शक्ति शिव से पृथक् हो जाती है।

३. श्वेत बिन्दु-त्रिकोण में स्थित रक्त बिन्दु में प्रवेश कर जाता है। इससे महाशक्ति परा वाक् के रूप में व्यक्त हो जाती है।

४. महाशक्ति के परा वाक् के रूप में अपने को स्फुरित करने पर समस्त सूक्ष्म ब्रह्माण्ड ॐकार से गूँज उठता है। अत: सूक्ष्म ब्रह्माण्ड तुरीयातीतावस्था अतिक्रान्त करके तुरीयावस्था में पहुँच जाता है। समस्त ब्रह्माण्ड बिन्दुमय चैतन्य रूप ग्रहण कर लेता है।

इसी समय परा वाक् की भूमि में परा शक्ति अपने अन्तर्गर्भित विश्व के प्रति दिदृक्षु होती है। यह नित्य मण्डल समस्त विक्षोभों, अस्थैर्यों, अशान्तियों से रहित शान्तिमयावस्था है।

७. महाबिन्दु में स्थित शिव-शक्ति की कला शान्त्यतीत कला है। यहाँ शिवतत्त्व १० एवं शक्तितत्त्व ५ गुप्त भुवनमय है। इन्हीं १५ गुप्त भुवनों को बैन्दवपुर कहते हैं।
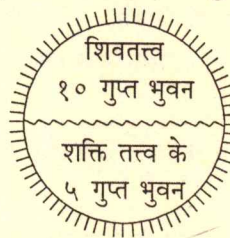
शान्तितत्त्व के १८ गुप्त भुवन

सदाशिवतत्त्व (१ भुवन) — ईश्वरतत्त्व (८ भुवन) — शुद्धविद्या (९ भुवन)
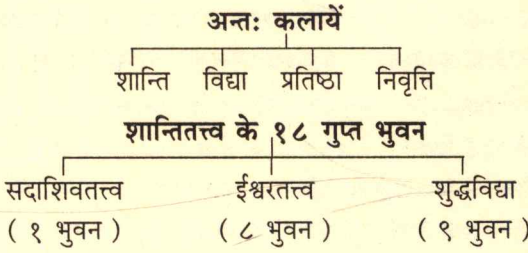
८. महाबिन्दुरूपी तत्त्वातीतावस्था में परा वाक्, परा संवित् एवं निष्कल ब्रह्म अनिर्वचनीय हैं। इस समय महाशक्ति ब्रह्म में लीन रहती है और ब्रह्म अपने भीतर अपने को ही देखता रहता है।

अपने आप मात्र को देखना

स्थूल जगत् में बाह्यमुखी होकर शरीरात्म भावयुक्त निकृष्ट पशुदशा में अपने आप मात्र को स्वार्थी दृष्टि से देखना (पशु अवस्था)

तुरीयावस्था, मात्र अपने-आपको भीतर देखना = उच्चतम उपलब्धि (परम शिवावस्था)

९. निष्कल ब्रह्म के भीतर स्थित विश्व की स्मृति का जागरण → अहमस्मि का प्रकाशविमर्श चतुर्दिक प्रसृत। → निष्कल ब्रह्म का सकल ब्रह्म में रूपान्तरण। → इससे पार्थक्य भाव में शिव + शक्ति का पुनः सम्बन्ध → परा वाक् का नाद के रूप में उद्भव।

→ महाशक्ति का सिसृक्षावश इच्छाशक्तिमयी कामिनी बनकर स्पन्दित होना।

(भगवती की इच्छा = स्थूल, सूक्ष्म, कारण जगत् का बीज)।

१०. शक्ति की दो अवस्थायें— निष्कल : उन्मनी एवं समनी : सकल ब्रह्ममयी अवस्था।

उन्मनी : निष्कल ब्रह्म में लीन शक्ति की अवस्था। उन्मनी + समनी की सन्धि की अवस्था = नाद।

नाद का प्रकट होकर एक बिन्दु में रूपान्तरण → सृष्टि का आरम्भ।

११. महाबिन्दु में—

क. सत् के प्राधान्य से शिव-शक्ति सृष्टि के रूप में।

ख. नाद में रज की प्रधानतावश क्रियारूप में।

ग. बिन्दु के एकीकरण में तम की प्रधानता से विसर्ग हो जाते हैं।

१२. महाबिन्दु (श्वेत बिन्दु) रक्त बिन्दु में एवं रक्त बिन्दु विराट् रूप में रूपान्तरित हो उठते हैं।

१३. विराट् (नाद + बिन्दु के भीतर शक्ति की कलाओं की भिन्नता के कारण) चार रूपों में विभक्त हो जाता है— ब्रह्माण्ड, मूलाण्ड, मायाण्ड एवं शक्त्यण्ड।

भुवनों की संख्या—

शुद्ध तत्त्व में ३३ भुवन	५ तत्त्व
शुद्धाशुद्ध तत्त्व में २७ भुवन	७ तत्त्व
अशुद्ध तत्त्व में ६४ भुवन	२४ तत्त्व
कुल योग १२४ भुवन	**३६ तत्त्व**

बिन्दु

१. प्रलयोपरान्त जब श्वेत बिन्दु (महाबिन्दु) रक्त बिन्दु (बिन्दु) के रूप में रूपान्तरित हो जाता है तब समस्त आत्मायें क्रीड़ा के लिए जाग जाती हैं।

२. जब तक रक्त बिन्दु का प्रकटीकरण नहीं होता तब तक विश्व ब्रह्म में त्रिपुटीशून्य अवस्था में रहता है।

३. रक्त बिन्दु विश्व का परम बीज है। रक्त बीज अर्थात् विश्व विकास का प्रारम्भ। रक्त बिन्दु महाबिन्दु को अपने भीतर गुप्त कर लेता है। यही है— विश्वसृजन का प्रथम सोपान।

४. रक्त बिन्दु अर्थात् जगत् की मूल योनि।

५. रक्त बिन्दु ही महात्रिपुरसुन्दरी, षोडशी, कामेश्वरी, श्री, सुन्दरी एवं ललिता है।

६. बिन्दुचक्र के रक्त बिन्दु में बीजात्मना समस्त जगत् रहता है। अत: बिन्दुचक्र का ही प्राधान्य है।

७. बिन्दुचक्र में कामेश्वर के ही साथ भगवती कामेश्वरी भी नित्य नित्यानन्दमयी होकर विहार करती हैं। इसीलिये इस चक्र का नाम सर्वानन्दमय चक्र है। कालिकापुराण में कहा भी गया है—

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूत: सुखरूपमेति।
चित्तमयोऽहङ्कार: सुव्यक्तो हार्णं समरसाकार:।
शिवशक्तिमिथुनपिण्ड: कवलीकृतभुवनमण्डलो जयति।।

८. प्रलयोपरान्त ब्रह्म में शक्ति के प्रतिबिम्बित होने पर पूर्णोऽहं का भाव विमर्श उदित होता है। यही भाव समग्र विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय का कारण है और यही है नाम-रूप की अव्याकृतावस्था।

९. यही विमर्श शक्ति है। तान्त्रिक नागानन्द कहते भी हैं— 'विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहारेण वा अकृत्रिमोऽहमिति स्फुरणम्'।

१०. अहं यह नैसर्गिक स्फुरत्ता ही विमर्श शक्ति है। यह शक्ति-सृष्टि-स्थिति-लय का कारण है।

११. पूर्ण अहंभाव (शुद्धाहन्ता) ही ब्रह्म है; किन्तु विमर्श शक्ति के दर्पण में प्रतिबिम्बित हुये विना आत्मा की स्फुट अभिव्यक्ति सम्भव नहीं होती।

१२. अहम्भाव विमर्शान्वित है। अहम्भावरूप शिव-शक्ति के 'अ' एवं 'ह' तथा ँ ये तीन वर्ण हैं। इनमें 'अ' प्रकाशरूप, 'ह' विमर्शरूप एवं —ँ बिन्दुरूप है। इस बिन्दु के भीतर प्रकाश-विमर्श का सामरस्यात्मक चैतन्य पूर्णतः स्फुरित रहता है। यही कामपीठ भी कहा जाता है। इसी स्तर से बीजरूप विश्व नित्यमण्डल का आकार ग्रहण करने लगता है।

१३. बिन्दुमय परा वाक् से ही ॐकार— अ-उ-म के रूप में तीन वाणियों के रूप मे में, तीन लोकों के रूप में, तीन देवों के रूप में, सृष्टि-स्थिति-संहार के रूप में, तीन गुणों के रूप में एवं वामा, ज्येष्ठा तथा रौद्री के रूप में विकसित होता है।

१४. रक्त बिन्दु में शुद्धाशुद्ध तत्त्व के भीतर विद्या कला है, जिसके अन्तर्गत सात तत्त्व एवं सत्ताइस भुवन हैं—

मायातत्त्व में ८ भुवन हैं।
कालतत्त्व में २ भुवन हैं।
कलातत्त्व में २ भुवन हैं।
विद्यातत्त्व में २ भुवन हैं।
नियतितत्त्व में २ भुवन हैं।
रागतत्त्व में ५ भुवन हैं।
पुरुषतत्त्व में ६ भुवन हैं।

१५. विमर्श शक्ति ही सिसृक्षा हेतु बिन्दुरूप में उदित होती है। वही तीन रूपों में व्यक्त होती है—

कालेन भिद्यमानस्तु स बिन्दुर्भवति त्रिधा।

१६. बिन्दु तीन भागों (त्रिकोणों) में उदित होती है। बिन्दु त्रिकोणरूप में परिणत होता है या अपने रश्मिस्वरूप को त्रिकोणाकार प्रकट करता है—

त्रिकोण इसी बिन्दु का बहिर्मुखी विकास है।

बिन्दुरूप परा वाक् से ही परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरीरूप त्रिपुटी के माध्यम से त्रिकोणात्मक शब्द-सृष्टि होती है। इस चतुष्टय को शान्ता, वामा, ज्येष्ठा एवं रौद्री आख्या प्राप्त है। इन्हें ही अम्बिका, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया कहा जाता है।

१७. जब बिन्दु शक्तिनिरपेक्ष रहकर पूर्णाहंभाव से सोऽहं विमर्श को स्फुरित करती है, तब वह शिवतत्त्व कहलाती है।

बिन्दु त्रिकोण में विभक्त हो जाता है—

सेयं त्रिकोणरूपं याता त्रिगुणस्वरूपिणी माता।।

(कामकलाविलास-२५)

महाबिन्दु, बिन्दु एवं त्रिकोण— इन तीन चक्रों में क्रमशः तीन तत्त्वों में पाँच कलाओं के भीतर ३६ तत्त्व हैं—

१. महाबिन्दु : शुद्ध तत्त्व में : ५ तत्त्व : ३३ भुवन : शान्त्यतीत। शान्ति कला

२. बिन्दु : शुद्धाशुद्ध तत्त्व में : ७ तत्त्व : २७ भुवन : विद्याकला

३. त्रिकोण : अशुद्ध तत्त्व में : २४ तत्त्व : १६४ भुवन : प्रतिष्ठा। निवृत्तिकला

प्रकाशैकस्वभाव परशिवभट्टारकरूप सूर्य की रश्मियों के समूह का विमर्शरूपी स्वच्छ मुकुर में स्वस्वरूपावलोकनरूप प्रतिफलन होने के कारण प्रतिप्रकाश द्वारा सुरम्य चित्तरूपी दीवार पर महाबिन्दु प्रकाशित होता है।[1]

श्वेत एवं लोहित वर्ण वाले बिन्दुद्वय अन्योन्य प्रसरणशील शिव-शक्ति हैं, जो अपने पारस्परिक आनन्दोपभोग या गुप्त ऐकान्तिक पारस्परिक आनन्द क्रीड़ा में संकुचित एवं प्रसृत हो रहे हैं। वे शाब्दी एवं आर्थी सृष्टि के कारण हैं तथा परस्पर में प्रविष्ट होते हुये भी परस्पर परस्पर से पृथक् हो रहे हैं। बिन्दु, जो कि अहंकार का रूप है, श्वेत एवं लोहित बिन्दुओं का सामरस्य है। सूर्य काम है। काम इसलिये है; क्योंकि कमनीय है। कला बिन्दुद्वय है, जो कि चन्द्रमा एवं अग्नि में स्थित है।[2]

यह कामकला विद्या है, जो कि देवी के चक्रों के क्रम का वर्णन करती है। जो इसे जानता है, वह मुक्त एवं महासुन्दरीस्वरूप हो जाता है। सर्जनोन्मुख रक्त बिन्दु से नाद, ब्रह्मांकुरस्वरूप रव उद्भूत हुआ। उस ध्वनि से आकाश, अग्नि, जल, पृथ्वी एवं वर्ण-माला के अक्षर उत्पन्न हुये। फिर श्वेत बिन्दु से भी आकाश, वायु, जल एवं भूमि उत्पन्न हुये। अण्वादिक सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त समस्त विश्व इन्हीं पाँच विकृतियों से उद्भूत हुये।[3]

प्रकाश-विमर्शात्मक बिन्दुद्वय में कोई भेद नहीं है। तद्वत् विद्या एवं देवता (वेदक एवं वेद्य) में भी रञ्चमात्र भेद नहीं है। वाक् एवं अर्थ दोनों परस्पर नित्य संयुक्त हैं और ये दोनों शिव-शक्तिमय हैं। शिव-शक्ति सृष्टि-स्थिति-लय के रूप में तीन रूपों में विभक्त हैं और तीन बीजों (वाग्भव, कामराज एवं शक्तिबीज) के रूप में अवस्थित हैं। ज्ञात, ज्ञान एवं ज्ञेय तीन बिन्दु एवं बीज के विभिन्न रूप हैं। तीनों बिन्दु तीनों धामों, तीनों

---

१. कामकलाविलास-४

२. कामकलाविलास-५-७

३. कामकलाविलास-७-१०

पीठों एवं तीनों शक्तियों के भेद से भी जाने जाते हैं। उनमें ही क्रमानुसार तीन लिंग एवं उसी प्रकार तीन मातृकायें भी स्थित हैं। अत: त्रिप्रकार शरीरिणी विद्या देवी हैं। वे ही तुरीय पीठ एवं समस्त भेदों की मूल हैं।[१]

भगवती त्रिपुरा (नित्या) मन्त्रस्थित पन्द्रह अक्षरों के स्वरूप वाली है और उसी रूप में ज्ञात है। यह नित्याओं द्वारा आच्छादित है। पन्द्रह नित्यायें तिथियों के आकार में स्थित हैं और तिथियाँ शिव-शक्ति का सामरस्य हैं। ये रात-दिन से युक्त हैं, श्रीविद्या के मन्त्र के वर्ण हैं और प्रकाश-विमर्श दो प्रकृतियों वाली हैं। श्रीचक्र समस्त शक्तियों से तादात्म्य रखता है। त्रैलाक्य आदि नव चक्रों में क्रमश: बिन्दु, कला, ज्येष्ठा, रौद्री, वामा, विषघ्नी, दूतरी, सर्वानन्दा, नव शक्तियाँ स्थित हैं। समस्त विश्व श्रीचक्रात्मक है। तीन बिन्दुओं द्वारा एवं व्यष्टि-समष्टि दोनों रूपों से स्वरों एवं व्यञ्जनों द्वारा निर्मित श्रीविद्या ३६ तत्त्वों से भी युक्त है और उनसे अतीत भी है तथा केवल रूप में अद्वितीय भी है।[२]

क्रोधभट्टारक ने भी श्रीचक्र एवं जगत् की एकात्मता स्वीकार की है—

श्रीचक्रं श्रुतिमूलकोशमथितं संसारचक्रात्मकम्।

श्रीचक्र की उत्पत्ति शिव + शक्ति (या शिवचक्र + शक्तिचक्र) के संयोग से होने के कारण श्रीचक्र शिवशक्त्यात्मक है—

तच्छक्तिपञ्चकं सृष्ट्या लयेनाग्निचतुष्टयम्।
पञ्च-शक्ति-चतुर्वह्नि-संयोगाच्चक्र-सम्भव:।। (वामकेश्वरतन्त्र)

श्रीचक्र कामकलात्मक है— 'चक्रं कामकलारूपप्रसारपरमार्थ:'।

परा शक्ति = देवता एवं श्रीचक्र का सूक्ष्म रूप : 'अनयोस्सूक्ष्माकारा परैव सा स्थूलयोश्च कापि भिदा।' (कामकलाविलास-२१)

महेशी और श्रीचक्र में रञ्चमात्र भी भेद नहीं है। देवता एवं श्रीचक्र में भी स्थूल रूप से कोई भेद नहीं है। फिर भी देवी की मातृका के साथ, देवी की श्रीचक्र के साथ, देवी की श्रीविद्या के साथ, देवी की जगत् के साथ, देवी की गुरु के साथ, देवी की उपासक के साथ एवं देवी की शिव के साथ अभेदात्मकता एक अनुसन्धेय रहस्य है। भगवती के विभिन्न रूप ही तो परा, पश्यन्ती आदि वाक् तत्त्व हैं।

अष्टकोणों वाला चक्र, जो कि श, ष, स, एवं पवर्ग से मिलकर निर्मित होता है, मध्यकोण का विस्तार है। ये नौ कोण बिन्दु के साथ मिलकर 'दशक' का निर्माण करते हैं, जो कि चित् के प्रकाश से प्रकाशित है। इन प्राथमिक चार चक्रों के प्रकाश से बहिर्दशार चक्र संयुक्त है। १४ कोणों वाला यह चक्र प्रकट होता है, जिसमें 'अ' से प्रारम्भ कर अन्य चौदह स्वर स्थित हैं। परा, पश्यन्ती, स्थूल मध्यमा द्वारा ५१ अक्षरों वाली वैखरी उत्पन्न हुई। कवर्ग से आरम्भ होने वाले अक्षरों के ८ वर्ग, जो कि वैखरी शक्ति-

---

१. कामकलाविलास-११-१८ २. कामकलाविलास

रूपात्मक हैं, सर्वसंक्षोभण चक्र के दलों पर स्थित हैं। सर्वाशापरिपूरक (षोडशदल कमल) के दलों पर स्वरगण अंकित हैं। अष्टदल एवं षोडशदल के ऊपर स्थित तीन वृत्त बिन्दुत्रय से उद्भूत तेजस्त्रय के विकार हैं— सोम-सूर्य अग्न्यात्मक हैं। ये तीनों वृत्त भूपुर में स्थित हैं।

भगवती त्रिपुरसुन्दरी देवी बिन्दुत्रय चक्र (सर्वानन्दमय चक्र) में आसीन हैं। वे कामेश्वर की क्रोड़ में स्थित हैं। उन्होंने चन्द्रमा की एक कला को अपने मस्तक पर आभूषण के रूप में स्थापित कर रक्खा है। वे अपने हाथों में पाश, अंकुश, इक्षुदण्ड एवं पाँच पुष्पबाण धारण कर रक्खी हैं। वे उदीयमान सूर्य की भाँति रक्तवर्णा हैं। चन्द्रमा, सूर्य एव अग्नि उनकी तीन आँखें हैं—

आसीना बिन्दुमये चक्रे सा त्रिपुरसुन्दरी देवी।
कामेश्वराङ्कनिलया कलया चन्द्रस्य कल्पितोत्तंसा।।३७।।

पाशांकुशेक्षुचापप्रसूनशरयञ्च काञ्चित् स्वकरा।
बालारुणारुणाङ्गी शशिभानुकृशानुलोचनं त्रितया।।३८।।

वही यह सर्वोत्कृष्ट, सर्वोपरि एवं महासाम्राज्ञी जब चक्र के रूप में परिणत हो जाती हैं तब उनके शरीरावयव आवरण देवता के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं—

सेयं परा महेशी चक्राकारेण परिणमेत् यदा।
तद्देहावयवानां परिणतिरावरणदेवतास्सर्वा:।।

वे कामेश्वर-कामेश्वरीरूप दम्पति तीन बिन्दुओं से विरचित त्रिकोण में स्थित हैं। वे जो कि अष्टकोणों वाले चक्र में रहती हैं, वशिनी आदि देवियाँ हैं, जो कि सूर्य की भाँति रक्तवर्ण की हैं। अष्टकोणात्मक चक्र देवी का अष्टात्मक सूक्ष्म शरीर है, जो कि चक्र है तथा जिसकी आत्मा संवित् है— 'चक्रतनोस्संविदात्मनो देव्या:'।

सर्वरक्षाकर चक्र में स्थित निगर्भयोगिनी नामक शक्तियों का स्वरूप क्या है? उसकी शक्तियाँ सर्वज्ञ आदि रूपों को धारण करके आन्तर दशकोणात्मक चक्र में निवास करती हैं और शरत्कालीन चन्द्र के समान सुन्दर आकृति में सुशोभित होती हैं।[१]

सर्वरक्षाकर चक्र के बाह्यभूत एवं ऊपर स्थित पंक्ति के कोणों में वे प्रमुख योगिनियाँ स्थित हैं, जिसमें प्रथम सर्वसिद्धिप्रद है। वे देवी के ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय के विषय हैं और वे श्वेत तथा आभूषण-भूषित हैं। वे शक्तियाँ, जो १४ त्रिकोणों वाले चक्र में स्थित हैं, देवी के (मन एवं इन्द्रियों के) १४ करणों के प्रकाशक स्फुरण हैं। वे सान्ध्य सूर्य की भाँति रक्त वर्ण वाले वस्त्र पहनी हुई हैं। ये सम्प्रदाय योगिनियाँ हैं। अव्यक्त, महत्, अहंकार एवं पञ्चतन्मात्रायें अष्टदल कमल में नारी का रूप धारण करके अत्यन्त प्रकाशित रूप में निवास करती हैं और वे गुप्ततर योगिनियाँ कहलाती हैं।[२]

---

१. कामकलाविलास २. कामकलाविलास

त्वगादिक ७ धातुयें एवं आकार ब्राह्मी आदि ८ माताओं के रूप में व्यक्त होती हैं। वे भूपुर में निवास करती हैं। उसकी अणिमादिक सिद्धियाँ रमणीया तरुणी का रूप धारण करती हैं और अन्य विद्याओं द्वारा प्राप्त होती हैं।[१]

परम गुरुस्वरूप आदिनाथरूपी परम शवि, जो कि बिन्दु से एकीभूत हैं, परमानन्द का अनुभव करते हैं। ये वे ही हैं, जो अपनी विमर्श शक्ति के रूप में क्रमशः भिन्न हो गये हैं और कामेश का रूप धारण किये हुये हैं।[२]

गुरु शिव ने, जो कि उड्डीयान पीठ में निवास करते हैं, सत्ययुग के काल में अपनी शक्ति विमर्शरूपिणी कामेश्वरी को आत्मविद्या प्रदान किया। भगवती ललिता आत्मा ही हैं—

स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा।
लौहित्यं तद्विमर्शः स्यादुपास्तिरिति भावना।। (भावनोपनिषद्)

पञ्चभूत, विश्व, देवी एवं मूल विद्या अभिन्न हैं—

पञ्चभूतमयं विश्वं तन्मयी सा सदानघे।
तन्मयी मूलविद्या च तथा च कथयामि ते।।[३]

कुण्डलिनी श्रीविद्या एवं श्रीदेवी से अभिन्न है। इससे अपने को अभिन्न देखना श्रीविद्या का रहस्थार्थ है (वरिवस्यारहस्यम्)।

माता, विद्या, चक्र, स्वगुरु एवं साधक में अभेद है : कौलिकार्थ (वरिवस्यारहस्यम्-१०८)।

श्रीविद्या एवं चक्र अभिन्न हैं (वरिवस्यारहस्यम्-९६)।

श्रीविद्या एवं देवी में अभेद है (वरिवस्यारहस्यम्-९१)।

श्रीचक्र योगिनी (९४), नक्षत्र (९३), राशि (९५), विद्या (९६) एवं ग्रह (९२) से अभिन्न है (वरिवस्यारहस्यम्)।

ब्रह्म और जगत् तथा जगत् एवं विद्या में अभेद है (वरिवस्यारहस्यम्-८१)।

परमशिव एवं दीक्षागुरु तथा उपासक में अभेद है (वरिवस्यारहस्यम्-८२)।

त्रिपुरसुन्दरी गणेशी (८३), ग्रह (८४), नक्षत्र (८५), योगिनी (८६), राशि (८७), गणेश (८८), ग्रह (८९), राशि (९०), ग्रह (९२), नक्षत्र (९३), योगिनी (९४) एवं राशि (९५) हैं।[४]

श्रीविद्या एवं श्रीचक्र की एकता—

क. वाग्भव कूट का अर्थ— सूक्ष्म बुद्धि की विस्तृत व्याप्ति।

ख. कामराज कूट का अर्थ— शौर्य, धन, स्त्री, कीर्ति का आधिक्य।[५]

---

१. कामकलाविलास
२. कामकलाविलास
३. कामकलाविलास
४. वरिवस्यारहस्यम्
५. वरिवस्यारहस्यम्

देव्या रूपान्तरत्वेन विद्यायास्तदभेदत:।
गणेश-ग्रह-नक्षत्र-योगिनी-राशि-पीठता।। (वरिवस्यारहस्यम्)

एवं द्वादशसंख्यैर्घटनाच्चक्रस्य राशित्वम्। (९५)[1]

एवं षड्भिर्योगाच्छ्रीचक्रं योगिनीरूपम्। (९४)[2]

पाश, अंकुश, धनुष और बाण— ये ४ आयुध (कामेश्वर-कामेश्वरी के तेज से निर्मित) अष्टार में स्थित हैं। वामा-ज्येष्ठा-रौद्री तथा इच्छा-ज्ञान-क्रियामय त्रिकोण ही तीन प्रकार से विभक्त होकर दो शक्ति एवं एक वह्नि के संयोग से अष्टार चक्र बन जाता है और वही अष्टार चक्र त्रिधा विभक्त होकर वह्निशक्ति से नव चक्रात्मक बन जाता है। यह अष्टार चक्र ही श्रीचक्र है—

चितिचैतन्यञ्च चैतन्यं चेतनाद्वय कर्म च।
जीव: कला च देवेशि ! सूक्ष्मं पुर्यष्टकं मतम्।। (स्वच्छन्दतन्त्र)

युगल तेज ही अपने सूक्ष्मरूप पुर्यष्टक में विभक्त होकर वशिन्यादि देवताओं के रूप से अष्टार में अधिष्ठित हो जाता है।

अन्तर्दशार : सर्वरक्षाकर चक्र

जगत् की स्वप्नावस्था— जब विश्व अष्टभूमिका की स्थिति में रहता है, तभी उसकी उस स्वप्नावस्था के तन्मात्रात्मक शरीर के भीतर स्थित शरीरांगों में क्रिया-सञ्चार प्रारम्भ हो जाता है। यहीं अहं और इदम् पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। अनल की १० कलायें विश्व के सूक्ष्मतन्मात्र शरीर में प्रसृत हो जाती हैं। अग्नि की ये अन्त:स्थित कलायें महाशक्ति की दश शक्तियों के रूप में दश त्रिकोणों (५ ज्ञानेन्द्रियाँ + ५ कर्मेन्द्रियाँ) में विश्व में सञ्चार हेतु चतुर्दिक प्रसृत हो जाती हैं। ये १० शक्तियाँ निम्नांकित हैं—

१. सर्वज्ञा
२. सर्वशक्ति
३. सर्वैश्वर्यप्रदा
४. सर्वज्ञानमयी
५. सर्वव्याधिविनाशिनी
६. सर्वाधारस्वरूपा
७. सर्वपापहरा
८. सर्वानन्दमयी
९. सर्वरक्षास्वरूपिणी
१०. सर्वेप्सितफलप्रदा

कामेश्वर एवं कामेश्वरी के तेजयुग्म इन्द्रियों के रूप से बिन्दु, त्रिकोण, अष्टाररूप में दशधा विभक्त हो जाते हैं। इस प्रकार शुद्ध आध्यात्मिक तन्मात्रात्मक लिंगशरीर उद्भूत हो उठता है। प्रकृति-विकृत्यात्मक उभयरूप अन्तर्दशार चक्र को स्थितिचक्र, प्रमाणपुर एवं सौरखण्ड कहते हैं। यह शुद्ध तत्त्व के अन्तर्गत विद्यातत्त्व है।

अन्तर्दशार एवं बहिर्दशार के द्वारा लिंगशरीर का उद्भव होता है।

---

१. वरिवस्यारहस्यम् २. वरिवस्यारहस्यम्

अन्तर्दशार के दश कोण १० इन्द्रियों से घटित हैं। सुभगोदय में कहा भी गया है—

अन्तर्दशार वसुधा ज्ञान कर्मेन्द्रियाणि च।
महात्रिपुरसुन्दर्या इति सञ्चिन्तयाम्यहम्।।

अष्टार चक्र में कामेश्वर-कामेश्वरी के रूप में जो तेजयुग्म वशिनी आदि या पुर्यष्टक (कारण) रूप में अवस्थित था, वही तेजोयुग्म अन्तर्दशार में इन्द्रियरूप से दशधा विभक्त हो जाता है और सर्वज्ञा, सर्वशक्ति, सर्वैश्वर्यप्रदा आदि शक्तियों के रूप से पूजित होता है। इसी का नाम है— सर्वरक्षाकर चक्र। इसकी रक्षा द्विविध इन्द्रियों से होती है, इसलिये भी इसका नाम सर्वरक्षाकर है।

बहिर्दशार चक्र : सर्वार्थसाधक चक्र

इन्द्रियरूप से दशधा विभक्त तेजयुग्म पुन: इन्द्रियों के विषयों के रूप में (पञ्च-तन्मात्रा एवं पञ्चभूत में) दशधा विभक्त होकर प्रकाशित होता है। यही दशधा विभाजन बहिर्दशार कहलाता है—

बाह्यो दशारभागोऽयं बुद्धिकर्माक्षगोचर:।

बहिर्दशार चक्र सर्वार्थसाधक चक्र के नाम से प्रख्यात है। इस चक्र में उक्त तेजो-युग्म ही दशधा विभक्त होकर सर्वसिद्धिप्रद आदि दश देवताओं के रूप में पूजित होता है। बहिर्दशार के चारो कोणों में चार मर्मस्थान हैं। इसके अन्तर्भाग में चार त्रिकोणों की भावना की जाती है। इन चार त्रिकोणों का एक चतुरस्र माना जाता है। इसके एक-एक कोण में प्रकृति, अहंकार, बुद्धि एवं मन— ये चार तत्त्व एवं प, फ, ब, म— ये चार मातृकामन्त्र हैं। मकार जीवरूप त्रिकोण में संलग्न है। अन्तर्दशार में टवर्ग एवं तवर्ग तथा बहिर्दशार में कवर्ग, चवर्ग— २० मातृकाबीज दोनों दशारों के बीस कोणों में स्थित है। इनमें चतुरस्रों के चार बीज मिला देने पर २४ वर्ण हो जाते हैं। इन २४ वर्णों में २-२ वर्णों के संयोग से एक ग्राह्य एवं दूसरा ग्राहक (बाह्य विषय + आभ्यन्तर तन्मात्रा और इन्द्रिय) से सूर्य की बारह कलाओं का निर्माण होता है। इनमें प + फ तथा ब + भ के संयोग से प्रकृति एवं मनरूप दो कलाओं का निर्माण होता है। ये चतुरस्र की प्रधान कलायें हैं। चतुरस्र बिम्बचक्र है और शेष १० कलायें इन्द्रिय-तन्मात्ररूप अवयव कलायें हैं। ये बिम्बचक्र की रश्मि के रूप में दशारद्वय में रहती हैं। इसी कारण दशारद्वय एवं चतुरस्र सौरखण्ड, प्रमाणपुर एवं जागरात्मक कहा जाता है।

जब अन्तर्दशार के विषय बहिर्दशार (इन्द्रियाँ) के तत्त्वों को अपनी व्याप्ति से आच्छन्न नहीं करते— जब विषय अपने-अपने निकट आभ्यन्तर रूप में विलीन रहते हैं, तब १० इन्द्रियाँ एवं पञ्चतन्मात्रायें, मन एवं पुरुष— १७ तत्त्वों का लिंगशरीर निर्मित होता है। मूल कारणस्वरूप सूक्ष्म बिन्दु बाह्य रूप में विकसित होकर इन्द्रिय बनकर लिंग-शरीर में परिणत हो जाता है। अन्तत: विकसित होते-होते स्थूल शरीर बन जाता है। इन्हीं अवस्थाओं की सूचना दशारद्वय देते हैं।

बहिर्दशारस्वरूप यह दशधा विभाजन विश्व का स्वप्नमय जागृतभाव है। इसे स्थिति-चक्र, सौरखण्ड एवं जागरात्मक प्रमाणपुर कहते हैं। शुद्धाशुद्ध तत्त्वान्तर्गत यह चक्र आत्मतत्त्व है। यहाँ माया प्रलयाकल भाव में स्थित है। प्रलयाकल भाव में विश्व के समस्त जीव अज्ञान एवं माया दोनों से आच्छादित होते हैं। यही से अज्ञानारम्भ होता है। यहाँ सृष्टि के उद्देश्य से माया, कला, राग, अविद्या आदि कञ्चुक संश्लिष्ट रहते हैं। पुरुषतत्व 'अहं' रूप में एवं 'इदम्' प्रकृति के रूप में यहाँ पृथक्-पृथक् रहते हैं।

यहाँ चक्रों में गुप्त विषयादिक प्रकट हो जाते हैं। यहाँ जड़-चेतन अपने-अपने लिये पृथक् हो जाते हैं।

चतुर्दशार चक्र

कामेश्वर-कामेश्वरीरूप तेजोयुग्म चतुर्दशार के १४ कोणों में विभक्त होकर सर्वसंक्षोभिणी आदि १४ शक्तियों के रूप में पूजित होता है। ये १४ शक्तियाँ पिण्डाण्ड में १० इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकाररूप अन्त:करणचतुष्टय के साथ १४ करणों में वास करती हैं— 'चतुर्दशार वसुधाकरणानि चतुर्दश' (सुभगोदय)।

चतुर्दशार चान्द्रखण्ड एवं जड़ होने से 'सुषुप्तिपुर' कहलाता है। चौदह कोणों से १४ कलायें— स्वरवर्ग में अकार से औकार तक, ह्रस्व एवं दीर्घ मिलाकर १४ वर्ण होते हैं। अं एवं अ: मिलाकर १६ स्वर उद्भूत होते हैं।

अष्टदल और षोडशदल

चतुर्दशार में विश्वसृजनार्थ ब्रह्मा की १० कलाओं का उदय होता है; वे निम्न हैं—

१. सृष्टि
२. ऋद्धि
३. स्मृति
४. मेधा
५. कान्ति
६. लक्ष्मी
७. युति
८. स्थिरा
९. स्थिति
१०. सिद्धि

महामाया १४ त्रिकोणों— बिन्दुओं में विभक्त होकर १४ शक्तियों के रूप में १४ नाड़ियों का सञ्चार करती है, जो निम्न हैं—

१. अलम्बुषा
२. कुहू
३. विश्वोदरी
४. वरुणा
५. हस्तिजिह्वा
६. यशस्विनी
७. अश्विनी
८. गान्धारी
९. पूषा
१०. शंखिनी
११. सरस्वती
१२. इडा
१३. पिंगला
१४. सुषुम्ना

इन उपर्युक्त १४ नाड़ियों से ७२००० नाड़ियाँ शाखा-प्रशाखा के रूप में फैल जाती हैं।

नि:शेष श्रीचक्र बिन्द्वात्मक है। महाशक्ति के द्वारा बिन्दु से चतुर्दशार तक की कल्पना की गई है। चतुर्दशार तक अं-अ: (अनुस्वार + विसर्ग) तक की पूर्ण मातृकासृष्टि

प्रादुर्भूत होती है। अष्टदल द्वारा विसर्ग का बहिर्भाव प्रारम्भ होता है। कामेश्वर-कामेश्वरीरूप तेजयुग्म बुद्धि के अष्टभेदों की अधिष्ठात्री अष्ट शक्तियों के रूप में रूपान्तरित हो जाता है। अष्ट शक्तियाँ निम्नांकित हैं—

१. अनङ्गकुसुमा	५. अनङ्गरेखा
२. अनङ्गमेखला	६. अनङ्गवेगिनी
३. अनङ्गमदना	७. अनङ्गांकुशा
४. अनङ्गमदनातुरा	८. अनङ्गमालिनी

चूँकि समस्त विश्व शिव-शक्त्यात्मक है; अत: त्रिकोण से चतुर्दशार तक शक्तिचक्र शिवचक्र से गर्भित है। चतुर्दशार चक्र के बाहर निर्मित अष्टदल पद्म में अनङ्गकुसुमा आदि देवियों की पूजा की जाती है। उपर्युक्त तेजोमिथुन ही इन देवियों के रूप में उपासित होता है। इस चक्र की आख्या है— सर्वसंक्षोभण चक्र। तान्त्रिक दर्शन में क्षोभ का अर्थ है— सृष्टि। यह कारणरूप एवं सृष्टिकर्ता है। अष्टदल अष्टार चक्र के अन्तर्गत हैं; अत: आग्नेय खण्ड एवं प्रामातृपुर हैं। इसमें बिन्दुरूपी वह्नि दश कलायुक्त है। विसर्ग का बहिर्भाव पशुभाव के विकास का एवं बिन्दु का बहिर्भाव शिवभाव की वृद्धि का द्योतक है। मातृका में 'अं' (बिन्दु) के बाद विसर्ग 'अ:' आता है।

अष्टदल अव्यक्तादि अष्ट कारणों द्वारा घटित है—

वसुच्छदनपद्माङ्कदेशो यश्चक्रगो विभु:।
अव्यक्ताद्या: प्रकृतयो भूतात्मा निश्चिनोम्यहम्।।

षोडशदल कमल विसर्गरूप पंकज की १६ कलाओं से युक्त है। सुभगोदय में कहा भी गया है—

षोडशच्छदपद्माङ्कदेशो भूताक्षमानसम्।
विकारात्मकमापन्नं देव्या: सम्भावयाम्यहम्।।

इस चक्र में कार्याकर्षिणी आदि १६ शक्तियों के रूप में तेजोमिथुन की पूजा होती है। १६ स्वर ही इसके १६ दल हैं। इसका नाम सर्वाशापरिपूरक चक्र भी है। कार्याकर्षिणी, बुद्ध्याकर्षिणी, अहंकाराकर्षिणी, शब्दाकर्षिणी, स्पर्शाकर्षिणी, रूपाकर्षिणी, रसाकर्षिणी, गन्धाकर्षिणी, चित्ताकर्षिणी, धैर्याकर्षिणी आदि १६ नित्याओं की तृप्ति से समस्त आशायें पूर्ण होने के कारण ही इसे सर्वाशापरिपूरक चक्र कहते हैं। षोडशदल पद्म विश्वाधार श्रीचक्र का अन्तिम रूपान्तरण है। यहाँ ५ महाभूत, ११ इन्द्रियाँ, मनोविकार प्रकट हो जाते हैं और महाशक्ति की कामकला एवं शृंगारकला द्वारा विश्व एवं विश्वनिष्ठ पदार्थों का उद्भव हो जाता है।

भूपुर

षोडशदल कमल के बाहर चार वृत्तों से परे चार दिशायें हैं। इनकी सीमा हेतु त्रिरेखान्वित भूपुर (चतुरस्र) है। चतुरस्र १४ लोंकों की सीमा है। विश्व और उसके

भीतर जो कुछ भी है, वह सब कुछ भूपुर में स्थित है। यहाँ षट्त्रिंशदात्मक समस्त जगत् या त्रिखण्डात्मक समस्त स्थूल विश्व प्रकट है।

मातृकाचक्रविवेक के अनुसार भूपुर गंगा-यमुना-संगमरूप तीर्थराज प्रयाग है—

तस्माच्चतुष्पदमिदं चतुरस्रविम्बं चिच्चैत्यनिर्जरसरिद्यमुना प्रयागः।

भूपुरात्मक तीर्थराज में चित्-चैत्यस्वरूपिणी दो नदियों का संगम होता है। इनमें से एक श्वेतवर्णा है तथा दूसरी कृष्णवर्णा। भूपुर है— जड़-चेतन एवं शिव तथा जीव की समष्टि। यहाँ महाशक्ति ब्रह्मलीन विश्व को साकार एवं स्थूल रूप में प्रस्तुत करके विशुद्ध प्रकाश को अन्तर्गर्भित (अन्तर्लीन) कर लेती है। यही आदि शक्ति का लय होता है। यहीं से आदि शक्ति का उद्भव होता है।

भूपुर चक्र में तेजोमिथुन की (अणिमा, लघिमा, महिमा, ईशित्व, वशित्व, प्राकाम्य, भुक्ति, इच्छा, प्राप्ति, सर्वकाम (मुक्ति)— इन १० सिद्धियों; ब्राह्मी, माहेशी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्री, चामुण्डा, महालक्ष्मी— इन आठ लोकमाताओं एवं त्रिखण्डा, सर्वसंक्षोभिणी, द्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्ववशंकरी, उन्मादिनी, महांकुशा, खेचरी, बीज एवं योनि— १० मुद्राओं के रूप में) पूजा की जाती है। इसे त्रैलोक्यमोहन चक्र कहते हैं। यही गंगा-यमुनासंगमरूप तीर्थराज प्रयाग भी कहा गया है।

भूपुर = चित् एवं चैत्यरूपी दो श्वेत एवं कृष्ण नदियों का संगम तीर्थराज प्रयाग है।

भूपुर = चतुरस्र चक्र (भूपुर) जड़-चेतन, शिव एवं जीव दोनों की समष्टि है।

बिन्दु एवं अष्टदल दोनों बिम्ब अपने-अपने प्रभाचक्र त्रिकोण एवं षोडशदल के साथ दशारचक्र के मध्य चतुरस्र के एक-एक कोण के रूप में परिणत हो जाते हैं। यह यन्त्र पूजापद्धति में सर्वप्रथम पूज्य माना जाता है।

यह भूपुर गंगा-यमुना वाला प्रयाग है— 'तस्माच्चतुष्पदमिदं चतुस्रबिम्बं चिच्चैत्य-निर्जरसरिद्यमुना प्रयागः (मातृकाचक्रविवेक)। यह पूजा में सबसे प्रथम पूजित है— 'अर्च्यं भवेत्प्रथमतोऽथ तदङ्गभूतचिच्चैत्यचक्रयजनं त्विति पूर्वतस्तत्' (मातृकचक्रविवेक) और वह पूजन दशारचक्र के मध्य में ही होता है। यह भी ध्यातव्य है कि—

क. समस्त चक्र महाबिन्दु में अन्तर्भूत हैं।

ख. जिस प्रकार एक ही बिन्दु में श्रीचक्रान्तर्गत ९ चक्र अन्तर्भूत हैं, उसी प्रकार एक ही सहस्रारात्मक बिन्दु में षट्चक्र भी अन्तर्भूत है।

ग. बिन्दु मूलाधारादि चक्रों की समष्टि, जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं संहार का कारण शिव की शक्तिविशेष है। यद्यपि वह एक है, तथापि सहस्रदल कमल के मध्य चार द्वारों से निर्मित कर्णिका के मध्य चतुष्कोणात्मक शक्तितत्त्व के रूप में स्थित है। उनके मध्य में नादस्वरूप चतुष्टयात्मक शिवतत्त्व स्थित है। शिवशक्ति शब्दार्थ हैं; अतः कलात्मक हैं।

घ. बिन्दु १० भागों में विभक्त होकर पिण्ड का षट्चक्र बन जाता है।

सप्तविंश अध्याय

श्रीचक्र : एक स्वरूपात्मक विवेचन

श्रीचक्र भगवान् शिव एवं शक्ति दोनों का शरीर है। यह भगवती के बैठने का आसन है। यह पिण्ड, ब्रह्माण्ड, मायाण्ड, शाक्ताण्ड एवं शिवाण्ड का संक्षिप्ततम रेखाचित्र है। यह शिवचक्रों एवं शक्तिचक्रों के सम्मिलन से निर्मित असीम विश्व का एक मानचित्र है। यह ४ शिवचक्रों एवं ५ शक्तिचक्रों या ९ योनियों के संयोग से निर्मित शिव-शक्ति-यामल की एक रेखात्मक रचना है।

चन्द्रबिम्ब ही श्रीचक्र है— सनत्कुमारसंहिता में कहा गया है कि सहस्रारस्थ जो चन्द्रमा हैद्ध उसका बिम्ब ही श्रीचक्र है— 'चन्द्रबिम्बं श्रीचक्रम्' (लक्ष्मीधरा)। श्रीचक्र भगवती का आसन है या उनका यान्त्रिक स्वरूप है। श्रीविद्या का अभिधान चन्द्रकला है। आथर्वण शौनक शाखा में श्रीचक्र का प्रस्तुतीकरण इस प्रकार किया गया है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या तस्यां हिरण्मय: कोश: स्वर्गो लोको ज्योतिषाऽऽ-वृत:। यो वै तां ब्रह्मणो वेद। अमृतनावृतां पुरीम्। तस्मै ब्रह्म च ब्रह्मा च। आयु: कीर्तिं प्रजां ददु:। विभ्राजमानां हरिणीम्। यशसा संपरीवृताम्। पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा। विवेशापराजिता।।

अष्टचक्रा = अष्टकोण। दशकोणद्वितय। चतुर्दश कोण। अष्टपत्र। षोडशपत्र। त्रिवलय। त्रिरेखात्मक अष्टचक्र। नवद्वारा = ९ संख्या वाले त्रिकोणस्वरूप जो द्वार हैं, वे ही हैं— नवद्वारा। देवानां = इन्द्रादिक देवों की। पू: = श्रीविद्यानगर या देव = २५ तत्त्व, पू = अधिष्ठान।

श्रीचक्र भगवान् शिव एवं शक्ति का शरीर है— 'श्रीचक्रं शिवयोर्वपु:'। चार शिवचक्रों एवं पाँच शक्तिचक्रों अर्थात् नौ चक्रों के योग से श्रीचक्र का निर्माण होता है। श्रीचक्र शिवशक्त्यात्मक है। शिव का अर्थ है— चतुर्योन्यात्मक अर्धचक्र। इन दोनों के योग से श्रीचक्र का संघटन होता है—

चतुर्भि: शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभि:।
शिवशक्त्यात्मकं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयोर्वपु:।।

अष्टाचक्रानवद्वारा वाली ऋचा में पू: = सूर्य-चन्द्र-अग्नि = श्रीचक्र सोम-सूर्यानलात्मक है। अयोध्या = असाध्या। तस्यां = श्रीचक्ररूपी पुर में। हिरण्यमय = कोश। सहस्रदल कमलकोश। बैन्दवस्थान का सहस्रदल कमल कोश। ब्रह्मण: = ब्रह्मस्वरूपा भगवती के पुरी श्रीचक्ररूपा त्रिपुरा की पुरी। श्रीचक्र के तीन प्रस्तार है— १. मेरुप्रस्तार, २. कैलास-प्रस्तार एवं ३. भूप्रस्तार।[1]

---

१. श्रीचक्र के तीन प्रस्तार होते हैं, जो निम्नांकित हैं— १. मेरुप्रस्तार, २. कैलासप्रस्तार एवं ३. भूप्रस्तार। क. मेरुप्रस्तार = नित्याषोडशतादात्म्य। ख. कैलासप्रस्तार = मातृका-तादात्म्य। ग. भूप्रस्तार = वशिन्यादि तादात्म्य। (लक्ष्मीधरा)

आधार चक्र-स्वाधिष्ठान चक्र-मणिपूरक चक्र-अनाहत चक्र-विशुद्धचक्र-आज्ञा चक्र से संवलित यह श्रीचक्र त्रिखण्डात्मक है। इसके तीन खण्ड निम्नांकित हैं— १. सोम-खण्ड, २. सूर्यखण्ड एवं ३. अग्निखण्ड— 'श्रीचक्रं त्रिखण्डं सोमसूर्यानलात्मकम्'।

१. प्रथम खण्ड : मूलाधार-स्वाधिष्ठान चक्र = २ चक्र।

२. द्वितीय खण्ड : मणिपूरक-अनाहत चक्र = २ चक्र।

३. तृतीय खण्ड : विशुद्ध-आज्ञा चक्र = २ चक्र।

छः पिण्डस्थ चक्र अग्नि, सूर्य, चन्द्र की स्थिति।

प्रथम खण्ड : अग्निस्थान। यहीं रुद्रग्रन्थि स्थित है।

प्रथम खण्ड के ऊपर द्वितीय खण्ड : सूर्यस्थान। यहीं विष्णुग्रन्थि स्थित है।

द्वितीय खण्ड के ऊपर तृतीय खण्ड : चन्द्रस्थान। यहीं ब्रह्मग्रन्थि स्थित है।

तृतीय खण्ड के ऊपर सोम-सूर्य-अनल (सोमसूर्यानलात्मकं) : यहाँ अवरोहण क्रम गृहीत किया गया है अर्थात् यहाँ जो सोम-सूर्य-अनल का क्रम दिया गया है, वह अवरोहणक्रम के अनुसार है। यहाँ प्रथम खण्ड के ऊपर जो अग्नि स्थित है, वह अपनी ज्वालाओं द्वारा प्रथम खण्ड को आवृत्त किये रहती है। द्वितीय खण्ड के ऊपर जो सूर्य स्थित है, वह अपनी किरणों द्वारा समस्त द्वितीय खण्ड को आच्छादित किये रहता है। तृतीय खण्ड के ऊपर जो चन्द्र स्थित है, वह अपनी कलाओं से तृतीय खण्ड को आवृत्त किये रहता है।[१]

श्रीचक्र और षोडश नित्याओं का अङ्गाङ्गिभाव-सम्बन्ध भी है। षोडश नित्यायें अष्ट-वर्गात्मक अष्टदल पद्म के अष्ट पद्मपत्रों में स्थित है। अष्टकोण चक्र में प्रागादि कोण से प्रारम्भ करके एक-एक कोण में दो-दो की संख्या में स्थित होकर षोडश नित्यायें श्रीचक्र में अन्तर्भूत हैं।

ये नित्यायें १६ स्वरों के रूप में षोडशदल पद्म में स्थित हैं और दो दशारों में अन्तर्भूत हैं। इन नित्याओं के मध्य प्रथम नित्याद्वय त्रिकोण के बिन्दु के रूप में अवस्थित हैं। अवशिष्ट १४ नित्यायें मन्वश्र में अन्तर्भूत हैं— मेखलात्रय, भूपुरत्रय एवं बैन्दव त्रिकोण में अन्तर्भूत हैं। नित्याओं का श्रीचक्र में इसी प्रकार का अन्तर्भाव है।

श्रीचक्र और उसका कैलासप्रस्तार— सनन्दनसंहिता में सनन्दन ने ऋषियों को सम्बोधित करते हुये कहा गया है कि—

क. षोडश नित्यायें चन्द्रकला चक्रविद्या की अंगभूत हैं।

ख. ये १६ नित्यायें स्वरात्मक एवं पञ्चाक्षरी मन्त्रानुगत हैं।

ग. एकारादिभूत अंकाकार विसर्गात्मक सकार से संगृहीत जीव कलारूप है और बैन्दव स्थान में स्थापित है और उसी में अन्तर्भूत है।

---

१. लक्ष्मीधरा

घ. क से लेकर म वर्णपर्यन्त समस्त वर्ण पाशांकुश बीजयुक्त होकर अष्टार दशकोणद्वय में अन्तर्भूत हैं।

ङ. अवशिष्ट यकारादि नौ वर्ण दो आवृत्तियों के साथ मन्वश्र में चतुर्दश कोणों में अन्तर्भूत हैं।

च. अवशिष्ट वर्णचतुष्टय शिवचक्रचतुष्टय में अन्तर्भूत हैं। इसे ही कैलासप्रस्तार कहा गया है। इसी प्रकार नित्याओं का चक्रविद्या के साथ अंगत्व प्रतिपादित किया गया है (चन्दकला = चक्रविद्या)।

श्रीचक्र और उसका भूप्रस्तार— सनत्कुमारसंहिता में षोडश नित्याओं को चक्र-विद्या का अंग निरूपित किया गया है। उसमें कहा गया है—

क. श्रीचक्र की अंगभूत जो नित्यायें हैं, वे वशिन्यादि के साथ द्विक-द्विक में सम्मिलित होकर बैन्दव त्रिकोण का त्याग करके आठो कोणों में अन्तर्भूत हैं। उनके मध्य त्रिपुरसुन्दरी को अन्तर्भाव्य कल्पित करना चाहिये।

ख. अष्टवर्ग तो वशिनी आदि आठ अधिष्ठात्री देवियाँ हैं।

१६ नित्यायें, १२ योगिनियाँ, ४ गन्धाकर्षिणी आदि शक्तियाँ— ये सब मिलाकर ४४ होती हैं।

ग. यहाँ एक शक्ति को छोड़कर ४३ कोणों में (त्रयश्चत्वारिंशत् कोणों में) ४३ देवता अन्तर्भाव्य हैं। बैन्दवस्थान से नीचे गन्धाकर्षिणी आदि जो चारो द्वारों पर स्थित हैं, उनको श्रीचक्र के अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। इसे ही 'भूप्रस्तार' कहते हैं।

श्रीचक्र की उत्पत्ति एवं उसका संघटन— भैरवयामल, चन्द्रज्ञानविद्या में भगवान् शिव पार्वती से कहते हैं—

१. श्रीचक्र का नवयोन्यात्मक स्वरूप एवं उसकी उत्पत्ति—

चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।
नवचक्रैश्च संसिद्धं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः।।

'शिवयोर्वपुः' श्रीचक्र शिव-शिव का अपना सम्मिलित शरीर है।

२. शक्तिचक्र—

त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा।
चतुर्दशारं चैतानि शक्तिचक्राणि पञ्च च।।

शिवचक्र—

बिन्दुश्चाष्टदलं पद्म पद्मषोडशपत्रकम्।
चतुरस्रं च चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमात्।।

३. शक्तिचक्र एवं शिवचक्र में अविनाभाव सम्बन्ध—

त्रिकोणे बैन्दवं श्लिष्टमष्टारेऽष्टदलाम्बुजम्।
दशारयोः षोडशारं भूगृहं भुवनाश्रके।।

शैवानामपि शाक्तानां चक्राणाञ्च परस्परम्।
अविनाभावसम्बन्धं यो जानाति स चक्रवित्।।

४. कोणचक्र—

त्रिकोणमष्टकोणञ्च दशकोणद्वयं तथा।
मनुकोणं चतुष्कोणं कोणचक्राणि षट्क्रमात्।।

१. आधार चक्र : महीतत्त्वात्मक : अग्नि की ५६ ज्वालायें।

२. मणिपूरक चक्र : उदकतत्त्वात्मक : (स्पोपरिस्थित) ५२ ज्वालायें।

इस प्रकार अग्नि की १०८ ज्वालायें हुई : ५६ + ५२ = १०८।

३. स्वाधिष्ठान चक्र : अग्नितत्त्वात्मक : सूर्य की ६२ ज्वालायें।

४. अनाहत चक्र : अनिलतत्त्वात्मक : ५४ किरणें।

सूर्य की ११६ किरणें होती हैं। वियत्तत्त्वात्मक विशुद्धि चक्र में चन्द्रमा की ७२ कलायें स्थित हैं। मनस्तत्त्वात्मक आज्ञाचक्र में ६४ चान्द्र कलायें स्थित हैं—

अष्टोत्तरशतं वह्नेः षोडशोत्तरकं रवेः।
षट्त्रिंशदुत्तरशतं चन्द्रस्य च विनिर्णयः।। (भैरवयामल)

सूर्य की किरणें मणिपूरक चक्र का त्याग करके स्वाधिष्ठान चक्र में प्रवेश करती हैं; क्योंकि सूर्य एवं अग्नि एक ही हैं तथा अग्नि भी सूर्य के अन्तर्भूत ही तो है। स्वाधिष्ठान एवं मणिपूरक चक्र के सूर्याग्निस्थान के मध्य अग्निस्थान में सूर्य का प्रवेश होता है तथा सूर्यस्थान में अग्नि का प्रवेश होता है। जगत् को दग्ध करने वाली अग्नि को शमित करने वाले संवर्त्तमेघात्मक सूर्यकिरणों से वर्षा हुआ करती है। सब मिलाकर चन्द्रमा की १३६ कलायें हैं।

सोम-सूर्य-अग्नि पिण्ड-अण्ड एवं समस्त ब्रह्माण्ड को आच्छादित किये हुये हैं। चूँकि पिण्ड-अण्ड एवं ब्रह्माण्ड तीनों एक हैं; अतः पिण्डाण्डवृत्ति ही ब्रह्माण्डावृत्ति है। सहस्रकमल पिण्ड एवं अण्ड दोनों को अतिक्रान्त करके स्थित है। यह ज्योत्स्नामय लोक है। यहाँ जो चन्द्रमा स्थित है, वह 'नित्यकल' है, अर्थात् उसकी कलाओं में क्षय-वृद्धि नहीं हुआ करती। 'आज्ञाचक्रोपरिस्थितश्चन्द्रः' कहकर जो चन्द्रमा की स्थिति आज्ञा-चक्र के ऊपर कही गई है, वह केवल चन्द्रमा की कलाओं के अवस्थानमात्र का सूचक है; न कि नित्यकल पूर्ण चन्द्र का। इसीलिये सुभगोदय में कहा गया है कि—

षोडश कलायें षोडश नित्याओं से युक्त हैं। उनमें शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष की प्रतिपदा आदि तिथियों का समावेश है (तदात्मकता है); अतः क्षय-वृद्धि दोनों विकारों का उनमें दुष्प्रभाव भी है। अतः शंका होती है कि सहस्रदल कमल में स्थित चन्द्रमा की कलाओं

में भी क्षय-वृद्धि होती होगी; किन्तु ऐसा है नहीं। षोडश चान्द्र कलायें षोडश नित्यात्मिका भी हैं और प्रतिपदा से पौर्णमासीपर्यन्त तिथियों की प्रवर्तिका भी हैं तथा कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से अमावस्यापर्यन्त तिथियों की भी प्रवर्तिका हैं और स्वात्मतिरोधान एवं स्वात्मतिरोधानाभाव से उपहित हैं।

सहस्रदल कमल के चन्द्रमा में क्षय-वृद्धि नहीं होती— 'चन्द्रस्यापि सहस्रकमलगतस्य वृद्धिक्षयौ भवत एवेति' ऐसी शंका तो होती है; किन्तु 'चन्द्रमसः वृद्धिक्षयौ न भवतः' अर्थात् सहस्रारस्थ चन्द्रमा की कलाओं में क्षय-वृद्धि नहीं हुआ करती।

श्रीविद्या, जिसका अपर नामधेय (अन्य अभिधान) चन्द्रकला है, वह पञ्चदश तिथि-स्वरूपा है; अतः ३६० किरणें विवसात्मक है और उन्हीं से संवत्सर लक्षित है। वह कालशक्त्यात्मक संवत्सर प्रतिपत्तिस्वरूप होने के कारण तथा प्रजापति के जगत् का कर्ता होने के कारण किरणें भी जगत् की सृष्टि-स्थिति एवं लय की कारिका है। यही स्थिति अनन्त पिण्ड-अण्ड एवं ब्रह्माण्डों में वर्तमान है। ये किरणें इस ब्रह्माण्ड एवं पिण्डाण्ड में ३६० हैं। अनन्त कोटि पिण्डाण्ड-ब्रह्माण्डों में भी यही स्थिति है। इस प्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्ड एवं प्रत्येक पिण्डाण्ड में ३६० (षष्ट्युत्तरत्रिंशतसंख्याक) किरणें स्थित हैं और इस प्रकार अनन्त किरणें (रश्मियाँ) प्रसृत हैं। ये रश्मियाँ सूर्य, चन्द्रमा एवं अग्नि से संपृक्त हैं और भगवती के चरणों से उद्भूत हैं— सृष्टि-स्थिति-लय की शक्तियों से संवलित हैं और लोकों को प्रकाशित करती हैं।

भगवती के चरणकमलों की स्थिति— सूर्य, चन्द्रमा एवं अग्नि भगवती के चरणकमलों से उद्भूत अनन्त कोटि रश्मियों के मध्य से कतिपय किरणों का आहरण करके भगवती के अनुग्रह से समासादित जगत्-प्रकाशन-सामर्थ्य से संसारों को प्रकाशित करते हैं। बैन्दवस्थान क्या है? 'सर्वलोकातिक्रान्तं चन्द्रकलाचक्रं बैन्दवस्थानमिति'।

समस्त लोकों के ऊपर स्थित चन्द्रकला चक्र ही बैन्दवस्थान है। वहीं भगवती के चरणकमल स्थित हैं। सौन्दर्यलहरी में जो यह कहा गया है कि—

क्षितौ षट्पञ्चाशद द्विसमधिकपञ्चाशदुदके
हुताशे द्वाषष्टिश्चतुरधिकपञ्चाशदनिले।
दिवि द्विषट्त्रिंशन्मनसि च चतुष्षष्टिरिति ये
मयूखास्तेषामप्युपरि तव पादाम्बुजयुगम्।।१४।।

उसका रहस्यार्थ यही है। इसकी पदयोजना इस प्रकार है—

हे भगवति ! ये मयूखाः क्षितौ षट्पञ्चाशत्, उदके द्विसमधिकपञ्चाशत् हुताशे द्वाषष्टिः, अनिले चतुरधिकपञ्चाशत्, दिवि द्विषट्त्रिंशत् मनसि चतुष्षष्टिः इति तेषामुपरि तव पादाम्बुजयुगं वर्तते।

श्रीचक्र और कला विद्या— भैरवयामल, चन्द्रज्ञानविद्या में महेश्वर गौरी से कहते हैं—

कलाविद्या परा शक्तेः श्रीचक्राकाररूपिणी।
तन्मध्ये बैन्दवस्थानं तत्रास्ते परमेश्वरि।।

सदाशिवेन सम्पृक्ता सर्वतत्त्वातिगा सती।
चक्रं त्रिपुरसुन्दर्याः ब्रह्माण्डाकारमीश्वरि।।

पञ्चभूतात्मकं चैव तन्मात्रात्मकमेव च।
इन्द्रियात्मकमेवञ्च मनस्तत्त्वात्मकं तथा।।

मायादितत्त्वरूपञ्च तत्त्वातीतञ्च बैन्दवम्।
बैन्दवे जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी।।

सदाशिवेन सम्पृक्ता तत्त्वातीता महेश्वरी।
ज्योतीरूपा पराकारा यस्या देहोद्भवाश्शिवे।।

किरणाश्च सहस्रञ्च द्विसहस्रञ्च लक्षकम्।
कोटिरर्बुदमेतेषां परा संख्या न विद्यते।।

तामेवानुप्रविश्यैव भाति लोकं चराचरम्।
यस्या देव्या महेशानि भासा सर्वं विभासते।।

तद्भासा रहितं किञ्चिन्न च यच्च प्रकाशते।
तस्याश्च शिवशक्तेश्च चिद्रूपायाश्चितिं विना।।

आन्ध्यमापद्यते नूनं जगदेतच्चराचरम्।
तेषामनन्तकोटीनां मयूखानां महेश्वरि।।

* * * * *

मध्ये षष्ट्युत्तरं तेऽमी त्रिंशतं किरणाश्शिवे।
ब्रह्माण्डं व्यश्नुवानास्ते सोमसूर्यानलात्मना।।

अग्नेरष्टोत्तरशतं षोडशोत्तरकं रवेः।
षट्त्रिंशदुत्तरशतं चन्द्रस्य किरणाश्शिवे।।

ब्रह्माण्डं भासयन्तस्ते पिण्डाण्डमपि शाङ्करि।
दिवा सूर्यस्तथा रात्रौ सोमो वह्निश्च सन्ध्ययोः।।

प्रकाशयन्तः कालांस्ते तस्मात्कालात्मकास्त्रयः।
षष्ट्युत्तरं च त्रिशतं दिनान्येव च हायनम्।।

हायनात्मा महादेवः प्रजापतिरिति श्रुतिः।
प्रजापतिर्लोककर्ता मरीचिप्रमुखान् मुनीन्।।

सृजन्त्येते लोकपालान् ते सर्वे लोकरक्षकाः।
संहारश्च हरायत्तः उत्पत्तिर्भवनिर्मिता।।

रक्षा तु मृडसंलग्ना सृष्टिस्थितिलये शिवः।
नियुक्तः परमेशान्या जगदेवं प्रवर्तते।।

श्रुति भी कहती है— 'तमेव मान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'।

श्रीचक्र के साथ पञ्चदशी मन्त्र एवं वर्णमाला का सामरस्य— श्रीचक्ररूप चन्द्रविम्ब में एक ही कला स्थित है; उसका नाम है— 'परमा कला श्रीचक्ररूपचन्द्रविम्बे एकैव कला सा परमा कला'। कहा भी गया है—

षोडशेन्दोः कला भानोः द्विर्द्वादश दशानले।
सा पञ्चाशत्कला ज्ञेया मातृकाचक्ररूपिणी।।

ये ५० कलायें ५० वर्णों से युक्त हैं और पञ्चदशाक्षरी मन्त्र में अन्तर्भूत हैं। आदि ककार एवं अन्तिम लकार (प्रत्याहृत) तन्मध्यवर्ती वर्णों का ग्राहक है। यही लकार परवर्ती अकार के द्वारा प्रत्याहृत होकर ५० वर्णों का ग्राहक होता है। इसी प्रत्याहार-ग्रहण के द्वारा ५० वर्णों से युक्त मातृका के ग्रहण में ककार-लकार के प्रत्याहार-ग्रहण की सार्थकता क्या है? तो उत्तर यह है कि ककारादि लकारान्त शब्दों का कला शब्द-वाच्यत्व गौण है; क्योंकि ये व्यञ्जन एवं स्वरों के अंग हैं। कलाओं का एवं स्वरों का प्रधानत्व है। गुणप्रधान भावप्रदर्शनार्थ प्रत्याहारद्वयाश्रयण अपेक्षित होता है— यह सनकादिक ऋषियों का मत है।

चारो अनुस्वार बिन्दु के लक्षक हैं। उस बिन्दु के द्वारा प्रतीयमान नाद संगृहीत है। इस प्रकार श्रीचक्र नाद-बिन्दुकलात्मक होने के कारण त्रिखण्डात्मक है।

सादाख्या कला नाद-बिन्दुकलातीता श्रीविद्या है— 'सादाख्या कला श्रीविद्यापरपर्याया नादबिन्दुकलातीता'। ये षोडश नित्याओं में अन्तर्भूत हैं।

स्वर १६ हैं; कादि तान्त वर्ण १६ हैं; थादि सान्त वर्ण १६ हैं; यह षोडश त्रिक (सोलह का त्रिकत्रय) षोडश नित्याओं में अन्तर्भूत है। हकाररूप आकाशबीज बैन्दवाकाश में निलीन हो जाता है। लकार अन्तस्थ स्वान्तर्भूत होने पर भी ककार से प्रत्याहारार्थ पुनः गृहीत होता है। जहाँ तक क्षकार की बात है तो यह तो ककार एवं षकार का मिश्रित रूपमात्र ही है। स्वरसमेत ककारादि सान्त वर्ण षोडश नित्याओं में अन्तर्भूत है।

अकार से प्रत्याहृत क्षकार अक्षमाला नाम से प्रख्यात है। अतः क्ष (क + ष) से समस्त मातृकाओं का द्योतन होता है। अतः अन्तिम खण्ड में 'सकलह्रीं' 'क' एवं 'ष' के योग से 'क्ष' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार 'सकलह्रीं' मन्त्र से समस्त मातृकाओं का ग्रहण होता है।

निष्कर्ष यह कि—

क. षोडश नित्याओं का मन्त्रगत षोडशवर्णात्मकत्व,

ख. षोडश वर्णों का पञ्चाशद्वर्णात्मकत्व,

ग. पञ्चाशद् वर्णों का सूर्य-चन्द्राग्निकलात्मकत्व,

घ. सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि के द्वारा त्रिखण्डत्व द्योतित होने से इनमें परस्पर सामरस्य एकरूपता या तादात्म्यभाव सिद्ध होता है। इससे ऐक्यचतुष्टय सिद्ध होता है।

श्रीचक्र एवं पञ्चदशी मन्त्र में ऐकात्म्य— इसी प्रकार श्रीचक्र एवं मन्त्र में भी ऐकात्म्य है। दस सम्बन्ध में सुभगोदय इस प्रकार कहता है—

१. पञ्चदशी में स्थित ह्रींकारत्रय एवं श्रीबीज शिवचक्रचतुष्टयात्मक त्रिकोण में बिन्दु रूप से अन्तर्भूत है।

२. 'सकलह्रीं' मन्त्र में सकल के वर्णत्रय द्वारा मातृका संगृहीत है। अक्षमालिका एवं मातृका दोनों श्रीचक्र में अन्तर्भूत हैं। यथा—

क. अन्त:स्थचतुष्टय और ऊष्मचतुष्टय— ये आठों वर्ण अष्टकोणात्मक हैं। कादि मावसाना वर्णों (पञ्चवर्गों के वर्णों) को छोड़कर शेष दशारयुग्म में अन्तर्भूत हैं।

ख. वर्गपञ्चक (कादि मान्त) अनुस्वार के साथ बिन्दु में अन्तर्भूत हैं।

ग. चतुर्दशार में १४ स्वर अन्तर्भूत हैं।

घ. अनुस्वार एवं विसर्ग का बिन्दु श्रीचक्र के बिन्दु में अन्तर्भाव है। इस प्रकार सुभगोदय ग्रन्थ के अनुसार पञ्चदशी मन्त्र श्रीचक्र एवं वर्णमाला में ऐकात्म्य है।

पूर्णोदयमत के अनुसार—

क. श्रीचक्र के तीन खण्ड हैं— सोमखण्ड, सूर्यखण्ड एवं अनलखण्ड। इसी प्रकार पञ्चदशाक्षरी मन्त्र के भी तीन खण्ड हैं।

ख. १६ चन्द्रकलायें इन्दुखण्ड में अन्तर्भूत हैं। यह इन्दुखण्ड भी इन्द्वात्मक यन्त्रखण्ड में अन्तर्भूत है।

ग. इस प्रकार सूर्य की २४ (चतुर्विंशति) कलायें सूर्यखण्ड में अन्तर्भूत हैं। यह खण्ड भी यन्त्रखण्ड में अन्तर्भूत है।

घ. इस प्रकार आग्नेय दस कलायें आग्नेय खण्ड में अन्तर्भूत हैं।

ङ. यह आग्नेय खण्ड भी यन्त्र के आग्नेय खण्ड में अन्तर्भूत है।

च. सुभगोदयनामक ग्रन्थ में नित्याओं का स्वरूप-विवेचन इस प्रकार किया गया है—

> दर्शाद्या: पूर्णिमान्ताश्च कला: पञ्चदशैव तु।
> षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी।।

अर्थात् दर्शाद्या: (पूर्णिमान्त तिथियाँ)। दर्शा (अमावास्या की अन्तर्भाविनी प्रतिपत्कला); उसके थोड़ा दिखाई पड़ने के कारण इसका नाम 'दर्शा' पड़ा है। दर्शाद्या:— दर्शा आद्या यासां ता:। पूर्णिमान्त (पूर्णिमा अन्तो यासां ता:) = पूर्णिमा में अन्त होने वाली।

दर्शाद्या: पूर्णिमान्त तिथियों के नाम इस प्रकार हैं—

१. दर्शा	३. दर्शता	५. सुदर्शना
२. दृष्टा	४. विश्वरूपा	६. आप्यायमाना

७. आप्यायमाना	१०. इरा	१३. पूरयन्ती
८. आप्याया	११. आपूर्यमाणा	१४. पूर्णा
९. सूनृता	१२. आपूर्यमाणा	१५. पौर्णमासी

दर्शा, दृष्टा, दर्शता आदि १५ कलाओं के यथाक्रम त्रिपुरसुन्दरी आदि १५ नित्यायें अधिदेवता हैं।

चिद्रूपात्मिका षोडशी कला सादाख्य तत्त्वस्वरूपा होने के कारण इसका कोई अन्य अधिदेवता नहीं है; क्योंकि यह स्वयमेव समस्त तिथियों की अधिदेवता है। इन सभी नित्याओं की अभिमानिनी देवता कामदेवमात्र हैं। अधिष्ठान देवता कामेश्वरी मात्र ही है और वह एक है। मूल विद्यागत १५ वर्णों की दर्शा आदि कलायें हैं। इन दर्शादि कलाओं का त्रिखण्डत्व सिद्ध है। इनका खण्डत्रय इस प्रकार है—

१. आग्नेय खण्ड : दर्शा, दृष्टा, दर्शता, विश्वरूपा, सुदर्शना।

२. सौरखण्ड : आप्यायमाना, आप्यायमाना, आप्याया, सूनृता, इरा।

३. चान्द्रखण्ड : आपूर्यमाणा, आपूर्यमाणा, पूरयन्ती, पूर्णा, पौर्णमासी।

इन कलाओं का नित्याओं के साथ ऐक्य है—

क. दर्शा कला शिवतत्त्वात्मिका है।

ख. दृष्टा कला शक्तितत्त्वात्मिका है।

ग. दर्शता कला मायातत्त्वात्मिका है।

घ. विश्वरूपा कला शुद्धविद्यातत्त्वात्मिका है।

ङ. सुदर्शना कला जलतत्त्वात्मिका है।

इस प्रकार आग्नेय खण्ड पञ्चतत्त्वात्मक है। यहाँ अग्नि अधिदेवता है। कामदेव सर्वत्र अधिदेवता है और कामेश्वरी सर्वत्र अधिष्ठात्री है।

च. आप्यायमाना कला तेजस्तत्त्वात्मिका है।

छ. आप्यायमाना कला वायुतत्त्वात्मिका है।

ज. आप्याया कला मनस्तत्त्वात्मिका है।

झ. सूवृता कला पृथिवीतत्त्वात्मिका है।

ञ. इरा कला आकाशतत्त्वात्मिका है।

ट. आपूर्यमाणा कला विद्यातत्त्वात्मिका है।

यह सौरखण्ड है; यहाँ देवता सूर्य है। कामदेव सर्वत्र अधिदेवता है। कामेश्वरी सर्वत्र अधिष्ठात्री देवता है।

ठ. आपूर्यमाणा कला, जो कि चन्द्रखण्ड में स्थित है, वह भी सौरखण्ड में अन्तर्भूत है।

ड. इरा कला एवं आपूर्यमाणा में ऐक्य है।

ढ. आपूर्यमाणा कला महेश्वरतत्त्वात्मिका है।

ण. पूरयन्ती कला परतत्त्वात्मिका है।

त. पूर्णा कला आत्मतत्त्वात्मिका है।

थ. पौर्णमासी कला सदाशिवतत्त्वात्मिका है।

यही सौम्यखण्ड है। यहाँ सोम (चन्द्रमा) ही अधिदेवता है। कामदेव सर्वत्र अधि-देवता है। कामेश्वरी सर्वत्र अधिष्ठात्री है।

द. नित्या कला सादाख्यतत्त्वात्मिका है।

ये सभी विशुद्धि चक्र (षोडशार) में प्रागादि क्रमानुसार १६ दिशाओं में परिभ्रमण करती हैं।

इस प्रकार सुभगोदय के अनुसार आज्ञा चक्र के ऊपर स्थित चन्द्रमण्डल की ये १६ कलायें हैं।

ध. षोडशी कला का अवस्थान सहस्रदल कमल में है। वहाँ अवस्थित नित्या कलाओं का प्रभापटल षोडशार में स्फुरित होता है।

शिवश्शक्तिः कामः क्षितिरथ रविश्शीतकिरणः।
स्मरो हंसश्शक्रस्तदनु च परामारहरयः।।

सौन्दर्यलहरी (श्लोक-३२) के अनुसार—

१. शिवः = शिवतत्त्वात्मिका दर्शाख्या कला त्रिपुरसुन्दरी। उसकी प्रकृति ककार है। 'ककारः' यहाँ ककार लक्षित है।

२. शक्तिः = शक्तितत्त्वात्मिका दृष्टा कला। इसके द्वारा एकार लक्षित है।

३. कामः = (स्मर) कामदेव के द्वारा दर्शता कला का प्रतिनिधित्व है। काम एवं दर्शता कला से ईकार लक्षित है।

४. क्षितिः = 'लकारः क्षितितत्त्वं' अर्थात् क्षिति से लकार लक्षित है।

५. रविः = 'सूर्य' सूर्यखण्डात्मक होने के कारण हकार को लक्षित करता है।

६. शीतकिरणः = (चन्द्रमा) 'सकारः चन्द्रबीजं' शीतकिरण शब्द से सकार लक्षित है।

७. स्मरः = स्मर कामराजप्रकृतिभूत ककार को लक्षित करता है।

८. हंसः = (सूर्य) हकाराधिपति सूर्य है।

९. शक्रः = (इन्द्र) 'लकारः इन्द्रबीजं'। 'शक्र' शब्द से लकार लक्षित है।

१०. परा = (चन्द्रकला) इससे चन्द्रबीज 'सकार' लक्षित है।

११. मार = (कामराजबीज) कामराजबीज से ककार लक्षित है।

१२. हरिः = (इन्द्र) इससे लकार लक्षित है।

इस प्रकार मन्त्रगत वर्ण ककारादिक शिवादिक पद के लक्षक हैं। कहीं-कहीं लक्षितलक्षक हैं।

इस प्रकार १५ नित्याओं से युक्त पञ्चदशाक्षरी मन्त्र का सभी १५हों तिथियों में अनुष्ठान विहित है। पृथक् नित्यानुष्ठानों का तो प्रतिदिन पृथक् विधान नियत है। इसका रहस्य गुरुमुख से ही अवगन्तव्य है। कहा भी गया है—

दर्शाद्या: पूर्णिमान्ताश्च कला: पञ्चदशैव तु।। (श्रुति)

इयं वाव सरघा (तै. ब्रा. काठकशाखा-३.१०.१)

अर्थात् यह चन्द्रकला (सादाख्या) सरघा की भाँति मधुस्यन्दिनी अमृतस्यन्दिनी है; क्योंकि चन्द्र में सरघात्व है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.१०.१) में कहा गया है कि 'तस्या अग्निरेव सारघं मधु' अर्थात् सरघा का अग्नि (अग्निस्थान) ही बैन्दवत्रिकोण सारघ (सरघोद्भूत) मधु है; क्योंकि वह सुधासिन्धुस्वरूप है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में ही पुन: कहा गया है कि 'या एता: पूर्वपक्षापरपक्षयो रात्रय:'। यहाँ सारघ मधु का उपचयापचय प्रकार कथित है। संज्ञानुवाक के इस वाक्य का अर्थ यह है कि पूर्वपक्षापरपक्षयो: = शुल्क-कृष्ण पक्ष की। रात्रय: = रात्रियाँ।

'ता मधुकृत:'। ता: = वे। वे रात्रियाँ मधु प्रदान करती हैं। (मधुकृत:) रात्रि में ही मधु का संग्रह (मधुमक्षिकाओं के द्वारा रात्रि में ही मधुसंग्रह किया जाता है— यह लोक प्रसिद्धि है)। रात्रि में ही श्रीविद्या का अनुष्ठान होता है, न कि दिन में। कहा भी है— 'रात्रावेव चन्द्रकलारूपाया: श्रीविद्याया: अनुष्ठानं न च दिवसे इति उपदेश:।' पूर्वपक्षरात्रय: = दर्शादिपौर्णमास्यान्त रात्रियाँ। कृष्णपक्ष की रात्रियों के नाम इस प्रकार हैं—

सुता सुन्वती प्रनुता सूयमानाऽभिषूयमाणा।
पीती प्रपा सम्पा तृप्तिस्तर्पयन्ती कान्ता।।

काम्या कामजाताऽऽयुष्मती कामदुघा।।

ये कृष्णपक्ष की रात्रियाँ हैं।

तन्त्रराजतन्त्र में कहा गया है कि त्रिकोण के भीतर स्थित केन्द्रीय बिन्दु कामेश्वर एवं कामेश्वरी का एकीकृत, संयुक्त या एकीभूत रूप है। इन्हें ही देवी त्रिपुरा या ललिता भी कहा जाता है, जो कि आत्मा है। कामेश्वर निरुपाधि परम संवित् हैं और कामेश्वरी उनकी शक्ति हैं। यह बिन्दु सबसे भीतरी चक्र 'सर्वानन्दमय चक्र' में है। बिन्दु के तीन प्रकार हैं— देवी का मुख एवं देवी के दो स्तन अर्थात् एक मुख एवं दो स्तन = ३। ये तीन बिन्दु हैं— सूर्य, चन्द्रमा एवं अग्नि। ये ग्रहात्मक पिण्ड नहीं हैं; प्रत्युत सिसृक्षु परबिन्दु की प्रकाश एवं विमर्शनामक अपने विभिन्न पक्ष हैं। भगवती ललिता की पूजा श्रीविद्या का प्रमुख भाग है।

ललिता को ही 'आद्या' (या अंगी नित्या देवता) भी कहा गया है और उन्हें ही सत्, आनन्द एवं पूर्ण कहा गया है। उनके चारो ओर अंगदेवता (आवरणदेवता) १५ नित्यायें स्थित रहती हैं, जो कि ५ महाभूतों (अपने १५ गुणों से युक्त) या ३ गुणों

से युक्त महाभूतों का प्रतीक है। ललिता प्रकाशरूप शिव की विमर्शशक्ति हैं। भावनोपनिषद् (२८वाँ सूत्र) में कहा गया है कि अरुणिमा या लौहित्य विमर्श है— 'लौहित्यमेतस्य सर्वस्य विमर्शः'। 'सर्वस्य' का अर्थ है— कामेश्वर का (भास्कराचार्य)। ललिता साधकों की आत्मा है। राग एवं रक्तिमा (लाल रंग) दोनों अभिन्न हैं। कहा भी गया है— अपनी आत्मा ललिता देवी हैं। उनका शरीर ही विश्व है। वे विश्वविग्रहा हैं। रक्तिमा उनका विमर्श है और पूजा है— उस पर ध्यान लगाना।

त्रिपुराभैरवी या ललिता के तीन रूप हैं— स्थूल, सूक्ष्म एवं पर। उनकी पूजा के भी तीन प्रकार हैं— कायिक, वाचिक एवं मानसिक। इसे ही बाह्य याग, आन्तर याग एवं भावना की भी संज्ञा दी गई है।

साधक के शरीर को नवचक्रनिर्मित श्रीयन्त्र कहा गया है। श्रीचक्र की पूजा का उद्देश्य यह बताया गया है कि साधक ज्ञाता (होता), ज्ञान (अर्घ्य) एवं ज्ञेय (हवि) के साथ अभेद प्राप्त कर सके—

ज्ञाता स्वात्मा भवेज्ज्ञानमर्घ्यं ज्ञेयं हविस्थितम्।
श्रीचक्रपूजनं तेषामेकीकरणमीरितम्।।

त्रिपुरातापिन्युपनिषद् कायिक एवं वाचिक कर्मों का एवं भावनोपनिषद् भावना एवं मानस कर्म का विधान करते हैं— 'ज्ञातृज्ञानं ज्ञेयानामभेदभावनम्'। सर जान वुडरक ठीक ही कहते हैं— The object of worship of the Srichakra is the realisation of the inseperateness of ज्ञाता (होता), ज्ञान (अर्घ्य) और ज्ञेय (हवि)।

योगिनीहृदय और उसकी दृष्टि : एक विहंगमावलोकन

योगिनीहृदय पर लिखी गई टीकायें अनेक दृष्टियों पर आधृत हैं; यथा—
अमृतानन्दकृत दीपिका— हादिमत।
भास्कररायकृत सेतुबन्ध— कादिमत।

इस प्रकार यह एक ही ग्रन्थ कादिमत एवं हादिमत— दोनों ही दृष्टियों से विवेचित हुआ है। योगिनीहृदय के भी अनेक नामान्तर हैं; यथा— सुन्दरीहृदय एवं नित्याहृदय।

अमृतानन्दनाथ पुण्यानन्दनाथ के शिष्य थे। दोनों (गुरु-शिष्य) महान् योगी और परमहंस थे। अमृतानन्दनाथ ने योगिनीहृदय की दीपिका टीका के अतिरिक्त षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह एवं सौभाग्यसुभगोदय भी लिखा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अज्ञानबोधिनी टीका एवं तत्त्व-दीपन (वेदान्तविषयक) ग्रन्थ भी लिखा है। ये काश्मीरी विद्वान् थे। इनके द्वारा उपर्युक्त वेदान्त का ग्रन्थ लिखा जाना प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता। ये काश्मीरी अमृतानन्दनाथ के लिखे प्रतीत नहीं होते।

भास्कर एवं अमृतानन्द के विचारों में प्रचुर वैषम्य है। भास्कर ने दीपिका का उद्धरण भी दिया है। कहीं-कहीं उसके मत से सहमति भी व्यक्त की है। तटस्थ मूल्यांकन

किया जाय तो अमृतानन्द प्राचीन वैचारिक परम्परा के अधिक निकट हैं, अपेक्षाकृत भास्करराय के।

योगिनीहृदय तीन पटलों में विभक्त है— चक्र, मन्त्र एवं पूजा। चक्र = त्रिपुराचक्र = श्रीचक्र।

ललिता के रूप— स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण-विश्व के रूप में।

चक्र— ९ त्रिकोण : ५ अधोमुख, ४ ऊर्ध्वमुख।

क. ५ अधोमुखी त्रिकोण = शक्ति का सृष्ट्यात्मक पक्ष।

ख. ४ ऊर्ध्वमुखी त्रिकोण = शक्ति का संहारात्मक पक्ष = शक्ति अग्नि।

चक्राविर्भाव = परमशिव की ओर से आत्माभिव्यक्ति की इच्छा द्वारा ही चक्र का आविर्भाव हुआ।

शिव-शक्ति = अग्नि + चन्द्रमा = अग्नि-चन्द्र-सामरस्य। जैसे अग्नि के सम्पर्क में आने पर घृत पिघल जाता है और बहने लगता है, उसी प्रकार अग्नि (प्रकाश = शिव) का सम्पर्क होने पर चन्द्रमा (शक्ति = विमर्श) पिघल कर प्रवाहित होने लगता है। दो बिन्दुओं शिव = अग्नि एवं शक्ति = चन्द्रमा के मध्य से जो यह निर्गत प्रवाह (Flow out) है, उसे ही कहते हैं— हार्धकला। काम, सूर्य और परमबिन्दु तीनों एक ही हैं। यही काम (सूर्य = परमबिन्दु) हार्धकला से समन्वित होने पर बैन्दवचक्र को जन्म देता है। यही बैन्दवचक्र समस्त परवर्ती स्पन्दनों या तरंगों (अर्थात् ३६ तत्त्वों एवं षट्त्रिंशदात्मक जगत्) का मूल कारण है।

बैन्दवचक्र भी त्रिकोणात्मक है। यह तीन मातृकाओं (पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी) से युक्त है। इसे बैन्दव चक्र इसलिये कहते हैं; क्योंकि यह मूल बिन्दु (तुरीय : चतुर्थ बिन्दु) से आविर्भूत होता है। मूल बिन्दु = ३ मातृकाओं की समष्टि = बिन्दुत्रय का एकीकृत रूप या सदाशिव (परमात्मा) है।

बैन्दवचक्र (सबसे भीतर का चक्र)— नवयोनिचक्र। नवयोनिचक्र ९ कोणों से निर्मित है। इस चक्र के तत्त्व या ९ योनियाँ निम्नांकित हैं— धर्म, अधर्म, आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा, जीव, ग्राह्य (पदार्थ) एवं प्रमा (यथार्थ ज्ञान)। यह नवयोन्यात्मक चक्र आभ्यन्तर एवं उससे भी अतीत है। यह शुद्ध चैतन्य कला है अर्थात् शुद्ध चैतन्य एवं आनन्द है। यह पूर्णाहन्ता है— देश, काल एवं रूप से अतीत है।

नव योनियाँ वैखरी मातृकाओं से निर्मित हैं और चूँकि नव योनिचक्र बाहर है; अतः बैन्दवचक्र आभ्यन्तर माना गया है ।

नवयोनिचक्र ९ चक्रों के रूप में रूपान्तरित है। वे चक्र हैं—त्रैलोक्यमोहन, सर्वाशा-परिपूरक, सर्वसंक्षोभण, सर्वसौभाग्यदायक, सर्वार्थसाधक, सर्वसिद्धिप्रद, सर्वानन्दमय : त्रयात्मक भूपुर-षोडशदल पद्म-अष्टदल पद्म-चतुर्दशार-द्वादशार, त्रिकोण एवं परमबिन्दु (बिन्दु)।

बैन्दव (अन्तरतम चक्र) महाबिन्दु का द्योतक है और शिव-शक्ति के सामरस्य (सामञ्जस्य) का प्रतिनिधित्व करता है। यह त्रिकोण अम्बिका कहलाता है।

इसके ३ पार्श्व १५ स्वरों (अ से अं) एवं मध्य 'अ:' से युक्त हैं। यह कामेश्वर एवं कामेश्वरी (प्रकाश-विमर्श, शिव-शक्ति) से अधिष्ठित है। ये कामेश्वर-कामेश्वरी यहाँ ऐसे आसीन हैं, मानों सदाशिव या महाबिन्दु पर आसीन हों।

मन्त्रसंकेत (योगिनीहृदय का द्वितीय पटल) में बताया गया है कि नवों चक्रों की पृथक्-पृथक् अधिष्ठात्री देवियाँ हैं। मन्त्र आत्मा की रश्मियाँ हैं— 'मन्त्राश्चिन्मरीचय:'। मन्त्र पर ध्यान देने पर ये रक्षा भी करते हैं। ये त्राणधर्मा हैं। न्यास का भी पुष्कल महत्त्व है। मन्त्रसंकेत छ: प्रकार के हैं— भावार्थ, सम्प्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, सर्वरहस्यार्थ एवं महातत्त्वार्थ।

इस ग्रन्थ (योगिनीहृदय) का तृतीय पटल पूजासंकेत पर प्रकाश डालता है। भगवती की पूजा के तीन प्रकार बताये गये हैं— परा, परापरा एवं अपरा पूजा।

१. परा पूजा = परम शिव के साथ ऐकात्म्य स्वरूप पर ज्ञान ही परा पूजा है।

२. परापरा पूजा = यहाँ कर्म एवं ज्ञान का सांकर्य है। इससे भावना के द्वारा बाह्य चक्रों को आन्तर अभिन्न प्रकाश में खींचा जाता है। यह ज्ञान में कर्म का उन्मूलन है।

३. अपरा पूजा = (निकृष्टतम पूजा) यह बाह्य चक्रों एवं आवरणों की पूजा है। यह चतुष्कोण चतुर्दशार (सबसे बाह्य) से प्रारम्भ की जाती है और केन्द्रीय या बैन्दव चक्र तक अर्थात् सम्पूर्ण श्रीचक्र की पूजा की जाती है। इसमें सभी द्वारों, देवताओं आदि की पूजा का विधान है।

तन्त्रराजतन्त्र कादि, हादि, एवं कहादि— तीनों की पूजा-पद्धति एवं ध्यान-प्रक्रिया का प्रतिपादन करता है। ये मन्त्र 'क', 'ह' एवं 'कह' से प्रारम्भ होते हैं। क एवं ह के संयोग से कहादि निर्मित होता है। यह तन्त्र 'साहं', 'सोऽहं' की अनुभूति का उद्देश्य लेकर प्रवृत्त होता है। यह तन्त्र यह प्रतिपादित करता है कि हमारे शरीर का प्रत्येक तत्त्व एक दिव्य सत्ता है और हमारी सम्पूर्ण सत्ता अनेक Dynamic forces एवं देवताओं का अधिष्ठान है। प्रत्येक देवता का अपना पृथक् यन्त्र (चक्र), पृथक् मन्त्र एवं पृथक् ध्यान है। जैसे कि श्रीयन्त्र ललिता शक्ति का यन्त्र है। श्रीयन्त्र के ऊर्ध्ववर्ती त्रिकोण शिव के हैं एवं अधोवर्ती त्रिकोण शक्ति के हैं। ये त्रिकोण सृष्टि, स्थिति, रक्षा एवं संहार के प्रतिनिधि हैं और ब्रह्माण्ड के संक्षिप्त रूप हैं। प्रत्येक भक्त की साधना का लक्ष्य होता है कि वह गम्भीर एकाग्रता एवं गम्भीर ध्यान एवं जप के द्वारा शक्ति के साथ तादात्म्य प्राप्त कर सके। चक्र का केन्द्रीय बिन्दु 'बिन्दु' कहलाता है और यह शिव-शक्ति या कामेश्वर-कामेश्वरी के सामरस्य का द्योतक है।

इसमें दो क्रमों का वर्णन किया गया है— सृष्टिक्रम एवं संहारक्रम या लयक्रम।

बिन्दु पर ध्यान आकृष्ट करते हुये ऊर्ध्ववर्ती त्रिकोणों पर ध्यान आकृष्ट करना सृष्टि-क्रम है और भूपुर से बिन्दु की ओर ध्यानाकर्षण लयक्रम है। त्रिपुरा का मन्त्र है— 'हं श्रीं महात्रिपुरासुन्दरी नमः'।

प्रत्येक विचारतरंग (Thought wave) मस्तिष्क को प्रभावित करता है और प्रत्येक मानसिक स्पन्दन एवं शक्तिशाली संवेग (Emotions) आत्मा को प्रभावित करता है।

अष्टाविंश अध्याय

त्रिपुरतापिन्युपनिषत्प्रोक्त नवात्मक चक्रस्वरूप

क. श्रीचक्र का अनुलोमक्रम—

१. देवा ह वै भगवत्तमब्रुवन् महाचक्रनायकं नो ब्रूहीति सार्वकामिकं सर्वाराध्यं सर्वरूपं विश्वतोमुखं मोक्षद्वारं यद्योगिन उपविश्य परंब्रह्म भित्वा निर्वाणमुपविशन्ति।।१५।।

२. तान् होवाच भगवान् श्रीचक्रं व्याख्यास्याम इति।।१६।।

३. त्रिकोणं त्र्यश्रं कृत्वा तदन्तर्मध्यवर्तिमानयष्टिरेखामाकृष्य विशालं नीत्वाऽग्रतो योनिं कृत्वा पूर्वयोन्यग्ररूपिणीं मानयष्टिं कृत्वा तां सर्वोर्ध्वां नीत्वा योनिं कृत्वाऽऽद्यं त्रिकोणं चक्रं भगवती द्वितीयमन्तरालं भवति तृतीयमष्टयोन्यङ्कितं भवति।।१७।।

४. अथाष्टारचक्राद्यन्तविदिक्कोणाग्रतो रेखां नीत्वा साध्याद्याकर्षणबद्धरेखां नीत्वेत्येवमथोर्ध्वसम्पुटयोन्यङ्कितं कृत्वा कक्षाभ्य ऊर्ध्वगरेखाचतुष्टयं कृत्वा यथाक्रमेण मानयष्टिद्वयेन दशयोन्यङ्कितचक्रं भवति।।१८।।

५. अनेनैव प्रकारेण पुनर्दशारचक्रं भवति।।१९।।

६. मध्यत्रिकोणाग्रचतुष्टयाद्रेखाचतुष्टयाग्रकोणेषु संयोज्य तद्दशारांशतो नीतां मानयष्टिरेखां योजयित्वा चतुर्दशारं चक्रं भवति।।

७. ततोऽष्टपत्रसंवृतं चक्रं भवति, षोडशपत्रसंवृतं चक्रं भवति, पार्थिवं चक्रं चतुर्द्वारं भवति।।२१।।

८. एवं सृष्टियोगेन चक्रं व्याख्यातम्।।२२।। (त्रिपुरातापिन्युपनिषत्)

अन्य ग्रन्थों में श्रीचक्र के स्वरूप का इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

---

१. रुद्रयामल में श्रीचक्र को अग्नीषोमात्मक एवं सोमसूर्यानलात्मक कहा गया है। पूर्ण विवरण इस प्रकार दिया गया है—

पृश्नयो नाम मुनयः सर्वे चक्रसमाश्रयाः। सेवमानाश्चक्रविद्यां देवगन्धर्वपूजिताम्।।
अग्नीषोमात्मकं चक्रमग्नीषोममयं जगत्। अग्नावन्तर्बभौ भानुः अग्नीषोममयं स्मृतम्।।
त्रिखण्डमातृकाचक्रं सोमसूर्यानलात्मकम्। त्रिकोणं बैन्दवं सौम्यमष्टकोणञ्च मित्रकम्।।
चक्रं चन्द्रमयं चैव दशारद्वितयं तथा। चतुर्दशारं वह्नेस्तु चतुश्चक्रञ्च भानुमत्।।
एतत्प्रसादादिन्द्राद्याः वसवोऽष्टौ मरुद्गणाः। ये ये समृद्धा लोकेस्मिन् त्रिपुराचक्रसेवकाः।।
पुरत्रयञ्च चक्रस्य सोमसूर्यानलात्मकम्। महालक्ष्म्याः पुरं चक्रं तत्रैवास्ते सदाशिवः।।

श्रीचक्र के प्रस्तारत्रय

मेरुप्रस्तार	कैलासप्रस्तार	भूप्रस्तार
(नित्याषोडशतादात्म्य)	(मातृकातादात्म्य)	(वशिन्यादिप्रस्तार)

बिन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्मं मन्वश्रनागदलसंयुतषोडशारम्।
वृत्तत्रयञ्च धरणीसदनत्रयञ्च श्रीचक्रमेतदुदितं परदेवतायाः।।[1]

ख. प्रतिलोमक्रम से चक्रों की स्थिति और उनका स्वरूप—

१. नवात्मकं चक्रं प्रातिलोम्येन वा वच्मि। प्रथमं चक्रं त्रैलोक्यमोहनं भवति, साऽणिमाद्यष्टकं भवति, समात्रष्टकं भवति, ससर्वसंक्षोभिण्यादिदशकं भवति, सप्रकटं भवति, त्रिपुरयाऽधिष्ठितं भवति, ससर्वसंक्षोभिणीमुद्रया जुष्टं भवति।।२३।।

२. द्वितीयं सर्वाशापरिपूरकं चक्रं भवति, सकामाद्याकर्षिणी षोडशकं भवति, सगुप्तं भवति, त्रिपुरेश्वर्याऽधिष्ठितं भवति, सर्वविद्राविणीमुद्रया जुष्टं भवति।।२४।।

३. तृतीयं सर्वसंक्षोभणं चक्रं भवति, सानङ्गकुसुमाद्यष्टकं भवति, सगुप्ततरं भवति, त्रिपुरसुन्दर्याऽधिष्ठितं भवति, सर्वाकर्षिणीमुद्रया जुष्टं भवति।।२५।।

४. तुरीयं सर्वसौभाग्यदायकं चक्रं भवति, सर्वसंक्षोभिण्यादिद्विसप्तकं भवति, ससम्प्रदायं भवति, त्रिपुरवासिन्याऽधिष्ठितं भवति, ससर्ववशङ्करीमुद्रया जुष्टं भवति।।२६।।

५. पञ्चमं तुरीयान्तं सर्वार्थसाधकं चक्रं भवति, ससर्वसिद्धिप्रदादिदशकं भवति, सकलकौलं भवति, त्रिपुरामहालक्ष्म्याऽधिष्ठितं भवति, महोन्मादिनीमुद्रया जुष्टं भवति।।२७।।

६. षष्ठं सर्वरक्षाकरं चक्रं भवति, ससर्वज्ञत्वादिदशकं भवति, सनिगर्भं भवति, त्रिपुर-मालिन्याऽधिष्ठितं भवति, महाङ्कुशमुद्रया जुष्टं भवति।।२८।।

७. सप्तमं सर्वरोगहरं चक्रं भवति, सवशिन्याद्यष्टकं भवति, सरहस्यं भवति, त्रिपुर-सिद्ध्याऽधिष्ठितं भवति, खेचरीमुद्रया जुष्टं भवति।।२९।।

८. अष्टमं सर्वसिद्धिप्रदं चक्रं भवति, साऽऽयुधचतुष्टयं भवति, सपरापररहस्यं भवति त्रिपुराम्बयाऽधिष्ठितं भवति, बीजमुद्रया जुष्टं भवति।।३०।।

९. नवमं चक्रनायकं सर्वानन्दमयं चक्रं भवति, सकामेश्वर्यादित्रिकं भवति, सातिरहस्यं भवति महात्रिपुरसुन्दर्याऽधिष्ठितं भवति, योनिमुद्रया जुष्टं भवति।।३१।।

सङ्क्रामन्ति वै सर्वाणि छन्दांसि चक्राराणि तदेव चक्रं श्रीचक्रम्।।३२।।

(त्रिपुरातापिन्युपनिषत्)

---

[1] श्रीचक्र में ९ त्रिकोण हैं। भास्करराय इन्हें तीन शीर्षों में विभाजित करते हैं, जो कि सृष्टि, स्थिति एवं संहाररूपात्मक हैं। इस प्रकार प्रत्येक के निम्न तीन वर्ग बन जाते हैं—

१. सृष्टि-सृष्टि, सृष्टि-स्थिति, सृष्टि-संहार।

२. स्थिति-सृष्टि, स्थिति-स्थिति, स्थिति-संहार।

३. संहार-सृष्टि, संहार-स्थिति, संहार-संहार।

सोम को सृष्टि, सूर्य को स्थिति एवं अग्नि को संहार कहा गया है।

१. त्रैलोक्यमोहन चक्र— सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा।
२. सर्वाशापरिपूरक चक्र — सर्वविद्राविणी मुद्रा।
३. सर्वसंक्षोभण चक्र — सर्वाकर्षिणी मुद्रा।
४. सर्वसौभाग्यदायक चक्र — सर्ववशंकरी मुद्रा।
५. सर्वार्थसाधक चक्र— महोन्मादिनी मुद्रा।
६. सर्वरक्षाकर चक्र— महांकुश मुद्रा।
७. सर्वरोगहर चक्र— खेचरी मुद्रा।
८. सर्वसिद्धिप्रद चक्र— बीज मुद्रा।
९. सर्वानन्दमय चक्र (मन्त्रनायक)— योनि मुद्रा। (त्रिपुरातापिन्युपनिषत्)

एकोनत्रिंश अध्याय

श्रीचक्र और उसका रहस्यात्मक पक्ष

क. भावनोपनिषद् की दृष्टि— भावनोपनिषद् में कहा गया है कि श्रीचक्र नव चक्रों की समष्टि है, वह नवचक्रात्मक है— 'नवचक्ररूपं श्रीचक्रम्'।

शरीर एवं श्रीचक्र में अभिन्नता— आचार्य भास्करराय अपने भावनोपनिषद्भाष्य में कहते हैं कि अपनी देह नवचक्रात्मक (त्रैलोक्यमोहन आदि चक्रों से युक्त) श्रीचक्र से अभिन्न है— 'स्वकीयो देह एव त्रैलोक्यमोहनादिनवचक्रसमष्टिरूप-श्रीचक्राभिन्नः'।[१]

श्रीचक्र में जो अवान्तर चक्र हैं वे आवरणदेवता के स्थानों से व्यक्त होते हैं। नित्याषोडशिकार्णव में इनका रहस्योद्घाटन अवश्य किया गया है; किन्तु तन्त्रराजतन्त्र में नहीं। (भावनोपनिषद्, सूत्र-१०)

श्रीचक्र की पूजा— भावनोपनिषद् में कहा गया है कि ज्ञान अर्घ्य है, ज्ञेय हवि है, ज्ञाता होता है, और ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय में अभेदभावना ही श्रीचक्र की पूजा है— 'ज्ञानमर्घ्यं ज्ञेयं हविः ज्ञाता होता ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामभेदभावनं श्रीचक्रपूजनम्'। (सूत्र-१०)

तन्त्रराजतन्त्र में भी कहा गया है—

ज्ञाता स्वात्मा भवेद् ज्ञानमर्घ्यं ज्ञेयं हविः स्थितम्।
श्रीचक्रपूजनं तेषामेकीकरणमीरितम्।।

ज्ञान = घटादिक का ज्ञान। अर्घ्य = पूजासामग्री सम्बन्धी वस्तु। ज्ञेय = बाह्य विषयमात्र। ('ज्ञान' घटादिज्ञानपर। अर्घ्य' पूजासामग्रीपर। 'ज्ञेय' बाह्यविचारपर)।

समस्त इदन्ताविषयक वस्तुयें श्रुतियों में हविषट्क में सम्मिलित मानी जाती हैं। इसी में नैवेद्य भी गृहीत है।

अभेदभावना ही पूजा है— अहन्ताविषयक ज्ञाता पूजक एवं देवता चिद्रूपा है। स्वात्मा एवं चैतन्य तो अभिन्न है। ज्ञान-ज्ञातृ-ज्ञेय तीनों चिन्मात्र हैं; अतः तीनों में अभेदा-नुसन्धान विभावनीय है।

सांसारिक लोक-प्रणाली में तो विशेषार्घ्यरूप जलबिन्दु एवं नैवेद्य के समर्पण को ही पूजा कहा जाता है— 'देवतायां समर्पणरूपसम्बन्ध एव पूजा'; किन्तु प्रकृत प्रकरण में ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता तीनों के साथ चिति शक्ति के तादात्म्य सम्बन्ध का अनुसन्धान ही पूजा है। 'अभेदभावनं' (भावनोपनिषद्) का तात्पर्य यही है। (सूत्र-११)

---

१. भास्करराय : भावनोपनिषद्भाष्य— शरीर में २ नेत्र, २ कान, नाक के २ छिद्र, १ मुख (जिह्वा), १ पायु, १ उपस्थ—ये ९ छिद्र हैं। इसी प्रकार श्रीचक्र में भी ४ श्रीकण्ठ एवं ५ शिवयुवती चक्र— ये ९ प्रकृतिस्वरूप त्रिकोण हैं।

दश सिद्धियाँ : त्रैलोक्यमोहन चक्र— 'नियतिः शृङ्गारादयो रसा अणिमादयः' (भावनोपनिषद्) अर्थात् नियतिसहित शृंगार, वीभत्स, रौद्र, अद्भुत, भयानक, वीर, करुण एवं शान्त— ये नव रस ही त्रैलोक्य-मोहन के प्रथम बहिः चतुष्कोण पर स्थित अणिमा, लघिमा, महिमा, ईशित्व, प्राकाम्य, भुक्ति, इच्छा, प्राप्ति एवं मुक्तिरूप दश सिद्धियाँ हैं।

'कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यपुण्यपापमया ब्राह्म्याद्यष्टशक्तयः'।।

(सूत्र-१२)

अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, पुण्य और पाप ही मध्य चतुष्कोणस्था ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, माहेन्द्री, चामुण्डा एवं महालक्ष्मी आठ मातृ-देवता हैं।

सर्वाशापरिपूरक चक्र— 'पृथिव्यापस्तेजोवाय्वाकाशश्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाक-न्पाणिपायूपस्थविकाराः'। (सूत्र-१३)

आशय यह है कि पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ एवं अन्य मनोविकार ही सर्वाशापरिपूरक (द्वितीयावरण) के १६ दलों पर स्थित कामाकर्षिणी, बुद्ध्याकर्षिणी, अहंकाराकर्षिणी, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाकर्षिणी, चित्ताकर्षिणी, धैर्याकर्षिणी, स्मृत्याकर्षिणी, नामाकर्षिणी, बीजाकर्षिणी, आत्माकर्षिणी, अमृताकर्षिणी और शरीराकर्षिणीरूप १६ नित्या कला गुप्त योगिनियाँ हैं।

सर्वसंक्षोभण चक्र— 'वचनादानगमनविसर्गानन्दहानोपादानोपेक्षाबुद्धयोऽनङ्गकुसु-मादिशक्तयोऽष्टौ'। (सूत्र-१४)

अर्थात् बोलना, पकड़ना, जाना, मल-मूत्र का विसर्जन करना, मैथुन का आनन्द लेना, हान और उपादान एवं उपेक्षाबुद्धि ही सर्वसंक्षोभणसंज्ञक तृतीयावरण के आठ दलों पर स्थित अनंगकुसुमा, मेखला, मदना, मदनातुरा, रेखा, वेगिनी, अंकुशा एवं मालिनीरूप ८ गुप्ततर योगिनियाँ हैं।

चतुर्दशार चक्र— 'अलम्बुसाकुहुर्विश्वोदरीवरुणाहस्तिजिह्वायशस्वत्यश्विनीगान्धारी-पूषाशङ्खिनीसरस्वतीडापिङ्गलासुषुम्ना चेति चतुर्दशनाड्यः सर्वसंक्षोभिण्यादिचतुर्दशारदेवताः'।

(सूत्र-१५)

अलम्बुसा, कुहू, विश्वोदरी, वरुणा, हस्तिजिह्वा, यशस्वती, अश्विनी, गान्धारी, पूषा, शंखिनी, सरस्वती, इडा, पिंगला एवं सुषुम्ना— ये चौदह नाड़ियाँ ही चतुर्दश सर्व-सौभाग्यदायक (चतुर्थ चतुर्दशार आवरण) के १४ त्रिकोणों पर स्थित सर्वसंक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्वाह्लादिनी, सर्वसम्मोहिनी, सर्वस्तम्भिनी, सर्वजृम्भिणी, सर्ववशंकरी, सर्वरञ्जनी, सर्वोन्मादिनी, सर्वार्थसाधिनी, सर्वसम्पत्तिपूरिणी, सर्वमन्त्रमयी एवं सर्वद्वन्द्वक्षयंकरी नाम वाली १४ सम्प्रदाययोगिनियाँ हैं।

बहिर्दशसार चक्र— 'प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जया: दश वायव: सर्वसिद्धिप्रदादिबहिर्दशारदेवता:'। (सूत्र-१६)

प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय— ये १० वायु ही बहिर्दशार चक्रगत पञ्चमावरण के १० त्रिकोणों पर स्थित सर्वसिद्धिप्रदा, सर्वसम्पत्प्रदा, सर्वप्रियंकरी, सर्वमंगलकरी, सर्वकामप्रदा, सर्वदु:खविमोचिनी, सर्वमृत्यु-प्रशमनी, सर्वविघ्ननिवारिणी, सर्वांगसुन्दरी एवं सर्वसौभाग्यदायिनी १० कुलोत्तीर्ण योगिनियाँ हैं।

'एतद्वायुसंसर्गकोपाधिभेदेन रेचक: पाचक: शोषको दाहक: प्लावक: इति प्राणमुख्यत्वेन पञ्चधा जठराग्निर्भवति'। (सूत्र-१७)

उक्त दस वायुओं के संसर्ग की उपाधि के भेद से जो रेचक, पूरक, शोषक, दाहक, प्लावक, पञ्च प्राणादि की अमृतरूपी, पालन करने वाली क्रियायें हैं और क्षारक, दारक, क्षोभक, मोहक, जृम्भक ५ क्रियायें (जो पालन नहीं करतीं) नागादि की क्रियायें हैं, जिनसे मनुष्यों का मोहक-दाहक, खाया-पीया, भक्ष्य, लेह्य, चोष्य और पेय चतुर्विध अन्त:भोज्यों का पाचन होता है।

'क्षारक उद्गारक: क्षोभको जृम्भको मोहक इति नागप्राधान्येन पञ्चविधास्ते मनुष्याणां देहगा: भक्ष्यभोज्यचोष्यलेह्यपेयात्मकं पञ्चविधमन्नं पाचयन्ति'। (सूत्र-१८)

अर्थात् क्षारक, उद्गारक, क्षोभक, जृम्भक एवं मोहक— इस प्रकार की जो नाग-प्रधान क्रियायें हैं, उनसे शरीरसम्बद्ध भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य, पेयरूप पञ्चविधात्मक खाद्य सामग्रियों का पाचन हुआ करता है।

सर्वरक्षाकर अन्तर्दशार चक्र— 'एता दश वह्निकला: सर्वज्ञाद्या अन्तर्दशारगा देवता:'। (सूत्र-१९)[१]

सर्वरक्षाकरसंज्ञक छठे अन्तर्दशार चक्र की सर्वज्ञा, सर्वशक्तिप्रदा, सर्वैश्वर्यप्रदा, सर्वज्ञानमयी, सर्वव्याधिविनाशिनी, सर्वाधारस्वरूपा, सर्वपापहरा, सर्वानन्दमयी, सर्वरक्षा-स्वरूपिणी एवं सर्वेप्सितफलप्रदा— ये १० वह्निकलायें निगर्भ योगिनियाँ हैं।

सर्वरोगहर अष्टार चक्र— 'शीतोष्णसुखदु:खेच्छा: सत्त्वरजस्तमोगुणा: वशिन्यादि-शक्तयोऽष्टौ'। (सूत्र-२०)

शीत, ऊष्ण, सुख, दु:ख, इच्छा, सत्त्व, रजोगुण एवं तमोगुणसंज्ञक अष्टारचक्र सप्तमावरण के अष्ट त्रिकोणों पर स्थित वशिनी, कामेश्वरी, मोदिनी, विमला, अरुणा, जयनी, सर्वेश्वरी और कौलिनी वाग्देवता अष्ट रहस्ययोगिनियाँ हैं ।

१. तन्त्रराजतन्त्र में भी १० वायुओं को सर्वार्थसाधकचक्र के देवताओं से अभिन्न बताया गया है—

नाड्यश्चतुर्दश प्रोक्ता: क्षोभिण्याद्यास्तु शक्तय:।
वायवो दश सम्प्रोक्ता सर्वसिद्ध्यादिशक्तय:।।

सर्वसिद्धिप्रद चक्र— 'अव्यक्तमहदहङ्कारा: कामेश्वरी-वज्रेश्वरी-भगमालिन्योऽन्तस्त्रि-कोणगा देवता:'। (सूत्र-२५)

अव्यक्त, महत्तत्त्व एवं अहंकार ही तीनों कामेश्वरी, वज्रेश्वरी एवं भगमालिनी देवियाँ हैं। इनका स्थान सर्वसिद्धिप्रद (अष्टमावरण) के मध्य त्रिकोण के अग्र भागों पर है।

'पञ्चदशतिथिरूपेण कालस्य परिणामावलोकनं पञ्चदशनित्या [१]श्रद्धाऽनुरूपाधिदेवता'।
(भास्करभाष्य में अनुपलब्ध भावनोपनिषत्सूत्र)

काल के परिणाम को प्रदर्शित करनेवाली पञ्चदश तिथियाँ ही पञ्चदश नित्यायें हैं। श्रद्धानुरूपा बुद्धि ही देवता है।

यहाँ प्रयुक्त अव्यक्त, महद् एवं अहंकार शब्द सांख्य दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं और ये बुद्धि तथा प्रकृति के द्योतक हैं— 'अव्यक्ताहंकृतिमदाकारा: प्रतिलोमत: कामेश्व-र्यादिदेव्य: स्यु:'।

तिथियों एवं नित्याओं में अभिन्नता— 'पञ्चदशतिथिरूपेण कालस्य परिणामा-वलोकनं पञ्चदशनित्या:'। (सूत्र-३३)

१५ तिथियों के रूप में काल का परिणामावलोकन ही १५ नित्यायें हैं।

प्रपञ्च के तीन भेद हैं— कालरूप, देशरूप एवं उभयरूप।

कालरूप प्रपञ्च क्या है? चन्द्रमण्डलनिष्ठ सादाख्य कला से अतिरिक्त दर्शा, दृष्टा, दर्शता (तै. ब्रा.-३.१०.१) आदि श्रुति-परिगणित १५ कलायें हैं। प्रतिपदा से पूर्णिमा तिथिपर्यन्त समस्त तिथियाँ कामेश्वरी आदि नित्याओं से अभिन्न हैं। सादाख्या ही ललिता हैं— 'सादैव तु ललिता'।

इस प्रकार के नित्य परिवर्तनशील कालरूप तिथिचक्र का आन्तर रूप ही श्रीचक्र में स्थित है, बाह्य रूप नहीं।

भूगोल की दृष्टि से यदि विचार करें तो उत्तर भाग में मेरु पर्वत स्थित है और उसके दक्षिण में जम्बू-प्लक्ष-शाल्मलि-कुश-क्रौंच-शाक-पुष्क नामक सप्त द्वीप स्थित हैं। उनके अन्तराल में वलयाकाराकारित लवण-इक्षु-सुरा-सर्पि-मधु-क्षीर के छ: समुद्र स्थित हैं। पुष्क के बाहर मधुरोद सप्तम समुद्र है। उसके भी दक्षिण में परम व्योम है। इस प्रकार सोलह देवता स्थित हैं। उन मेरु से व्योमपर्यन्त रचनाओं में क्रमश: ललिता आदि नित्यायें युग के प्रथम वर्ष में स्थित हैं। द्वितीय वर्ष में वे जम्बूद्वीप से मेरुपर्यन्त चली जाती हैं। तृतीय वर्ष में लवणसागर से जम्बू द्वीपपर्यन्त में और इसी प्रकार क्रमश: १६वें वर्ष में परव्योम से मधुर समुद्रान्त देशों में ललिता आदि १६ नित्यायें स्थित होती हैं।

इस प्रकार १६-१६ वर्षों में नित्याओं की एक परिवृत्ति हुआ करती है । भूगोल के

---

१. 'श्रद्धानुरूपा धीर्देवता' इति पाठभेद:।

ऊपर-नीचे वलयित चन्द्रमा, बुध, शुक्र, रवि, भौम, गुरु एवं शनि की नक्षत्रकक्षायें आठ हैं और उसके अन्तराल में भी आठ हैं और इस प्रकार १६ देश कालचक्ररूप में स्थित उन स्थानों में देशपरिवृत्ति के विपरीतक्रम में १६ नित्यायें परिवर्तित होती हैं। इस चक्र के अन्तर में ही श्रीचक्र है, बाहर नहीं। इस प्रकार के त्रिविधात्मक चक्र का पारमार्थिक रूप नित्याचक्र ही है। ब्रह्मातिरिक्त सभी देशकालावच्छिन्न समस्त भेदरूप विराट प्रपञ्च नित्यारूपात्मकमात्र है।

नित्याओं का जगत् एवं स्वस्वरूप के साथ अभिन्नता— उन नित्याओं को अपनी आत्मा से अभिन्न रूप में ही ग्रहण करना चाहिये। कहा भी है—

अथ षोडशनित्यानां स्वात्मत्वे वासनां शृणु।
यया तन्मयतासिद्धिः प्रत्यक्षा भवति ध्रुवम्।।

तिथिरूपेण कालस्य परिणामावलोकनम्।
नित्याः पञ्चदशान्यास्स्युरिति प्रोक्तास्तु वासनाः।।

तन्त्रराजतन्त्र में इसकी सविस्तार विवेचना की गई है ।

'काल ही प्रपञ्च के रूप में परिणत हो जाता है' इस प्रकार की विभावना ही पञ्चदश नित्याओं की विभावना है। उनमें भगवती त्रिपुरसुन्दरी अभिन्न रूप से अवस्थित हैं।

वस्तुतः समस्त तिथियाँ इक्कीस हजार छः सौ श्वासों के रूप में काल ही विद्यमान है। भगवती ललिता उनकी समष्टि का विग्रह है। अन्य १५, चौदह सौ चालीस श्वासरूप हैं। आवरण-पूजा में यह पक्षद्वयात्मिका भावना विभावनीय है।

मनस्तम्भ हो जाने पर स्वात्ममात्र विश्रान्ति की अवस्था में श्वासस्तम्भ या देवता के रश्मिविलापन का विसर्जनकाल ही मन-पवन दोनों का स्तम्भकाल है।[१]

इस सम्पूर्ण विवेचना में अन्तश्चक्रभावना का निरूपण कादिमतानुगता है— 'कादिमते-नान्तश्चक्रभावनाः प्रतिपादिताः'। (सूत्र-३५)

काल के परिणाम को प्रदर्शित करने वाली १५ तिथियाँ १५ नित्यायें ही हैं। जहाँ तक श्रद्धानुरूप बुद्धिदेवता की बात है, उसमें सदानन्दाघना, परिपूर्ण स्वात्मारूप कामेश्वरी ही निवास करती है और वे तदात्मक रूप में अवस्थित हैं। इनका स्थान सर्वानन्दमय चक्र (नवमावरण) का बिन्दुस्थान है। इसे ही ललितामहात्रिपुरसुन्दरी परपरातिरहस्ययोगिनी कहते हैं।

भावनोपनिषद के अनुसार वाराही शक्ति पितृरूपा है— 'वाराही पितृरूपा'। कुरुकुल्ला बलिदेवता माता है— 'कुरुकुल्ला बलिदेवता माता' (सूत्र-४) और पुरुष ही सागर है— 'पुरुषार्थास्सागराः' (सूत्र-५)।

---

१. भास्करराय : भावनोपनिषद्भाष्य।

पिता-माता का रहस्यात्मक स्वरूप— 'वाराही पितृरूपा कुरुकुल्ला बलिदेवता माता'।[१] (सूत्र-४)

अपने शरीर में ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय एवं बुद्धि आदि में संक्रान्त जो पिता-माता के अंशविशेष हैं, वे अस्थि एवं मांसादिरूप हैं। उन्हें वाराही एवं कुरुकुल्ला के रूप में कल्पित करना चाहिये। पिता-माता : वाराही-कुरुकुल्ला : अस्थि-मांसादिरूपा। वाराही स्त्री अवश्य हैं, किन्तु उनका मुख पितृरूप है।

पुरुषार्थचतुष्टय का स्वरूप— 'भावनोपनिषद: पुरुषार्थस्सागरा:'। (सूत्र-५)

इक्षु-घृत-क्षीर-मधु के सागर ही धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप पुरुषार्थचतुष्टय हैं। पश्चिम से उत्तरान्त दिशाओं में विद्यमान इक्षु-घृत-क्षीर एवं मधु के सभी समुद्र पुरुषार्थचतुष्टय का प्रतिनिधित्व करते हैं। तन्त्रराजतन्त्र में कहा भी गया है—

बलिदेव्य: स्वमाया: स्यु: पञ्चमी जनकात्मिका।
कुरुकुल्ला भवेन्माता पुरुषार्थास्तु सागरा:।।

कुरुकुल्ला बलिदेवता हैं। शक्तियों का व्यापार है। अतस्मिंस्तद् बुद्धि का जनन। ये उन्मार्गप्रवर्तिका हैं। मनोरमाकार का कथन है कि ये सभी माया हैं। श्रीसम्प्रदाय की समस्त उपासना के मुख्य आधार विद्या एवं श्रीचक्र हैं और इसके केन्द्र में स्थित हैं— भगवती महात्रिपुरसुन्दरी।

तन्त्रराजतन्त्र में श्रीचक्र का रहस्यात्मक विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

चक्रों के नाम	**शक्तियाँ**	**भास्कररायकृत वर्गीकरण**
१. त्रैलोक्यमोहन	भूपुर	सृष्टि-सृष्टि
२. सर्वाशापरिपूरक	षोडश दल	सृष्टि-स्थिति
३. सर्वासंक्षोभण चक्र	अष्टदल	सृष्टि-संहार
४. सर्वसौभाग्यदायक चक्र	चतुर्दशार	स्थिति-सृष्टि
५. सर्वार्थसाधक चक्र	बहिर्दशार	स्थिति-स्थिति
६. सर्वरक्षाकर चक्र	अन्तर्दशार	स्थिति-संहार
७. सर्वरोगहर चक्र	अष्टकोण	संहार-सृष्टि
८. सर्वसिद्धार्थप्रद चक्र	त्रिकोण	संहार-स्थिति
९. सर्वानन्दमय चक्र	बिन्दु	संहार-संहार

इन नौ चक्रों की योगिनियाँ निम्नांकित हैं—

१. प्रकट	४. सम्प्रदाया	७. रहस्या
२. गुप्त	५. कुलकौला	८. परापररहस्या
३. गुप्ततरा	६. निगर्भा	९. अतिरहस्या

१. भास्करराय : भावनोपनिषद्भाष्य।

नौ देवियों के नाम निम्नांकित हैं—

१. त्रिपुरा	४. त्रिपुरवासिनी	७. त्रिपुरसिद्धा
२. त्रिपुरेशी	५. त्रिपुरस्त्री	८. त्रिपुराम्बा
३. त्रिपुरसुन्दरी	६. त्रिपुरमालिनी	९. महात्रिपुरसुन्दरी

▼

त्रिंश अध्याय

मानवशरीर और श्रीयन्त्र

मानवशरीर ब्रह्माण्ड की प्रतिमूर्ति है। जितनी शक्तियाँ या विभूतियाँ इस समस्त विश्व का सञ्चालन करती हैं, वे सभी सूक्ष्म रूप से पिण्डाण्ड (मानवशरीर) में भी विद्यमान है। तान्त्रिक उपासना का लक्ष्य है— अद्वैतसिद्धि। तान्त्रिक साधक विश्व एवं इष्टदेव की मूर्ति में भी अभेद मानते हैं— विश्व इष्टदेव का शरीर है। यन्त्रों के द्वारा इसी तादात्म्य की स्थापना की जाती है। विश्व, इष्टदेव एवं साधकशरीर— इन तीनों का यन्त्र से अभिन्न सम्बन्ध है; क्योंकि वह इन सभी का रेखात्मक चित्र है। आचार्य अगस्त्य 'शक्तिसूत्र' में कहते हैं— 'शरीरं श्रीचक्रम्'।

श्रीचक्र एवं शरीरचक्रों में ऐक्य

शरीरावयव	चक्र-नाम	दलसंख्या	श्रीचक्र के अवयवों के नाम
१. भ्रूमध्य	आज्ञाचक्र	द्विदल	बिन्दु,
२. लम्बिका	इन्द्रयोनि	अष्टदल	त्रिकोण
३. कण्ठ	विशुद्धि	षोडशदल	अष्टकोण
४. हृदय	अनाहत	द्वादशदल	अन्तर्दशार
५. नाभि	मणिपूर	दशदल	बहिर्दशार
६. बस्ति	स्वाधिष्ठान	षड्दल	चतुर्दशार
७. मूलाधार	मूलाधार	चतुर्दल	अष्टदल
८. तदधोदेश	कुल	षड्दल	षोडशदल
९. तदधोदेश	अकुल	सहस्रदल	भूपुर
१०. ब्रह्मरन्ध्र में स्थित महाबिन्दु सहस्रार है।			

समस्त चक्रों का महाबिन्दु में अनतिर्भाव है। जैसे कि एक ही बिन्दु में श्रीचक्र के नवों चक्रों का अन्तर्भाव है, उसी प्रकार एक ही सहस्रारात्मक बिन्दु में शरीरस्थ सभी षट् चक्रों का भी अन्तर्भाव है। बिन्दु, मूलाधार आदि चक्रों की समष्टि जगत् की सृष्टि-स्थिति एवं संहार का कारण शिव की एक शक्तिमात्र है। वह एक होकर भी सहस्रदल कमल के मध्य चार द्वारों से निर्मित कर्णिका के मध्य चतुष्कोणात्मक शक्तितत्त्व के रूप में स्थित है। उसके मध्य में नाद स्थित है और वह भी चार प्रकार का है। यह बिन्दु ही १० भागों में विभक्त होकर मूलाधार में चार एवं स्वाधिष्ठान में छः दलों के रूप में स्थित है।

१. षोडश दल + चतुर्दशार = स्वरमय।
२. दशारद्वय = 'क' से 'न' = २० वर्ण।
३. अष्टार = अन्त:स्थ + ऊष्मस्थ।
४. चतुरस्त्र = 'प' से 'म' पर्यन्त वर्णयुक्त।
५. अष्टदल = अ-क-च-ट-त-प आदि वर्गाष्टकमय।
६. बिन्दु = क्षकाररूप।
७. त्रिकोण = मकाररूप।

महाबिन्दु = क्षकार + मकार की समष्टि।

शरीरचक्र— कण्ठ में स्वर । हृदय में 'क' से 'ठ' पर्यन्त वर्ण । नाभि में 'ड' से 'क'। स्वाधिष्ठान में 'ब' से 'ल' पर्यन्त वर्ण। मूलाधार में 'व' से 'स'। आज्ञा में 'ह + क्ष' वर्ण। पाँच शक्तिचक्र = त्रिकोण, अष्टार, अन्तर्दशार, बहिर्दशार, चतुर्दशार। चार शिव-चक्र = बिन्दु, अष्टदल, षोडश दल, भूपुर (चतुरस्त्र)।

एकत्रिंश अध्याय

मन्त्र-यन्त्र तथा चक्रों का अन्तस्सम्बन्ध

खण्डनाम	श्रीयन्त्र-भाग	सुषुम्नागत चक्र	मन्त्रकूट	मन्त्राक्षर
सोमखण्ड	चतुर्दशार-अष्टदल-षोडशदल	विशुद्ध-आज्ञा	शक्तिकूट	स्वर
सूर्यखण्ड	दशारद्वय	मणिपूर-अनाहत	कामराजकूट	कादि वर्ण
अग्निखण्ड	त्रिकोण-अष्टार	मूलाधार-स्वाधिष्ठान	वाग्भवकूट	यवर्गीय वर्ण
बैन्दवखण्ड	तीन वृत्त-भूपुर	सहस्रसार	अन्तिम तूर्य	नाद
बिन्दु (चक्र)	नाद	श्रीचक्र के भाग		
मूलाधार	परा	त्रिकोण		
स्वाधिष्ठान	पश्यन्ती	अष्टार		
मणिपूर (हृदय)	मध्यमा	दशारद्वय		
विशुद्ध	वैखरी	चतुर्दशार		
आज्ञा	नाद-नादान्त	शिवचतुष्कोण		
सहस्रार	नादबिन्दु-कलातीत	भगवती त्रिपुरसुन्दरी परासंवित्		

ऐक्य के प्रकार

मन्त्र-देवता यन्त्र-देवता पद्म-देवता कुण्डलिनी-देवता

मातृका-त्रिपुरा— भगवती मातृकास्वरूप हैं और मातृकायें भगवती का स्वरूप है। [१]१६ अक्षर = १६ नित्यायें।

हलो बिन्दुर्वर्गाष्टकमिददलं शाम्भववपुः।
चतुश्चक्रं शक्रस्थितमनुभयं शक्तिशिवयोः।। (सुभगोदयस्तुति)

---

१. त्रिखण्डे त्वन्मन्त्रे शशिसवितृवह्न्यात्मकतया।
स्वराश्चन्द्रे लीनाः सवितरि कलाः कादय इह।
यकाराद्या वह्नावथ कषयुगं बैन्दवगृहे।
निलीनं सादाख्ये शिवयुवति नित्यैन्दवकले।। (सुभगोदयस्तुति)

हल = बिन्दुस्थान (त्रिवृत्) है।

वर्गाष्टक = अष्टदल पद्म।

चार चक्र = शाम्भव शरीर। (सुभगोदयस्तुति)

'शरीरं त्वं शम्भो:'— तुम शम्भु का शरीर हो।

(श्रीचक्र भगवती का शरीर है और भगवती शम्भु का शरीर है)।

खण्ड	मन्त्रभाग	यन्त्रभाग	छः कमल	कुण्डलिनी-भाग	कूटत्रय और भगवती का सम्बन्ध
सोम खण्ड	शक्तिकूट	शिव के चार चक्र	आज्ञा एवं विशुद्ध चक्र	सोम कुण्डलिनी	चान्द्रखण्ड भगवती के कटि के नीचे का भाग
सूर्य खण्ड	कामकूट	चतुर्दशार तथा बहिर्दशार	हृदय तथा मणिपूर चक्र	सूर्य कुण्डलिनी	कामकला सौरखण्ड = भगवती के कण्ठ से कटिपर्यन्त प्रदेश
अग्नि खण्ड	वाग्भवकूट	अन्तर्दशार अष्टार सबिन्दु त्रिकोण	स्वाधिष्ठान एवं मूलाधार	अग्नि कुण्डलिनी	वाग्भव कूट = आग्नेय खण्ड = भगवती का मुख

१५ कलायें = पञ्चदशाक्षरी विद्या के १५ अक्षरों से सम्बद्ध है

१६हवीं कला = शुद्ध चिति शक्ति। चिन्मात्र सत्ता, समाधिगम्या— भगवती महात्रिपुरसुन्दरी। प्रत्येक कला १६हवीं कला (स्थिर, अस्तोदयविनिर्मुक्त कला = षोडशी कला) का अंग है। प्रत्येक कला का पूजन सोलहवीं कला के ध्यानसहित किया जाता है। सहस्रार के मध्य में चन्द्रमण्डल ही बैन्दव स्थान है।

श्रीचक्र के ऐक्य

चतुर्धा ऐक्य— १. मातृका तथा मन्त्र का ऐक्य
२. मन्त्र तथा चक्र का ऐक्य
३. चक्र एवं नित्याओं का ऐक्य
४. नित्याओं तथा चक्र का ऐक्य।

षोढा ऐक्य— १. मन्त्र और मातृकाओं का ऐक्य
२. मातृका और श्रीचक्र का ऐक्य
३. मन्त्र और नित्याओं का ऐक्य
४. मातृका और नित्याओं का ऐक्य

५. मन्त्र और चक्र का ऐक्य
६. नित्याओं एवं चक्र का ऐक्य।

श्रीचक्र भगवती त्रिपुरसुन्दरी का शरीर है।

भगवती अक्षररूपिणी या मातृकास्वरूपा हैं; अतः श्रीचक्र एवं श्रीविद्या के अक्षरसमूह भी श्रीचक्र के साथ एकाकार हैं—

अक्षर	श्रीचक्र
क्ष (क्+ष्) = बैन्दवगृह : चन्द्रमा का स्थान।	शिवचक्र : भूपुर-वृत्तत्रय-षोडशदल-अष्टदल।
क्ष = आकाश (का वाचक) १. चार शिवचक्र : भूपुर-वृत्तत्रय-षोडशदल-अष्टदल।	दशारयुग्म (बीस वर्ण) य-र-ल-व-श-ष-स-ह = 'अष्टार'। ङ-ञ-ण-न-म-अनुस्वार तथा विसर्ग = त्रिकोण एवं बिन्दु = 'बिन्दु'।
१४ = क-ख-ग-घ, च-छ-ज-झ, ट-ठ-ड-ढ,त-थ-द-ध, प-फ-ब-भ।	

शरीर में स्थित मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूर-अनाहत-विशुद्धि-आज्ञा आदि चक्र श्रीचक्र के अवयवभूत हैं।

भूपुर-त्रिवृत्-षोडशदल-अष्टदल का समूह 'सृष्टिचक्र'; चतुर्दशार-बहिर्दशार एवं अन्तर्दशारों के समूह 'स्थितिचक्र' तथा अष्टार-त्रिकोण-बिन्दु के समूह 'संहारचक्र' हैं। उनकी समष्टि में द्वितीय बिन्दु 'अनाख्या चक्र' है तथा तृतीय बिन्दु 'भासा चक्र' है।

श्रीकल्प में इन पाँचों का क्रमशः स्वाधिष्ठान-मणिपूर-अनाहत-विशुद्धि एवं आज्ञा चक्र में अन्तर्भाव माना गया है।

कालीक्रम में सृष्टिचक्र मूलाधार में स्वीकार किया गया है।

चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि।

एवं— चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।
नवचक्रैश्च संसिद्धं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः।।

की दृष्टि के अनुसार त्रिकोण-अष्टकोण-दशारद्वय-चतुर्दशार = पाँच शक्तिचक्र है तथा बिन्दु-अष्टदलकमल-षोडशदलकमल-चतुरस्रत्रय = चार शिवचक्र है। त्रिकोण से अष्टदल, अष्टार से षोडशदल, अन्तर्दशार-बहिर्दशार से भूपुर चतुर्दशार के साथ संश्लिष्ट है—

१. त्रिकोणमष्टकोणञ्च दशकोणद्वयं तथा।
चतुर्दशारं चैतानि शक्तिचक्राणि पञ्च च।। = शक्तिचक्र।

२. बिन्दुश्चाष्टदलं पद्मं पद्मं षोडशपत्रकम्।
चतुरस्रञ्च चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमात्।। = शिवचक्र।

३. त्रिकोणे बैन्दवं श्लिष्टमष्टारेऽष्टदलाम्बुजम्।
दशारयो: षोडशारं भूगृहं भुवनास्रके।। = परस्पराश्लेष।

पञ्चदशी विद्या में ककारत्रय तथा हकारद्वय शैवभाग है। ह्रींकार उभयात्मक एवं शेषाक्षर शक्त्यक्षर हैं।

कत्रयं हद्वयञ्चैव शैवो भाग: प्रकीर्तित:।
शेषाणि शक्त्यक्षराणि ह्रींकार उभयात्मक:।।

श्रीचक्र में बिन्दु का स्थान

कौलचक्र (त्रिकोण के मध्य) — समयचक्र (चतुष्कोण के मध्य)

'कौलचक्रे त्रिकोणमध्यगतो बिन्दु:। समयचक्रे चतुष्कोणमध्यगतो बिन्दु:'। कौलचक्र में कोणसंख्या नहीं होती; क्योंकि वह नवत्रिकोणात्मक है। नवों त्रिकोणों के मिलाने एवं मिलने से मर्म-सन्धियाँ आविर्भूत होती हैं।

द्वात्रिंश अध्याय

श्रीचक्र का अर्चन

सृष्टि-स्थिति-संहार के क्रम से चिन्तन करने पर श्रीचक्र के अर्चन में अधिकारवैविध्य है। कहा भी गया है—

स्थितिक्रमो गृहस्थस्य संहारो वनितो क्रमः।
ब्रह्मचारिण उत्पत्तिः स्त्रियः शूद्रस्य चेष्टतः।।

दक्षिणामूर्त्ति सम्प्रदाय— दक्षिणामूर्ति सम्प्रदाय में बिन्दु से प्रारम्भ करके भूपुरपर्यन्त अर्थात् सृष्टिक्रम से अर्चना की जाती है। स्थितिक्रम में भूपुर से आरम्भ करके अष्टारपर्यन्त और फिर बिन्दु से प्रारम्भ करके चतुर्दशारपर्यन्त पूजा की जाती है। संहारक्रम में भूपुर से आरम्भ करके बिन्दु-पर्यन्त अर्चना की जाती है। सारांश यह कि—

अर्चनाक्रम (श्रीचक्रार्चन)

सृष्टिक्रम	स्थितिक्रम	संहारक्रम
(बिन्दु से आरम्भ कर भूपुरपर्यन्त श्रीचक्र की अर्चना का साम्प्रदायिक क्रम)	(भूपुर से आरम्भ करके अष्टारपर्यन्त एवं फिर बिन्दु से आरम्भ करके चतुर्दशारपर्यन्त श्रीचक्र की अर्चना का साम्प्रदायिक क्रम)	(भूपुर से प्रारम्भ करके बिन्दुपर्यन्त श्रीचक्र की अर्चना का साम्प्रदायिक क्रम)

हयग्रीव एवं आनन्दभैरव सम्प्रदाय— हयग्रीव एवं आनन्दभैरव सम्प्रदाय के अर्चन-विधान में स्थितिक्रम में पहले बिन्दु, त्रिकोण, कामेश्वरी आदि नित्या गुरुपंक्ति का पूजन किया जाता है और फिर भूपुर से आरम्भ करके क्रमशः अष्टार, त्रिकोण आदि की पूजा की जाती है। शेष यथापूर्वार्चनवत् है।

बिन्दु से आरम्भ करके अष्टदलपर्यन्त 'सृष्टिचक्र', चतुर्दशार से आरम्भ करके अन्तर्दशारपर्यन्त 'स्थितिचक्र', अष्टार से प्रारम्भ करके बिन्दुपर्यन्त 'संहारचक्र' का विधान अर्थात् श्रीचक्र की त्रयात्मकता त्रिपुरा के त्रिपुरात्व की भी ज्ञापिका है। प्रधान नायिका के रूप में ललिता, राजराजेश्वरी, पराम्बा, त्रिपुरसुन्दरी ही मान्य हैं।

भूपुरवृत्त गुणत्रय, कालत्रय, अवस्थात्रय, लोकत्रय आदि के बोधक हैं। बिन्दु तुरीया एवं तुरीयातीतावस्था का बोधक है। पिण्ड-ब्रह्माण्ड का ऐक्य श्रीचक्र का ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड के साथ ऐक्य सूचित करता है। श्रीचक्र शब्दब्रह्म (ॐ) का प्रतीक है। अ-उ-म— प्रणव के नादबिन्दुत्रय = अवस्थाचतुष्टय, वाणीचतुष्टय तथा श्रीयन्त्र का सृष्टि-स्थिति-संहार श्रीचक्र में अन्तर्भूत है। कार्य-कारणातीत (पञ्चम स्वरूप) 'भासा' स्वयं श्रीचक्र का स्वरूप है।

श्रीचक्रार्चन

उत्तम अर्चन	मध्यम अर्चन	निम्नतम अर्चन
(निष्कल भावनात्मक)	(सकल-निष्कल भावनात्मक)	(सकल भावनात्मक)

अर्चन की भावना के प्रकार

निष्कल भावना	सकल-निष्कल भावना	सकल भावना

श्रीयन्त्र का पूजन— तन्त्रशास्त्र में श्रीयन्त्र के पूजन की दो विधियाँ हैं— बाह्य एवं आभ्यन्तर। बाह्य पूजा की पद्धति यह है कि प्रथमतः योग्य गुरु से दीक्षा लेकर शुभ मुहूर्त में श्रीयन्त्र का लेखन करना चाहिये। यन्त्र के लेखनोपरान्त गुरु-प्रोक्त षोढा न्यास एवं भूतशुद्धि से अपना शरीर पवित्र करके 'देवो भूत्वा यजेद्देवम्' के अनुसार यन्त्र के भागों में तत्तद् देवताओं का आवरणपूजन करना चाहिये। फिर गुरुपादुका का पूजन करना चाहिये। फिर बलि एवं पूजोपहार चढ़ाकर श्रीयन्त्र का विसर्जन कर देना चाहिये।

आभ्यन्तर पूजा का स्वरूप तन्त्रराजतन्त्र में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

ज्ञाता स्वात्मा भवेज्ज्ञानमर्घ्यं ज्ञेयं हविः स्मृतम्।
श्रीचक्रपूजनं तेषोमेकीकरणमीरितम्।।

अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तथा होता, अर्घ्य एवं हवि— इन त्रिपुटियों में अभेदभावना ही आभ्यन्तर पूजा है ।

अधिकारभेद से भावना के भेद

सकल भावना	सकल-निष्कल भावना	निष्कल भावना

तत्र नित्योदिता पूजा त्रिभिर्भेदैर्व्यवस्थिता।
परा चाप्यपरा गौरि ! तृतीया च परापरा।।

(योगिनीहृदय-३.२०)

प्रथमाद्वैतभावस्था सर्वप्रसरगोचरा।
द्वितीया चक्रपूजा च सदा निष्पाद्यते मया।।

(योगिनीहृदय-३.३)

एवं ज्ञानमये देवि ! तृतीया तु परापरा।
उत्तमा सा परा ज्ञेया विधानं शृणु साम्प्रतम्।।

(योगिनीहृदय-३.४)

निष्कल भावना— उत्तम अधिकारियों के लिये निष्कल भावना का ही विधान है। इसमें केवल महाबिन्दु में ही बिन्दु आदि नव चक्रों के पारस्परिक भेद के विना निर्विषयक संविन्मात्र वाले (चित्स्वरूप) कामकला की भावना करनी पड़ती है। यही सर्वोत्तम साधना है।

सकल-निष्कल भावना— मध्य श्रेणी के साधकों के लिये बिन्दु से लेकर अर्द्धचन्द्र, पादचन्द्र, कलाचन्द्र, नादशक्ति, व्यापिका, रोधिनी, समना एवं उन्मना— नव चक्रों में श्री के उपर्युक्त नव चक्रों की ऐक्य भावना करना उत्तम है। यही है— सकल-निष्कल भावना।

सकल भावना— तृतीय श्रेणी के उपासक को श्रीयन्त्र के सामान्य विवेचन में कथित शरीर एवं चक्रों के साथ ऐक्य भावना करनी चाहिये। यही सकल भावना है। इस भावनाभेद से अधिकारी भी विज्ञान केवल, शुद्ध, अशुद्ध के भेद से तीन प्रकार के होते हैं।

समस्त चक्रों की एक महाबिन्दु में एवं एक बिन्दु में ही श्रीचक्र के नवों चक्रों का अन्तर्भाव है। एक ही महाबिन्दु ४ + ६ रूपों में विभाजित होकर समस्त पिण्डस्थ चक्रों में व्याप्त हो गया है।

श्रीचक्र के विवरण में मतभेद भी है। यथा—

क. कोई-कोई आचार्य षोडशदल पद्म के बाद वृत्तत्रय को भी अतिरिक्त चक्र मानते हैं; जैसे कि यामल में। इनके मतानुसार बिन्दु सर्वव्यापक चक्र है; अत: वह नव चक्रों में परिगणित नहीं है।

ख. कोई-कोई आचार्य चतुर्दशार के बाद एक मर्यादावृत्त और अष्टदल कर्णिका के लिये एक वृत्त एवं अष्टदल के बाद भी षोडशदल कर्णिका, फिर मर्यादावृत्त— इस प्रकार वृत्तत्रय बनाते हैं।

ग. कतिपय आयार्य मर्यादावृत्त न देकर केवल कर्णिकावृत्त ही देते हैं और षोडशदल के बाद अतिरिक्त तीन वृत्त देते हैं।

घ. कतिपय आचार्य वृत्त देते ही नहीं।

ङ. चतुरस्रविषयक मतभेद—

अ. कोई-कोई आचार्य चार द्वारयुक्त चतुरस्र निर्मित करते हैं।

ब. कोई आचार्य तत्तद् दिशाओं में विभिन्न संख्याओं में दो द्वारयुक्त चतुरस्र बनाते हैं।

स. कोई-कोई चार रेखाओं का चतुर्द्वार एवं द्वादश द्वार भी बनाते हैं। अधिकांशत: लोग त्रिरेखात्मक चतुर्द्वारयुक्त चतुरस्र ही बनाते हैं। अत: बिन्दु से चतुर्दशार तक ही प्रधान यन्त्र माना जाता है; क्योंकि यथार्थ श्रीयन्त्र शिव-शक्ति का सम्पुटस्वरूप है। चतुर्दशार तक ही नव चक्रों का अन्तर्भाव है। इनमें त्रिकोण, अष्टकोण, अन्तर्दशार, बहिर्दशार और चतुर्दशार (पाँच शक्तिचक्र) एवं बिन्दु, अष्टदल, षोडशदल एवं चतुरस्र (चार शिवचक्र) अन्तर्भूत है। त्रिकोण में बिन्दु, अष्टार में अष्टदल, दोनों दशारों में षोडशार एवं चतुर्दशार में चतुरस्र अन्तर्भूत है—

त्रिकोणे बैन्दवं श्लिष्टमष्टारेऽष्टदलाम्बुजम्।
दशारयो: षोडशारं भूगृहं भुवनास्रके।।

शैवानामपि शाक्तानाञ्चक्राणाञ्च परस्परम्।
अविनाभावसम्न्धं यो जानाति स चक्रवित्।।

बिन्दु और त्रिकोण— नव योनियों से निर्मित श्रीचक्र का नवमावरण बिन्दुचक्र के मध्य स्थित है। यही समस्त विश्व के विकास का मूल है। परब्रह्मस्वरूपिणी त्रिपुरा देवी का यही प्रथम सगुण स्वरूप है। जब उनकी इच्छाशक्ति से यह फूलता है (उच्छून होता है) तब चने के समान अंकुरित होता है और तब यह त्रिकोण का रूप ग्रहण करता है। त्रिकोण के तीनों बिन्दु ही पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी के कारण हैं। बिन्दु एवं त्रिकोण के तीन बिन्दुओं से (चार बिन्दुओं से) कामकला का निर्माण होता है। इन्हीं तीन बिन्दुओं के वाचक 'बाला' के तीन बीज हैं। इन्हीं के अन्तर्गत गुणत्रय स्थित है। इसके पश्चात् वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, अम्बिका एवं पराशक्ति के पाँच शक्त्यात्मक त्रिकोण हैं। ये अधोमुखी हैं। इच्छा, ज्ञान, क्रिया, शान्ता— ये चार त्रिकोण शिवात्मक त्रिकोण हैं और ऊर्ध्वमुखी हैं। इन्हीं नव त्रिकोणों से श्रीचक्र का निर्माण होता है।

कामकला, पराम्बिका त्रिबिन्दुमयी हैं। इन्हीं में ३६ तत्त्व एवं पञ्चदशी के ३६ अक्षर स्थित हैं। इसी पराम्बा के विकास से तीन गुणों का आविर्भाव होता है। परा वाक् बिन्दुस्वरूप है। यह वामा आदि शक्तियों के सृजनार्थ पश्यन्ती रूप धारण करता है। परा वाणी आगे नव त्रिकोणों में विकसित होकर मध्यमा बनती है। मध्यमा वाणी का स्थान अनाहत चक्र है। यहाँ योगी इन ध्वनियों का अनुभव करते हैं— चिणि, चिञ्चिणी, घण्टा, शंख, वीणा, वेणु, भेरी, मृदंग, मेघ = ९ नाद वाली सूक्ष्मा वाणी। 'अ' आदि स्वर एवं क-च-ट-त-प्र आदि व्यञ्जन ९ वर्ग (अ-ऌ-क-च-ट-त-प-य-श) वाले वर्ण स्थूल वर्ण हैं। इन सभी वर्गों की लिपि भूतलिपि है। सूक्ष्मा मध्यमा— स्थूला मध्यमा।

सारांश यह कि बिन्दु के विकास से त्रिकोण और त्रिकोण के विकास से अष्टकोण का उदय हुआ; जिसमें श-ष-स-प-फ-ब-भ-म— ये ८ अक्षर हैं। ये चक्रत्रय स्वप्रभाभास्वर है। ये तीनों चक्र तवर्ग, टवर्गमय अन्तर्दशार एवं कवर्ग, चवर्गमय बहिर्दशार चक्रों के रूप में परिणत हो जाते हैं। बिन्दु, त्रिकोण, अष्टकोण, अन्तर्दशार एवं बहिर्दशार का विकास है— चतुर्दशार चक्र। इसके १४ दल अकार से ओकारपर्यन्त १४ स्वर हैं।

चतुर्दशार चक्र के बाद क-च-ट-त-प-य-शवर्गों से युक्त अष्टदल कमलचक्र है, जो कि वैखरी वाक् का व्यञ्जनात्मक स्वरूप है। षोडशदल चक्र १६ स्वरों से युक्त है।

श्रीचक्रार्चन

श्रीचक्र का अर्चन अधिकारभेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है; इसीलिये कहा भी गया है—

स्थितिक्रमो गृहस्थस्य संहारो वनिनो यतेः।
ब्रह्मचारिण उत्पत्तिः स्त्रियः शूद्रस्य चेष्टतः।।

१. गृहस्थों के लिये स्थितिक्रम
२. संन्यासियों के लिये संहारक्रम
३. ब्रह्मचारियों के लिये सृष्टिक्रम।

श्रीचक्र का अर्चन-क्रम

सृष्टि क्रम | स्थिति क्रम | संहार क्रम

दक्षिणामूर्ति सम्प्रदाय में बिन्दु से आरम्भ करके भूपुरपर्यन्त अर्चनक्रम है। सृष्टिक्रम बिन्दु से भूपुरपर्यन्त है। भूपुर से प्रारम्भ करके अष्टारपर्यन्त, फिर बिन्दु से आरम्भ करके चतुर्दशारपर्यन्त (पूजन) स्थितिक्रम है।

भूपुर से आरम्भ करके बिन्दुपर्यन्त संहारक्रम है। यही अर्चन संहारक्रम का अर्चन कहलाता है।

श्रीचक्रार्चन के प्रमुख रूप

सृष्टिक्रम (बिन्दु से भूपुर तक का क्रम) | संहारक्रम (भूपुर से बिन्दुपर्यन्त का क्रम)

संहारक्रम के अनुसार श्रीचक्र शुद्ध सत्त्व-प्रधान मन है। श्रीचक्र का प्रत्येक अवयव (आवरण) और चक्र की शक्तियाँ (आवरण देवता) संहारक्रम के अनुसार मानसिक दशाओं एवं मन की वृत्तियों का निरूपण हैं। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति (अवस्थात्रय) का निरूपण भूपुर, षोडशदल एवं अष्टदल से होता है। ये अनुभूतियाँ अशुद्ध हृदय वाले जीवों एवं मनुष्यों की होती हैं। ये अज्ञानावस्थायें हैं।

तन्त्रशास्त्र में श्रीयन्त्र का पूजन बाह्य एवं आभ्यन्तर दो क्रमों में अनुष्ठित है।

बाह्य पूजा का क्रम— श्रीयन्त्र का लेखन किया जाय, गुरु से दीक्षा लेकर शुभ मुहूर्त में उपासना की जाय; अन्यथा हानि की सम्भावना रहती है।

यन्त्रलेखन के बाद षोढ़ा न्यास आदि करके श्रीचक्रन्यास, भूतशुद्धि से शरीर शुद्ध करके 'देवो भूत्वा यजेद्देवम्' के अनुसार सम्बद्ध यन्त्रों में सम्बद्ध देवताओं का आवरण पूजन करना चाहिये। फिर गुरुपादुका का पूजन करना चाहिये। फिर पूजोपहार चढ़ाकर यन्त्र का विसर्जन करना चाहिये।

श्रीयन्त्र की आभ्यन्तर पूजा— तन्त्रराजतन्त्र में इस पूजा का विधान निम्न रूप से दिया हुआ है—

ज्ञाता स्वात्मा भवेज्ज्ञानमर्घ्यं ज्ञेयं हविः स्मृतम्।
श्रीचक्रपूजनं तेषामेकीकरणमीरितम्।।

आभ्यन्तर पूजा का अर्थ है— ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, होता, अर्घ्य एवं हवि— इन त्रिपुटियों में अभेद भावना की स्थापना। यह भावना सकल भावना, सकल-निष्कल भावना एवं निष्कल भावना के रूप में तीन प्रकार की बताई गई है।

क. सर्वोत्तम पूजा— केवल महाबिन्दु में ही बिन्दु आदि नव चक्रों के पारस्परिक भेदों के विना निर्विषयक, चित्स्वरूप संविन्मात्रात्मक कामकला की भावना करना ही सर्वोत्तम पूजा है।

ख. मध्यश्रेणी के साधकों की पूजा— बिन्दु से अर्द्धचन्द्र, पादचन्द्र, कलाचन्द्र, नादशक्ति, व्यापिका, रोधिनी, समना, उन्मना आदि नव चक्रों में नव चक्रों की एकता स्थापित करना— दोनों में ऐक्य भावना करना मध्यम पूजा है। यही है— सकल-निष्कल भावना।

त्रयस्त्रिंश अध्याय

श्रीयन्त्र का महत्त्व

सौ यज्ञों का सम्यक् रूप से निष्पादन करने वाले साधक को जिन महान् फलों की प्राप्ति होती है, उन सभी फलों की प्राप्ति श्रीचक्र के दर्शनमात्र से हो जाती है। कहा भी है—

सम्यक् शतं कृतून्कृत्वा यत्फलं समवाप्नुयात्।
तत्फलं समवाप्नोति कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम्।।

श्रीयन्त्र (श्रीचक्र) श्रीदेवी (षोडशी = महात्रिपुर सुन्दरी = भगवती ललिता) का यन्त्र है। इसमें देवी की समस्त शक्तियाँ यन्त्रित या नियन्त्रित हैं। नव त्रिकोणों के समाश्लेष से आविर्भूत ४३ त्रिकोणों के समाहारस्वरूप इस महायन्त्र को ही नवयोनि यन्त्र भी कहते हैं। ९ योनियाँ हैं— धर्म, अधर्म, आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा, जीव, ग्राह्य और प्रमा। समस्त देवों का यन्त्ररूप यह चक्रराज भगवती श्रीविद्या का अपना ही आसन, मन्दिर, स्वस्वरूप या विशिष्ट अंश है।

संकेतात्मक भाषा में इसका स्वरूप इस प्रकार है—

बिन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्ममन्वस्त्रनागदलसंयुतषोडशारम्।
वृत्तत्रयञ्च धरणीसदनत्रयञ्च श्रीचक्रमेतदुदितं परदेवतायाः।।

श्रीचक्र शिवा एवं शिव का शरीर है— 'श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः'। ब्रह्माण्डपुराण में कहा गया है कि चार शिवचक्रों एवं पाँच शक्तिचक्रों अर्थात् नव चक्रों के सम्मिलन से श्रीचक्र आविर्भूत होता है या गठित होता है और यह कामेश्वर एवं कामेश्वरी का शरीर है—

चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।
नवचक्रैश्च संसिद्धं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः।।

श्रीचक्र के दर्शन का फल यामल में इस प्रकार कहा गया है—

सम्यक् शतक्रतून् कृत्वा यत्फलं समवाप्नुयात्।
तत्फलं लभते भक्त्या कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम्।।

महाषोडश दानानि कृत्वा यल्लभते फलम्।
तत्फलं समवाप्नोति कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम्।।

सार्द्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नात्वा यत्फलमश्नुते।
तत्फलं लभते भक्त्या कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम्।।

१०० यज्ञ करने, १६ महादान करने एवं ३ करोड़ ५० लाख तीर्थों में स्नान करने से जो फल मिलता है, वह फल श्रीयन्त्र का मात्र दर्शन करने से ही प्राप्त हो जाता है।

श्रीचक्र अहन्ता-इदन्ता का बीज और शिव-शक्ति का सामरस्य है—

अहन्तेदन्तयोर्बीजमविभाग-रसात्मकम् ।
शिवशक्तिमयं चक्रं विश्वाकारं भजाम्यहम्।। (सुभगोदयवासना)

यह रसात्मक है, अविभागात्मक है और विश्वाकार है।

भगवान् कामेश्वर शिव एवं भगवती कामेश्वरी शिवा के संयुक्त बिन्दु से ही श्रीचक्र का निर्माण हुआ है।

पिण्ड ब्रह्माण्ड का ही संक्षिप्त संस्करण है।

श्रीचक्रराज भगवती का अपना राजप्रासाद है और भगवती उसी में निवास करती हैं—

श्रीचक्रराजनिलया श्रीमत् त्रिपुरसुन्दरी।
श्रीशिवाशिवशक्त्यैक्यरूपिणी ललिताम्बिका।।
(ललितासहस्रनाम)

भगवती की पूजाक्रम में सर्वप्रथम पूजा श्रीचक्रराज की ही होती है—

क. प्रात: स्नात्वा विधानेन सन्ध्याकर्म समाप्य च।
पूजागृहं ततो गत्वा चक्रराजं समर्चयेत्।। (ललितासहस्रनाम)

ख. चक्राधिराजमभ्यर्च्य जप्त्वा पञ्चदशाक्षरीम्।
बिल्वपत्रैश्चक्रराजे योऽर्चयेल्ललिताऽम्बिकाम्।। (ललितासहस्रनाम)

ग. पद्मैर्वा तुलसीपुष्पैरेभिर्नामसहस्रकै:।
सद्य: प्रसादं कुरुते तत्र सिंहासनेश्वरी।। (ललितासहस्रनाम)

घ. श्रीचक्रे मां समभ्यर्च्य जप्त्वा पञ्चदशाक्षरीम्। (ललितासहस्रनाम)

भगवती यन्त्रात्मिका है; अत: यन्त्र भगवती का स्वस्वरूप है—

सर्वयन्त्रात्मिका सर्वतन्त्ररूपा मनोन्मनी।
महातन्त्रा महामन्त्रा महायन्त्रा महाऽसना।। (ललितासहस्रनाम)

सत्पात्र तो केवल वही साधक है, जो श्रीमन्त्रराज एवं श्रीचक्र का समर्चन करता है—

श्रीमन्त्रराजं यो वेत्ति श्रीचक्रं य: समर्चति।
य: कीर्तयति नामानि तं सत्पात्रं विदुर्बुधा:।।
(ललितासहस्रनाम)

महानवमी को जो श्रीदेवी की श्रीचक्र के मध्य अर्चना करता है, वह मुक्त हो जाता है—

महानवम्यां यो भक्त: श्रीदेवीं चक्रमध्यगाम्।
अर्चयेन्नामसाहस्रैस्तस्य मुक्ति: करे स्थिता।।
(ललितासहस्रनाम)

जो पौर्णमासी तिथि पर रात्रि के समय श्रीचक्र में परदेवता की अर्चना करता है, वह तो स्वयं भगवती ललिता ही बन जाता है—

रात्रौ यश्चक्रराजस्थामर्चयेत् परदेवताम्।
स एव ललितारूपस्तद्रूपा ललिता स्वयम्।।

(ललितासहस्रनाम)

जो ललितासहस्रनाम के साथ श्रीचक्र का जीवन में एक बार भी अर्चन कर लेता है, उसके भाग्य तथा उसके पुण्यों के फल को स्वयं भगवान् महेश्वर भी वर्णित कर पाने में समर्थ नहीं हैं—

एभिर्नामसहस्रैस्तु श्रीचक्रं योऽर्चयेत्सकृत्।
तस्य पुण्यफलं वक्तुं न शक्नोति महेश्वरः।।

(ललितासहस्रनाम)

श्रीयन्त्र की सर्वात्मकता— श्रीचक्र सर्वोच्च चक्र होने के कारण चक्रराज कहलाता है। श्रीचक्र वह रचना है, जिसमें सभी देवता, समस्त शक्तियाँ, भगवान् कामेश्वर, कामेश्वरी, श्रीविद्या, अनन्त विश्व, छत्तीस तत्त्व, प्रकृति, महामाया, ईश्वर, सदाशिव, उन्मेष-निमेष, सृष्टि-स्थिति-संहार व्यापार, समस्त मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर आदि सभी का निवास है।

श्रीचक्र शिव एवं शक्ति का अविनाभाव सम्बन्ध है। भगवती त्रिकोणरूपिणी शक्ति है और भगवान् बिन्दुरूप शिव हैं। इन दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध ही श्रीचक्र है। जो ऐसा जानता है, वही श्रीचक्र के रहस्य को यथार्थ रूप में जानता है; अन्य लोग नहीं—

शैवानामपि शाक्तानां चक्राणां च परस्परम्।
अविनाभावसम्बन्धं यो जानाति स चक्रवित्।।

त्रिकोणरूपिणी शक्तिः बिन्दुरूपः परः शिवः।
अविनाभावसम्बन्धस्तस्माद् बिन्दुत्रिकोणयोः।।

श्रीचक्रराज एवं उपासक में अभेद— उपासक को श्रीचक्रन्यास के समय श्रीचक्रराज एवं अपने को अभिन्न मानना चाहिये—

शरीरं चिन्तयेदादौ निजं श्रीचक्ररूपकम्।
त्वगाद्याकारनिर्मुक्तं ज्वलत्कालाग्निसन्निभम्।।

इतना ही नहीं; उपासक को अपने को चर्म, अस्थि, मज्जा से निर्मित शरीरवान् न मान कर प्रथमकूट की भाँति प्रलयाग्नि के समान प्रज्वलित मानना चाहिये। 'ज्वलत्कालाग्निसन्निभम्' मानना चाहिये; क्योंकि श्रीविद्या के प्रथम कूट का स्वरूप यही है—

प्रलयाग्निनिभं प्रथमं मूलाधारादनाहतं स्पृशति।

(वरिवस्यारहस्यम्)

श्रीचक्रराज सर्वोत्पादक है— ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि देवता, सूर्य-चन्द्र-बृहस्पति आदि तारा एवं ग्रह, अश्विनी-भरणी आदि नक्षत्र, मेषादिक राशि, वासुकी-शेष आदि

नागराज, वरुण-वैनतेय आदि एवं मन्दार आदि वृक्ष, रम्भा आदि अप्सरायें, कपिलादिक सिद्ध, वसिष्ठादिक मुनिगण, कुबेरादिक यक्ष, किन्नर-गन्धर्व, विश्वेदेव, ऐरावतादि गजेन्द्र, उच्चैःश्रवा आदि अश्व, हिमालय-कैलास-मेरु आदि पर्वत, गंगादिक पुण्यतोया नदियाँ, समस्त समुद्र, समस्त पीठ, तीर्थ, देवता, शक्तियाँ, प्रकृत्यण्ड, ब्रह्माण्ड, मायाण्ड, शिवाण्ड, शक्त्यण्ड आदि नौ नाद, परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी आदि तथा समस्त मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र-सिद्धियाँ-चक्र आदि सभी कुछ का आविर्भाव श्रीचक्र से ही हुआ है। इसी में सृष्टि-स्थिति-विनाश-सृजन-संहार आदि सभी स्थित है। यही भगवती जगदम्बिका त्रिपुरसुन्दरी एवं भगवान् कामेश्वर का राजशौध भी है। यहीं से द्वैत-द्वैताद्वैत-अद्वैत, भेद-भेदाभेद-अभेद, सारे शब्द, सारे अर्थ, सारे तत्त्व, सारे शास्त्र, सारे मन्त्र, सारे चक्र, चक्रों की शक्तियाँ, इच्छा-ज्ञान-क्रिया आदि शक्तियाँ उद्भूत हुई हैं। यह सृष्टि का सबसे बड़ा मान-चित्र है। यह सृष्टि का सबसे बड़ा होने पर भी सबसे संक्षिप्त (संक्षिप्ततम) नक्शा है। यह समस्त सत्ताओं एवं शक्तियों का केन्द्र है।

मानवशरीर के रूप में श्रीचक्र— मानवपिण्ड के ब्रह्मरन्ध्र में बिन्दु, मस्तक में त्रिकोण, ललाट में अष्टकोण, भ्रूमध्य में अन्तर्दशार, कण्ठ में बहिर्दशार, हृदय में अन्त-र्दशार, कुक्षियों में वृत्त, नाभि में अष्टदल, कटि में अष्टदलबहिर्वृत्त, स्वाधिष्ठान में षोडशदल, मूलाधार चक्र में बाह्य त्रिवृत्त, जानुओं में भूपुर की प्रथम रेखा, जंघा में भूपुर की द्वितीय रेखा एवं पैरों में भूपुर की तृतीय रेखा के रूप में स्थित है।

योगिनीहृदय में इस तथ्य की पुष्टि करते हुये कहा भी गया है—

त्रिपुरेशीमहायन्त्रं पिण्डात्मकमीश्वरि !।
यो जानाति स योगीन्द्रः स शम्भुः स हरिर्विधिः।।

पिण्डब्रह्माण्डयोर्ज्ञानं श्रीचक्रस्य विशेषतः।
ज्ञात्वा शम्भुफलावाप्तिः नाल्पस्य तपसः फलम्।।

श्रीचक्रराज पञ्चदशी विद्यात्मक भी है, श्रीविद्यास्वरूप भी है। योगिनीहृदय में श्री-यन्त्र एवं श्रीविद्या में सामरस्य भी सिद्ध किया गया है—

श्रीविद्या	श्रीयन्त्र
१. लकार	भूपुर
२. सकार	षोडशदल
३. हकार	अष्टविग्रहात्मक अष्टदल
४. (भुवनेश्वरीरूपात्मक) एकार	चतुर्दशार
५. एकार	बहिर्दशार
६. हल्लेखागत रकार	अन्तर्दशार

श्रीविद्या	श्रीयन्त्र
७. ककार	अष्टार
८. अर्धचन्द्र	त्रिकोण
९. नादरूपा अर्धमात्रा के साथ	त्रिकोणात्मिका योनि का आविर्भाव
१०. बिन्दु	बिन्दुचक्र (कामेश्वरस्वरूप एवं विश्वाधार चक्र)

अमृतानन्द योगी दीपिका में षट् चक्र एवं श्रीविद्या के नव चक्रों में सामरस्य दिखाते हुये दोनों में ऐक्य प्रतिपादित करते हैं—

१. सुषुम्ना के मूल में रक्तवर्ण के सहस्त्रदल कमल में त्रिपुराधिष्ठित त्रैलोक्यमोहन चक्र।

२. वह्नि के आधार चतुर्दल कमल में त्रिपुरेशी द्वारा अधिष्ठित सर्वाशापरिपूरण चक्र।

३. शाक्त स्वाधिष्ठानस्थित षड् दल कमल में त्रिपुरसुन्दरी से अधिष्ठित सर्वसंक्षोभण चक्र।

४. नाभि में स्थित दशदल कमल में त्रिपुरवासिनी से अधिष्ठित सर्वसौभाग्यदायक चक्र।

५. अनाहत के द्वादशदल कमल में त्रिपुराश्री से समधिष्ठित सर्वार्थसाधक चक्र।

६. विशुद्ध चक्र के षोडशदल कमल में त्रिपुरमालि से अधिष्ठित सर्वरक्षाकर चक्र।

७. तालुमूल में स्थित लम्बिकाग्र में (अष्टदल कमल में) त्रिपुरासिद्धि से अधिष्ठित सर्वरोगहर चक्र।

८. भ्रूमध्यस्थित आज्ञाचक्र के द्विदल कमल में त्रिपुराम्बिकाधिष्ठित सर्वसिद्धिचक्र।

लोक	श्रीयन्त्र
१. सत्य लोक	बिन्दुचक्र में
२. तपोलोक	त्रिकोणचक्र में
३. जनलोक	अष्टकोणचक्र में
४. महर्लोक	अन्तर्दशार चक्र में
५. स्वर्लोक	बहिर्दशार चक्र में
६. भुवर्लोक	चतुर्दशार चक्र में
७. भूलोक	प्रथम वृत्त में

अधोलोक	श्रीयन्त्र
१. अतल	अष्टदल में
२. वितल	अष्टदल के बाह्य वृत्त में
३. सुतल	षोडशदल कमल में
४. तलातल	वृत्तत्रय में

अधोलोक	श्रीयन्त्र
५. महातल	भूपुर की प्रथम रेखा में
६. रसातल	भूपुर की द्वितीय रेखा में
७. पाताल	भूपुर की तृतीय रेखा में

इसके अतिरिक्त ललाटप्रदेश में, बिन्दु में महात्रिपुरसुन्दरी से अधिष्ठित सर्वानन्दमय चक्र अधिष्ठित है—

अकुलादिषु पूर्वोक्तस्थानेषु परिचिन्तयेत्।
चक्रेश्वरीसमायुक्तं नवचक्रं पुरोदितम्।।

वह्नि-शाक्त-नाभि-अनाहत-विशुद्धि-लम्बिकाग्र-भ्रुवोन्तर-इन्दवो गृह्यन्ते। तुरोदितं चक्र-सङ्केतोदितं नवचक्रं चक्रेश्वरीसमायुक्तं नवचक्रेश्वर्यधिष्ठितं परिचिन्तयेत्।

श्रीचक्र में स्थित चक्रेश्वरी शक्तियों के नाम निम्नांकित हैं—

तत्राद्या त्रिपुरा देवी द्वितीया त्रिपुरेश्वरी।
तृतीया च तथा प्रोक्ता देवी त्रिपुरसुन्दरी।
चतुर्थी च महादेवी देवी त्रिपुरवासिनी।।

पञ्चमी त्रिपुराश्रीः स्यात्षष्ठी त्रिपुरमालिनी।
सप्तमी त्रिपुरासिद्धिरष्टमी त्रिपुराम्बिका।।

(योगिनीहृदय-२.९-११)

नवमी तु महादेवी महात्रिपुरसुन्दरी।
पूजयेच्च क्रमादेता नवचक्रे पुरोदिते।।

ये ९ चक्रेश्वरी शक्तियाँ पूजाकाल में एकाकार रूप में अजरामरकारिणी आदि शक्ति-स्वरूप में उपस्थित होती हैं—

एवं नवप्रकाराद्या पूजाकाले तु पार्वति।
एकाकारा ह्याद्यशक्तिरजरामरकारिणी।।

(पटल-२, मं.सं.-१३)

समयमत के अनुसार श्रीचक्र की नव योनियाँ इस प्रकार हैं— मध्यत्रिकोण, अष्टार, अन्तर्दशार, बहिर्दशार, चतुर्दशार, अष्टदल पद्म, षोडशदल पद्म, तीन वृत्त एवं भूपुर।

कौलमतानुसार श्रीचक्र में नव त्रिकोण होते हैं। उन्हें ही नव योनियाँ कहते हैं। नव त्रिकोणों में पाँच शक्तित्रिकोण निम्नाभिमुखी एवं चार शिवत्रिकोण ऊर्ध्वमुखी होते हैं।

संहारक्रम चक्रस्थिति का वह क्रम है, जिसमें शक्तित्रिकोण ऊर्ध्वमुख होते हैं और शिवत्रिकोण अधोमुख होते हैं।

षोडशदल पद्म चन्द्रमा का प्रतिनिधि है। चन्द्रमा का स्थान तो सहस्रार है अर्थात् चतुष्कोण सहस्रार है। उसके मध्य षोडशदल कमल चन्द्रमण्डल है, जो कि सुधा-समुद्र है। इसी सुधासागर के मध्य महामाया परमा शक्ति कुण्डलिनी निवास करती है। कौलमत के अनुसार मूलाधार चक्रस्थ योनिस्थान ही त्रिकोण है और वहीं कुण्डलिनी शक्ति निवास करती है। कौल मूलाधार में ही शक्ति का पूजन किया करते हैं। समयमार्ग में शक्ति का ध्यान मूलाधार चक्र में नहीं; प्रत्युत सहस्रार में किया जाता है। सहस्रार (चतुष्कोण) के मध्य में चन्द्रमण्डल स्थित है।

श्रीचक्र शिवचक्र एवं शक्तिचक्र का समवेत स्वरूप होने के कारण जहाँ शिव एवं शक्ति का प्रतीक है, वहीं निःशेष सृष्टि एवं जगत् का भी प्रतीक है। यह सृष्टि-स्थिति-संहार, सत्त्व-रज-तम, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, तुरीय-तुरीयातीत, प्रकाश-विमर्श, नाद-बिन्दु-कामकला, छत्तीस तत्त्व, परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी, व्यक्त-अव्यक्त, स्थूल-सूक्ष्म, कारण-कार्य सभी का प्रतीक है, सभी की अभिव्यक्ति है।

ब्रह्मा एवं इन्द्र आदि त्रिदेव तथा तैंतीस कोटि देवता, सूर्य-चन्द्र आदि ग्रह, अश्विनी आदि नक्षत्र, मेष आदि राशि, वसु आदि नाग, वरुण, वैतनेय एवं मन्दार आदि वृक्ष, रम्भा आदि अप्सरा, कपिल आदि सिद्ध, वसिष्ठ आदि मुनीश्वर, कुबेरप्रभृति यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, दैत्य, दानव, ऐरावत आदि गजेन्द्र, उच्चैःश्रवा आदि अश्व, हिमालय आदि पर्वत, गंगा आदि नदी, समस्त समुद्र, समस्त मानव, समस्त प्राणी, जड़-जंगम, समस्त नगर, समस्त राष्ट्र, समस्त लोक आदि सब कुछ श्रीचक्र से ही उत्पन्न हुये हैं।

श्रीचक्र की शरीरावयवों एवं पिण्डस्थ चक्रों में स्थिति— ब्रह्मरन्ध्र में बिन्दु, मस्तक में त्रिकोण, ललाट में अष्टकोण, भ्रूमध्य में अन्तर्दशार, कण्ठ में बहिर्दशार, हृदय में अन्तर्दशार, कुक्षि में वृत्त, नाभि में अष्टदल, कटि में अष्टदलबहिर्वृत्त, स्वाधिष्ठान में षोडशदल, मूलाधार में बहिस्त्रिवृत्त, जानुओं में भूपुर की प्रथम रेखा, जघनस्थल में द्वितीय रेखा, दोनों पैरों में भूपुर की तृतीय रेखा।

योगिनीहृदय में इसी महत्त्व को ध्यान में रखकर कहा भी गया था—

त्रिपुरेशी महायन्त्रं पिण्डात्मकमीश्वरि।
यो जानाति स योगीन्द्रः सं शम्भुः स हरिर्विधिः।।

पिण्डब्रह्माण्डयोर्ज्ञानं श्रीचक्रस्य विशेषतः।
ज्ञात्वा शम्भुफलावाप्तिः नाल्पस्य तपसः फलम्।।

इसी प्रकार मन्त्र एवं श्रीयन्त्र में भी ऐक्य है—

लकार का भूपुर के साथ, सकार का षोडशदल के साथ, हकार का अष्टदल के साथ, भुवनेश्वरीरूप एकार का चतुर्दशार के साथ, एकार का दशावतारात्मक बहिर्दशार

के साथ, हल्लेखागत रेफ का अन्तर्दशार के साथ, ककार का अष्टार के साथ, अर्धचन्द्र का त्रिकोण के साथ एवं तदन्तर्गत देवी के तत्त्वों का श्रीचक्र के साथ।

नादरूपा अर्धमात्रा के साथ त्रिकोण योनि उत्पन्न होती है। बिन्दु से बिन्दुचक्र की उत्पत्ति होती है। बिन्दुचक्र कामेश्वरस्वरूप है और साथ ही विश्वाधारस्वरूप भी है। श्रीविद्यान्तर्गत 'लं' बीज से पृथ्वी एवं उसके अन्तर्गत स्थित वृक्ष-पर्वत आदि की उत्पत्ति होती है। उससे ही इक्यावन पीठ, समस्त तीर्थ, गंगादिक नदियाँ तथा अन्य पुण्यक्षेत्रों का आविर्भाव होता है।

पञ्चम परिच्छेद

(अध्याय : ३४-४७)

उपासना तत्त्व

* उपासना-तत्त्व *

बाह्यपूजात्मक कौलोपासना कौलाचारात्मक पूजा
समयोपासना : समयाचारात्मक पूजा : आन्तरोपासना
मिश्रमतोपासना
पूर्व कौल (वाममार्ग)
उत्तर कौल (वाममार्ग)
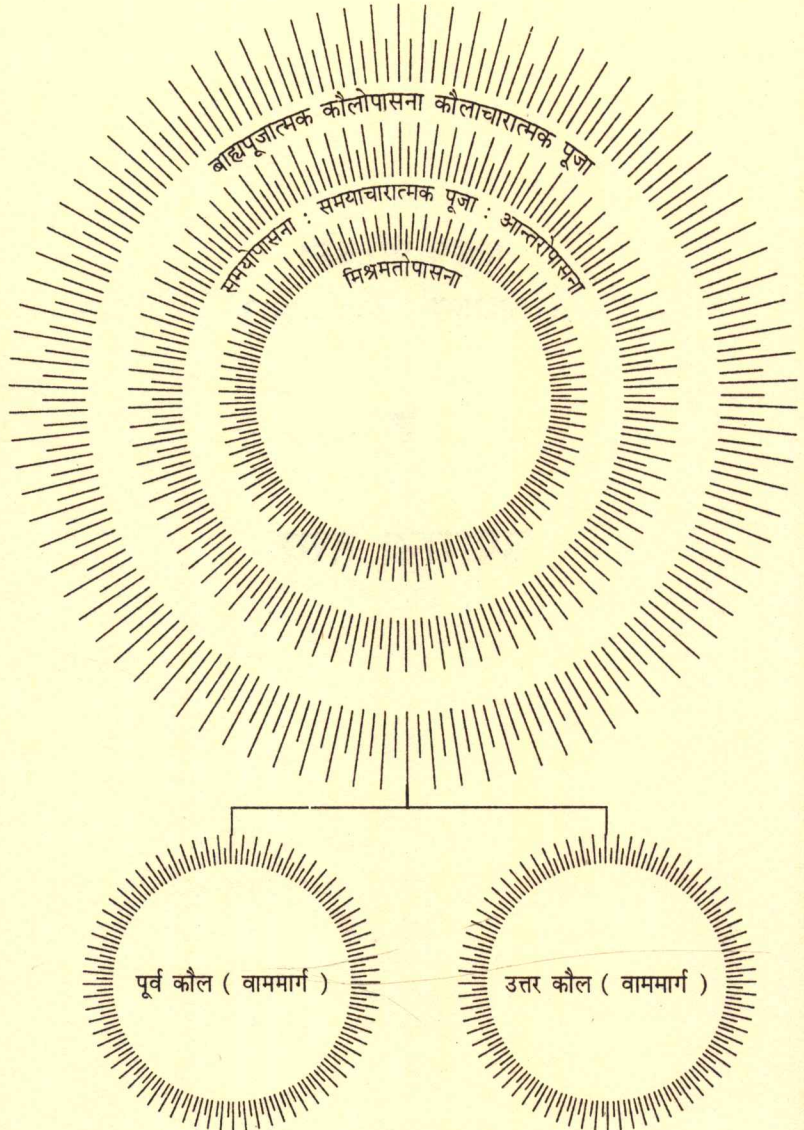
॥ श्रीः ॥

पञ्चम परिच्छेद

उपासना तत्त्व

१. उपास्य कौन है?

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।

यच्चक्षुषा न पश्यन्ति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणाः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।। (केनोपनिषद्)

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।। (केनोपनिषद्)

२. पूजा का महत्त्व क्या है?

यावत्तत्परमं शान्तं न विजानन्ति सुन्दरि!
तावत्पूजा जपध्यानहोमलिङ्गार्चनादिकम्।

विदिते तु परे तत्त्वे सर्वाकारे निरामये।
क्व पूजा क्व जपो होम क्व च लिङ्गपरिग्रहः।। (प्रभाकौल)

३. बन्धन और मोक्ष की यथार्थ सत्ता क्या है?

न मे बन्धो न मोक्षो मे भीतस्यैता विभीषिकाः।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वतः।।

(विज्ञानभैरवभट्टारक)

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की उपासना

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की उपासना में बाह्याडम्बरों के लिये कोई स्थान नहीं है। सनत्कुमारसंहिता में कहा गया है—

बाह्यपूजा न कर्तव्या कर्तव्या बाह्यजातिभिः।
सा क्षुद्रकला नृणां ऐहिकार्थैकसाधनात्।।

बाह्यपूजारताः कौलाः क्षपणाश्च कपालिकाः।
आन्तराराधनपरा वैदिका ब्रह्मवादिनः।।

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं कि स्वयं वामकेश्वरतन्त्र में भी बाह्य पूजा के स्थान पर आत्मपूजा की पुष्टि की गई है; इसीलिये अपने कथ्यों को इन प्रतीकात्मक भावों में व्यक्त किया गया है—

पाशाङ्कुशौ तदीयौ तु रागद्वेषात्मकौ स्मृतौ।
शब्दस्पर्शादयो बाणाः मनस्तस्याभवद्धनुः।।

वारणेन्द्रियचक्रस्थां देवीं संवित्स्वरूपिणीम्।
विश्वाहङ्कारपुष्पेण पूजयेत्सर्वसिद्धिभाक्।।

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं कि 'विधिः क्रियात्मको नादरणीयः' अर्थात् श्रीदेवी की उपासना में कायिकी उपासना मान्य नहीं है।

आचार्य शंकर द्वारा स्वीकृत समयाचार आन्तर पूजा की प्रक्रिया है।

कुलाचार बाह्य पूजा है; पर 'समयाचारो नाम आन्तरपूजारतिः। कुलाचारो नाम बाह्यपूजारतिरिति रहस्यम्'।

वियच्चक्र (श्रीचक्र) की पूजा के दो प्रकार हैं— दहराकाशज पूजा एवं बाह्याकाशज पूजा। कौल उपासक तो भूर्जपत्र-शुद्धपट-हेम-रजत् आदि पद्मतल के स्वरूप में स्थित पीठादिक बाह्य भाग में बाह्याकाशज पूजा करते हैं। दहराकाश (हृदयावकाश) में समय-मार्गी पूजा करते हैं।

भगवती सुधासिन्धु बिन्दुस्थान में निवास करती हैं और समयमार्गी वहीं उनकी उपासना करते हैं। भैरवयामल, वामकेश्वरतन्त्र में कहा गया है कि—

बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्चयोन्यः सुरद्रुमाः।
तत्रैव नीपश्रेणी च तन्मध्ये मणिमण्डपम्।।

तत्र चिन्तामणिकृतं देव्या मन्दिरमुत्तमम्।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हणे।।

तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी।।

यहाँ सुधासिन्धु बैन्दवस्थान को कहा गया है। देवीमन्दिर क्या है? ४३ कोणों वाला श्रीचक्र ही देवी का मन्दिर है— 'देवीमन्दिरं त्रयश्चत्वारिंशत् त्रिकोणात्मकं श्रीचक्रम्'। त्रिकोणात्मक श्रीचक्र का बैन्दवस्थान एक प्रमुख अंग है। यही सामयिकों की पूजा का स्थान है।

समयमार्ग सृष्टिमार्ग है। कौलचक्र में त्रिकोण के मध्य बिन्दु की उपासना होती है; किन्तु समयचक्र में चतुष्कोण में बिन्दु को स्थित मानकर उसकी वहीं पूजा की जाती है। लक्ष्मीधर ने कहा भी है— 'समयिनां मते समयस्य सादाख्यतत्त्वस्य सपर्या सहस्रदलकमल एव, न तु बाह्ये पीठादौ'।

इस उपासना में बाह्याचारों के लिए कोई स्थान नहीं है। इसीलिये लक्ष्मीधर सपर्या का अर्थ षोडशोपचार न मानकर, आत्मार्पणबुद्धि मानते हैं— 'षोडशोपचारव्यतिरेकेण आत्मार्पणबुद्ध्या त्याग एव सपर्यापर्यायः न तु स्वीकृतानाम्'।

समयमार्गी मन्त्र का पुरश्चरण करने का कोई विधान नहीं है; अतः 'समयिनां मन्त्रस्य पुरश्चरणं नास्ति'। इतना ही नहीं; यहाँ जप, बाह्य होम एवं बाह्य पूजा भी नहीं है— 'जपो नास्ति, बाह्यहोमोऽपि नास्ति। बाह्यपूजाविधयो न सन्त्येव'। यहाँ हृदय में ही सर्वा-नुष्ठान श्रेयस्कर माने जाते हैं। लक्ष्मीधर ने कहा भी है— 'हृत्कमल एव सर्वं यावदनुष्ठेयम्'।

चतुस्त्रिंश अध्याय

पूजातत्त्व : एक दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण

श्रीसम्प्रदाय एवं अन्य अद्वैतमार्गी शाक्तमार्गों में पूजा एवं पूजा के उपकरणों को भौतिक एवं बाह्य अर्थों में न ग्रहण करके प्रतीकात्मक एवं अद्वैतभावनापन्न दृष्टि से ग्रहण किया गया है और इसी अर्थ को तात्त्विक एवं पारमार्थिक माना गया है। पूजाविषयक इन दृष्टियों के विषय में कतिपय आचार्यों के मत निम्नांकित हैं—

विज्ञानभैरव की दृष्टि— विज्ञानभैरव ने पूजा के स्थूल अर्थ का त्याग करके उसके तात्त्विक स्वरूप की मीमांसा करते हुये कहा है कि निर्विकल्प परम व्योम अर्थात् चिदा-काश में बोध भैरव के प्रति दृढ़ आस्था या स्वात्म-स्वरूपबोध भैरव में विश्रान्ति प्राप्त कर लेना या उसी में लय हो जाना ही पूजा है—

निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः।

सङ्केतपद्धति का मत— सङ्केतपद्धति के अनुसार महिमामण्डित स्वात्मस्वरूप में परम प्रतिष्ठा अधिगत कर लेना ही पूजा है।

अभिनवगुप्त का मत— अभिनवगुप्तपादाचार्य की दृष्टि में रूप, रस आदि विभिन्न बाह्य भाव-पदार्थों की देश-कालादिक अपरिच्छिन्न, निरुपाधिक, स्वतन्त्र, स्वच्छ भैरवाकार परसंवित् में (बोधभैरव में) प्रतिष्ठित हो जाना ही पूजा है—

पूजा नाम विभिन्नस्य भावौघस्यापि सङ्गतिः।
स्वतन्त्र-विमलानन्त-भैरवीय-चिदात्मना ॥

आचार्य उत्पल की दृष्टि— शिवस्तोत्रावली में आचार्य उत्पल ने पूजाविधि को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

ध्यानायास-तिरस्कार-सिद्धस्त्वत्स्पर्शनोत्सवः ।
पूजाविधिरिति ख्यातो भक्तानां स सदाऽस्तु मे॥

अर्थात् उच्चार, करण, ध्यान प्रभृति प्रयत्नज आणवप्रभृति उपायों की सहायता से सम्पन्न होने वाली विविध बाह्य विधियों का परित्याग करके अनुपाय क्रिया द्वारा सहज विधि से सम्पन्न होने वाला स्वात्मस्वरूप बोधभैरव का साक्षात्कार ही भक्त की वास्तविक पूजा-विधि है।

भट्टनारायण का मत— भट्टनारायण 'स्तवचिन्तामणि' में भगवान् से निवेदन करते हैं कि हे भगवन् ! मैं पुष्पादिक द्वारा तो नित्य आपकी पूजा करता ही हूँ; किन्तु आप मेरे लिये वह स्थिति लाइये कि जिससे मैं आपके समक्ष उस ज्ञानरूपी दीपक को लेकर उपस्थित हो सकूँ, जो कि मल से, अज्ञानरूपी तैल से सिञ्चित वासनारूपी वर्तिका

को, धर्माधर्मप्रभृति जागतिक परम्परा को आगे बढ़ाने वाले समस्त संस्कारों को जला देने वाला है अर्थात् भेद-बुद्धि को छोड़कर अद्वय स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही यथार्थ पूजा है। पुष्पादिक उपचारों से की गई पूजा तो एक विकल्प व्यापारमात्र है।

विज्ञानभैरव का प्रश्नोत्तर— तात्त्विक दृष्टि से विचार करें तो कैसी पूजा? किसकी पूजा? विज्ञानभैरव में प्रश्न उठाया गया है कि परा देवी से संयुक्त परभैरव की जिन पुष्प, गन्ध, धूप आदि से पूजा की जाती है; किन्तु पूजक एवं पूज्य तो अभिन्न ही हैं और पूज्य, पूजन सामग्री एवं पूजक आदि के भेद एक ही तत्त्व के विभिन्न स्वरूप हैं। अत: इस प्रकार का पारमार्थिक बोध जाग्रत् होने पर किससे किसकी पूजा की जायगी? इन सभी के अभिन्न होने पर इस अद्वयनय में प्रदर्शित पूजा के अतिरिक्त पूज्य, पूजोपकरण, पूजा, पूजक आदि की परमार्थ दृष्टि से कोई सत्ता नहीं मानी जा सकती; अत: किसकी किसके द्वारा पूजा किया जाना सम्भव है—

यैरेव पूज्यते द्रव्यैस्तर्प्यते वा परापर:।
यश्चैव पूजक: सर्व: एवैक: क्व पूजनम्।।

प्रभाकौल का मत— प्रभाकौल में भी इसी सत्य की पुष्टि की गई है और कहा गया है कि जब तक उस परम शान्त परमार्थ पद को नहीं जान पाते, तभी तक तप, पूजा, जप, ध्यान, लिङ्गपूजा आदि कर्मकाण्ड सार्थक हैं; किन्तु उस निरामय, सर्वाकार परम तत्त्व के ज्ञात होने पर कैसी पूजा? कैसा जप? कैसा होम? एवं कैसा लिङ्गपरिग्रह?

यावत्तत्परमं शान्तं न विजानन्ति सुन्दरि !।
तावत्पूजा-जप-ध्यान-होम-लिङ्गार्चनादिकम् ।।

विदिते तु परे तत्त्वे सर्वाकारे निरामये।
क्व पूजा च जपो होम: क्व च लिङ्गपरिग्रह:।।

पूजा कोई कर्मकाण्डात्मक बाह्य विधान नहीं है; प्रत्युत यह शैवसमावेश, चिदैकात्म्य, परस्वरूप-परामर्श एवं शिवत्व भाव की प्राप्ति है।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद कहते हैं कि तन्मय भाव से वस्तु का अर्पण ही अर्चन या पूजा है—

तत्रार्पणं हि वस्तूनामभेदेनार्चनं मतम्।

इसी प्रकार जब पदार्थ में सार्वरूप्य का अनुसन्धान हो जाता है तो वही ध्यान हो जाता है—

तथा सम्पूर्णरूपत्वानुसन्धिर्ध्यानमुच्यते।[१]

सम्पूर्ण के अनुसन्धान को निष्कम्प सम्पन्न करते हुये दृढ़ता के साथ अन्तर्जल्प करने वाले साधक की स्वात्मविमर्श की प्रक्रिया ही जप है।[२] वस्तुत: अन्तर्जल्प

१. तन्त्रालोक : आह्निक-१० २. तन्त्रालोक : आह्निक-१०

(योगयुक्त विमर्श) ही जप है—

सम्पूर्णत्वानुसन्धानमकम्पं दार्ढ्यमानयन्।
तथान्तर्जल्पयोगेन विमृषञ्जपभाजन्।।[१]

महनीय ऐकात्म्यानुभूति से अर्पित भाव-पदार्थों में वस्तुसत्ता एवं परमात्म सत्ता का भेद ही हविष्य या होम है—

तदर्पितानां भावानां स्वकभेदविलापनम्।
कुर्वंस्तद्रश्मिसद्भावं दद्याद्धोमक्रियापरः।।[२]

अर्थात् विमर्श-रश्मियों से एक प्रकार की याज्ञिक ज्वाला जाज्वल्यमान हो उठती है। उसमें उक्त हविष्य का अर्पण ही होम बन जाता है।

पूजा में जप एवं मन्त्र का विधान है; वे क्या हैं?

स्वाभाविक अहं-परामर्श में विश्रान्त योगी जो व्यवहार करता है या जो विमर्श या परामर्श करता है और प्रसार-प्रक्रिया पूर्ण करता है, वह सब उसका जप ही है। वह एक प्रकार से स्वात्मदेवता का नित्य आवर्तन करता है। उसका यह आवर्तन ही उसके लिये मन्त्र हो जाता है—

अकृत्रिमैतद् हृदयारूढो यत्किञ्चिदाचरेत्।
प्राण्याद्वा मृशते वापि स सर्वोऽस्य जपो मतः।।

कहा भी गया है कि कोई श्लोक, कोई कविता, कोई गाथा या कथोपकथन 'सोऽहं' के विमर्श-परिवेश करता है तथा उसे साक्षीभाव से देखता है तो वह सब मन्त्रात्मक हो जाता है—

श्लोकगाथादि यत्किञ्चिदादिमान्त्ययुतं यतः।
तस्माद्विदंस्तथा सर्वं मन्त्रत्वेनैव पश्यति।।

इसीलिये शिवसूत्रकार ने कहा था— 'कथा जपः' अर्थात् 'यो जल्पः स जपः'। ऐसे पूजक के ध्यान का स्वरूप क्या है?

अभिनवगुप्त कहते हैं कि ऐसा योगी, जो सृष्टि आदि पाँच प्रकार के कृत्यरूप स्वभाव में समाविष्ट होकर स्वेच्छा से बाहर-भीतर जो कुछ मेय-मानादि का आकलन करता है, वही उसका पारमार्थिक ध्यान है। विश्व का बाह्यान्तर सर्वविध विमर्श ध्यान से ही होता है। दशभुजादिरूप नियत ध्यान वास्तविक ध्यान नहीं है—

स देव स्वेच्छया सृष्टिस्वाभाव्याद्बहिरन्तरा।
निर्मीयते तदेवास्य ध्यानं स्यात्पारमार्थिकम्।।

भोगेच्छुकों के लिये नियताकार ध्यान एवं मुमुक्षुओं के लिये निराकार ध्यान ही श्रेष्ठ है—

---

१. तन्त्रालोक : आह्निक-१०

२. तन्त्रालोक : आह्निक-१०.११

साधकानां बुभुक्षुणां विधिर्निर्यातयन्त्रितः।
मुमुक्षूणां तत्त्वविदां स एव तु निरर्गलः।।

यथार्थ पूजकों के लिए नाद ही मन्त्र और स्थिति ही मुद्रा है— 'नादो मन्त्रः स्थिति-र्मुद्रा'। होमबोध की अग्नि में अपने समस्त भावों को भस्म करना ही अग्नि को तृप्ति देने वाला होम है।[१]

विज्ञानभैरव की दृष्टि— विज्ञानभैरव में कहा गया है कि देवताओं के पूजन में पुष्प एवं माला आदि के प्रयोग से उसमें एकाङ्गी आस्था उत्पन्न होती है। वह पूजा नहीं है। वस्तुतः निर्विकल्प महाव्योम में सादर लीन होना एवं संवित्साक्षात्कार करना ही यथार्थ पूजा है—

पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढ़ा।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः।।

अभिनवगुप्तपाद की दृष्टि— जिस किसी भी इन्द्रियवृत्ति में जो कुछ भी अनियत और मन को आह्लादित करने वाली वस्तु उपस्थित होती हो, उसे यदि जागतिक ज्ञान के जड़ प्रकाश से विलक्षण ब्रह्म के शाश्वत तेज में योजित कर दिया जाय तो वही यथार्थ पूजोपकरण बन सकती है। इस प्रक्रिया में पदार्थ के बाह्य स्वरूप का परित्याग और पदार्थ के संविद्रूप का साक्षात्कार हो जाता है—

यत्किञ्चिन्मानसाह्लादि यत्र क्वापीन्द्रियस्थितौ।।

योज्यते ब्रह्मसद्माम्नि पूजोपकरणं हि तत्।
पूजा नाम विभिन्नस्य भावौघस्यापि सङ्गतिः।।

विभिन्न रूप-रस आदि से सम्बद्ध भावराशि का देश-काल आदि परिच्छेदकों से ऊपर उठकर स्वतन्त्र, निर्मल, अनन्त, शाश्वत शैव महाभावमयी संवित्ति से यदि संगति हो जाय तो वही पूजा बन जाती है— 'विभिन्नस्यापि रूपरसादेर्भावौघस्य देश-कालाद्यनवच्छिन्न-निरूपाधिपूर्णपरसंविदात्मना या सङ्गतिः एकीकारः सा पूजेति सम्भाव्यते' (विवेक)।

आचार्य अभिनवगुप्त ने ठीक ही कहा है कि जिस प्रकार कोई पुरुष सामने पड़े दर्पण में अपने मुख को प्रतिबिम्बित देखकर उसे अपना ही मुख मान लेता है, उसी प्रकार जप, ध्यान, पूजन एवं हवन आदि विकल्प के दर्पण में यदि अपने-आपको लय कर देता है तो उसी सन्दर्भ में वह भैरवीभाव से भूषित हो जाता है, तादात्म्य प्राप्त कर लेता है और तन्मयता में वह वही न रहकर शिवस्वरूप हो जाता है—

यथा पुरस्थे मुकुरे निजं वक्त्रं विभावयन्।
भूयो भूयस्तदेकात्मवक्त्रं वेत्ति निजात्मनः।।

---

१. सप्तेन्द्रियशिखाजालजटिले जातवेदसि।
बोधाख्ये भाववर्गस्य भस्मीभावोऽग्नितर्पणम्।।

तथा विकल्पमुकुरे ध्यानपूजार्चनात्मनि।
आत्मानं भैरवं पश्यन्नचिरात्तन्मयी भवेत्।।

तन्मयीभवन क्या है? अनुत्तर परमशिव भाव। कहा भी है—

तन्मयीभवनं नाम प्राप्तिः सानुत्तरात्मनि।

वामा, ज्येष्ठा एवं रौद्री में से एक, आत्मा और प्राण मिलकर 'प्राणस्पद' का निर्माण करते हैं; अतः प्राणायाम भी बाह्य क्रिया नहीं है; प्रत्युत इस शक्ति का साक्षात्कार करते हुये सुषुम्णा में सञ्चरित होकर चेतन बनना है और शिवत्व को प्राप्त करना है।

कुलार्णवतन्त्र की दृष्टि— पूजा में पुष्पार्पण का अर्थ क्या है? कुलार्णवतन्त्र में कहा गया है—

पुण्यसंवर्द्धनाच्चापि पापौघपरिहारतः।
पुष्कलार्थप्रदानाच्च पुष्प इत्यभिधीयते।।

पूजा में धूप का यथार्थ अर्थ क्या है? कुलार्णवतन्त्र में कहा गया है—

धूतशेष-महादोषपूतिगन्धप्रभावतः।
परमानन्दजननाद्धूप इत्यभिधीयते।।

पूजा में दीप का यथार्थ अर्थ क्या है? कुलार्णवतन्त्र में कहा गया है—

दीर्घाज्ञानमहाध्वान्ताहङ्कारपरिवर्जनात् ।
परतत्त्वप्रकाशाच्च दीप इत्यभिधीयते।।

पूजा में देवता किसे कहा गया है? कुलार्णवतन्त्र में कहा गया है—

देहमास्थाय भक्तानां वरदानाच्च पार्वति।
तापत्रयादिशमनाद्देवता परिकीर्तितः।।

पूजा क्या है? कुलार्णवतन्त्र में कहा गया है—

पूर्वजन्मानुशमनादपमृत्युनिवारणात् ।
सम्पूर्णफलदानाच्च पूजेति कथितं प्रिये।।

पूजा में अभिषेक का स्वरूप क्या है ? कुलार्णवतन्त्र में कहा है—

अलङ्कार इवाभाति कथनात् सेवनादपि।
कम्पानन्दादिजननादभिषेक इति स्मृतः।।

पूजा में न्यास के स्वरूप के विषय में कुलार्णवतन्त्र कहता है—

न्यायोपार्जितवित्तानामङ्गेषु विनिवेशनात्।
सर्वरक्षाकराद्देवि ! न्यास इत्यभिधीयते।।

पूजा में मन्त्र-स्वरूप के विषय में कुलार्णवतन्त्र कहता है—

मननात्तत्त्वरूपस्य देवस्यामिततेजसः।
त्रायते सर्वभयस्तस्मान्मन्त्र इतीरितः।।

मुदं कुर्वन्ति देवानां मनांसि तारयन्ति च।
तस्मान्मन्त्र इति ख्यातो दर्शितव्यः कुलेश्वरि।।

अनन्तफलदानाच्च क्षपिताशेषकल्मषः।
मातृकात्मतया लाभकरणादक्षमालिका।।

यमभूतादिसर्वेभ्यो भयेभ्योऽपि कुलेश्वरि।
त्रायते सततञ्चैव तस्मान्मन्त्र इतीरितः।।

समस्त पूजाओं के लक्ष्य दो हैं। उनमें प्रथम है— मलापसारण। मल क्या है? 'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्' अर्थात् अज्ञान एवं संसारांकुर-कारण ही मल है।

पूजा में आसन के विषय में कुलार्णवतन्त्र कहता है—

आत्मसिद्धिप्रदानाच्च सर्वरोगनिवारणात्।
नवसिद्धिप्रदानाच्च आसनं कथितं प्रिये।।

पूजा में दीप के विषय में कुलार्णवतन्त्र में इस प्रकार कहा गया है—

मोहध्वान्तप्रशमनात् क्षयार्तिविनिवारणात्।
दिव्यरूपप्रदानाच्च परतत्त्वप्रकाशनात्।।

ख्यातो मोक्षो दीप इति मोक्षमार्गैकसाधनः।

पूजा में उपासना (उपास्ति) क्या है? इस विषय में कुलार्णवतन्त्र कहता है—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
समीपसेवा विधिना उपास्तिरिति कथ्यते।।

पूजा में अक्षत क्या है? कुलार्णवतन्त्र कहता है कि—

आत्मज्ञानप्रदानाच्च क्षपिताशेषकल्मषात्।
तदात्मकरणाद्देवि ! अक्षताः परिकीर्तिताः।।

पूजा में ध्यान के विषय में कुलार्णवतन्त्र में इस प्रकार कहा गया है—

यावदिन्द्रियसन्तापमनसा सन्नियम्य च।
स्वान्तेनाभीष्टदेवस्य चिन्तनं ध्यानमुच्यते।।

कुलार्णवतन्त्र में पूजा में गुरुतत्त्व के विषय में कहा गया है कि—

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधत्वाद् गुरुरित्यभिधीयते।।

गुह्यागमात्मतत्त्वान्धनद्धानां बोधनादपि।
रुद्रादिदेवतारूपाद् गुरुरित्यभिधीयते।।

पूजा में नैवेद्य को स्पष्ट करते हुये कुलार्णवतन्त्र में कहा गया है कि—

चतुर्विधकुलेशानि द्रव्यञ्च षड्रसान्वितम्।
निवेदनाद् भवेत्तृप्तिर्नैवेद्यं समुदाहृतम्।।

यदि देवी के मन्त्र का जप करना है तो मन्त्र को अक्षरसमष्टि न मान कर शक्ति का प्रतीक मानना चाहिये, मन्त्र के रूप में शक्ति का अवतार मानना चाहिये; तभी मन्त्र की सार्थकता है; क्योंकि देवी सर्वमन्त्रस्वरूपिणी हैं। ललितासहस्रनाम में कहा भी है—

सर्वेश्वरी सर्वमयी सर्वमन्त्रस्वरूपिणी ।

यदि देवी के यन्त्र की पूजा करनी हो तो उसे भी कोई भौतिक रेखांकन नहीं मानना चाहिये; क्योंकि यन्त्र भगवती का ही रूप है, अत: यन्त्र को भी भगवती का ही रूप मानना चाहिये; जैसा कि ललितासहस्रनाम में कहा भी है—

सर्वयन्त्रात्मिका सर्वतन्त्ररूपा मनोन्मनी।

पञ्चत्रिंश अध्याय

भगवती त्रिपुरसुन्दरी की उपासना

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की उपासना के दो भेद हैं— अन्तर्याग एवं बहिर्याग। पात्र आसन से आरम्भ करके शान्तिस्तव में अन्त होने वाला कर्मसमूह बहिर्याग होता है। नामा-धाराद्राजदन्तान्त तेजस्तन्तु का विभावन ही अन्तर्याग है। इसे मानसी देवपूजा भी कहा जाता है।

भास्करराय ने सौभाग्यभास्कर (श्लोकसंख्या-४ की व्याख्या) में अन्तर्याग एवं बहिर्याग को इन शब्दों में निरूपित किया है—

'अन्तर्यागो नामधाराद्राजदन्तान्तं तेजस्तन्तोर्विभावनम्। मानसी देवी पूजा वा तस्य इतिकर्तव्यता। बहिर्यागः पात्रासादनादिशान्तिशान्तिस्तवान्तःकर्मसमूहः'।

अन्तर्याग के तीन प्रकार हैं— सकल, सकल-निष्कल एवं निष्कल। श्रीचक्र का विभावन भी त्रिविधात्मक है।

भगवती त्रिपुरसुन्दरी की उपासना के योग्य तीन रूप हैं— स्थूल, सूक्ष्म एवं पर।

क. भगवती का स्थूल रूप— कर-चरण आदि शरीरावयवों एवं इन्द्रियों से युक्त शारीरिक रूप से कल्पित भगवती का रूप उनका स्थूल रूप है; जैसा कि नित्याषोडशिकार्णव (प्रथम) में वर्णित है—

ततः पद्मनिभां देवीं बालार्ककिरणारुणाम्।
जपाकुसुमसङ्काशां दाडिमो कुसुमोपमाम्।।

पद्मरागप्रतीकाशं कुङ्कुमोदकसन्निभाम्।
स्फुरन्मुकुटमाणिक्यकिङ्किणीजालमण्डिताम्।।

कालालिकुलसङ्काशकुटिलालकपल्लवाम्।
प्रत्यग्रारुणसङ्काशवदनाम्भोजमण्डलाम्।।

किञ्चिदर्धेन्दुकुटिलललाटमृदुपट्टिकाम्।
पिनाकिधनुराकारसुभ्रुवं परमेश्वरीम्।।

आनन्दमुदितोल्लोललीलान्दोलितलोचनाम्।
स्फुरन्मयूखसङ्घातविततस्वर्णकुण्डलाम्।।

सुगण्डमण्डलाभोगजितेन्द्वमृतमण्डलाम्।
विश्वकर्मादिनिर्माणसूत्रसुस्पष्टनासिकाम्।।

ताम्रविद्रुमविम्बाभरक्तोष्ठीममृतोपमाम्।
स्मितमाधुर्यविजितमाधुर्यरससागराम्।।

अनौपम्यगुणोपेतचिबुकोद्देशशोभिताम् ।
कम्बुग्रीवां विशालाक्षीं मृणाललिलितैर्भुजैः ।। आदि।

ख. भगवती का सूक्ष्म रूप— भगवती सुन्दरी का द्वितीय रूप मानसी रूप है, जो शरीरावयवों से रहित मन्त्रात्मक रूप है, जो कि मात्र श्रवणेन्द्रिय-वागेन्द्रियगोचर है।

ग. भगवती का पर रूप— यह वासनात्मक, पुण्यात्मालभ्य, अन्तर्विभावनीय एवं आन्तर अनुभूतिगम्य है।

यद्यपि भगवती के तीन स्वरूपों की कल्पना की गई है; किन्तु मुख्यतः इसे द्विविधात्मक ही मानना चाहिये। इसके द्विविध स्वरूप हैं— रूपात्मक एवं अरूपात्मक।

रूपात्मक स्वरूप स्थूल रूपानुसन्धानात्मक है। अरूपात्मक स्वरूप पररूपानुसन्धानात्मक है और यही भगवती का चरम रूप है। यह जो पररूपानुसन्धानात्मक स्वरूप है। उसका उपयोग उपर्युक्त दोनों स्तरों पर होता है। भगवती के प्रथम रूप की उपासना बहिर्याग से की जाती है और उनके द्वितीय रूप की उपासना अन्तर्याग से निष्पादित की जाती है। आचार्य भास्कर का कथन है कि अन्तर्याग एवं बहिर्याग (रूपात्मक एवं अरूपात्मक स्वरूप की उपासना) मुख्यतः मानस व्यापार ही है, कोई बाह्य कर्मकाण्ड नहीं है।

त्रिपुरोपासना के विभिन्न मत (सम्प्रदाय)

कौलमत (६४ तन्त्र) मिश्रमत (०८आगम) समयिमत (शुभागमपञ्चक)

पूर्व कौल उत्तर कौल

कौल एवं मिश्र मार्ग बाह्य पूजा वाले हैं—

मिश्रकं कौलमार्गञ्च परित्याज्यं हि शाङ्करि !।

आन्तर और बाह्य पूजा— आन्तर पूजन में समस्त क्रियायें मानसिक होती हैं और बाह्य पूजन में बाह्य सामग्रियों द्वारा पूजन किया जाता है। आन्तर पूजन को अन्तर्याग एवं बाह्य पूजन को बहिर्याग कहते हैं। बहिर्याग की साधना का अभ्यास किये विना अन्तर्याग होना अत्यन्त कठिन है। बहिर्याग के निम्न अंग हैं—

१. जप— महाशक्ति के किसी एक स्वरूप के बोधक मन्त्र का विधिवत् पुरश्चरणादि नियमानुसार जप करना।

२. होम— मन्त्र-जप के दशांश संख्या का हविर्द्रव्यों द्वारा अग्नि में हवन।

३. तर्पण— पञ्च द्रव्यों के उपयोग द्वारा अपने-अपने अधिकार के अनुसार सन्तर्पण करना।

४. मार्जन— संस्कारों का मार्जन।

५. ब्राह्म भोजन— न्याय एवं सत्य के द्वारा अर्जित धन से देवी के प्रसन्नतार्थ सुयोग्य ब्राह्मणों को भोजन कराना।

भगवती त्रिपुरसुन्दरी की पूजा दो प्रकार से की जाती है— बहिर्यागात्मक पूजा एवं अन्तर्यागात्मक पूजा। सौभाग्यभास्कर में पूजा के दो प्रकार बताये गये हैं— अन्तर्याग एवं बहिर्याग। इनमें से अन्तर्याग के पाँच भेद होते हैं— पटल, पद्धति, वर्म, स्तोत्र एवं सहस्रनाम। साथ ही बहिर्याग के भी पाँच प्रकार कहे गये हैं— जप, होम, तर्पण, मार्जन एवं ब्राह्मणभोजन। इनका विवेचन निम्नवत् है—

१. पटल— मन्त्राक्षरों द्वारा मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा एवं सहस्रदल चक्र में देवी के स्वरूप की भावना करके चित्त को शक्तिसम्पन्न करना 'पटल' कहलाता है। देवी के स्वरूपबोधक मन्त्र के अक्षरों से पिण्ड के नाड़ीव्यूह में सविस्तार भावना का पटल बनाना।

२. पद्धति— उस मन्त्रपटल के द्वारा पञ्च या षोडश उपचारों से हृदयादि पीठ में देवी का पूजन करना 'पद्धति' कहलाता है।

३. कवच (वर्म)— इस प्रकार नाडियों एवं हृदयादि पीठस्थानों में पटल और पद्धति की रचना करने के बाद विद्या के अर्थात् इष्टमन्त्र के अक्षरों द्वारा स्थूल देह पर कवच की रचना करके देवी के अनेक नामों द्वारा पिण्ड की रक्षणभावना करना वर्म या कवच है।

४. स्तोत्र— इसके अनन्तर देवी के लघुस्तवी आदि रहस्यस्तोत्र का पाठ।

५. सहस्रनाम— रहस्यस्तोत्र के द्वारा देवी के अनेक गुणों में से विशेष ध्यान में रखने योग्य सहस्र गुणों के बोधक नामों के द्वारा आन्तर भूमिका में देवी को नमस्कार करना 'सहस्रनाम' कहलाता है।

आचार्य हयग्रीव ने शाक्तदर्शनम् के सोलहवें अध्याय के तृतीय पाद में दशाङ्गों का वर्णन किया गया है और कहा गया है—

१. जपेन्नित्यं दशाङ्गानि।

२. कवचहृदयसहस्रनामस्तवराजलहरीवेदपादस्तवावरणस्तवगीताथर्वशीर्षसूक्तान्यङ्गानि।

देवीकवच, देवीहृदय, देवीसहस्रनाम, स्तवराज, सौन्दर्यलहरी, वेदपादस्तव, आवरण-स्तव, गीता, अथर्वशीर्ष एवं अथर्वस्तव ।

पहले अन्तर्याग करके बाद में बहिर्याग करना चाहिये—

अन्तर्यागं विधायादौ बहिर्यागं समाचरेत्।

त्रिपुरसुन्दरी गायत्री का मन्त्र इस प्रकार है— 'सौस्तन्नः क्लिन्ने प्रचोदयात्'।

भगवती त्रिपुरसुन्दरी की श्रीविद्या की सिद्धि किसे होती है?

निष्कामानामेव श्रीविद्यासिद्धिः न कदाऽपि सकामानाम्। (श्रुति)

मोक्तुमिच्छसि चेद् ब्रह्मन् कामनोपासनं त्यज।
निष्कामाञ्चितधीवृत्त्या मामुपास्य विमोक्ष्यसे।। (स्मृति)

देव्योपासना और उसके अंग— भगवती त्रिपुरसुन्दरी की पूजा दो प्रकार से की जाती है— बहिर्याग और अन्तर्याग।

बहिर्याग तो पात्र, आसन, शान्तिस्तव आदि कर्मसमष्टि है और अन्तर्याग आधारचक्र से राजदन्तान्त तेजस्तन्तु की विभावना है। यह मानसी देवपूजा है। भास्करराय ने सौभाग्य-भास्कर में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है— 'अन्तर्यागो नामधाराद्राजदन्तान्तं तेजस्तन्तोर्विभावनम्। मानसी पूजा वा तस्य क्रम इतिकर्तव्यता। बहिर्याग: पात्रासनादि शान्तिस्तवान्त: कर्मसमूह:। स एवाष्टाष्टकादिघटितो महायाग:'। भास्करराय कहते हैं कि इसका वरिवस्यारहस्य की 'प्रकाश' नामक (अपनी ही) टीका में मैंने सविस्तार वर्णन किया है। भगवती सुन्दरी की पूजा के प्रकारों का ललितासहस्रनाम में इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

अन्तर्यागक्रमश्चैव बहिर्यागक्रमस्तथा।
महायागक्रमश्चैव पूजाखण्डे प्रकीर्तिता:।।

वरिवस्यारहस्यम् में आन्तरिक एवं बाह्य अङ्ग— भास्करराय ने वरिवस्यारहस्यम् के द्वितीय अंश के १५९-१६१ क्रमांक के श्लोकों में श्रीविद्या के बाह्याङ्गों एवं आन्तर अङ्गों का वर्णन किया है। ये निम्नांकित हैं—

विद्यावर्णेयवोद्धार: कालस्तदुच्चार:।
उत्पत्तिस्थानं तद्यत्नो रूपं स्थितिस्थानम्।।

आकार: स्वं रूपं विभाव्यमर्थोऽन्तरङ्गाणि।
ऋषयश्छन्दोदैवतविनियोगा बीजशक्तिकीलानि।।

न्यासा ध्यानं नियमा: पूजादीनि बहिरङ्गाणि।
बाह्यान्यङ्गानि पुन: प्रायो लोके प्रसिद्धकल्पानि।।

श्रीविद्या के आन्तरिक अङ्ग— वरिवस्यारहस्यम् (प्रकाश) टीका के अनुसार इस विद्या के वर्णों की संख्या, उद्धार, काल (मात्रा), उच्चारण, स्थान, प्रयत्न, रूप, विभिन्न स्थितियाँ, आकार आदि श्रीविद्या के अङ्ग हैं।

श्रीविद्या के बाह्याङ्ग— वरिवस्यारहस्यम् (प्रकाश) टीका के अनुसार ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग, बीज, शक्ति, कीलक, न्यास, ध्यान, नियम, पूजा आदि श्रीविद्या के बाह्य अङ्ग हैं।

पूजा के अन्तर्गत पात्र-आसन से शान्तिस्तवपर्यन्त सभी अङ्ग— ये नित्यादिभेद से त्रिविध हैं और परादिभेद से भी त्रिविध हैं। केवलादिभेद से पञ्चविध हैं। 'आदि' शब्द होम, तर्पण आदि परिग्रह का वाचक है।

ऋषि = हयग्रीव आदि। छन्द = पंक्त्यादि। देवता = त्रिपुरसुन्दरी। विनियोग = इष्टार्थजनकत्व। बीज = वाग्भव आदि। शक्ति = परा आदि। कीलक = कामराज आदि।

न्यास = ऋष्यादि न्यासजाल। ध्यान = 'अरुणां करुणातरङ्गिताक्षीम्' आदि। नियम = पुण्ड्रेक्षुदण्ड-भक्षण-वर्जन-संकल्पादिक।[1] वर्णसंख्या = ५८। उद्धार = 'क्रोधीशः श्रीकण्ठारूढः' आदि। काल = 'कालस्त्रिलवोनैकत्रिंशन्मात्रात्मकः' अर्थात् ३ लवों से ३१ मात्रा तक। उच्चार = 'एकलवोना ऊनत्रिंशन्मात्रा उच्चारणस्य' अर्थात् १ लव से २९ मात्रात्मक। उच्चारण = पञ्चदशी मन्त्र के वर्णों का उच्चारण। उत्पत्तिस्थान = कण्ठ, तालु आदि। यत्न = आन्तर एवं बाह्य। रूप = रूपादित्रय 'प्रलयाग्निनिभं' आदि द्वारा कहा गया है। 'स्वं रूपं व्यष्टिविभेदात्' द्वारा कथित। विभाव्य = अवस्थापञ्चक आदि। अर्थ = गायत्र्यर्थादिरूप। भास्करराय कहते हैं कि उपासकों के लिये ये बाह्याङ्ग एवं अन्तरङ्ग दोनों अत्यावश्यक हैं—

'एतानि बहिरङ्गत्वेनावश्यकानि' एवं 'इमान्यन्तरङ्गत्वादुपासकानामत्यावश्यकानि'।[2]

ऋषि = (ऋष = अपरोक्ष दर्शन)। 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' (यास्क)। मन्त्रों के द्रष्टा ही 'ऋषि' कहलाते हैं। ये ऋषि 'स्मारकाः न तु कारकाः' अर्थात् ये मन्त्रों के स्मारक हैं, कारक नहीं हैं। ऋषियों ने साधनबल के द्वारा मन्त्र की साधन-प्रणाली का आविष्कार किया है, मन्त्रों का नहीं।

ऋषि-छन्द-देवता आदि के ज्ञान की महत्ता— गौतमीय तन्त्र, शाक्तानन्दतरङ्गिणी एवं अन्य शास्त्रों में कहा गया है कि इन तत्त्वों का ज्ञान न होने से मन्त्र फल प्रदान नहीं करते तथा ऐसा साधक पापभागी होता है—

क. ऋषिछन्दोऽपरिज्ञानान्न मन्त्रः फलदो भवेत्।
दौर्बल्यं याति मन्त्राणां विनियोगमजानताम्।। (गौतमीयतन्त्र)

ख. ऋषिछन्दोदेवतानां विन्यासेन विना यदि।
करोति साधको यच्च तत्सर्वं विफलं भवेत्।।
(शाक्तानन्दतरङ्गिणी)

ग. अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयान् जायते तु सः।। (स्मृति)

मन्त्रजप के दस संस्कार भी होते हैं— जनन, दीपन, ताड़न, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण, जीवन, तर्पण, गोपन एवं आप्यायन । इन्हीं दस संस्कारों से मन्त्र चैतन्य होता है और उसी से मन्त्र फलप्रद होते हैं। श्रीविद्या के विषय में तो तिथि-वार-नक्षत्र आदि का बन्धन नहीं है; किन्तु अन्य मन्त्रों के जप की सिद्धि हेतु इनका भी बन्धन है।

देवोपासना के पाँच अङ्ग हैं— कवच = देवता का शरीर, पटल = देवता का शिर, पद्धति = देवता के हाथ, सहस्रनाम = देवता का मुख और स्तोत्र = देवता का पैर। कहा भी है—

१. वरिवस्यारहस्यम् (प्रकाश)
२. वरिवस्यारहस्यम् (प्रकाश), श्लोक-१५९-१६१

पटलं पद्धतिर्वर्म तथा नामसहस्रकम्।
स्तोत्राणि चेति पञ्चाङ्गं देवतोपासनं स्मृतम्।।

कवचं देवतागात्रं पटलं देवताशिरः।
पद्धतिर्देवहस्तौ तु मुखं साहस्रकं स्मृतम्।
स्तोत्राणि देवतापादौ पञ्चाङ्गं सिद्धिदं स्मृतम्।।

पूजा करने के उपरान्त पटल, कवच, सहस्रनाम एवं स्तोत्र का पाठ करने से देवता की उपासना सर्वाङ्ग पूर्ण होती है। कोई भी अङ्ग छोड़ने से उपासना अङ्गहीन हो जाती है।

जिस पूजा एवं उपासना का उपदेश दिया गया है, उसका अद्वैत शैव-शाक्तनय में कोई यथार्थ महत्त्व नहीं है, क्योंकि पूजक जब स्वयं शिव है तो वह किसकी पूजा करे? क्या ब्राह्मीभाव की अद्वैत स्थिति में पूजा सम्भव है?

विज्ञानभैरव में कहा गया है कि पशुरूपी प्रमाता को जब भावना के माध्यम से पति-रूपी रुद्र प्रमाता (अनाश्रित शिव) की शक्ति में समावेश (तन्मयता) प्राप्त हो जाता है तब इस तन्मयीभाव को 'क्षेत्र' कहा जाता है। इस भैरवशास्त्र की अद्वय दृष्टि में पूज्य-पूजकभाव एवं तर्प्य-तर्पकभाव की द्वैतदृष्टि सम्भव ही नहीं है; क्योंकि इस स्थिति में तो पूजन-तर्पण आदि व्यापार भी अद्वय तत्त्व से भिन्न नहीं रह पायेंगे। इसीलिये विज्ञानभैरव में कहा गया भी है—

रुद्रशक्तिसमावेशस्तत्क्षेत्रं भावना परा।
अन्यथा तस्य तत्त्वस्य का पूजा कश्च तृप्यति।।

यैरेव पूज्यते द्रव्यैस्तर्प्यते वा परापरः।
यश्चैव पूजकः सर्वः स एवैकः क्व पूजनम्।।

इसी भाव एवं दृष्टि की पुष्टि प्रभाकौल में भी की गई है—

यावत्तत्परमं शान्तं न विजानन्ति सुन्दरि
तावत्पूजाजपध्यानहोमलिङ्गार्चनादिकम् ।
विदिते तु परे तत्त्वे सर्वाकारे निरामये
क्व पूजा क्व जपो होमः क्व च लिङ्गपरिग्रहः।।

कौलावली-प्रोक्त अन्तर्यजनविधान— अन्तर्याग करके ही बहिर्यजन करना चाहिये; क्योंकि अन्तर्याग किये विना कोई साधक बहिर्याग का अधिकारी नहीं होता। इसका विधान इस प्रकार है—

साधक अपने हृदय में सुधासागर का ध्यान करे और उसके मध्य स्वर्णबालुका वाले रत्नद्वीप की कल्पना करे। इस द्वीप के चारो ओर मनोहर पारिजात वृक्षों की भी भावना करनी चाहिये। इन वृक्षों के मध्य ५० अक्षरमय कल्पवृक्ष की, उसके मूल में शतयोजन विस्तीर्ण, ब्रह्माण्डमण्डल-व्याप्त एवं स्वर्णनिर्मित प्राचीर से युक्त चतुर्द्वारात्मक, रत्नजटित,

सूर्यवत् प्रकाशित तेजोमन्दिर की कल्पना करनी चाहिये। फिर कल्पना करनी चाहिये कि उसमें चामर, घण्टा एवं वितान आदि सुशोभित हो रहे हैं। सुगन्धित वायु एवं सुगन्धित गन्ध से समस्त वातावरण मादक बन गया है। उसके मध्य-स्थित रत्नमण्डित वेदिका पर स्वर्णतारों से निर्मित मनोहर छत्र तना हुआ है। वेदिका पर पीयूषपूरित महायन्त्र स्थापित है।

तदुपरान्त साधक को मनोभावना से षोडशदल कमल के प्रत्येक दल पर दक्षिणावर्त क्रम से पाद्य के तीन पात्र, अर्घ्य के तीन पात्र, आचमन के छ: पात्र, मधुपर्क के तीन पात्र एवं भोग का एक पात्र स्थापित करना चाहिये। पात्रों को सहस्रार-निर्गत अमृत से, पीयूष से पूरित करके पीठपूजा करनी चाहिये। फिर सर्वोपरि भाग में पश्चिमाभिमुखी कमल का ध्यान करना चाहिये।

इस कल्पित पद्म के भीतर (यन्त्रराज के बिन्दु में) शिव-शक्तिसंयोग से स्रवित अमृतानन्द से आनन्दनिर्भर परिवारसहित स्वेष्टदेवता का आवाहन करके मानसोपचारों से उसे उत्तम द्रव्य अर्पित करना चाहिये।

प्रथमत: आसन देकर, स्वागत करके, कुशल-क्षेम पूछकर चरणों में पाद्य, शिर पर अर्घ्य एवं सहस्रदल भृङ्गार से आलम्बित नाल-नलिका से नि:सृत परमामृतरूप जल को स्वर्णपात्र में लाकर भाव-पुष्पों से संयुक्त करके मुख में आचमन जल देना चाहिये। फिर मुख में मधुपर्क देकर आचमन कराये। चौबीस तत्त्वरूप गन्ध का अर्पण करना चाहिये और फिर स्वयम्भू कुसुम एवं कुंकुम तथा रक्तचन्दन निवेदित करना चाहिये। फिर धूप-दीप को सात एवं आठ भाव वाले पुष्पों से पूजित करके समर्पित करना चाहिये। फिर महादेवी को मन:कल्पित विविध नैवेद्य अर्पित करके तीन बार तर्पण करना चाहिये। तत्पश्चात् षडंग देवों, गुरुपंक्तियों एवं अंगदेवताओं का पूजन करके सर्वेष्टदेवता को स्नान कराना चाहिये।

प्रथम विधि— साधक अपने वामभाग में रत्नसिंहासन से मण्डित मण्डल कल्पित करके उस पर देवी को मनोभावना द्वारा कल्पित करके नाना गन्धों से समन्वित कल्पित करके सुगन्धित तैल देकर गन्ध-तोयसमन्वित स्वर्णकलशगत नाना तीर्थजल से परदेवता का स्नान कराकर कौशेय वस्त्रों से अंगों को मार्जित करके उसे रक्त वर्ण के कौशेय वसन पहनाये। साधक अपनी आँखों के तेजस् तत्त्व से शरीर पोंछे। कान के आकाशतत्त्व से वस्त्र की कल्पना करे। विधिवत् वन्दना करके नाना रत्नजटित कंघी से केशों का संस्कार करे। फिर साधक रत्नजटित रेशम के गुच्छों से वेणी ग्रथित करे। फिर ललाट पर तिलक लगाये और माँग में सिन्दूर लगाये। हाथों में नागेन्द्र-दन्तनिर्मित शंख एवं केयूर, कंकण एवं कटक देकर देवी को अलंकृत करे।

फिर चरणाब्जों की उँगलियों में नाना रत्नजटित अंगुलीयक, पैरों में नूपुर एवं कटि में करधन पहनाये। शिर को चूडामणि एवं सिर को रत्नजटित किरीट, कानों को ताटंक-कुण्डल, नेत्रों को कज्जल, नासाग्र को गजमौक्तिक, ग्रीवा को मणिमौक्तिक एवं ग्रीवापत्र, आनन्दहार एवं उँगलियों को रत्नजटित अँगुलीयकों से सुशोभित करे।

तदुपरान्त साधक समस्त अंगों में गन्ध-चन्दन एवं सिद्धक का लेप करे, ओष्ठों में काञ्चनाञ्चित कञ्चुली एवं आलक्तक लगाये। फिर साधक प्रवालजटित स्वर्णपादुका देकर रत्नजटित पालने पर बैठाकर मण्डप में लाकर पुन: पाद्यादिक से सेवा करके भगवती को गन्धादिक लगाकर भाव-पुष्पों से उसकी पूजा करे। तदुपरान्त अमाया, अनहंकार, अराग, अलोभ, अमद, अमोह, अदम्भ, अद्वेष, अक्षोभ, अमात्सर्य, १० भावपुष्पों एवं अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, दया, क्षमा एवं ज्ञानरूपी भावपुष्पों (१५ पुष्पों) से भगवती की पूजा करे।

इसके उपरान्त साधक कनेर, जपाकुसुम, द्रोण, चम्पा, नागकेशर, अपरा, कदम्ब एवं पारिजातपुष्पों की सुगन्धित माला एवं सप्तद्वीपसमुत्पन्न पुष्पों एवं विभिन्न जातीय पद्मों से निर्मित सुमेखला देवी को समर्पित करे।

इसके उपरान्त साधक कुण्डलोद्भव एवं वायुरूप धूप, सहस्रार की कर्णिका के पात्र में परमामृतरूप तैल, मूलाधारस्थ चिदग्नि का दीप, मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त सुषुम्नाहत वायु से उत्पन्न अनाहत नाद का घण्टा, षड्रसमय नैवेद्य, अम्बररूप चामर, सूर्यरूप दर्पण, चन्द्रमण्डलरूप उत्तम छत्र, सुधासमुद्ररूप मांसशैल, मत्स्यराशि, अनेकविध फल, सुपक्व घृताक्त एवं सुचारु चरु, घृताक्त परमान्न, भक्ष्य-भोज्य-चोष्य-लेह्य-पेय चर्वण पदार्थ समर्पित करके अर्घ्य जल से पुन: आचमन कराकर मूलाधारोत्थ वायु से बाह्य चक्र प्रदान करे। फिर साधक सत्त्व-रज गुणों से समन्वित कर्पूरचूर्णमिश्रित ताम्बूल रत्नपात्र में रखकर देवी को अर्पित करके पुन: उनका तर्पण करते हुये उनके अंगदेवताओं का पूजन-तर्पण करके पुन: देवी की पूजा करके और तर्पण समाप्त करके अन्तर्मातृका का जप करके उसे देवी को समर्पित करे तथा स्तुतिपाठ करे। तदुपरान्त साधक पुष्पशय्या बना कर उस पर देवी को आसीन करके मनरूपी नर्तक द्वारा नर्तन कराकर तालसंयुक्त सुरम्य संगीत द्वारा गीत सुनाकर देवी को सन्तुष्ट करे और इस प्रकार कामेश्वरसहित कामेश्वरी देवी और अपने में एकीभाव की भावना करके सिद्धि का अधिकार प्राप्त करे। यही है— अन्तर्यजन का विधान।

जो साधक मन से सहस्र रक्तकमल देवी को अर्पित करता है, वह सहस्रों कोटि तथा सैकड़ों कोटिकल्प देवीपुर में स्थित होकर फिर पृथ्वी पर पृथ्वीपति बन कर अवतीर्ण होता है। जो साधक भगवती को मन से भक्ति एवं श्रद्धापूर्वक नैवेद्य अर्पित करने की आकांक्षा रखता है, वह दीर्घायु एवं सुखी होता है। जो मन से देवी की प्रदक्षिणा करता है, वह देवीधाम में निवास पाता है और नरकों के दर्शन से दूर रहता है। जो मन से भी देवी को नमन करता है, वह शिवलोक में वास पाकर महत्तम कहलाता है।

अन्तर्यजन की द्वितीय विधि— अन्तर्यजन की विधि भी है, जो इस प्रकार है— विशाल बुद्धि का साधक प्रथमत: गुरु का ध्यान करे और फिर हृदय में स्थित विमल पुष्कर तीर्थ या बिन्दुतीर्थ में स्नान करे। इससे पुनर्जन्मों का अन्त हो जाता है।

शरीर के भीतर ज्ञानरूपी जल से पूर्ण इड़ा-सुषुम्णारूपी नदियाँ बह रही हैं।

शिवतीर्थ इन दोनों नदियों में ब्रह्मरूप जल से जो स्नान करता है, उस साधक को गंगा-जल एवं पुष्करतीर्थ के जल की क्या आवश्यकता है? स्नान के बाद सन्ध्या करनी चाहिये। कुलनिष्ठों की सन्ध्या शिव-शक्तिसमायोग का काल है। सूर्य-चन्द्र-अग्नि के सम्मिलन से प्रवाहित परामृत से परदेवता का तर्पण करना चाहिये। यही है— दिव्यतर्पण। दिव्यार्घ्य भी पृथक् अर्घ्य है। ब्रह्मरन्ध्र के अधोभाग में जो चन्द्रमारूपी उत्तम पात्र है, उसे कलासार से पूर्ण करके उससे खेचरी का तर्पण करना चाहिये।

न्यास-विधान— न्यास की सिद्धि के लिये चतुर्दल 'आधारचक्र' में 'वं शं षं सं' (४ दल); लिङ्गमूलस्थ विद्युद्वर्ण 'स्वाधिष्ठान' में 'बं भं मं यं रं लं' (६ दल); नाभिस्थल स्थित मेघवर्ण दशदल 'मणिपूर' में 'डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं'; हृदयस्थित रक्तवर्ण द्वादशदल कमलरूप 'अनाहत' चक्र में 'कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं'; कण्ठस्थित धूम्रवर्ण षोडशदल 'विशुद्धा'ख्य चक्र में 'अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं एं ऐं ओं औं अं अः' एवं भ्रूमध्यस्थित 'आज्ञा' चक्र में अर्थात् श्वेत वर्ण द्विदल पद्म में 'हं क्षं' वर्णों का न्यास करना चाहिये।

इन अन्तर्मातृकावर्णों का कण्ठच्छदक्रम से ध्यान करने के उपरान्त षडंग न्यास करना चाहिये, जिससे कि साधक देवीमय हो जाता है।

तान्त्रिक पूजाविधान

१. तर्पणविधि— विषयपुष्पों से तर्पण करके साधक को भगवती में तन्मय हो जाना चाहिये। तन्मयता ही वास्तविक न्यास है। साधक को देवी की 'सोऽहं' भाव से पूजा करनी चाहिये।

२. जपविधि— मूलाधारस्थ वर्णमाला द्वारा जप करना चाहिये। यह माला ५० मणियों से निर्मित और शिव-शक्तिरूपी सूत्र से ग्रथित है। इसकी अन्तिम कला 'मेरु, क्षं' है। प्रत्येक उच्चारण सबिन्दु करना चाहिये। इसके प्रत्येक वर्ण पर अपने इष्टमन्त्र का लोम-विलोमविधि से एकाग्र मन से जप करना चाहिये और जप के पूर्ण हो जाने पर स्वकल्पोक्त विधि से देवी को उसका फल समर्पित करना चाहिये। स्तुतियों द्वारा सभी का बार-बार समर्पण करना चाहिये।

३. होमविधि— होम करने से चिन्मयता आती है। साधक को चाहिये कि वह अपने को अपरिच्छिन्न अव्यय के रूप में कल्पित करे और साथ ही आत्मा, अन्तरात्मा एवं परम ज्ञानात्मा— इनका एकीभूत रूप ही चित्कुण्ड चतुरस्र है। आनन्दमय सुरम्य मेखला है और इसमें तीन बिन्दुमय तीन वलय हैं और अर्धमात्रा योनिरूप ब्रह्मानन्दमय है। साधक सर्वज्ञान-विजृम्भित परदेवमय संवित् अग्नि में स्थिरचित्त होकर हवन करे। 'अ' से 'क्ष' पर्यन्त वर्णमण्डित शब्दसमूह मातृका है। उसमें समस्त वर्ण हुत हैं। निः-शब्द ही ब्रह्म है।[१]

---

१. कौलावलीनिर्णय

हवनीय द्रव्य— कृत्याकृत्य, पाप-पुण्य, संकल्प-विकल्प, धर्माधर्म हव्य द्रव्य हैं। नाभिमण्डल में स्थित चिदग्नि में मनरूपी स्रुवा से निम्न मन्त्रों के आदि में मूलमन्त्र जोड़-कर साधक यथाक्रम हवन करे—

१. नाभिमण्डलचैतन्यरूपाग्नौ मनसा स्रुचा।
ज्ञानप्रदीपिते नित्यमक्षवृत्तिर्जुहोम्यहम्।। (स्वाहा)

२. धर्माधर्महविर्दीप्तमात्माग्नौ मनस स्रुचा।
सुषुम्नावर्त्मना नित्यमक्षवृत्तिर्जुहोम्यहम्।। (स्वाहा)

३. प्रकाशाकाशहस्ताभ्यामवलम्ब्योन्मनी स्रुचा।
धर्माधर्मौ कलास्नेहपूर्णवह्नौ जुहोम्यहम्।। (स्वाहा)

४. अन्तर्निरन्तरनिबन्धनमेघमाने
मायान्धकारपरिपन्थिनि संविदग्नौ।। (स्वाहा)

५. कस्मिंश्चिद्भुतमरीचिविकाशिभूमौ
विश्वं जुहोमि वसुधां दिशि वावसानम्।। (स्वाहा)

६. इदन्तु पात्रभरितं महोत्तापपरामृतम्।
पूर्णाहुतिमये वह्नौ पूर्णहोमं जुहोम्यहम्।। (स्वाहा)[1]

३. महा अन्तर्यजन विधि— यह ब्रह्मयज्ञस्वरूप है। ब्रह्मयज्ञ महायज्ञ है। इससे ब्रह्मज्ञानी साधक को अपने मन से ही मन को देखकर यह यज्ञ करना चाहिये।

जैसे समस्त नदियाँ सिन्धु में ही प्रविष्ट होकर लय हो जाती हैं, उसी प्रकार समस्त शरीर को महाशून्य में लय कर देना चाहिये। साधक ब्रह्मयज्ञ करके फिर सभी मन्त्रों का जप करे। आत्मा में किया गया यज्ञ ही सभी यज्ञों का फलदाता है।

कर्मयज्ञ, मनोयज्ञ एवं प्राणयज्ञ हुताशन हैं। ये समस्त यज्ञों का फल प्रदान करते हैं। ब्रह्मकर्ता के द्वारा ब्रह्माग्नि में ब्रह्मरूप हवि करके ब्रह्मसमाधि द्वारा ब्रह्म में ही मिलकर ब्रह्मत्व प्राप्त करना ब्रह्मयज्ञ है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।

साधक को चाहिये कि अपने को ब्रह्म समझकर (अहं ब्रह्मास्मि की भावना करके) समस्त कार्यों को सम्पादित करता रहे।[2]

कौलावलीनिर्णय में अन्तर्यजन एवं बाह्य यजन का सविस्तार विवेचन किया गया है।

बहिर्यजनविधान— साधक को स्वेष्टदेवानुरूप स्वर्ण, रजत, ताम्र, अष्टधातु, शालिग्राम शिला आदि का 'यन्त्रराज' निर्मित करना चाहिये। श्वेत चन्दन, रक्त चन्दन,

---

१. कौलावलीनिर्णय २. कौलावलीनिर्णय

काश्मीर-मृतिका या दर्पण में यन्त्र का निर्माण करना चाहिये। इसके अतिरिक्त भूर्जपत्र, स्फटिकखण्ड, रत्न या कुलशक्ति पर यन्त्र का निर्माण करना चाहिये। स्वयम्भू कुसुम, कुण्डगोलोत्थ द्रव्य, रोचना, अगर, केशर, कस्तूरी, श्वेत चन्दन से मिश्रित गन्ध से यन्त्रराज को लिखना चाहिये। श्वेत चन्दन, रक्त चन्दन, अगर, कर्पूर, सिन्दूर, कस्तूरी, गोरोचन, लाक्षा, कुलगोलोद्भव, स्वयम्भू कुसुम या केशर— इन गन्धों से स्वर्ण-लेखनी से या रत्नजटित लेखनी से या पुष्प से या बेल के काँटों से स्वयं चक्रराज लिखे।

अपराजिता पुष्प, श्वेत-रक्त कनेर, अड़हुल एवं द्रोणपुष्प में देवी का निवास होता है। इन्हें यन्त्रराज के रूप में ग्रहण करके इनमें चण्डिका का पूजन किया जा सकता है।

यन्त्र की स्थापना— उत्तराभिमुखी होकर चक्र लिखना चाहिये। यन्त्र लिखकर उसे आसन पर समासीन करना चाहिये। शीशा, काँसा, राँगा, काठ के पीढ़े या दीवार पर यन्त्र कभी स्थापित नहीं करना चाहिये। प्रथमत: नीचे पुष्प रखकर ही यन्त्र की स्थापना करनी चाहिये। यन्त्र जिस पर स्थापित किया जाय, वह आधार भी सुगन्धित रहना चाहिये। साधक को चाहिये कि वह देवी से अपने को अभिन्न रूप में ध्यान करते हुये अपने शिर पर पुष्प रखे।[१]

भगवती के अन्तर्यजन में (समयमत के अनुसार) यद्यपि भगवती की पूजा बैन्दव-स्थान (चतुष्कोण) में करणीय है; किन्तु पुरश्चरणात्मक क्रिया में संवित्कमल में त्रिकोण को आरोपित करके सहस्रदल कमल से बैन्दवस्थानस्था कामेश्वरी को अवरोपित करके पुरश्चरण करना समयमतानुमोदित है।

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की उपासना के मार्ग में जो भी बहिर्यजन स्वीकार्य है, उनमें से प्रत्येक के आदर्शस्वरूप को प्रतीक के रूप में ही स्वीकार किया गया है। यहाँ तक कि स्नान जैसी स्थूल क्रिया को भी प्रतीकात्मक दृष्टि से ही गृहीत क्रिया गया है। विज्ञानभैरव (२४९) में कहा गया है कि स्वतन्त्रानन्द चिन्मात्रसार स्वात्मारूपी जल में आवेशन ही स्नान है—

स्वतन्त्रानन्दचिन्मात्रसार: स्वात्मा हि सर्वत:।
आवेशनं तत्स्वरूपे स्वात्मन: स्नानमीरितम्।।

जहाँ तक याग की बात है तो याग कोई बाह्यावर्ती शारीरिक भौतिक व्यापार नहीं है; प्रत्युत समाधिजन्य आनन्द से सम्प्राप्त सन्तुष्टि ही 'याग' है—

यागोऽत्र परमेशानि तुष्टिरानन्दलक्षणा।
क्षपणात्सर्वपापानां त्राणात्सर्वस्य पार्वति।।

जहाँ तक पूजा की बात है तो वह क्या है? इसके विषय में अभिनवगुप्त तन्त्रालोक (४.१२१) में कहते हैं कि रूप-रस आदि विभिन्न बाह्य पदार्थों की देश-काल

१. कौलावलीनिर्णय (तृतीय उल्लास)

आदि से अपरिच्छिन्न, निरुपधिक, स्वतन्त्र, भैरवाकार परसंवित् से (बोधभैरव से) अभेदरूप में प्रतिष्ठा ही पूजा है—

पूजा नाम विभिन्नस्य भावौघस्यापि सङ्गतिः।
स्वतन्त्रविमलानन्तभैरवीयचिदात्मना ॥

शक्तिमन्त्रं जपेद्रात्रौ विनापि पूजनं शुचिः।
विशेषतो निशीथे तु तत्रातिफलदो जपः॥

(शाक्तानन्दतरङ्गिणी-५ उल्लास)

भगवती की उपासना की विविध पद्धतियाँ

१. स्थूलोपासना— कर-चरण आदि अङ्गों का ध्यान, उसकी उपासना।
२. सूक्ष्मोपासना— मन्त्रात्मक उपासना।
३. परोपासना— वासनात्मक उपासना।

क. प्रथमा— स्थूलरूपानुसन्धानात्मिका (सरूपा)।
ख. चरमा (अरूपा)— पररूपानुसन्धानात्मिका।

बहिर्याग स्थूलोपासना का ही पर्याय है। इसका प्रथम रूप कामकला का ध्यान है। त्रिपुरा महोपनिषद् में कहा भी गया है—

द्वा मण्डला द्वा स्तना बिम्बमेकं मुखं चाधस्त्रीणि गुहसदनानि।
कामीं कलां काम्यरूपां विदित्वा नरो जायते कामरूपश्च काम्यः॥

मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमध्यस्तस्य तदधो हकारार्द्धं ध्यायेत्।

बहिर्याग का द्रव्य ही इसका द्वितीय रूप है। त्रिपुरा महोपनिषद् में कहा भी गया है—

परिस्रुतं झषमाद्यां पलञ्च भक्तानि योनीः सुपरिष्कृतानि।
निवेदयन्देवतायै महत्यै स्वात्मीकृत्य सुकृतीसिद्धिमेति॥

बहिश्चक्र में भगवती की स्थापना और वहीं उसकी उपासना करने का निर्देश त्रिपुरा महोपनिषद् में किया गया है—

त्रिविष्टपं त्रिमुखं विश्वमातुर्नवरेखाः स्वरमध्यं तदीले।
बृहत्तिथीर्दशपञ्चादिनित्या सा षोडशी पुरमध्यं बिभर्ति॥

भगवती के ध्यान का जो सगुण रूप वर्णित किया गया है और जिसके आधार पर भगवती का ध्यान किया जाता है, उसे ही भगवती का स्थूल रूप एवं उसकी उपासना ही 'स्थूलोपासना' कही जाती है।

बहिर्याग (भास्करराय का मत)

- भगवती के सगुण स्वरूप की उपासना
- बहिश्चक्र की उपासना
- कामकला की उपासना

बहिर्याग में पुंरूप या नारीरूप का ध्यान करना चाहिये; किन्तु नारी एवं पुंरूप दोनों ही समप्रधान है। इसमें मूल देवता के सगुण रूप का चिन्तन करना चाहिये तथा बहिश्चक्र की उपासना करनी चाहिये।

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार भगवती के पररूप भी त्रिविध हैं— नारीरूप, पुरुषरूप एवं निष्कल रूप।

> पुंरूपां वा स्मरेद्देवीं स्त्रीरूपां वा विचिन्तये।
> अथवा निष्कलं ध्यायेत्सच्चिदानन्दलक्षणम्।।

भास्करराय के अनुसार परोपासना में निष्कल जप किया जाना चाहिये। आचार्य भास्कर-प्रतिपादित भगवती की सूक्ष्म उपासना (देवता के सूक्ष्म स्वरूप की उपासना)—

> कामो योनिः कमला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः।
> पुनर्गुहा सकला मायया च पुरुच्येषा विश्वमाताऽऽदिविद्या।।

देवता (देवी) **के तीन रूप** (भास्करराय : त्रिपुरामहोपनिषद्व्याख्या)

स्थूल (देवता का ध्यानस्वरूप) | सूक्ष्म (मूलमन्त्रस्वरूप) | पर (पररूपोपासना—परदेवता = त्रिपुरा)
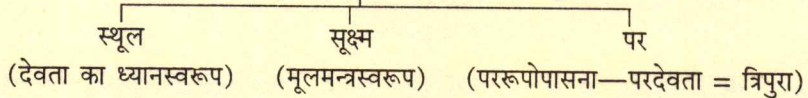
सगुण सरूप की उपासना = बहिर्याग। अरूपा उपासना = अन्तर्यागात्मक उपासना।

साधना के तीन रूप

बहिर्याग | जप | अन्तर्याग

श्रीविद्या के अन्तरङ्गावयव
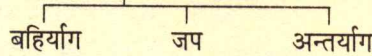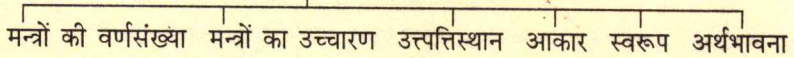
मन्त्रों की वर्णसंख्या | मन्त्रों का उच्चारण | उत्पत्तिस्थान | आकार | स्वरूप | अर्थभावना

श्रीविद्या के बहिरङ्ग अवयव

ऋषि | छन्द | देवता | विनियोग | बीज | शक्ति | कीलक | न्यास | ध्यान | नियम | पूजार्चनादि
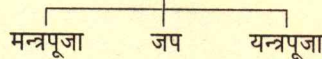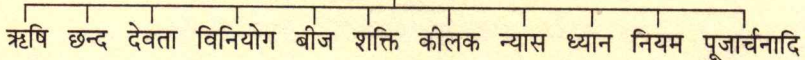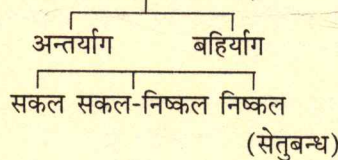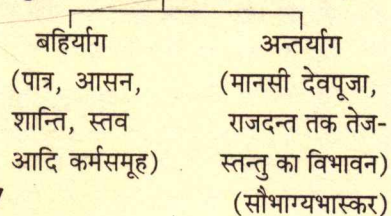
षट्त्रिंश अध्याय

भगवती त्रिपुरसुन्दरी के विभिन्न स्वरूप और उनकी उपासना

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी को श्रुति (उपनिषद्) भी विभिन्न रूपों में देखती हुई उसको विविध स्वरूपाकारित मानती है। त्रिपुरामहोपनिषद् में उसे मदन्तिका, मानिनी, मंगला, सुभगा, सुन्दरी, शुद्धमत्ता, लज्जा, मति, तुष्टि, अरिष्टा, पुष्टा, लक्ष्मी, उमा, ललिता एवं लालपन्ती नामों से अभिहित किया गया है—

मदन्तिका मानिनी मङ्गला च सुभगा च सा सुन्दरी शुद्धमत्ता।
लज्जा मतिस्तुष्टिरिष्टा च पुष्टा लक्ष्मीरुमा ललिता लालपन्ती।।

पद्मपुराण में देवीतीर्थों की गणना करते हुये क्षेत्रविशेष के आधार पर देवी के निम्न नाम बताये गये हैं—

प्रयाग तीर्थ में 'ललिता देवी', लंका में 'मंगला', त्रिकूट में 'भद्रसुन्दरी', करवीर प्रदेश में 'महालक्ष्मी', विनायक देश में 'देवी', देवदास वन में 'पुष्टि', काश्मीर में 'मेधा', वत्सेश्वर में 'तुष्टि'।

मदन्तिका आदि १४ देवियाँ वाराणसी में स्थित विशालाक्षी आदि की बोधिका हैं। लाल-पन्ती = लालप्यमाना। १५ अक्षरों की १५ देवियाँ। शुद्धमत्ता = अथर्वणपाठ— सिद्धिमत्ता।[१]

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की उपासना पर प्रकाश डालते हुए त्रिपुरामहोपनिषद् में कहा गया है कि पूर्वोक्त परदेवता की उपासनाविधि को पूर्ण रूप से जान कर दीक्षापूर्वक उपासना स्वीकार करके अपने शरीर से अभिन्न श्रीचक्र में पीयूषीकृत परिस्रुत द्रव से तृप्त करते हुये भक्त जो इन्द्रियों के विषयों का निर्विकल्प रूप से भोग करते हैं, वे महदाकाश-पृष्ठ पर स्थित त्रिपुरा के धाम में निवास करते हैं।

इस श्रुति में अमृतीकरण संस्कार का वर्णन किया गया है। इसकी अधिष्ठात्री देवी सुधा देवी है। यह बात संवित् संस्कार मन्त्रवर्णों से ज्ञात होती है—

मन्त्रसंस्कारसंशुद्धं तदेवामृतमुच्यते।[२]

भगवती त्रिपुरा के उपासकों की सभी कामनाओं की पूर्ति होती है और अन्त में वे मोक्ष प्राप्त करते हैं। देवीभागवत में कहा भी गया है—

एवं सर्वगता शक्तिः सा ब्रह्मेति विविच्यते।
सगुणा निर्गुणा चेति द्विविधोक्ता मनीषिभिः।।

सगुणा रागिभिः पूज्या निर्गुणा तु विरागिभिः।
धर्मार्थकाममोक्षाणां स्वामिनी सा निराकुला।

---

१. भास्करराय— त्रिपुरामहोपनिषद्भाष्य। २. रुद्रयामल ३. देवीभागवत

ददाति वाञ्छितानर्थानर्चिता विधिपूर्वकम्।।[३]

जिन्होंने श्रीविद्या की दीक्षा प्राप्त की है, उन्हें द्रव्ययुक्त पीठार्चन से निर्विकल्प वृत्ति के द्वारा सभी कामनाओं की भावना करनी चाहिये। 'इमां विज्ञाय' पद यही सूचित करता है। 'तर्पयन्त:' पद बहिर्यागविधि का निर्देश करता है। १२हवीं ऋचा में प्रयुक्त 'निवेदयन् स्वात्मीकृत्य' पदों द्वारा देवता से निवेदन एवं स्वात्मीकरण की जो समकालीनता प्रदर्शित की गई है, उससे दिव्य पानविधि से ही उक्त श्रुति का तात्पर्य बोधित होता है, वीरपान-विधि से नहीं। कहा भी गया है—

पानं तु त्रिविधं प्रोक्तं दिव्यवीरपशुक्रमै:।
दिव्यं देव्यग्रत: पानं वीरमुद्रासने कृतम्।।

यह पररूपोपास्ति का विधान है।[१]

सूक्ष्मरूपात्मक उपासनाविधि (पञ्चदशी विद्यात्मक)— भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की जो सूक्ष्म रूपोपासना है, उसके सन्दर्भ में त्रिपुरामहोपनिषद् में इस प्रकार उसके मन्त्र-स्वरूप को उद्घाटित किया गया है—

कामो योनि: कमला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्र:।
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरुच्येषा विश्वमातादिविद्या।।[२]

यहाँ कामराजोपासिता विद्या का उपदेश दिया गया है।

यह उपर्युक्त तान्त्रिक ऋचा गायत्री मन्त्र का बोधक है। आचार्य भास्करराय ने वरिवस्यारहस्यम् में इसी के माध्यम से तान्त्रिकी पञ्चदशी विद्या का उद्घाटन किया है। चूँकि यह मन्त्र स्त्रीदेवतात्मक है; अत: इसे 'विद्या' कहा गया है। यह आदि विद्या गायत्री की उद्धारिका है।

त्रिपुरतापिन्युपनिषद् एवं भागवत— दोनों भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा भी गया है—

सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि।
बुद्धिं यो न: प्रचोदयात्।।

काम एवं मातरिश्वा, चतुर्मुखवाचक अक्षर के कमला एवं योनि, पन्द्रह स्वरों के इन्द्र और वज्रपाणि, तृतीय अन्त:स्थ अक्षर के, गुहा एवं माया भुवनेश्वरीबीज के एवं 'अभ्र' पद उक्त मन्त्र के आद्यक्षर हकार एवं शेष पञ्चक (ह स स क ल) उसके स्वरूप के बोधक हैं।

यह आदिविद्या पुरुची (सनातनी) विश्वमाता (विश्वजनयित्री) है। योगिनीहृदय के सम्प्रदायार्थप्रकरण में मन्त्राक्षरों द्वारा विश्वोत्पत्ति के प्रसङ्ग में इसका सविस्तार वर्णन किया गया है। इस मन्त्र की दत्तात्रेय, अगस्त्य आदि ऋषियों ने मार्मिक व्याख्या की है और वरिवस्या-

१. भास्कर राय (त्रि० भाष्य) २. त्रिपुरामहोपनिषद (८)

रहस्यम् के माध्यम से भास्करराय ने भी इसकी पुष्कल विवेचना की है।

पञ्चदशी कादि विद्या के प्रत्येक अक्षर के अनुसार उनकी १६ शक्तियाँ हैं— मदन्तिका, मानिनी, मङ्गला, सुभगा, सुन्दरी, त्रिपुरा, सिद्धिमत्ता, लज्जा, मति, तुष्टि, इष्टा, पुष्टा, लक्ष्मी, उमा, ललिता और लालपन्ती।

अष्टम मन्त्र प्रकाशवती विश्वमातास्वरूपा आदिविद्या पर प्रकाश डालते हुये कहता है— कामः (ककार), योनिः (एकार), कामकला (ईकार), वज्रपाणि (इन्द्र = लकार), गुहा (ह्रीं), हसा (ह स), मातरिश्वा (ककार), अभ्र (हकार), इन्द्र (लकार), पुनर्गुहा (ह्रीं), सकला (सकल), मायया (ह्रीं)— यह प्रकाशवती विश्वमातास्वरूपा आदिविद्या है।[1] कादि विद्या के उपरान्त अग्रिम मन्त्र में 'लोपामुद्रा विद्या' पर प्रकाश डाला गया है।

लोपामुद्रा विद्या— इसमें कहा गया है कि कादि विद्या के छठे, सातवें एवं वह्निसारथि (मातरिश्वा = वायु) का मूलत्रिक (प्रथम अक्षरत्रय) के स्थान पर आदेश करने वाले साधक कथ्य (वाच्य पद) सर्वज्ञ कल्प के निर्माता कामेश्वर को प्रसन्न करके मुक्त हो जाते हैं (कल्पः शास्त्रे विधी न्याये संवर्ते ब्रह्मणो दिने)। यही लोपामुद्रा विद्या है।

लोपामुद्रा विद्या के मूल त्रिक— मन्त्र के प्रथम अक्षरत्रय निकाल कर उनके स्थान पर छठा, सातवाँ एवं आठवाँ अक्षर रखकर जप करने वाले परमशिव का जप करते हुये मोक्ष के भागी होते हैं। वह परमशिव (काम) कामना करने वाला, विश्वकल्पना का अधिष्ठान (कवि), वेदप्रणेता (कथ्य) और वेद-ज्ञेय है।

परदेवता के तीन प्रकार के ध्यान विहित हैं। कुलार्णवतन्त्र में कहा भी गया है—

पुंरूपां वा स्मरेद्देवीं स्त्रीरूपां वा विचिन्तये।
अथवा निष्कलं ध्यायेत्सच्चिदानन्दलक्षणम्।।

यद्यपि परोपासना में निष्कल का जप करना चाहिये और बहिर्याग में पुंरूप या स्त्रीरूप का ध्यान करना चाहिये; क्योंकि स्त्री-पुंरूप की समप्रधानता का प्रतिपादन किया गया है; परन्तु सम्प्रदायानुसार ऐच्छिक विकल्प भी मान्य है।

सातवें मन्त्र (इमां.................चाविशन्ति) में कहा गया था कि इस विद्या को जानकर (सुधारूपी) मदिरा से मदन्ती को उसकी पीठ (श्रीचक्र) में तृप्त (आह्लादित) करने वाले महान् पुरुष स्वर्ग के ऊपर वास करते हैं और त्रैपुर धाम में प्रवेश करते हैं—

इमां विज्ञाय सुधिया मदन्ती परिस्रुता तर्पयन्तः स्वपीठम्।
नाकस्य पृष्ठे महतो वसन्ति परं धाम त्रैपुरं चाविशन्ति।।

मनु, चन्द्र आदि १२ श्रीसम्प्रदाय के उपासकों द्वारा उपासित अन्य विद्याओं का त्रिपुरतापिनी उपनिषद् में जो उद्धार प्रदर्शित किया गया है, उसमें भी प्रकृति के इन्हीं दो

१. त्रिपुरामहोपनिषद्

रूपों की प्रधानता है। ज्ञानार्णवतन्त्र में द्वादश विद्याओं का उद्धार करके कहा गया है—

विद्याद्वयमिदं भद्रे देवानामपि दुर्लभम्।

कादि विद्या का उद्धार पहले हुआ है; अतः उसका प्राधान्य प्रतीत होता है। ब्रह्माण्ड पुराण में कहा भी गया है—

श्रीविद्यैव तु मन्त्राणां तन्त्रकादिर्यथा परा।

सभी विद्यायें अभेदात्मक हैं। आचार्य शंकर ने सौन्दर्यलहरी में इसका उद्धार विपरीत क्रम से दिखाया है। यहाँ अन्तर्याग का प्रकरण होने के कारण उसके अंगभूत जप का उल्लेख किया गया है।

उपासनायें तो तीनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। कहा भी गया है—

अन्तर्यागबहिर्यागौ गृहस्थः सर्वदाऽचरेत्।
चक्रराजार्चनं विद्याजपो नाम्नाञ्च कीर्तनम्।
भक्तस्य कृत्यमेतावदन्यदभ्युदयं विदुः।।

यहाँ केवल अन्तर्याग एवं जप को ही विशेष फलप्रद कहा गया है।

इसके अनन्तर स्थूलोपासना की विधि का निर्देश किया गया है और मूल देवता के सगुण रूप का चिन्तन करके बहिश्चक्र में उसकी स्थापना के लिये उसके स्थूल विशेष रूप का उपदेश अग्रिम दसवीं ऋचा में किया गया है।

इसमें कहा गया है कि नव रेखाओं वाले संहारचक्र में 'अः' स्वर का स्थान मध्य में है। इस त्रिमुख चक्र को त्रिपुरसुन्दरी का निवासस्थान समझकर मैं उसकी स्तुति करता हूँ। वह त्रिपुरसुन्दरी पन्द्रह तिथियों के पति (सूर्य) की भाँति श्रीचक्र के मध्य विसर्गस्वर (:) के स्थान पर आसीन है। तृतीय चरण से यह भी ध्वनितार्थ निकलता है कि दक्षिण-ऊर्ध्व और अधोरेखाओं में से पाँच-पाँच का नित्य पूजन किया जाना चाहिये।

आचार्य भास्कर कहते हैं कि त्रिकोण का तात्पर्य मध्यत्रिकोण है। विश्वमाता भगवती त्रिपुरसुन्दरी की पूजा इसी त्रिकोण में की जाती है। यह त्रिकोण कामेश्वरी आदि पन्द्रह नित्या देवताओं से परिवेष्टित है और इनकी पूजा ५-५ के क्रम से क्रमशः त्रिकोण की तीनों रेखाओं पर की जाती है। ज्ञानार्णवतन्त्र में लिखा भी गया है—

विभाव्य च महत्त्र्यस्रमग्रदक्षोत्तरक्रमात्।
रेखासु विलिखेत्पश्चात्पञ्च पञ्च क्रमेण ह।।

अकाराद्यानुकारान्तान्दक्षिणायां विचिन्तयेत्।
ततश्च पूर्वरेखायां दीर्घकर्णादिपञ्चकम्।।

विलिख्योत्तररेखायां शक्त्यादि विलिखेत्ततः।
अनुस्वारान्तं मध्ये च विसर्गे षोडशीं यजेत्।।

महात्रिपुरसुन्दरी और षोडशी कला— चन्द्रमा की वृद्धि-क्षयशालिनी कलायें पन्द्रह हैं। ये पन्द्रह कलायें पन्द्रह तिथियाँ हैं। इन्हें तन्त्रशास्त्र में 'दर्शाद्या: पूर्णिमान्ताश्च कला: पञ्चदशैव तु' से आरम्भ करके 'दर्शा दृष्टा दर्शता' (३.१०.१) इत्यादि नामों से तैत्तिरीय उपनिषद् में उल्लिखित किया गया है। इनकी कारणस्वरूपा एवं वृद्धि तथा क्षय से रहित जो सदाख्या है, वही षोडशी कला है। इसी षोडशी कला को (पन्द्रह नित्याओं का कारण होने से) आदि नित्या कहा गया है। वही भगवती महात्रिपुरसुन्दरी भी है। ये आदित्यस्वरूपा हैं और श्रीचक्र के मध्य स्थान को विभूषित करती हैं।

भगवती के स्थूल विशेष रूप को बोधित करने के लिये ही त्रिपुरामहोपनिषद् में निम्न मन्त्र पढ़ा गया है—

त्रिविष्टपं त्रिमुखं विश्वमातुर्नवरेखा: स्वरमध्यं तदीले।
बृहत्तिथीर्दशपञ्चादिनित्या सा षोडशी पुरमध्यं बिभर्ति।।

सप्तत्रिंश अध्याय

भगवती त्रिपुरसुन्दरी की पूजा (सपर्या) का आदर्श स्वरूप

आचार्य शंकर अपने सौन्दर्यलहरी में कहते हैं कि हे भगवति ! तेरी पूजा कोई पृथक् व्यापार बन कर जीवन में न आये; वह सावधि एवं निश्चित कालसापेक्ष न हो, प्रत्युत ऐसी हो, जिसमें मेरा बोलना ही जप बन जाय; समस्त व्यापार मुद्राविरचना बन जायँ; चलना-फिरना प्रदक्षिणा बन जायँ; खाना-पीना आहुति बन जायँ; मेरा सोना प्रणाम बन जाय; मेरे समस्त सुखोपभोग तेरे भोग-समर्पण बन जायँ और मेरे समस्त विलास तेरी पूजा-पद्धति बन जायँ—

जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचनं
गतिः प्रादक्षिण्यं भ्रमणमशनाद्याहुतिविधिः।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदशा
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्।।

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि— सामयिकों के मत में समय-सादाख्य तत्त्व की सपर्या केवल सहस्र कमलमात्र में होती है, बाह्य पीठादिक में नहीं। जो-जो समयी योगीश्वर हुये हैं, जो जीवन्मुक्त हुये हैं, वे संसारयात्रा के समय भी सादाख्या तत्त्व का सततानुचिन्तन करते हुये 'जपो जल्पः शिल्पं' इत्यादि पद्धति से ही पूजा करते रहे हैं; ऐसे आत्मैकप्रवण, जीवन्मुक्त एवं सादाख्य समयपूजकों की सपर्या की यही सपर्या-पद्धति है— 'समयिनां मते समयस्य सादाख्यतत्त्वस्य सपर्या सहस्रदलकमल एव, न तु बाह्यपीठादौ। ये ये समयिनो योगीश्वराः जीवन्मुक्ताः संसारयात्रामनुवर्त्तमानाः सादाख्यतत्त्व-मनुचिन्तयन्तः आत्मैकप्रवणाः वर्त्तन्ते तेषां 'जपो जल्पशशिल्पम्' इत्यादिना सपर्याप्रकारो निरूपितः'।

सामयिकों की पूजा में प्राधान्य है— षड्विध ऐक्यानुसन्धान की। इसीलिये ये बाह्य पूजागत क्लेशों से दूर रहते हैं— 'ये तु समयिनो योगीश्वराः विजने गुहान्तरे वा बद्ध-पद्मासनाः निगृहेन्द्रियाः सादाख्यतत्त्वध्यानैकनिष्ठाः वर्त्तन्ते तेषां वक्ष्यमाणचतुर्विधषड्विधै-क्यानुसन्धानमेव भगवत्याः सपर्या इति'। चन्द्रज्ञानविद्या में कहा गया है—

सूर्यमण्डलमध्यस्थां देवीं त्रिपुरसुन्दरीम्।
पाशाङ्कुशंधनुर्बाणान् धारयन्तीं प्रपूजयेत्।।

यह साम्य इस प्रकार है— अधिष्ठानसाम्य, अवस्थानसाम्य, अनुष्ठानसाम्य, रूप-साम्य एवं नामसाम्य।

सामयिक षट्चक्रपूजा भी नहीं करते; क्योंकि उनकी पूजा सहस्र कमल की ही पूजा

होती है, अन्य नहीं— 'तेषां षट्चक्रपूजा न नियता, अपितु सहस्रकमल एव पूजा'। यह सहस्र कमलपूजा भी एक विशिष्ट विधान है। इसमें कैसी पूजा होती है? इसका समाधान इस प्रकार है— 'सहस्रकमलपूजानाम सहस्रकमलस्य बैन्दवस्थानत्वेन तन्मध्यगतचन्द्रमण्डलस्य चतुर आत्मना, तन्मध्यबिन्दोः पञ्चविंशतितत्त्वातीतषड्विंशात्मकशिवशक्तिमेलनरूपसादाख्यात्मना च अनुसन्धानम्। अतएव समयिमते बाह्याराधनं दूरत एव निरस्तम्। षोडशोपचाररूपपूजाङ्गकलापश्च ततोऽपि दूरत एव'।

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की त्रिविधोपासना— श्रीपरशुरामकल्पसूत्र, योगिनीहृदय, त्रिपुरार्णव आदि त्रैपुरसिद्धान्त के ग्रन्थों के अनुसार भगवती की उपासना के तीन रूप हैं— स्थूल, सूक्ष्म एवं पर।

भगवती की उपासना के प्रकार— योगिनीहृदय के अनुसार भगवती की उपासना के तीन प्रकार हैं— परा (परोपासना), परापरा (सूक्ष्मोपासना) एवं अपरा (स्थूलोपासना)। इसी को स्थूल, सूक्ष्म एवं पर उपसना भी कही जाती है।

क. स्थूलोपासना में शास्त्रोक्त लक्षणों से युक्त गुरु से मन्त्रदीक्षा ग्रहण करके इष्टमन्त्र का विधिपूर्वक पुरश्चरणरूप में जप विहित पद्धति के अनुसार आह्निक प्रातःस्मरणादि, सन्ध्योपासना, सपर्या, भूतशुद्धि, प्राणायाम, मातृकान्यास एवं इष्टमन्त्रन्यास का निष्पादन किया जाता है।

मन्त्रन्यास से शरीर देवमय हो जाता है। बाह्यार्चन के द्वारा स्थूल शरीरस्थ 'आणव मल' का अपनोदन होता है और चाञ्चल्य का निराकरण होता है। स्थूलोपासना ही प्रकारान्तर से बहिर्याग एवं अपरा पूजा भी है। इससे सूक्ष्मोपासना एवं अन्तर्याग का अधिकार प्राप्त होता है।

ख. सूक्ष्मोपासना को ही परापरा पूजा भी कहा गया है। यही अन्तर्याग भी है। इसमें समस्त पूजन-व्यापार मानसिक होते हैं। मुख्यतः यह मानसिक जपविधान है। जिस प्रकार श्रीयन्त्र की बाह्य पूजा की जाती है, उसी प्रकार हृदय में श्रीयन्त्र का ध्यान करके उस पर विराजमान भगवती की मानसिक पूजा की जाती है। बाह्य पूजा में गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि जितनी वस्तुयें भगवती को समर्पित की जाती हैं, उन सभी वस्तुओं या पूजोपकरणों (सामाग्रियों) की मानसिक कल्पना करके हृदयस्थित भगवती को समर्पित किया जाता है— 'यद्यद्बाह्ये वक्ष्यमाणं तत्तदन्तरमाचरेत्'।

मानसिक पूजा या सूक्ष्मोपासना में पूजा के अंग एवं पूजा के उपकरणों की भावनात्मक या मानसिक रूप से विभावना की जाती है। इसमें जप भी मानसिक ही होता है, न कि वाचिक या उपांशु।

ज्ञानार्णव आदि तन्त्रग्रन्थ में 'आमूलाधारादाब्रह्मविलं विलसन्ती' द्वारा निर्देशित मूलाधार चक्र से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त कुण्डलिनी का ध्यान करके षट्चक्रों में श्रीयन्त्र के नवावरण के देवताओं की पूजा करने का निर्देश दिया गया है।

योगिनीहृदय (३.१११) के अन्तर्याग विधान में आदेश दिया गया है कि 'स्वप्रधाप्रसराकारं श्रीचक्रं पूजयेत्सुधी:'। श्रीचक्र को अपने संवित् देवता का प्रसरण-व्यापार मान कर उसकी पूजा करनी चाहिये। अमृतानन्द योगी 'दीपिका' में कहते हैं कि श्रीचक्र और कुछ नहीं है; वह केवल अपने संवित् देवता के अन्त:करण, अव्यक्त, महत् तत्त्व, अहंकार, ग्यारह इन्द्रियाँ, उनकी विभिन्न वृत्तियाँ, उनके विषय, पुर्यष्टक, षोडश विकार धातुप्रपञ्च ही हैं। ये ही श्रीचक्र के रूप में स्फुरित होते हैं। उस श्रीयन्त्र को अपनी प्रथा का प्रसार मानकर उसकी मानसिक पूजा करना भी सूक्ष्म पूजा या परापर पूजा ही है। सेतुबन्ध में भास्करराय ने कहा भी है— 'स्वप्रथाप्रसराकारं परापरपूजालक्षणं स्मारितम्'।

अमृतानन्द योगी अपनी दीपिका में 'महामख' का जो विधान करते हैं, वह भी सूक्ष्मोपासना का ही विधान है। 'मुख्याम्नायरहस्य' को उद्धृत करते हुये वे महामखात्मक पूजन का प्रतिपादन करते हैं, जिसका स्वरूप इस प्रकार है—

इन्द्रियग्रामसंग्राह्यैर्गन्धाद्यैरात्मदेवताम् ।
स्वाभेदेन समाराध्य ज्ञातुस्सोऽयं महामख:।।

अन्तर्याग की साधना में परिपक्वता आने पर साधक में एक नयी भावदशा का आविर्भाव हो जाता है, जिसमें वह सारे भोगों को अपनी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हुये भी उसे भगवान् द्वारा गृहीत एवं उपभुक्त होता हुआ देखता है; अत: वह उनके द्वारा ही भगवान् की पूजा करता है और यही पूजापद्धति 'महामख' है। 'ज्ञातुस्सोऽयं महामख:' अर्थात् मैं अपनी इन्द्रियों द्वारा जो भी भोग्य पदार्थ ग्रहण कर रहा हूँ, वह स्वात्म देवता की पूजा ही है— यही भावात्मक वरिवस्या महायाग है। योगिनीहृदय में इसे ही परापरा पूजा कहा गया है। इसमें द्वैताद्वैतभाव का योग है। योगिनीहृदय द्वारा अनुसृत हादि विद्याप्रक्रिया एवं ज्ञानदीपनविमर्शिनी में बहिर्याग एवं अन्तर्याग दोनों को साथ-साथ करने का विधान है। परापरा पूजा के स्तर पर सांसारिक कर्मों से वैराग्य एवं विषयों से वैराग्य होने लगता है।

'जप' प्रारम्भ में तो मानसिक जप के रूप में ग्राह्य है; किन्तु परापरा पूजा में चैतन्यीकरण द्वारा चेतन इष्ट मन्त्र का सुषुम्णा मार्ग में स्फुरित स्पन्द प्रारम्भ हो जाता है। इस जपप्रक्रिया में मन एवं प्राण दोनों ही का प्रभाव नहीं रहता। यह मन्त्र का सकल-निष्कल रूप है। चिरकालिक जपाभ्यासोपरान्त मन्त्र का सायास जप नहीं करना पड़ता; प्रत्युत वह अपने-आप होने लगता है। अपने-आप कण्ठ से जप होने लगना या हृदय में स्वत: स्फुरित होना ही जप की सहजावस्था है। साधक केवल इस नाम-जप का श्रवण करता रहता है। यही है— मन्त्रचैतन्य की दशा। शुद्ध विद्या का उदय ही है— मन्त्रचैतन्य। शिवसूत्र में कहा भी गया है— 'शुद्धविद्योदयाच्चक्रेशरत्वसिद्धि:'। यही है— मध्यम धाम में प्रवेश, सुषुम्णा नाड़ी का विकास एवं बाह्य क्रिया का अन्तर्यजनात्मक परिणमन।

बहिर्याग + अन्तर्याग— आणव + मायिक मलों की शुद्धि— सुषुम्णा नाड़ी का

विकास। इड़ा-पिङ्गला या वाम-दक्षिण मार्ग में प्राणापान का निरोध करने पर सुषुम्णा का विकास हो जाता है। 'प्राणापानसमौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ' कहकर कृष्ण ने मध्यविकास का ही उपदेश दिया है। इस स्थिति में नाद का आविर्भाव होता है, जो कि इष्टदेव के स्व-स्वरूप का परिणमन होता है—

आनन्दलक्षणमनाहतनाम्नि देशे नादात्मना परिणतं तव रूपमीशे।

इन्द्रियों का संयम करके अन्तर में नादोच्चारण करना चाहिये; क्योंकि यही यथार्थ जप है, न कि बाह्य जप—

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं प्रोच्चरेन्नादमन्तरम्।
एष एव जपः प्रोक्तः न तु बाह्यजपो जपः।।

इसी ज़प की तीव्रता से ही मन्त्रचैतन्य निष्पादित होता है। इससे कुण्डली-प्रबोध एवं षट्चक्रभेदन भी निष्पादित हो जाता है। इस स्थिति में विकसित सुषुम्णा में मन्त्र स्फुरित होकर सिद्ध हो जाता है।

मन्त्र जब तक मात्र वर्णात्मक रहते हैं, तब तक वे 'पशु' कहलाते हैं; लेकिन वे ही वर्णात्मक मन्त्र सुषुम्णा में प्रवेश करने के उपरान्त 'पशुपति' बन जाते हैं—

पशुभावे स्थिता मन्त्राः केवला वर्णरूपिणः।
सौषुम्णे ध्वन्युच्चरिताः पतित्वं प्राप्नुवन्ति ते।। (हंसपारमेश्वर)

सुषुम्णा नाड़ी में सञ्चरित मन्त्र का एक बार का उच्चारण एक बार के सामान्य जप से श्रेष्ठतर होता है—

एकस्य मन्त्रनाथस्याप्यन्तर्बाह्योदितस्य च।
यदैक्यं तं जपं विद्धि लक्षसङ्ख्याधिकं मुने।।

स्पन्दकारिका में ठीक ही कहा गया है कि मन्त्र सुषुम्णा या आत्मा के बल को प्राप्त करके सर्वशक्तिसम्पन्न हो जाते हैं और साधक को सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिशाली बनाकर स्वयं उनके दास बन जाते हैं—

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनः।।

योगिनीहृदय की दृष्टि— पूजा-प्रबोध से साधक जीवन का परम पुरुषार्थ— मोक्ष— जीवन्मुक्ति प्राप्त कर लेता है—

पूजासङ्केतमधुना कथयामि तवानघे।
यस्य प्रबोधमात्रेण जीवन्मुक्तः प्रमोदते।। (योगिनीहृदय)

इसी पूजा को योगिनीहृदय में तीन भागों में विभाजित कहकर प्रस्तुत किया गया है—

परा चाप्यपरा गौरि तृतीया च परापरा।

परा पूजा = प्रथमाद्वैतभावस्था सर्वप्रसरगोचरा'। यह अद्वैतभावावस्थित है। भास्करराय

सेतुबन्ध में कहते हैं कि इसमें द्वैतभान का अभाव रहता है— 'द्वैतभानसामान्याभावे परा'। दीपिका में अमृतानन्द कहते हैं कि यह 'चिल्लयलक्षणाद्वैतप्रथा परापूजा' है।

विज्ञानभैरव में परावस्था का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाऽऽभ्यन्तरे प्रिये।
तत्र तत्र परावस्था व्यापकत्वात्क्व यास्यति।।

योगिनीहृदय के अनुसार तीनों पूजाओं के भिन्न-भिन्न स्वरूप इस प्रकार हैं—

क. परा पूजा : प्रथमाऽद्वैतभावस्था सर्वप्रसरगोचरा।

ख. अपरा पूजा : द्वितीया चक्रपूजा च सदा निष्पाद्यते मया।

ग. परापरा पूजा : एवं ज्ञानमये देवि ! तृतीया तु परापरा।

तीनों पूजाओं में उत्तम पूजा कौन है? इस विषय में कहा गया है कि—

उत्तमा सा परा ज्ञेया विधानं शृणु साम्प्रतम्।

सङ्केतपद्धति की दृष्टि—

न पूजा बाह्यपुष्पादिद्रव्यैर्या प्रथिताऽनिशम्।
स्वे महिम्नद्वये धाम्नि सा पूजा या परा स्थिता।।

अपनी महिमा से महिमान्वित अद्वयधाम में जो पूजा निष्पादित हो, वही यथार्थ पूजा होती है। पुष्पादिक बाह्य पदार्थानुष्ठित पूजा यथार्थ पूजा नहीं है। इसीलिये कहा गया है—

न पूजा बाह्यपुष्पादिद्रव्यैर्या प्रथितानिशम्।

यह परा पूजा सर्वोत्तम क्यों है? इस प्रश्न के समाधान में योगी अमृतानन्द अपनी दीपिका में कहते हैं कि इसके परत्व का कारण है इसका 'परमशिवाद्वैतप्रथात्मकत्व'। वे कहते भी हैं—

क. प्रथमा पूजा परा उत्तमा उच्यते।

ख. परमशिवाद्वैतप्रथात्मकत्वादितरपूजाभ्यामुत्तमत्वम्।

ग. अपरा द्वितीया पूजा भेदप्रथामात्रसारा बाह्यचक्रावरणार्चनारूपा अधमा।

घ. तृतीया पूजा परापरा। बाह्यस्यान्तरे धाम्न्यद्वये चिल्लयभावनामयी मध्यमा परापरात्मकत्वात्।

ङ. चक्रपूजा अपरा पूजा चतुरस्रादिबैन्दवान्तश्रीचक्रसदनावरणदेवतार्चनमपरा पूजा इत्यर्थः।

च. क्या अपरा पूजा त्याज्य है? नहीं; क्योंकि 'अभेदप्रतीत्यर्थमपरा पूजा सदा सर्वैरपि ज्ञानिभिः कार्याः'।

छ. अपरा के बाद परापरा पूजा निष्पाद्य है और उसका स्वरूप निम्नांकित है— 'एवं ज्ञानमये पूर्वोक्ताद्वैतभावनामये धाम्नि बाह्यस्य पृथगात्मकावरणार्चनारूपस्य कर्मणो ज्ञानमयता-विश्रान्तिस्तृतीया परापरा पूजा'। कहा भी गया है—

प्रकाशैकघने धाम्नि विकल्पप्रसरादिकान्।
निक्षिपेत्स्वार्चनद्वारा वह्नाविव घृताहुतीः।।

ज. द्वैतविलयाभ्यासदशायां परापरेति पूजा। (भास्करराय)

झ. सा प्रथमा पूजा परानाम्नी—

यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाऽऽभ्यन्तरे प्रिये।
तत्र तत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते प्रभो।।

ञ. ज्ञानमये चिदेकस्वभावे ब्रह्मणि स्वस्यात्मन: प्रथा अभेदेन प्रस्फुरणं, सा तृतीया।

भास्करराय सेतुबन्ध में पूजा के तीन भेद करते हैं— उत्तमा (परा), मध्यमा (परापरा) एवं अधमा (अपरा) : परैवोत्तमा ज्ञेया। परापरा तु मध्यमा। अपरा त्वधमा। सारांश यह कि—

प्रथमाऽद्वैतभावस्था सर्वप्रचरगोचरा।
द्वितीया चक्रपूजा च सदा निष्पाद्यते मया।।

एवं ज्ञानमये देवि तृतीया तु परापरा।
उत्तमा सा परा ज्ञेया विधानं शृणु साम्प्रतम्।।

परा पूजा का स्वरूप— योगिनीहृदय में परा पूजा का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

महापद्मवनान्तस्थे वाग्भवे गुरुपादुकाम्।
आप्यायितजगद्रूपां परमामृतवर्षिणीम्।।

सञ्चिन्त्य परमाऽद्वैतभावनामृतघूर्णित:।
दहरान्तरसंसर्पन्नादालोकनतत्पर: ।।

विकल्परूपसञ्जल्पविमुखोऽन्तमुख: सदा।
चित्कलोल्लासदलितसङ्कोचस्त्वतिसुन्दर: ।।

इन्द्रियप्रीणनद्रव्यैर्विहितस्वात्मपूजन: ।
न्यासं निर्वर्तयेद्देहे षोढा न्यासपुरस्सरम्।।

एवं योऽन्यस्तगात्रस्तु स पूज्य: सर्वयोगिभि:।
स एव पूज्य: सर्वेषां स स्वयं परमेश्वर:।।

एवं षोढा पुर: कृत्वा श्रीचक्रन्यासमाचरेत्।।

अमृतानन्द योगी कहते हैं कि 'विज्ञानभैरव की पूर्वोक्त दृष्टि के अनुसार श्रोत्र आदि इन्द्रियों के शब्दादि विषयों के अनुभव से जनित आनन्द का महानन्द के साथ समरसी-करण ही परा पूजा है— 'श्रोत्रादीन्द्रियविषयशब्दाद्यानुभवजनितेन महानन्देन समरसीकरणं परा पूजा इत्यर्थ:।

भास्करराय भी सेतुबन्ध में यही दृष्टि प्रस्तुत करते हैं— 'इन्द्रियाणां प्रीतिजनकानि गन्धादीनि द्रवाणि तैरात्मरूपाया देवताया: पूजनं विदध्यात्। तदुक्तं आम्नायरहस्ये—

इंन्द्रियद्वारसंग्राह्यैर्गन्धाद्यैरात्मदेवता ।
स्वाभावेन समाराध्य ज्ञातु: सोऽयं महामख:।।

योगिनीहृदयकार का अभिमत— परा पूजा को व्यापिका एवं समना के मध्य भाग में सहस्रदल कमल अत्यधिक दलसमूहों के कारण 'महापद्मवन' कहा गया है। ब्रह्म-रन्ध्र के नीचे अधोमुखस्थित सहस्र दलों से मण्डित जो सहस्रदल पद्म है, वही यहाँ 'वन' कहा गया है। स्वच्छन्दतन्त्र में भी इसे 'महापद्मवन' कहा गया है—

महापद्मवनं चैव समना तस्य चोपरि।
तस्यान्त:कर्णिकामध्ये तत्स्थे वाग्भवरूपिणी।।

उस सहस्रदल कमल को कर्णिका के मध्य में वाग्भवात्मक त्रिकोण स्थित है। उस त्रिकोण पर विश्वगुरु परमशिव की पादुका स्थित है— 'विश्वगुरो: परमशिवस्य पादुका' (अमृतानन्द)।

योगिनीहृदयप्रतिपादित परोपासना का स्वरूप— यहीं स्वनाथात्मिका अकुलामृत कुण्डलिनी भी स्थित है, जो कि परमामृत की वर्षा करती रहती है। उस अमृताप्लावित परमामृतवर्षिणी एवं जगद्रूपा अकुलामृत कुण्डलिनी के साथ साधक तादात्म्य एवं अद्वैत की भावना करे, दहराकाश में झंकृत नाद का आलोकन (विभावन) करे अर्थात् उनका श्रवण करे। वह विकल्पोत्पादक वार्त्ता कभी न करते हुये अन्तर्मुखी वृत्ति धारण करे, संकुचित चित्कला के उल्लास को प्रस्फुट करे एवं इन्द्रियों को आनन्द देने वाले द्रव्यों से आत्मपूजन करे तथा परमशिव के साथ अद्वैतभावना रखकर 'मैं भी शिव हूँ' इस प्रकार की समावेश दशा को प्राप्त करके शक्ति को अपनी आत्मा के रूप में विभावित करके परमाद्वैतभावनामृत पीकर आनन्दमग्न रहे।

उपासना द्विविधात्मिका है— साञ्जन और निरञ्जन। साञ्जन उपासना सांसारिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति हेतु की जाती है; जबकि निरञ्जन उपासना निष्प्रयोजन, निष्काम एवं महत्तर उद्देश्यों के लिये निष्पादित की जाती है और उससे सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व, शिवस्वरूपता की प्राप्ति होती है। शिवत्व की प्राप्ति ही पूर्ण ख्याति है, न कि सांसारिक तुच्छ एषणाओं की पूर्ति से प्राप्त यश-सम्मान आदि। कहा भी है—

ख्यातिमपूर्णां पूर्णख्यातिं समावेशदार्ढ्ययत: क्षपय।
सृज भुवनानि यथेच्छं स्थापय हर तिरय भासय च।।

'शिवोऽहं' समावेश की दृढ़ता से सिद्धिस्वरूप अपूर्णता का त्याग करके समस्त सिद्धियों की समष्टिरूप शिवत्व से सम्पन्न होकर सृजन, पालन आदि शक्तियों की प्राप्ति करने का चरम उद्देश्य रखना चाहिये। शाक्त समावेश से शाम्भव समावेश में प्रवेश करना चाहिये। यही सूक्ष्म से पर में प्रवेश है।

इस स्तर पर साधक पाप-पुण्य, कृत्य-अकृत्य, संकल्प-विकल्प, धर्म-अधर्मरूप हवि का मनरूप स्रुवा से सुषुम्ना मार्ग से स्वात्मरूप प्रदीप्त वह्नि में हवन करता रहता

है और अन्तर में चिरन्तन प्रज्ज्वलित ज्ञानरूपी संविदग्नि के रश्मियों की विकासभूमि में शिव से पृथ्वीपर्यन्त समस्त विश्वरूप हवि की आहुति देता रहता है—

सर्वभावभयभावमण्डलं विश्वभावमयशक्तिबर्हिषि।
जुह्वतो मम समोऽस्ति कोऽपरो विश्वमेधमययज्ञयाजिनः।।

धर्माधर्महविर्दीप्ते स्वात्मानौ मनसा स्रुचौ।
सुषुम्नावर्त्मना नित्यमक्षवृत्तिं जुहोम्यहम्।।

अन्तर्निरन्तरनिरिन्धनमेधमाने मोहान्धकारपरिपन्थिनि संविदग्नौ।
कस्मिंश्चिदद्भुतमरीचिविकासभूमौ विश्वं जुहोमि वसुधादि शिवावसानम्।।

इसमें आत्मनिष्ठ अहन्ता में विश्वनिष्ठ इदन्ता का समावेश करते हुये महायज्ञ की पूर्णाहुति निष्पादित की जाती है। यह सोचा जाता है कि मैं अनादि वासनारूप इन्धन से प्रज्ज्वलित चिदग्निकुण्ड में हवि डाल रहा हूँ और मैं प्राण-बुद्धि-धर्म से अधिकृत जाग्रतादि अवस्थात्रय में मन-वचन एवं कर्म से हाथ-पैर-इन्द्रियों द्वारा स्मृत समस्त कर्मों को ब्रह्मार्पित करके स्वयं को भी उस तत्त्व में होम कर रहा हूँ— 'अहमेवाहं मा जुहोमि स्वाहा। इतः पूर्वं प्राण-बुद्धि-धर्माधिकारतो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत्स्मृतं यदुक्तं यत्कृतं तत्सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा'।

परम सत्ता में अपनी व्यष्टि सत्ता का समर्पणरूप महायज्ञ स्वात्मचिन्तन में एवं चित् चमत्कार में परिणत हो जाता है। इस स्थिति में साधक के समस्त बाह्य कर्मानुष्ठान समाप्त हो जाते हैं। अन्दर एवं बाहर सर्वत्र चैतन्य आत्मतत्त्व ही प्रसृत दृष्टिगत होता है। इस स्थिति में ध्यान, जप, पूजा, स्तोत्रपाठ आदि विडम्बनामात्र बन जाते हैं। इस समय सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व, पूर्णाहन्ता एवं शिवोऽहं की अनुभूति स्फुरित होती रहती है— 'अद्वयबोध-विमर्शसुरतः सन्नद्य शिवोऽस्मि शिवोऽस्मि शिवोऽस्मि'।

ब्राह्मी स्थिति के दृढ़ हो जाने पर ध्यान-पूजा-कथा आदि विडम्बनामात्र लगते हैं—

यत्र यत्र मिलिता मरीचयस्तत्र तत्र विभुरेव जृम्भते।
सत्सतां हि नियमावलम्बिनां ध्यानपूजाकथाविडम्बना।।

शाक्त परम्परा में भगवती की पूजा के स्थान

त्रिकोण मूलाधार : कौलमार्गी — समयमार्गी : चतुष्कोण सहस्रार

आचार्य गौड़पाद सुभगोदय स्तुति में कहते हैं—

त्रिकोणं ते कौलाः कुलगृहमिति प्राहुरपरे
चतुष्कोणं प्राहुः समयिन इमे बैन्दवमिति।
सुधासिन्धौ तस्मिन्सुरमणिगृहे सूर्यशशिनो-
रगम्ये रश्मीनां समयसहिते त्वं विहरसे।।

ब्रह्मसूत्र वेदान्तदर्शन के 'जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नेपासा त्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' (१.१.३१) की व्याख्या में कहा गया है कि 'सा चोपासना मानसक्रियाविशेषरूपा'।

भक्ति और उपासना— कुछ विद्वानों का यह कथन है कि देवताविषयक अनुराग ही उपासना है, किन्तु यह मत उपपन्न नहीं है; क्योंकि शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र में परमात्मा में परानुरक्ति को भक्ति कहा गया है— 'अथातो भक्तिजिज्ञासा। सा परानुरक्तिरीश्वरे' (१.१-२)। 'भक्तिमान उपासीत' इन वाक्यों से तो भक्ति एवं उपासना में भेद का निर्देश किया गया है; अत: अनुराग को ही 'भक्ति' कहना समीचीन है। उपासना क्या है? अनुरागव्यावृत्त क्रिया ही 'उपासना' है और यह उपासना द्विविधात्मिका है— मन्त्र-जपरूपा उपासना और यन्त्र-पूजारूपा उपासना।

धातुपाठ से गृहीत अर्थानुसन्धान से जप क्रिया मानस क्रिया ही है। पूजा भी ध्यानादि रूप में विमर्शित होने पर मानस क्रियारूपा ही है। पूजा में उपचारसमर्पण में जो यह कल्पना की जाती है कि यह मेरा नहीं, भगवती का है 'भगवती मेरे जप को ग्रहण करें' इत्याकारक जप-समर्पण आदि संकल्परूपात्मक होने के कारण मानसिक ही हैं। इस तथ्य को सेतुबन्ध में प्रतिपादित भी किया गया है। उपासना यद्यपि मानस व्यापारमात्र है, तथापि बहिर्याग में बाह्य पदार्थों को पूजोपादानों के रूप में ग्रहण किया ही जाता है। यह उपचार पञ्चोपचार, षोडशोपचार, चतु:षष्टि उपचार आदि के रूप में प्रसिद्ध है।

अन्तर्याग तो मोक्ष प्रदान करता ही है, किन्तु बहिर्याग भी अपने तात्त्विक अर्थ में अन्तर्यागात्मक होने के कारण मोक्षप्रद है।

भगवती त्रिपुरसुन्दरी की उपासना की एक विशेषता है और वह यह है कि यह निवृत्तिपरक, संन्यासात्मक, रागोन्मनमात्र नहीं है; प्रत्युत 'श्रीसुन्दरीसाधनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव'। बहिर्याग भोग तो प्रदान करता ही है, किन्तु यह मोक्षप्रद भी है।

आचार्य लक्ष्मीधर सौन्दर्यलहरी की टीका में कहते हैं—

क. देवयान एवं पितृयानस्वरूप इड़ा-पिङ्गला नाड़ियों के माध्यम से सूर्य एवं चन्द्रमा दोनों अहर्निश सञ्चरण करते रहते हैं।

ख. चन्द्रमा वाम नाड़ी (इड़ा नाड़ी) के मार्ग से ७२ हजार नाड़ियों को अमृत से सिञ्चित करता है।

ग. सूर्य दक्षिण नाड़ी (पिङ्गला नाड़ी) के मार्ग से सञ्चरण करता हुआ उन उत्क्षिप्त अमृतबिन्दुओं का उपाहरण करता रहता है।

घ. जब चन्द्रमा एवं सूर्य दोनों का आधारचक्र में समावेश होता है, तब अमावास्या तिथि का आविर्भाव होता है। इसी से कृष्णपक्ष की सभी तिथियों का आविर्भाव होता है।

ङ. अत: कुण्डलिनी शक्ति सूर्यकिरण के सम्पर्क से विलीन चन्द्रमण्डलमध्य से विगलित पीयूष से आपूरित आधारकुण्ड में सोती है। कुण्डलिनी की यह स्वापावस्था ही कृष्णपक्ष है।

च. जब योगी चन्द्रमा को उसके चन्द्रस्थान में एवं सूर्य को उसके अपने सूर्यस्थान

में वायु के द्वारा निरुद्ध कर देता है, तब चन्द्रमा एवं सूर्य दोनों के अवरुद्ध होने के कारण अमृत-सेचन एवं अमृताहरण दोनों क्रियायें अवरुद्ध हो जाती हैं (चन्द्रमा का अमृतसेचन एवं सूर्य का अमृताहरण दोनों ही बन्द हो जाते हैं)।

छ. ऐसा होने पर वायु के द्वारा प्रेरित स्वाधिष्ठानाग्नि के द्वारा अमृतकुण्ड के शुष्क हो जाने पर भूखी कुण्डलिनी सोते से जागकर सर्प की भाँति फूत्कार करती हुई, ग्रन्थि-त्रय का भेदन करती हुई सहस्रदल कमल के मध्यवर्ती चन्द्रमण्डल को डसती है।

ज. कुण्डलिनी के द्वारा चन्द्रमा के डसे जाने पर चन्द्रप्रवाहित अमृतप्रवाह आज्ञाचक्र के ऊपर स्थित चन्द्रमण्डल को आप्लावित करता है और समस्त शरीर को अमृत से आप्लावित कर देता है।

झ. आज्ञाचक्र के ऊपर चन्द्रमा की पन्द्रह नित्या कलायें स्थित हैं। वे पन्द्रह नित्या कलायें अपने से नीचे स्थित विशुद्धि चक्र का आश्रय लेकर घूमती हैं (परिवर्तन करती हैं)।

महात्रिपुरसुन्दरी और आत्मा— सहस्रदल कमल के अन्तर में स्थित चन्द्रमण्डल ही बैन्दवस्थान है और उसकी कला चिन्मयी आनन्दरूपा आत्मा है। यही चिन्मयी आत्मा महात्रिपुरसुन्दरी है।

महात्रिपुरसुन्दरी सहस्रदल कमल में स्थित बैन्दवस्थान (चन्द्रमण्डल) की आनन्दात्मिका एवं आत्मस्वरूपा चित्कला है।

तिथियाँ और कलायें— चन्द्र की प्रथम कला का नाम है— प्रतिपदा। वह सूर्य-मण्डल से निकली है। वह कृष्णपक्ष में सूर्यमण्डल में प्रवेश कर जाती है। इसी प्रकार सूर्यमण्डल से निर्गता द्वितीया कला द्वितीया तिथि कही जाती है। कृष्णपक्ष में तो सूर्य-मण्डल में प्रविष्ट द्वितीया कला ही द्वितीया तिथि है। इसी प्रकार सभी तिथियों के उदय के विषय में समझना चाहिये।

जहाँ सूर्य-चन्द्रमा में पन्द्रह कलाओं का व्यवधान है, वह पौर्णमासी है।

पन्द्रहवीं कला में जहाँ सूर्य एवं चन्द्रमा दोनों का अत्यन्त संयोग होता है, उसे अमावास्या कहते हैं।

कौलमत में तो चन्द्रकलात्मिका सोलह नित्याओं में से प्रतिदिन केवल एक का ही अनुष्ठान उचित है।

समयिमत में सभी नित्याओं का अनुष्ठान उचित है। पन्द्रह नित्यायें पन्द्रह तिथियों में अन्तर्भूत हैं; अत: षोडशी कला का तो पन्द्रहों तिथियों में अनुष्ठान होना चाहिये। नित्याषोडशिकार्णव में जो षोडश नित्याओं का प्रतिपादन किया गया है, वहाँ पन्द्रह तिथियाँ नित्याओं से तद्रूपता ग्रहण की हुई हैं। षोडशी व्यापिका है और अंग नित्या है। वहाँ प्रतिपदा को त्रिपुरसुन्दरी की कला के रूप में प्रस्तुत समझना चाहिये।

प्रतिपदा में त्रिपुरसुन्दरी कला, द्वितीया तिथि में कामेश्वरी कला, तृतीया तिथि में

भगमालिनी कला, चतुर्थी तिथि में नित्यक्लिन्ना कला, पञ्चमी तिथि में भेरुण्डा कला, षष्ठी तिथि में वह्निवासिनी कला, सप्तमी तिथि में महाविद्येश्वरी कला, अष्टमी तिथि में रौद्री कला, नवमी तिथि में त्वरिता कला, दशमी तिथि में कुलसुन्दरी कला, एकादशी तिथि में नीलपताका कला, द्वादशी तिथि में विजया कला, त्रयोदशी तिथि में सर्वमंगला कला, चतुर्दशी तिथि में ज्वाला कला एवं पञ्चदशी तिथि में मालिनी कला की स्थिति रहती है।

समस्त तिथियों में चिद्रूपा षोडशी कला की उपासना करनी चाहिये। आचार्य लक्ष्मीधर का कथन है कि प्रतिपदा तिथि में जिन त्रिपुरसुन्दरी की स्थिति की पुष्टि की गई है, वह चिद्रूपात्मिका नहीं है। चिद्रूपात्मिका मूल विद्या का अनुष्ठान भिन्न रूप में किया जाना चाहिये। आचार्य लक्ष्मीधर ने कहा है कि नित्याषोडशिकार्णव में पठित एकादशी तिथि नित्या नहीं है। यहाँ दूतीनिष्ठा अष्टमी रौद्री कही गई है। यहाँ प्रथमा की महात्रिपुर-सुन्दरी अंगिनित्या है और वही चिद्रूपा नाम वाली षोडशी कला है। शेष १५ तिथियों में अवस्थित नित्यायें अंगनित्यायें हैं; अत: प्रतिपदा आदि तिथियों में समाराधना उचित ही है।

रतिरहस्य के चन्द्रकलाधिकार के प्रथम श्लोक में कहा गया है—

अङ्गुष्ठे पदगुल्फजानुजघने नाभौ च वक्ष:स्तने
कक्षाकण्ठकपोलदन्तवसने नेत्रालिके मूर्धनि।
शुक्लाशुक्लविभागतो मृगदृशामङ्गेष्वनावस्थिति-
रूर्ध्वाधोगमनेन वामपदत: पक्षद्वये लक्षयेत्।।

उपर्युक्त तिथिक्रम से ही नारियों के शरीरांगों में काम का विशेष निवास होता है। नन्दिकेश्वरमत भी इसी की पुष्टि करता है— 'एकारौकारयुक्ता हरिहरजहरा: पञ्चबाणा: स्मरस्य'। ये ही स्मर के पाँच कुसुमबाण के बीज हैं।

गोणीपुत्रकमत में कहा गया है—

मूर्धोर:स्थलवामदक्षिणकरे वक्षोगुहोहोरुद्वये।
नाभीगुह्यललाटजाठरकटीपृष्ठेषु तिष्ठत्यसौ।।
कक्षा श्रोणिभुजेषु च प्रतिपदं प्रारभ्य कृष्णामथ।
श्वेताया: प्रभृतिक्रमेण मदनो मूर्धानमारोहति।
अङ्गेष्वेषु मृगीदृशां मनसिजप्रस्तावनापण्डिता।।
मात्रा: षोडश चिन्तयन्ति बहलज्योति: स्फुलिङ्गाकृती:।।

तिथि एवं नित्याओं के क्रम से उपासना करने पर कुण्डलिनी-प्रबोधकों, त्रिपुरोपासकों एवं दूतीयागानुष्ठाननिरत लोगों कोभोग एवं मोक्ष दोनों प्राप्त हो जाते हैं— 'भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव'।[1]

▼

---

१. नित्याषोडशिकार्णव की भूमिका : व्रजवल्लभ द्विवेदी।

अष्टात्रिंश अध्याय
जप और ध्यान तथा समयमत

मन्त्र और उसकी जपस्वरूप उपासना अनुपदात्मक है। समस्त धर्मों में जप एवं ध्यान के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। अर्थानुसन्धान के विना भी मन्त्र-जप का अनुष्ठान अखण्ड रूप से चलता आ रहा है। पतञ्जलि ने योगसूत्र में 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (१.२८) कहकर अर्थभावनपूर्वक जप करने को ही विहित माना है। योगिनीहृदय में यह अर्थानुसन्धान (अर्थभावन) षड्विधात्मक कहा गया है। आचार्य भास्करराय ने तो वरिवस्यारहस्यम् नामक ग्रन्थ के द्वितीय अंश में मन्त्रों के पन्द्रह प्रकार के अर्थों का विवेचन किया हैं।

आचार्य भास्करराय का मत— वरिवस्यारहस्यम् में मन्त्र एवं उसके अर्थभावन को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है और कहा गया है कि कृष्णपक्ष की रात्रियों का आधार चक्र में अवस्थान है; क्योंकि ये अमावास्यात्मक हैं— 'एतासां कृष्णपक्षरात्रीणां आधारचक्रे एव अमावास्यात्मकतया अवस्थानात्'। सामयिकों का मत इससे पृथक् है।

सामयिक लोग शुक्ल पक्ष की रात्रियों का अनुष्ठानार्थ, सपर्यार्थ एवं उपासनार्थ ग्रहण करते हैं; क्योंकि शुक्ल पक्ष की रात्रियों में ही चान्द्रकला का सञ्चार होता है और इन्हीं रात्रियों में कुण्डलिनी-प्रबोधहेतु साधना की जाती है।

शुक्ल पक्ष की रात्रियों में ही कलायें होती हैं; अत: कलात्व मात्र शुक्ल पक्ष की रात्रियों में ही मानना चाहिये— 'शुक्लपक्षरात्रीणामेव कलात्वम्'। इसीलिये कहा गया है कि कुण्डलिनी का प्रबोधन रात्रि में ही करणीय है, दिन में नहीं— 'अतएव कुण्डलिनीप्रबोधो रात्रावेव न दिवा'।

शुक्ल पक्ष के दिनों के नाम— शुक्ल पक्ष के दिनों के नाम हैं— 'संज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं जानदभिजानत्। सङ्कल्पमानं प्रकल्पमानमुपकल्पमानमुपक्लृप्तम्। क्लृप्तम् श्रयो वसीय आयत् सम्भूतं भूतम्'।

कृष्ण पक्ष के दिनों के नाम— कृष्ण पक्ष में होने वाले दिनों के नाम हैं— 'प्रस्तुतं विष्टुतं संस्तुतं कल्याणं विश्वरूपं शुक्रममृतं तेजस्वितेज:समिद्धम्। अरुणं भानुमन्मरीचिमदभितपत्तपस्वत्'।

शुक्ल पक्ष एवं कृष्ण पक्ष के अहोरात्र के नाम का ज्ञान होने की फलश्रुति इस प्रकार है— 'स यो ह वा एता मधुवृषांश्च वेद। कुर्वन्ति हास्यैता अग्नौ मधु। नास्येष्टापूर्तं धयन्ति।[१]

जो भी व्यक्ति इन मधुकृत रात्रियों एवं मधुवृष दिवसों को जानता है, उसके लिये ये अग्नि में (बैन्दवस्थान में) मधु (सुधासिन्धु) का निर्माण करती हैं। ऐसे ज्ञाताओं

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.१०.१०)

की इष्टापूर्त (वाञ्छितार्थपूर्ति) को ये रिक्त नहीं करतीं (न धयन्ति = न रिक्तीकुर्वन्ति)। जो इन्हें नहीं जानता, उसका अनिष्ट होता है— 'अथ यो न वेद। न हास्यैता अग्नौ मधु कुर्वन्ति। धयन्त्यस्येष्टपूर्वम्' (तैत्तिरीय ब्राह्मण-३.१०.१०)।

सारांश यह कि चन्द्रकलाविद्यानुष्ठान = मातृकामन्त्रैक्य (चन्द्रकलाविद्यानुष्ठानं नाम मातृकामन्त्रयोरैक्यम्'। मन्त्र एवं चक्र का ऐक्य, चक्र एवं नित्याओं का ऐक्य तथा नित्याओं एवं प्रतिपदादिक कलाओं का ऐक्य ही है— समयिमततत्त्व। इनके अनुष्ठान में शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष का तथा रात्रि एवं दिन का विवेक आवश्यक है।

दर्शादि पौर्णमास्यन्त कलाओं में ही चतुर्विध ऐक्यानुसन्धान करणीय है, न कि अमावास्या में। अमावास्या = कृष्ण पक्ष। अत: अमावास्या की ही भाँति शुक्ल पक्ष के दिनों में ही अनुष्ठान वर्णित है। मात्र अमावास्या को ही उपासना का निषेध किया गया है, न कि कि सम्पूर्ण कृष्ण पक्ष का। इसलिये सभी रात्रियों में (अमावास्या तिथि के अतिरिक्त) उपासना विधेय है, विहित है; किन्तु सभी दिनों में नहीं।

सूर्य तिथ्यात्मक है। चन्द्रकला विद्या सादाख्य तत्त्वात्मिका है। इस चन्द्रकला विद्या को ही श्रीविद्या भी कहा गया है— 'सादाख्यतत्त्वात्मिकाया: चन्द्रकलाविद्याया: श्रीविद्याऽपरनामधेया: पञ्चदशतिथ्यात्मिकाया:'। चन्द्रकला विद्या = श्रीविद्या = पञ्चदशतिथ्यात्मिका।

'जनको ह वैदेह: अहोरात्रै: समाजगाम' (तैत्तिरीय ब्राह्मण-३.१०.९) अर्थात् जनक (उत्पादक) = श्रीविद्या के ऋषि। विदेह ही वैदेह है। वैदेह = मन्मथ। अहोरात्रै: = अहोरात्रात्मकै: पञ्चदशाक्षरीमन्त्रवर्णै: दर्शादिपूर्णिमान्तकलात्मकै: समाजगाम, तं मन्त्रं आहृतवान्। जो मन्त्रों को आहृत करता है, उसे ही मन्त्र का ऋषि कहते हैं। आचार्य लक्ष्मीधर ने कहा भी है— 'यस्तु मन्त्रमाहरति स ऋषिरित्युच्यते'।[१]

कामदेव त्रिपुरा के उपासक हैं। उनका सम्प्रदाय भी है। कामराज विद्या, कादि विद्या से मन्मथ का अभिन्न सम्बन्ध है। वेदों में कहा भी गया है— 'स तं मणिमविन्दत्' (तै० ब्रा०-११.१) अर्थात् उस अनङ्ग मन्मथ ने उस प्रख्यात विद्यात्मक रत्न (मणि) को प्राप्त किया। 'अचेता यश्च चेतन:' यह अनङ्ग 'अनङ्ग' (अन्धा) होकर भी देखता है— 'अन्धो मणिमविन्दत्' (तै० ब्रा०-११.१)। इसी परचित्कलारूपा विद्या त्रिपुरसुन्दरी के मन्त्र का ऋषि मन्मथ है। 'सोऽग्रीव: प्रत्यमुञ्चत्' (तै० आ०-११.१) अर्थात् अनङ्ग होने के कारण ग्रीवारहित उस अनङ्ग ने मणि (विद्यात्मक रत्न) के सम्पादन के फल को धारण किया (प्रत्यामोचनं कृतवान् = प्रत्यमुञ्चत)। 'सोऽजिह्वो असश्चत' (तै० आ०-१.११) वह अनङ्ग होने के कारण यद्यपि जिह्वारहित है, तथापि उसने अजिह्व होकर भी आस्वाद लिया (असश्चत = अचोषत = आस्वादितवान्)।

१. पुत्रो निर्ऋत्या वैदेह:। निर्ऋति (लक्ष्मी) का पुत्र। वैदेह = मन्मथ। अचेता यश्च चेतन: (तै० आ०-११.१)। अनङ्ग होने के कारण चेतोरहित; किन्तु सर्वभूतान्तर्यामित्व के कारण चेतन।

इन ऋचाओं का अर्थ निम्नानुसार है—

१. कामदेव ने इस श्रीविद्यारूप विद्यारत्न को अर्थात् पन्द्रह वर्णों वाले षोडशात्मक विद्यारत्न को नाना स्मृतियों, नाना पुराणों में एवं नाना अन्य ज्ञान की शाखाओं (विभागों) में विप्रकीर्ण देखा।

२. तदनन्तर उन्होंने विप्रकीर्ण इस पञ्चदशाक्षरी मन्त्र को देखकर उसका सीवन कर दिया।

३. फिर उन्होंने इन पन्द्रह वर्णों को तीन भागों में विभाजित कर तथा इसे खण्डत्रय में विभक्त करके त्रिपुरसुन्दरी आदि सोलह नित्याओं को उसमें अन्तर्भूत करके प्रतिपदा आदि सोलह तिथियों को भी उसमें अन्तर्भूत करके पञ्चदशवर्णात्मक मन्त्र को खण्डत्रय में विभक्त करके और फिर वहाँ सोम-सूर्य-अनिल, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, सत्त्व-रज-तम आदि समस्त तत्त्वों को व्यवस्था में ग्रथित करके जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओं तथा सृष्टि-स्थिति-लय के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत करके श्रीविद्यात्मक चतुर्थ खण्ड में पन्द्रह कलाओं को अन्तर्भूत करके भुवनेश्वरी आदि नव योगिनी विद्याओं को त्रिक-त्रिक में विभाजित करके उन्हें एक-एक ह्रींकार में अन्तर्भूत करके सर्वभूतात्मक, सर्वमन्त्रात्मक, सर्वतत्त्वात्मक, सर्वावस्थात्मक, सर्वदेवात्मक, सर्ववेदार्थात्मक, सर्वशब्दात्मक, सर्वशक्त्यात्मक, त्रिगुणात्मक, त्रिखण्डात्मक, त्रिगुणातीत, सादाख्यापरपर्यायात्मक, षड्विंशशिवशक्तिसम्पुटपादात्मक स्वीकार करके पन्द्रह वर्णों में इस मूल विद्या को सी दिया। 'सोऽनङ्गुलिरावयत्' अंगुली से हीन होकर भी उस अनङ्ग, अग्रीव, अजिह्व, अनङ्गुलि, वैदेह, अचेता, चेतन, जनक, मन्मथ ने इस पञ्चदशाक्षरी मन्त्र को सी दिया (आवयत् = असीव्यत्)।

४. तदनन्तर उन्होंने उस स्यूत मन्त्रराज को अपने गले में धारण कर लिया (सोऽग्रीव: प्रत्यमुञ्चत्। प्रत्यमुञ्चत् = धृतवान्) अर्थात् ध्यानयोग से उसकी पूजा की।

५. तदनन्तर उन्होंने चान्द्र कला के अमृत का आस्वाद ग्रहण किया (सोऽजिह्वो असतश्चत। असतश्चत = आस्वादं कृतवान्)।

६. 'स: मन्मथ: ऋषि: अस्य मन्त्रस्य' इस पञ्चदशाक्षरी मन्त्र के ये मन्मथ ही ऋषि हैं।

७. तैत्तिरीय आरण्यक (१.११) में कहा गया है कि 'नैतमृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेत्'। इस ऋषि (श्रीविद्या के ऋषि कामदेव) को जानकर श्रीचक्रात्मक नगर में प्रवेश नहीं कर जाना चाहिये अर्थात् ऋषिज्ञान हो जाने के बाद श्रीचक्र की पूजा प्रारम्भ नहीं कर देनी चाहिये; क्योंकि इस उपासना में बाह्य पूजा निषिद्ध है।

८. बाह्य पूजा में ही ऋषि-छन्द आदि का ज्ञान आवश्यक होता है; आन्तर पूजा में नहीं; क्योंकि आन्तर पूजा तादात्म्यानुसन्धानात्मिका होती है। अत: उसमें ऋषि आदि का ज्ञान आवश्यक नहीं होता— 'बाह्यपूजां न कुर्यादिति निषेधविधि:। बाह्यपूजायामेव ऋषिच्छन्द:प्रभृतिज्ञानपूर्वकत्वम्। आन्तरपूजायां तादात्म्यानुसन्धानात्मिकायां ऋष्यादिज्ञानं नास्त्येव। उपयोगस्तु दूरत एव। अतो वस्तुसिद्धऋष्यादिपर्युदासमुखेन श्रीचक्रस्य बाह्यपूजनं त्रैवर्णिकै: न कर्तव्यमिति नियम्यते। उपयोगस्तु दूरत एव' (लक्ष्मीधर)।

सनत्कुमारसंहिता में भी कहा गया है—

बाह्यपूजा न कर्तव्या कर्तव्या बाह्यजातिभिः।
सा हि क्षुत्रफला नृणामैहिकार्थैकसाधनात्।।

बाह्यपूजारताः कौलाः क्षपणाश्च कपालिकाः।
दिगम्बराश्चेतिहासा वामकास्तन्त्रवादिनः।।

आन्तराराधनपरा वैदिका ब्रह्मवादिनः।
जीवन्मुक्ताश्चरन्त्येते त्रिषु लोकेषु सर्वदा।।

आधारचक्रपूजक कौल, योषित्त्रिकोणपूजक क्षपणक, कापालिक, दिगम्बर, भैरवयामल को प्रमाण मानने वाले ऐतिहासिक, वामक तान्त्रिक (वामकेश्वर तन्त्र को प्रमाण मानने वाले)— ये सभी वेदबाह्य होते हैं। आन्तर पूजारत तो मात्र ब्रह्मवादी होते हैं, जो कि शुभागमपञ्चक को तत्त्वतः जानते हैं। आन्तर पूजा का विधान करते हुये तैत्तिरीय आरण्यक (१.११) में भी कहा गया है कि 'यदि प्रविशेत्। मिथौ चरित्वा प्रविशेत्' अर्थात् यदि वेदों को प्रमाण मान कर आन्तर पूजा के अन्तर्जगत् में साधनार्थ प्रवेश करने व आकांक्षी ही हो तो एकान्त में (मिथौ = रहस्ये) जाकर (अवगत्य—चर गतिभक्षणयोः) आन्तर पूजा करनी चाहिये (प्रविशेत्)।

अथवा— मिथिनीभूत शिव (मिथौ) के मेलन को जानकर उसका रहस्यानुसन्धान करना चाहिये (प्रविशेत = अनुसन्दधीतेति); क्योंकि एकान्त में ही विद्या फलवती होती है— 'एकान्ते एव विद्या फलति'।

'तत्सम्भवस्य व्रतम्' (तैत्तिरीय आरण्यक)। सम्भव = मन्मथ। चित्त से उत्पन्न होने के कारण मन्मथ को 'सम्भव' कहा गया है। व्रत = माहात्म्य। तत् = उसका। अर्थात् ऐकात्म्यानुसन्धान के समय सहायान्तर ग्राह्य नहीं होता। आशय यह कि—

मिथुन (शिव-शक्ति) को सम्पुटीकृत करके साधक को आन्तर साधना में प्रवेश करना चाहिये। अथवा मन्मथोपदिष्ट मन्त्र के अनुष्ठाता को अपने अनुष्ठान को अत्यन्त गोपनीय रखना चाहिये; क्योंकि यह रहस्य (गोप्य) विद्या है।

सामयिकों का पूजाविधान समस्त बाह्योपकरणों को निषिद्ध एवं अनुपयोगी मानता है। आचार्य लक्ष्मीधर लक्ष्मीधरा में कहते हैं कि—

सामयिकों के लिये मन्त्रों का पुरश्चरण निषिद्ध है— 'समयिनां मन्त्रस्य पुरश्चरणं नास्ति'।

सामयिकों के लिए जप का भी कोई विधान नहीं है— 'जपो नास्ति'।

सामयिकों के लिए बाह्य होम का भी कोई विधान नहीं है— 'बाह्यहोमोऽपि नास्ति'।

सामयिकों के लिए बाह्य पूजाविधियाँ निषिद्ध हैं— 'बाह्यपूजाविधयो न सन्त्येव'।

सामयिकों के लिए हृत्कमल का अनुष्ठान ही सब कुछ है—'हृत्कमल एव सर्वं यावत् अनुष्ठेयम्'।

सामयिकों की पूजा-पद्धति इस प्रकार है—

जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचनं
गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणमशनाद्याहुतिविधिः।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदृशा
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्।।

(सौन्दर्यलहरी-२७)

अर्थात् हे भगवति ! आत्मार्पणदृशा जपः जल्पः सकलमपि शिल्पं मुद्राविरचनं, गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणम्, अशनादि आहुतिविधिः संवेशः प्रणामः अखिलं सुखं मे यद्विलसितं च तव सपर्यापर्यायः भवतु।

आचार्य शंकर सौन्दर्यलहरी में कहते हैं कि मैं जो कुछ भी कृत्य करता हूँ, वह सब शम्भु की आराधना के अतिरिक्त और कुछ होता ही नहीं—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विविधोपभोगरचनानिद्रासमाधिस्थितिः।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो:
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।।

अभिनवगुप्त कहते हैं कि हे जगदम्बिके ! मेरे जीवन में मेरे समय का क्षुद्र से क्षुद्र भी कोई ऐसा काल नहीं रह गया है, जिसमें कि तुम्हारी स्तुति, जप, पूजा या ध्यान न हो—

स्तुतिजपार्चनचिन्तनवर्जिता न खलु काचन कालकलास्ति मे।

षोडश नित्यायें षोडश तिथियों के रूप में भी स्थित हैं। ये श्रीचक्र में भी अङ्ग के रूप में स्थित हैं। ये नित्यायें निम्नवत् हैं—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि नित्याषोडशकं तव।
न कस्यचिन्मयाऽख्यातं सर्वतन्त्रेषु गोपितम्।।

तत्रादौ प्रथमा नित्या महात्रिपुरसुन्दरी।
ततः कामेश्वरी नित्या नित्या च भगमालिनी।।

नित्या क्लिन्ना तथा चैव भेरुण्डा वह्निवासिनी।
ज्वालामालिनि चिद्रूपाः एता नित्यास्तु षोडश।।

प्रतिपत्प्रभृतौ देव्याः पौर्णमास्यन्तमर्चयेत्।
एकादिवृद्ध्या हान्या च दर्शान्तं देविविग्रहम्।।

सनन्दनसंहिता में ऋषि सनन्दन ने ऋषियों से कहा है कि ये षोडश नित्यायें चन्द्रकला, चक्रविद्या की अङ्ग हैं। ये नित्यायें स्वरात्मक हैं, पञ्चदशाक्षरी मन्त्रानुगत हैं

और जीवकलारूपा हैं। ये बैन्दवस्थान में स्थापित हैं और उसी में अन्तर्भूत हैं।

अवशिष्ट यकारादिक नव वर्ण दो आवृत्तियों के साथ मन्वश्र में और शेष १४ कोणों में अन्तर्भूत हैं। अवशिष्ट वर्णचतुष्टय शिवचक्रचतुष्टय में अन्तर्भूत है। यही है— कैलास-प्रस्तार। इस प्रकार नित्याओं का चन्द्रविद्या के अङ्ग के रूप में प्रतिपादन किया गया है। नित्यायें तिथिरूपात्मिका हैं।

षोडश नित्याओं के प्रकृतिभूत अवयव ककारादि वर्ण हैं। ये षोडश नित्यायें शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से आरम्भ करके पौर्णमासी की अन्तिम तिथि तक स्थित हैं; अत: ये तिथ्यात्मक हैं। ये कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा तिथि से आरम्भ करके अमावास्य तिथि तक तिथियों के रूप में वर्तमान रहती हैं। इन्हें चान्द्रकला के नाम से भी जाना जाता है। चान्द्र कला प्रतिपदा आदि तिथियों के रूप में प्रसिद्ध हैं। जैसा कि ज्योतिषशास्त्र में कहा भी गया है—

प्रतिपन्नाम विज्ञेया चन्द्रस्य प्रथमा कला।
द्वितीयाद्या: द्वितीयाद्या: पक्षयो: शुक्लकृष्णयो:।।

अर्थात् चन्द्रमा की प्रथम कला का नाम 'प्रतिपदा' है। वही कलात्मिका प्रतिपदा सूर्यमण्डल से आविर्भूत होती है और कृष्णपक्ष में सूर्यमण्डल में प्रविष्ट हो जाती है। इसी प्रकार शुक्ल पक्ष में सूर्यमण्डल से निकलकर द्वितीया कला 'द्वितीया' तिथि बन जाती है। कृष्ण पक्ष में सूर्यमण्डल में प्रविष्टा द्वितीया कला द्वितीया तिथि बन जाती है। इसी प्रकार सर्वत्र ऊहनीय है। निष्कर्ष यह कि जहाँ सूर्य-चन्द्र दोनों में पन्द्रह कलाओं का व्यवधान है, वहाँ पौर्णमासी है और जहाँ पञ्चदशी कला में सूर्य-चन्द्र दोनों का अत्यन्त संयोग है, वहाँ अमावास्या है। इसलिये कौलमत में चन्द्रकलात्मिका षोडश नित्याओं का प्रतिदिन एक-एक का अनुष्ठान किया जाता है; किन्तु समयिमत में एक साथ सभी कलाओं का अनुष्ठान किया जाता है। षोडशी कला का पन्द्रहों तिथियों में अनुष्ठान सिद्ध होता है, क्योंकि यही १५हों नित्याओं का अन्तर्भाव है। यही सम्प्रदायक्रम है और दुर्विज्ञेय है।

१. प्रतिपदा को 'त्रिपुरसुन्दरी कला' का ध्यान करना चाहिये।
२. द्वितीया तिथि को 'कामेश्वरी कला' का ध्यान करना चाहिये।
३. तृतीया तिथि को 'भगमालिनी कला' का ध्यान करना चाहिये।
४. चतुर्थी तिथि को 'नित्यक्लिन्ना कला' का ध्यान करना चाहिये।
५. पञ्चमी तिथि को 'भेरुण्डा कला' का ध्यान करना चाहिये।
६. षष्ठी तिथि को 'वह्निवासिनी कला' का ध्यान करना चाहिये।
७. सप्तमी तिथि को 'महाविद्या-महावज्रेश्वरी कला' का ध्यान करना चाहिये।
८. अष्टमी तिथि को 'रौद्री कला' का ध्यान करना चाहिये।
९. नवमी तिथि को 'त्वरिता कला' का ध्यान करना चाहिये।

१०. दशमी तिथि को 'कुलसुन्दरी कला' का ध्यान करना चाहिये।

११. एकादशी तिथि को 'नीलपताका कला' का ध्यान करना चाहिये।

१२. द्वादशी तिथि को 'विजया कला' का ध्यान करना चाहिये।

१३. त्रयोदशी तिथि को 'सर्वमङ्गला कला' का ध्यान करना चाहिये।

१४. चतुर्दशी तिथि को 'ज्वाला कला' का ध्यान करना चाहिये।

१५. पञ्चदशी तिथि को 'मालिनी कला' का ध्यान करना चाहिये।

समस्त दिशाओं में चिद्रूपा षोडशी कला की उपासना की जानी चाहिये— 'सर्वासु तिथिषु चिद्रूपाख्या कला षोडशी उपास्या'।

१६. प्रतिपदा तिथि को जिस त्रिपुरसुन्दरी की वर्तमानता स्वीकार की जाती है, वह चिद्रूपात्मिका नहीं है; क्योंकि चिद्रूपात्मिका मूलविद्या भिन्न रूप में अनुष्ठित होती है।

१७. इन चन्द्रकलात्मिका षोडश नित्याओं का स्थान विशुद्धि चक्र एवं षोडशार है। वहाँ प्रागादि क्रम से षोडश नित्यायें उन कोणों में चक्कर लगाती हैं।

उसके नीचे स्थित द्वादशार चक्र में संवित्कमल में द्वादश सूर्यमण्डल प्रादक्षिण्य क्रम से चक्कर लगाते हैं। उन्हीं द्वादश सूर्यों का द्वादश मासों में अधिकार है।[१]

शक्ति के भेद— स्वच्छन्दतन्त्र के अनुसार निम्न सोलह भेद हैं—

१. अमृता	५. उमा	९. ऌका	१३. ॐकारी
२. आकर्षिणी	६. ऊर्ध्वकेशिनी	१०. ऌषा	१४. ओषधात्मा
३. इन्द्राणी	७. ऋद्धिदा	११. एकपदा	१५. दशाम्बिका
४. ईशानी	८. ऋषा	१२. ऐश्वर्या	१६. अक्षरा

चक्रों में श्रीविद्या की अनुस्यूतता—

१. मूलाधार चक्र में	—	क ए	१०. रोधिनी	—	▽ँ
२. स्वाधिष्ठान चक्र में	—	ई ल	११. नाद	—	०।०
३. मणिपूर चक्र में	—	ह र ई	१२. नादान्त	—	०Vँ
४. अनाहत चक्र में	—	ह स क	१३. शक्ति	—	।००
५. विशुद्धिचक्र में	—	ह ल	१४. व्यापिका	—	▽०ँ
६. आज्ञा चक्र में	—	स क ल	१५. समना	—	०।०
७. सहस्रार चक्र में	—	ह्रीं	१६. उन्मनी	—	।∪ँ
८. बिन्दु	—	.∪.	१७. महाबिन्दु	—	०
९. अर्धचन्द्र	—	∪			

१. सनत्कुमारसंहिता

प्रथम कूट

प्रथम कूट में हृल्लेखान्तर्गत कामकला

सपरार्धकला (तुरीय बिन्दु), बिन्दु (मुख), बिन्दुद्वय (कुच), सपराद्ध (योनि) } यही है वह्निकुण्डलिनी

द्वितीय कूट में वही सूर्यकुण्डली है एवं तृतीय कूट में वही सोमकुण्डलिनी है।

गुरु एवं देवता— शाक्तोपासना में गुरु का अत्यधिक महत्त्व है। भावनोपनिषद् का तो प्रथम सूत्र ही गुरुपरक है। वहाँ गुरु को शक्तिरूप कहा गया है— 'श्रीगुरुपरमकारणभूता शक्तिः'। कहा गया है कि गुरु की देह ही देवी की देह माननी चाहिये—

देव्या देहो यथा प्रोक्तो गुरुदेहस्तथैव च।
तत्प्रसादाच्च शिष्योऽपि तद्रूपः सम्प्रकाशते।।

वरिवस्यारहस्यम् (२.८२) के अनुसार गुरु और परमशिव में अभेद होता है—

परमशिवे निष्कलता तदभिन्नत्वं स्वदेशिकेन्द्रस्य ।

परदेवता, विद्या, चक्रराज, साधक एवं गुरु की एकता = कौलिकार्थ (भास्करराय)।

एकोनचत्वारिंश अध्याय

भगवती त्रिपुरा की बहिर्यागात्मक उपासना

त्रिपुरामहोपनिषद् में भगवती की बहिर्यागात्मक पूजा का इस प्रकार विधान किया गया है—

क. परिस्रुतं झषमाजं पलञ्च भक्तानि योनी: सुपरिष्कृतानि।
निवेदयन्देवतायै महत्यै स्वात्मीकृत्य सुकृती सिद्धिमेति।।

(भास्करराय-प्रस्तुत पाठ)

(परिस्रुतं = मदिरा। झष = मत्स्य। नागरबेल। आजं = घी या अजा से सम्बद्ध फल या झषा = नागबला से उत्पन्न फल)।

ख. परस्रुतं झषमाजं फलं च भक्तानि योनी: सुपरिष्कृताश्च।
स्वात्मीकृते सुकृते सिद्धमेति।।

(विष्णुतीर्थ-प्रस्तुत पाठ)

ग. परिस्रुतं झषमाजं पलं च भक्तानि योनि: सुपरिष्कृताश्च।
स्वात्मीकृते सुकृते सिद्धिमेति।।

(आड्यार लाइब्रेरी-संस्करण)

भगवती की स्थूलोपासना— साधक मदिरा, मत्स्य या नागरबेल एवं आज्य, पका चावल और योनियों को भली-भाँति स्वच्छ करके महादेवी को नैवेद्य के रूप में समर्पित करने एवं स्वकृत पुण्यों से सिद्धि प्राप्त करता है।

(परिस्रुत = मद्य। झष = मत्स्य। आज = बकरे का मांस, योनि = नारी की गुप्त इन्द्रिय आदि निषिद्ध एवं निन्द्य नामों को स्थूल रूप में ग्रहण न करके उनके प्रतीकात्मक अर्थों को गृहीत करने के लिये संकेतित किया गया है। परिस्रुतं = चन्द्रोद्भव अमृत का भी वाचक हो सकता है। कुण्डलिनी के जागरणोपरान्त साधक को जो मदमत्त करने वाला आनन्दानुभव होता है, उसको भी यह द्योतित करने वाला हो सकता है। यहाँ प्रयुक्त 'झषा-माजफल, भक्तानि' एवं 'योनि' पाठ क्रमश: कर्मफल, प्रारब्ध भोग एवं कारणभूता वासनायें अथवा विश्वयोनि अज्ञान अथवा अविद्या का भी वाचक हो सकता है।— स्वामी विष्णुतीर्थ)।

आचार्य भास्करराय द्वारा इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार भी की गई है—

परिस्रुत (मद्य), उसके पश्चात् मांस, उसके पश्चात् मत्स्य और उसके पश्चात् दृष्टादृष्ट संस्कारों से परिष्कृत योनियाँ महादेवी की सेवा में निवेदित करके और उसके अनन्तर स्वयं भी उनका सेवन करके भक्त यज्ञ के फल (सिद्धि) को प्राप्त करता है।

झष = मत्स्य। मत्स्य से पहले मद्य, फिर पल (मांस), तत्पश्चात् मत्स्य और तब भक्तानि अर्थात् वटक, चणक आदि अनेक प्रकार के अन्न तथा अन्त में योनि। 'योनि' पद यहाँ कुण्डलोद्भव का उपलक्षण है। इस तरह प्रथमत: मद्य, फिर मांस, फिर मत्स्य, फिर अन्न, फिर योनि— यह क्रम प्राप्त होता है। पञ्चमकारों का भी यही क्रम है। इनके स्थूल रूप में न मिलने पर इनके प्रतिनिधिभूत अनुकल्पों से भी पूजा की जा सकती है। इसके अनुसार 'नित्यक्रमं प्रत्यवममृष्टि:' (कल्पसूत्र) के अनुसार पूर्व-पूर्व तत्त्वों का अभाव होने पर उत्तरोत्तर तत्त्व सुलभ होने पर भी उन मुख्य तत्त्वों का ग्रहण नहीं करना चाहिये। तथापि प्रथममात्र के अभाव में भी चतुर्थ की नैवेद्य के लिये आवश्यकता होने के कारण सम्प्रदाय में केवल उसके ग्रहण किये जाने का क्रम पाया जाता है। परदेवता के तर्पण भर के लिये यदि पर्याप्त मात्रा में मुख्य तत्त्व सुलभ हो तो अनुकल्प से यजन नहीं करना चाहिये। 'सुपरिष्कृतानि' अर्थात् लौकिक पाकादि रूप से और वैदिक शाप-मोचनादिक रूप से सुसंस्कृत। 'सुकृती' अर्थात् बहिर्याग करने वाला साधक। 'स्वात्मीकृत्य' अर्थात् स्वयं भी खाकर।

वाममार्गी एवं कौल— भास्करराय शाक्त मत की वामाचार शाखा के कट्टर अनुयायी थे। काशी के पण्डितों ने (ग्रन्थकार नारायण भट्ट के नेतृत्व में) भास्करराय को शास्त्रार्थ करके यह विश्वास दिलाने का प्रयास किया था कि उन्होंने पूजन की वाम-मार्गीय पद्धति अपनाकर बहुत बड़ी भ्रान्ति की है। शास्त्रार्थ भी हुआ, किन्तु शास्त्रार्थ करने वाले समुदाय में से ही (भास्कर के विपक्ष में शास्त्रार्थ करने वालों के मध्य से ही) विद्वान् संन्यासी कुंकुमानन्द सरस्वती ने पण्डितों से कहा कि भास्करराय को हतप्रभ करने का समस्त प्रयास व्यर्थ हो जायगा; क्योंकि साक्षात् श्रीदेवी ही उनकी वाणी द्वारा उत्तर दे रही हैं, तथापि ग्रन्थकार भट्टनारायण को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने इस कथन की पुष्टि में प्रत्यक्ष प्रमाण माँगा। तब उक्त संन्यासी ने अपने प्रमाण की पुष्टि में वाराणसी के उसी घटनास्थल (यागस्थली) में स्थित पात्र का कुछ जल हाथ में लिया (जिसमें भास्करराय ने श्रीदेवी को स्नान कराया था) और उससे नारायणभट्ट की आँखों को अभिषिक्त कर दिया। नारायणभट्ट को दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई और उन्होंने देखा कि भास्करराय के स्कन्धों पर विराजमान एवं उनके मुख से बोलती हुई श्रीदेवी उनकी आँखों के सामने उपस्थित हैं। नारायण भट्ट यह दृश्य देखकर चुपचाप लौट गये।

भास्करराय वाममार्गी शाक्त थे। वे कौलसाधक थे। उन्होंने अपनी पत्नी को श्रीविद्या की दीक्षा दी थी। काशी का चक्रेशमन्दिर, रामेश्वर का वज्रेश्वरमन्दिर आदि उन्हीं के द्वारा निर्मित कराये गये थे। उन्हें षोढ़ा न्यास सिद्ध था।

त्रिपुरामहोपनिषद्, जिसको आधार बनाकर यहाँ भगवती की उपासना प्रस्तुत की जा रही है और जिसकी व्याख्या भास्करराय ने की है, उसमें सोलह ऋचायें हैं। अष्टम ऋचा अथर्ववेद की शौनक शाखा एवं ऋग्वेद की सांख्यायन शाखा से सम्बद्ध है। इस ऋचा

में पञ्चदशाक्षर मन्त्र उपदिष्ट है। नवम ऋचा में हादिमत के अनुसार पञ्चदशाक्षर मन्त्र का वाग्भव कूट समाविष्ट है। प्रथम ऋचा में बिन्दुचक्र एवं 'अ क थ' (अकथ त्रिकोण), द्वितीय ऋचा में त्रिकोणात्मक और अष्टत्रिकोणात्मक दो चक्र— इस प्रकार प्रारम्भिक पाँच ऋचाओं में भगवती त्रिपुरसुन्दरी के पूजनयन्त्र श्रीचक्र की विवेचना की गई है। छठी ऋचा में समस्त देवताओं को त्रिपुरास्वरूप बताया गया है। सातवीं ऋचा भगवती के दर्शन एवं चौदहवीं ऋचा नारी-नर (शक्ति-शिव) की महत्ता पर प्रकाश डालती है। पन्द्रहवीं ऋचा भगवती के निर्गुण ध्यान के महत्त्व एवं उसके विधान पर प्रकाश डालती है।

त्रिपुरा के सगुण ध्यान का यागरूप में आत्मीकरण— त्रिपुरामहोपनिषद् की तेरहवीं ऋचा में कहा गया है कि—

सृण्येव सितया विश्वचर्षणि: पाशेन प्रतिबध्नात्यभीकान्।
इषुभि: पञ्चभिर्धनुषा च विध्यत्यादिशक्तिररुणा विश्वजन्या।।

अर्थात् जो इस में लोभबुद्धि या भोगबुद्धि से प्रवेश करते हैं, उनको प्राणिमात्र का शुभाशुभ जाननेवाली वह विश्वजननी आदिशक्ति तीक्ष्ण श्वेत पाश से बाँधकर धनुष एवं पाँच बाणों से विद्ध करती है।

भावार्थ यह है कि तृष्णाहीन साधकों को, जो कि वैध बुद्धि से साधनारत रहते हैं, जगज्जननी महात्रिपुरसुन्दरी उन्नति प्रदान करती है। कहा भी गया है—

विधिबुद्ध्यैव सेवेत तृष्णया चेत्स पातकी।
यैरेव पतनं द्रव्यैर्मुक्तिस्तैरेव चोदिता।
अभीकस्यानभीकस्येत्येवमेते व्यवस्थिता।।

यास्क के अनुसार सृणि के दो प्रकार हैं— भर्ता एवं हन्ता। यहाँ 'इव' पद का प्रयोग सगुण रूप की भक्तों के प्रति अनुग्रहशीलता एवं निर्गुण रूप की पारमार्थिकता का बोधक है।

चौदहवीं ऋचा का भाव यह है कि शर्करा के अंकुश से विश्व का आकर्षण करने वाली (देवी) पाश के द्वारा क्रूरता का दमन करती है एवं पाँच बाणों और धनुष से वह विश्वजननी आदिशक्ति अरुणा सबको नियन्त्रण में रखती है।

भगवती के चारो हाथों में अंकुश, पाश, पाँच बाण एवं धनुष हैं और उनका वर्ण रक्त है; अत: उनका नाम अरुणा है । अंकुश शर्करा का, बाण फूलों का और धनुष ईख का है। क्रोध अंकुश का, मोह पाश का, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धरूप पञ्चतन्मात्रायें पञ्च बाणों का और मन धनुष का प्रतीक है। मोह भी माधुर्योपेत है और क्रोध भी। मन आनन्दरसासिक्त है और पञ्चतन्मात्राओं में भी माधुर्य भरा हुआ है।

शक्ति (भग) **एवं शक्तिमान** (काम) **में ऐकात्म्य**— त्रिपुरामहोपनिषद् शक्ति एवं शक्तिमान में ऐकात्म्य मानता है। उसमें कहा गया है कि भग शक्ति है और भगवान्

कामेश हैं। दोनों सौभाग्यप्रदायक हैं, दोनों समप्रधान हैं तथा दोनों सत्त्वयुक्त एवं समान ओजस्वी हैं। उनकी शक्ति अजरा एवं विश्व का कारण है—

भग: शक्तिर्भगवान् काम ईश उभा दाताराविह सौभगानाम्।
समप्रधानौ समसत्त्वौ समो तयो: समशक्तिरजरा विश्वयोनि:।।

भग अर्थात् ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान एवं विज्ञान— इन छ: गुणों के आधारभूत 'काम ईश' कामेश्वर एवं शक्ति देवी इस लोक में 'सौभगानाम्' धर्म-अर्थ-कामरूप विविध फलों के दाता हैं (उसी देवी की उपासना चाहे नारीरूप में की जाय या पुरुषरूप में; किन्तु फल एक ही समान प्राप्त होता है)। दोनों (कामेश्वर एवं कामेश्वरी) समान रूप से प्रधान हैं; क्योंकि कामेश्वरी का ध्यान करने में वह शिवांकाश्रित होने के कारण शिव को प्राधान्य देती है और शक्तिविरहित होने पर शिव के कुछ भी करने में असमर्थ होने के कारण शक्ति स्वयमेव प्रधान सिद्ध होती है। इस प्रकार दोनों ही 'समसत्त्व' अर्थात् समान सामर्थ्य वाले हैं, तथापि इन दोनों साम्यों में शक्ति (अजरा) जरारहित है और विश्वयोनि (संसारोत्पादिका) है; अत: प्रधान वही हुई। 'भग' षडैश्वर्य का अभिधान है। कहा भी गया है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशस: श्रिय:।
ज्ञानविज्ञानयोश्चैव षण्णां भग इतीरणा:।।

'भग' अर्थात् स्मृतियों में ईश्वर के शरीर पर घटित होने वाली समस्त धर्मराशि। यह धर्मसमूह = शक्ति है। उपास्या स्त्री देवता का यही स्वरूप है। पुरुषस्वरूप शिव एवं स्त्रीस्वरूप शक्ति में अभीष्टार्थप्रदायिका शक्ति एवं अन्योन्य गुणप्रधान भावों की समानता होते हुये भी जगत् के कर्त्तृत्व की दृष्टि से शक्ति ही प्रधान सिद्ध होती है। नारीरूप का ध्यान करने से ही इष्ट फल सिद्ध होता है। भागवत में कहा भी गया है—

शक्ति: करोति ब्रह्माण्डं सा वै पालयतेऽखिलम्।
इच्छया संहरत्येषा जगदेतच्चराचरम्।।

न विष्णुर्न हरो नेन्द्रो न ब्रह्मा न च पावक:।
नार्को न वरुण: शक्ता: स्वे स्वे कार्ये कथञ्चन।।

तया युक्ता हि कुर्वन्ति स्वानि कार्याणि ते सुरा।
कारणं सर्वकार्येषु प्रत्यक्षेणावगम्यते।।

शक्ति के विना तो शिव भी शव बन जाता है। कहा भी है—

शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जित:।
शक्तिहीनोऽपि य: कश्चिदसमर्थ: स्मृतो बुधै:।।

शिव एवं शक्ति में भेद— भास्करराय द्वारा त्रिपुरामहोपनिषद् की व्याख्या में कहा गया है कि शिव में फलदातृत्व की क्षमता तो है, किन्तु यह क्षमता शक्ति के अधीन होने

के कारण विलम्ब से फलदात्री होती है; जबकि शक्ति (फलदातृत्व हेतु किसी की भी अपेक्षा न होने के कारण) फल प्रदान करने में कोई विलम्ब नहीं करती। अत: नारीरूपा देवता का ही ध्यान करना उत्तम होता है।

उपासना द्वारा विश्वरूपत्व-प्राप्ति की प्रक्रिया— त्रिपुरामहोपनिषद् के पन्द्रहवें मन्त्र में भगवती की उपासना करने से साधक को प्राप्त होने वाली विश्वरूपता-सिद्धि का उल्लेख करते हुये कहा गया है कि—

परिस्रुता हविषा पावितेन प्रसङ्कोचे गलिते वै मनस्त:।
सर्व: सर्वस्य जगतो विधाता धर्ता हर्ता विश्वरूपत्वमेति।।

मन्त्र-संस्कार के द्वारा सुसंस्कृत हवि एवं मद्य के सेवन के कारण मन से संकोच के दूर हो जाने पर वह उपासक विश्वरूपत्व प्राप्त कर लेता है। वही ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव सभी कुछ हो जाता है।

मदिरा की हवि द्वारा अर्थात् आनन्दावेशरूपी हवि के द्वारा भावना करने से प्रसंकोच के गलित हो जाने पर (जीवभाव का त्याग करने पर) साधक उन्मनीभाव प्राप्त कर लेता है। कल्याणस्वरूप समस्त जगत् का विधाता, धर्ता एवं हर्ता उसको विश्वस्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है। इसी को विष्णुतीर्थ में इस प्रकार कहा गया है—

परिस्रुता हविषा भावितेन प्रसंकोचे गलिते वै मनस्क:।
शर्व: सर्वस्य जगतो विधाता धर्ता हर्ता विश्वरूपत्वमेति।।

उपर्युक्त का ही पाठान्तर आड्यार लाइब्रेरी संस्करण में इस प्रकार प्राप्त होता है—

परिसृता हविषा भावितेन प्रसंकोचे गलिते वै मनस्क:।
शर्व: सर्वस्य जगतो विधाता धर्ता हर्ता विश्वरूपत्वमेति।।

आचार्य भास्कर कहते हैं कि सगुण ध्यान की उपासना के अनन्तर उपनिषद् निर्गुण ध्यान के विषय में तो सब कुछ अकथ्य होने के कारण उससे प्राप्त होने वाले फल एवं उसको प्राप्त करने की विधि पर प्रकाश डालता हुआ पन्द्रहवाँ मन्त्र प्रस्तुत करता है।

कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग में विलक्षण साधन-प्रणालियाँ निर्दिष्ट हुई हैं; अत: उनके दु:साध्य एवं चिरकालोपरान्त फलप्रद होने से इस उपनिषदोक्त पन्द्रहवीं ऋचा में समर्पित द्रव्यों के स्वीकार के द्वारा आवर्तमान उल्लासपरम्परा ही साधना-पद्धति है— यह सिद्ध होता है। कल्पसूत्र भी इसी का विधान करता है— 'आरम्भ-तरुण-यौवन-प्रौढ़-तदन्तोन्मन्यनवस्थोल्लासेषु प्रौढ़ान्तं समयाचार: तत: परं यथाकामीति'।

कुलार्णवतन्त्र में भी इस उल्लाससप्तक का विधान किया गया है। भास्करराय कहते हैं कि मन के विलीन हो जाने पर तथा निद्रा के भी दूर हो जाने पर जो ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त होती है, उसे ही ज्ञान की सप्तम भूमिका कहा गया है। इसे ही योगीजन निर्विकल्पावस्था में अनुभव करते हैं। योगी लोग उन्मनोत्तर अनवस्थारूपोल्लास में इसकी अनुभूति

करते हैं। कहा भी गया है—

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च देहे व्यवस्थितम्।
तस्याभिव्यञ्जकं द्रव्यं योगिभिस्तेन पीयते।।

कल्पसूत्र में भी गया है कि उसके अभिव्यञ्जक पञ्च मकार हैं; किन्तु उसी द्रव्य को यज्ञाङ्ग के रूप में ग्रहण न करने पर वे अपवित्र हो जाते हैं; अत: ऐसी स्थिति में उनका ग्रहण करने पर वे उस परदशा को उद्भावित नहीं कर पाते। मन्त्रों के द्वारा पवित्रीकृत एवं हविरूप में स्वीकृत द्रव्य ही समाधिदशा का उन्मेष कर पाते हैं। 'समयाचारस्मृति' में भी कहा गया है—

असंस्कृतं पशो: पानं कलहोद्वेगपापकृत्।
मन्त्रपूजाविहिनं यत्पशुपानं तदेव हि।।

पशुपानविधौ पीत्वा वीरोऽपि नरकं व्रजेत्।
संस्कृतं बोधजनकं प्रायश्चित्तं च शुद्धिकृत्।।

मन्त्राणां स्फुरणं तेन महापातकनाशनम्।
आयु: श्री: कान्तिसौभाग्यं ज्ञानं संस्कृतपानत: ।।

अष्टैश्वर्यं खेचरत्वं पतनं विधिवर्जितम्।
सौत्रामण्यां कुलाचारे मदिरां ब्राह्मण: पिबेत्।।

अन्यत्र ब्राह्मण: पीत्वा प्रायश्चित्तं समाचरेत्।।

किन्तु— परं प्राण: प्रगच्छन्तु ब्राह्मणो नार्पयेत्सुखम्।
ब्राह्मणो मदिरां दत्वा ब्राह्मण्यादेव हीयते।।

तन्त्रराजतन्त्र एवं शक्तिसङ्गमतन्त्र आदि में इन पञ्च द्रव्यों के उपयोग के विषय में निषेधात्मक वचन भी निर्दिष्ट हुये हैं। भास्करराय ने कौलोपनिषद् में भी इस विषय की सविस्तार विवेचना की है। उसमें कहा गया है—

अधिकारी व्यक्ति उक्त प्रकार के उल्लासों के द्वारा अन्त:करण के अवच्छिन्न हो जाने पर (जीवात्मा की) अन्त:करण उपाधि से सञ्जात संकोच से शून्य हो जाता है।

संकोच-राहित्य होने एवं ब्रह्मभावावस्थित होने पर फिर कुछ भी शेष प्राप्तव्य नहीं रह जाता।

द्रव्योल्लासाप्ति ही कृतार्थता का निकष नहीं है; प्रत्युत इसका निकष है— योग-सञ्जात समाधि।

जिस प्रकार प्राणायामादिक उपाय समाधि प्राप्त होने के बाद निरर्थक हो जाते हैं और विना प्राणायामादिक साधनों के ही सार्वकालिक 'सदोदित' समाधि अधिगत रहती है या जिस प्रकार वात्याचक्रान्दोलित जलयान से उतर जाने के बाद भी यात्री को चक्कर

आते रहते हैं, उसी प्रकार संस्कृत द्रव्यपान से सञ्जात उन्मनी अवस्था के अभ्यासानन्तर (कुछ दिनों बाद) विना द्रव्यपान के भी साधक को उसी उन्मनी दशा का अनुभव होता रहता है।

स्वात्मैकविषयक निर्विकल्प वृत्ति को उत्पन्न करने वाला द्रव्य 'मद' ही है। इसी-लिये मदोन्मत्त की बहुविधता इस प्रकार प्रतिपादित की गई है—

रमन्ते कामुका मत्ता मत्तः कुप्यति कोपनः।
गायन्ति गायका मत्ता मत्ता ध्यायन्ति कोपनः।।

अतः सर्वात्मकता के विवासार्थ योगी लोग भी इसकी सहायता लेते हैं।[१]

त्रिपुरामहोपनिषद् के अन्तिम मन्त्र में कहा गया है कि यह महोपनिषद् उस त्रिपुरा का है, जिसकी स्तुति अकार, उकार एवं मकार द्वारा की गई है। यह ऋक्, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद तथा अष्टादश विद्याओं का सारभूत है—

इयं महोपनिषत्त्रिपुराया यामक्षरं परमे गीर्भिरीट्टे।
एषर्ग्यजुः परमेतच्च सामे वायमथर्वेयमन्या च विद्योम्।।

भगवान् श्रीपरशुराम कल्पसूत्र में कहते हैं कि 'य इमां दशमखण्डीमहोपनिषदं महा-त्रैपुरसिद्धान्तसर्वस्वभूतामधीते सर्वेषु यज्ञेषु यष्टा भवति यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्य क्रतुनेष्टं भवतीति हि श्रूयते इत्युपनिषदिति शिवम्'।

त्रिपुरामहोपनिषद् के अनुसार यह उपनिषद् प्रणवस्वरूप भी है— 'वायमथर्वेयमन्या च विद्योऽम्'। इसके अन्त में 'ॐ ह्रीमों ह्रीमित्युपनिषत्' वाक्य है। 'ह्रीं' देवीप्रणव है। लक्ष्मी-धरा के अनुसार 'ह्रीं' का स्वर सामरस्य का स्वर है।

आचार्य लक्ष्मीधर ने मूलाधारादिक षट् चक्रों का त्रिकोण-अष्टकोण-दशार-अन्वश्र आदि के साथ सामरस्यस्थापन को साधना-मार्ग की भी एक ऊँची सीढ़ी माना है। नाद एवं बिन्दु का ऐक्य सिद्धि की महत्तर उपलब्धि है। नाद क्या है? नाद है— श्रीचक्र। बिन्दु हैं— ६ कमल। इनका ऐक्य ही नादबिन्द्वैक्य है। इन दोनों का ऐक्य ही है—

१. आधार : ४ दलः कर्णिका– त्रिकोणात्मिका।
२. स्वाधिष्ठानः ६ दलः कर्णिका– अष्टकोणात्मिका।
३. मणिपूर : १० दलः कर्णिका– दशकोणात्मिका।
४. अनाहत : १२ दलः कर्णिका– द्वितीय दशकोणात्मिका।
५. विशुद्धि : १६ दलः कर्णिका– चतुर्दशकोणात्मिका।
६. आज्ञाचक्र : २ दलः कर्णिका– अष्टकोण + षोडश कोण (२ कर्णिकायें)।

बैन्दवस्थान = चतुर्द्वारोपेत (कर्णिका के मध्य में)।

श्रीचक्र के साथ कमलों का एवं नाद के साथ बिन्दु का ऐक्य ऊपर बताया गया है।

---

१. भास्करराय

षट्चक्रों में ५० कलाओं का अन्तर्भाव है। चन्द्रखण्ड में स्वर है। सूर्यखण्ड में स्पर्श स्थित है। अग्निखण्ड में अन्त:स्थ एवं ऊष्म (हकाररहित) स्थित है। बैन्दव में 'ह + ळ' एवं 'क्ष' सर्वत्र स्थित है। मूलाधार आदि चक्रों में कलाओं का अन्तर्भाव है।

लक्ष्मीधरा के अनुसार 'कलायें' तिथ्यात्मक हैं। 'नित्यायें' कलात्मक हैं। 'कलायें' मूलमन्त्रगत पञ्चदशाक्षरात्मक हैं। 'त्रिखण्ड' सोम-सूर्य-अनलात्मक है। 'सोम-सूर्य-अनल' ग्रन्थित्रयात्मक हैं। 'ग्रन्थित्रय' मन्त्रगत ह्रींकारत्रयात्मक हैं। 'ह्रींकार' भुवनेश्वरीमन्त्रात्मक है। भुवनेश्वरी-मन्त्र मूलमन्त्रात्मक है। मूलमन्त्र चक्रैक्य होने से चक्रात्मक है। चक्रनवक एवं मूलाधारादिक ६ चक्रों तथा ब्रह्मग्रन्थि आदि में भी सहस्रकमलकर्णिका आदि के साथ तादात्म्य है। इस प्रकार कला एवं नाद में ऐक्य स्थित है।

श्रीविद्यासम्प्रदाय में मुक्ति का स्वरूप भी सामरस्यात्मक है। कुण्डलिनी शक्ति का सहस्रारस्थ परमशिव से सामरस्य, शरीर का श्रीचक्र के साथ सामरस्य, उपासक का उपास्य देवता के साथ सामरस्य, देहस्थ षट्चक्रों का श्रीचक्र के साथ सामरस्य एवं गुरु, देवता, उपासक, विश्व एवं श्रीविद्या के साथ सामरस्य ही भुक्ति है।

चत्वारिंश अध्याय

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की सरलतमा पूजा

ललितासहस्रनाम के अनुसार भगवती-पूजन-विधान— मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत ललिता-सहस्रनाम में भगवती के प्रीत्यर्थ जिस पूजा का विधान किया गया है, वह सरलतम है। आचार्य हयग्रीव ऋषि अगस्त्य से कहते हैं कि हे लोपामुद्रा के पति अगस्त्य ! सावधान मन से सुनो; सर्वप्रथम चक्राधिराज श्रीयन्त्रात्मक चक्र की बिल्वपत्रों, पद्मों या तुलसीपुष्पों से अर्चना करनी चाहिये, फिर पञ्चदशाक्षरी मन्त्र का जप करके अन्त में ललितासहस्रनाम का पाठ करना चाहिये। यदि कोई पूजा एवं जप करने में भी अशक्त हो तो वह मात्र ललितासहस्रनाम का ही पाठ करे—

चक्राधिराजमभ्यर्च्य जप्त्वा पञ्चदशाक्षरीम्।
जपान्ते कीर्तयेन्नित्यमिदं नामसहस्रकम्।।

यदि सम्भव हो तो निम्नलिखित पद्धति से भगवती की पूजा करनी चाहिये; इससे भगवती साधक के ऊपर सद्यः कृपा करतीं हैं—

बिल्वपत्रैश्चक्रराजे योऽर्चयेल्ललिताऽम्बिकाम्।
पद्मैर्वा तुलसीपुष्पैरेभिर्नामसहस्रकैः।।
सद्यः प्रसादं कुरुते तत्र सिंहासनेश्वरी।

किन्तु उपर्युक्त पद्धति से पूजा यदि न हो सके तो मात्र श्रीललितासहस्रनाम स्तोत्र का पाठ करना ही श्रेयस्कर होता है—

जपपूजाद्यशक्तोऽपि पठेन्नामसहस्रकम्।
चक्रराजार्चनं देव्या जपो नाम्नां च कीर्तनम्।।

ललितासहस्रनाम महास्तोत्र का परिचय— भगवती महात्रिपुरसुन्दरी ने वाग्देवता वशिनी आदि को आज्ञा देते हुये कहा कि तुम लोग मेरी कृपा से उल्लसित वाग्विभूतियाँ बनी हुई हो, मेरे भक्तों को वाग्विभूति प्रदान करने के लिये विनियोजित की गई हो, मेरे श्रीचक्र के रहस्यों की ज्ञाता हो और मेरे नाम का नित्य जप करती हो; अतः मेरे सहस्र-नामांकित स्तोत्र की रचना करो। ललितासहस्रनाम वही सहस्रनामांकित महास्तोत्र है।

एक बार सिंहासनस्थ श्रीदेवी महात्रिपुरसुन्दरी ने सभी को अपनी सेवा करने का सुअवसर प्रदान किया। भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की सेवा में करोड़ों ब्रह्मा-ब्रह्माणी, लक्ष्मी-नारायण एवं रुद्र-गौरियाँ उपस्थित हुईं; साथ ही साथ मन्त्रिणी, दण्डिनी आदि शक्तियाँ भी उपस्थित हुईं। दिव्यौघ, मानवौघ एवं सिद्धौघ भी आये और सभी ने भगवती ललिता के दर्शन किये। उस समय (ललितासहस्रनाम की प्रणेता) वशिनी आदि शक्तियों ने अपने आसन से उठकर भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का ललितासहस्रनाम स्तोत्र

से स्तवन किया, जिसे सुनकर भगवती ललिता अत्यन्त प्रसन्न हुईं। भगवती ललिता ने कहा कि मेरी आज्ञा से ही वाग्देवियों ने इस महास्तोत्र की (मत्प्रीत्यर्थ) रचना की है। तुम लोग भी मुझे प्रसन्न करने हेतु इसी स्तोत्र का पाठ किया करो तथा मेरे भक्तों में इसका प्रचार करो। यदि कोई भक्त मेरे इस महास्तोत्र का जीवन में एक बार भी पाठ कर लेता है तो वह मेरे लिये प्रेष्ठ बन जाता है और मैं उसके समस्त अभीष्टों को उसे प्रदान कर देती हूँ। इसकी प्रक्रिया निम्नानुसार है—

१. प्रथमत: श्रीचक्र में मेरी पूजा की जाय,

२. तत्पश्चात् पञ्चदशाक्षरी का मन्त्र जप किया जाय,

३. तदनन्तर मेरी तुष्टि हेतु ललितासहस्रनाम का कीर्तन (पाठ) किया जाय;

४. किन्तु यदि कोई मेरी अर्चना श्रीचक्र में न कर सके एवं मेरा पञ्चदशाक्षरी मन्त्र भी न जप सके, फिर भी वह (मुझे प्रसन्न करने हेतु) सहस्रनाम का कीर्तन अवश्य करे। ऐसा करने से भी मैं उसको उसके समस्त अभीष्ट प्रदान कर दूँगी—

मामर्चयतु वा मा वा विद्यां जपतु वा न वा।
कीर्तयेन्नामसाहस्रमिदं मत्प्रीतये सदा।।

मत्प्रीत्या सकलान् कामांल्लभते नात्र संशय:।
तस्मान्नामसहस्रं मे कीर्तयध्वं सदाऽऽदरात्।।

सहस्रनाम के पाठ की (विभिन्न प्रयोजनों हेतु) विभिन्न विधियाँ

क. सामान्य पाठ— भगवती का विधिवत् पूजन करके ध्यान, ऋषि, देवता, छन्द बीज, शक्ति, कीलक एवं विनियोगसहित स्तोत्र का तो पाठ करे ही; किन्तु 'ॐ' द्वारा सहस्रनामस्तोत्र को सम्पुटित करके भी उसका पाठ करना चाहिये।

ख. निष्काम पाठ— देवता-प्रीत्यर्थ निष्काम पाठ का विधान निम्नवत् है—

अ. सामान्य कल्प— जब भी समय मिल जाय, एक पाठ कर लिया जाय।

ब. मध्यम कल्प— प्रात: एवं सायं दोनों सन्ध्याओं में पाठ किया जाय।

स. उत्तम कल्प— प्रात:, मध्याह्न एवं सायं तीनों काल में पाठ किया जाय।

द. उत्तमोत्तम कल्प— प्रात:, मध्याह्न, सायं एवं अर्द्धरात्रि –इन चारो सन्ध्याओं में पाठ किया जाय। तुरीय सन्ध्या में किया पाठ सर्वश्रेष्ठ पाठ होता है। साथ ही साथ स्तोत्रान्त में फलश्रुति का पाठ भी आवश्यक होता है।

ग. सकाम पाठ— सकाम पाठ में पाठसंख्या पूर्वनिश्चित रहती है; अत: उतनी ही संख्या में पाठ करना चाहिये; न उससे ज्यादा, न कम। प्रथम एवं अन्तिम दो पाठों के अन्त में सम्पूर्ण फलश्रुति का पाठ अपरिहार्य होता है; लेकिन मध्य के पाठों में केवल नामावली का पाठ ही करणीय होता है—

आदौ पूर्णं तु सम्पठ्य तथैवान्ते महेश्वरि।
मध्ये नामानि पद्यानि पुरश्चर्या प्रकीर्तिता।।

उपर्युक्त क्रम ही पुरश्चरण एवं प्रयोग दोनों विधानों में भी निर्धारित है।

घ. विशेष तिथिगत कृत पाठ— संक्रान्ति, पूर्णिमा, शुक्ला नवमी, शुक्ला चतुर्दशी, शुक्रवार, अपनी जन्मतिथि, दीक्षातिथि आदि के दिनों में पाठ करने पर विशेष फल प्राप्त होता है।

सर्वाधिक पाठ-फल तो पूर्णिमा की तिथि पर चन्द्रविम्ब में पराम्बा का ध्यान करके उनकी पूजा करके पाठ करने से प्राप्त होता है। इसका फल सभी रोगों से मुक्ति एवं दीर्घायुष्य-प्राप्ति भी है।

स्तोत्रपाठ एवं पूजन हेतु विशिष्ट तिथियाँ एवं दिन— भगवती ललिता की पूजा हेतु विशिष्ट फलप्रद तिथियाँ एवं दिन हैं— शुक्रवार, पौर्णमासी, महानवमी, चतुर्दशी (शुक्लपक्ष), संक्रान्ति, अयन, विषुव एवं अपनी जन्मतिथि।

क. पौर्णमासी— प्रत्येक मास की पौर्णमासी तिथि को रात्रि के समय चन्द्रविम्ब में भगवती के अवस्थान की विभावना करके (उसमें संस्थित श्रीचक्रराज पर समासीन भगवती की कल्पना करके) भगवती की वहीं पूजा करनी चाहिये। इस पूजन से साधक स्वयं ललितास्वरूप बन जाता है—

प्रतिमासं पौर्णमास्यामेभिर्नामसहस्त्रकैः।
रात्रौ यश्चक्रराजस्थामर्चयेत् परदेवताम्।।

स एव ललितारूपस्तद्रूपा ललिता स्वयम्।
न तयोर्विद्यते भेदो भेदकृत् पापकृद्भवेत्।।

ख. महानवमी— भगवती की पूजा के लिये महानवमी की तिथि भी विशेष फलदायिनी होती है। इस तिथि को पूजा करने वाला पूजक मुक्त हो जाता है—

महानवम्यां यो भक्तः श्रीदेवीं चक्रमध्यगाम्।
अर्चयेन्नामसाहस्रैस्तस्य मुक्तिः करे स्थिता।।

ग. शुक्रवार— दिनों में शुक्रवार का दिन भगवती ललिता के पूजन-अर्चन का विशेष दिन है; अतः यह दिन विशेष फलदायक है—

यस्तु नामसहस्रेण शुक्रवारे समर्चयेत्।
चक्रराजे महादेवीं तस्य पुण्यफलं शृणु।।

शुक्रवार के दिन भगवती के पूजन का फल है— सर्वकामनाओं की पूर्ति, सर्वसौभाग्य की सम्प्राप्ति, पुत्र-पौत्रादि की प्राप्ति के साथ ही साथ अन्य यथेप्सित भोगों की प्राप्ति एवं अन्त में ललिता-सायुज्य की प्राप्ति।

घ. पूर्णमासी— पूर्णमासी तिथि पर की गई भगवती की पूजा विशेष फलदायिनी होती है; जैसा कि कहा भी है—

कीर्तयेन्नामसाहस्रं पौर्णमास्यां विशेषतः।
पौर्णमास्यां चन्द्रविम्बे ध्यात्वा श्रीललिताम्बिकाम्।
पञ्चोपचारैः सम्पूज्य पठेन्नामसहस्त्रकम्।।

इस पूर्णमासी तिथि पर की जाने वाली भगवती की पूजा का फल है— समस्त रोगों का नाश, दीर्घायुष्य की प्राप्ति। ज्वरार्त का शिर:स्पर्श करके सहस्रनाम का पाठ करने पर तत्काल ही उसका रोग दूर हो जाता है और शिर की पीड़ा भी तत्काल दूर हो जाती है।

ङ. भस्म— भस्म को ललितासहस्रनाम से अभिमन्त्रित करके (उसे छूकर स्तोत्र-पाठ करने के द्वारा) यदि किसी को दिया जाय तो उसके धारण करने मात्र से ही सारे रोग दूर हो जाते हैं।

च. जल— कुम्भस्थ जल को यदि सहस्रनाम से अभिमन्त्रित किया जाय और उस जल से ग्रह-गृहीत को अभिषिञ्चित किया जाय तो सारे ग्रह तत्क्षण ही नष्ट हो जाते हैं।

छ. सुधासागर में भगवती का ध्यान-पूजन— सुधासागर में ध्यान करके भगवती के सहस्रनाम का यदि पाठ किया जाय तो विष का नाश हो जाता है।

ज. पुत्रप्राप्ति— यदि किसी वन्ध्या नारी को भी सहस्रनामाभिमन्त्रित नवनीत खाने को दे दिया जाय तो उसे पुत्र की प्राप्ति अवश्य हो जाती है।

झ. वशीकरण— यदि किसी नारी को देवी के पाश से आबद्ध एवं अंकुश के द्वारा आकृष्ट होती हुई कल्पित करते हुये रात्रि में उसका ध्यान करके सहस्रनाम का पाठ किया जाय तो वह नारी अवश्य ही पास में आ जाती है; चाहे वह किसी अन्त:पुर में ही रहने वाली क्यों न हो।

ञ. राजा का वशीकरण— भगवती के ध्यान में तल्लीन होकर तीन रात्रियों में ललितासहस्रनाम का पाठ करने पर तो विरोधोन्मुखी राजा भी दास की भाँति उपस्थित होकर एवं अपना समस्त राज्य तथा कोश समर्पित करके साधक का दास बन जाता है।

ट. सम्मोहन— प्रत्येक दिन ललितासहस्रनाम का पाठ करने वाले व्यक्ति का मुख देखने मात्र से लोकत्रय भी मोहित हो उठता है।

ठ. शत्रुनाश एवं अभीष्ट-प्राप्ति— जीवन में एक बार भी ललितासहस्रनाम का पाठ करने वाले व्यक्ति के समस्त शत्रुओं को शरभेश्वर नष्ट कर डालते हैं। इसी प्रकार इसके पाठ से अनेक अभीष्टों की प्राप्ति भी की जा सकती है।

तिथियों में नवमी, चतुर्दशी (शुक्ल पक्ष) एवं शुक्रवार तथा पौर्णमासी विशेष फलप्रदायिनी हैं।

संक्रान्ति, विषुव, अपनी तीन जन्मतिथियों एवं अयनों में भी की गई पूजासंयुक्ता पाठक्रिया विशेष फलदायिनी होती है—

संक्रान्तौ विषुवे चैव स्वजन्मत्रितयेऽयने।
नवम्यां वा चतुर्दश्यां सितायां शुक्रवासरे।
कीर्तयेन्नामसाहस्रं पौर्णमास्यां विशेषत:।।

पौर्णमास्यां चन्द्रविम्बे ध्यात्वा श्रीललिताम्बिका।
पञ्चोपचारै: सम्पूज्य पठेन्नामसहस्रकम्।।

ड. अचल धनप्राप्ति— लगातार छ: मासों तक भक्तिपूर्वक सहस्रनाम का पाठ करने से पाठक को स्थायी सम्पत्ति की प्राप्ति होती है।

य: पठेन्नामसहस्रं षण्मासं भक्ति-संयुत:।
लक्ष्मी चाञ्चल्यरहिता सदा तिष्ठति तद्गृहे।।

ढ. निष्कामोपासना— भगवती की निष्कामोपासना करने वाला साधक समस्त बन्धनों से मुक्ति पाकर ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर लेता है—

निष्काम: कीर्तयेद्यस्तु नामसाहस्रमुत्तमम्।
ब्रह्मज्ञानमवाप्नोति येन मुच्येत बन्धनात्।।

ण. सहस्रनाम स्तोत्र के पुरश्चरण की विधि— नियमपूर्वक इष्टदेवता के प्रीत्यर्थ कम से कम दश हजार पाठ का विधान है; परन्तु 'कलौ संख्या चतुर्गुणा' के नियमानुसार कलियुग में चालीस हजार पाठ करना चाहिये। हवनादिक यदि न भी कर सके, फिर भी यथाशक्ति दक्षिणासहित ब्राह्मणों को भोजन करा देने से भी पुरश्चरणविधि पूर्ण हो जाती है; जैसा कि कहा भी है—

विप्रसन्तोषणेनेव सर्वं सिद्ध्यति पार्वति ।

पुरश्चरणोपरान्त गुरु को सन्तुष्ट कर लेने पर पुरश्चरण की त्रुटियों का मार्जन हो जाता है।

त. श्रीप्राप्त्यर्थ प्रयोग— श्रीविद्योपासकों को यद्यपि 'श्री' (लक्ष्मी) स्वत: वरण करती है; फिर भी सहस्रनाम का पाठ करने वालों पर लक्ष्मी जी की विशेष कृपा रहती है। साधक को प्रत्येक नाम द्वारा पद्म, तुलसीदल या कदम्ब-करवीर-बन्धूक-चम्पकपुष्प या बिल्वपत्रों में से किसी एक से लगातार १०० दिनों तक भगवती की पूजा करनी चाहिये। भगवती के प्रत्येक नाम को चतुर्थ्यन्त करके उसके आदि में 'ॐ' और अन्त में 'नम:' लगाकर भगवती ललिता को पुष्पादिक अर्पित करना चाहिये। चतुर्थ्यन्त रूप इस प्रकार हैं—

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं श्रीमात्रे नम:। ॐ ऐं ह्रीं श्रीं श्रीमहाराज्ञ्यै नम:। ॐ ऐं ह्रीं श्रीं श्रीं सिंहासनेश्वर्यै नम:। ॐ ऐं ह्रीं श्रीं श्रीं चिदग्निकुण्डसम्भूतायै नम:। ॐ ऐं ह्रीं श्रीं श्रीं देवकार्यसमुद्यतायै नम:। ॐ ऐं ह्रीं श्रीं श्री उद्यद्भानुसहस्राभायै नम:। आदि।

ललितासहस्रनाम में उपदिष्ट पूजाविधि एवं पूजोपकरण

१. प्रात: स्नान करके सन्ध्या-कर्म समाप्त करे।

२. तत्पश्चात् पूजा गृह में जाय।

३. वहाँ जाकर पञ्चोपचार से चक्रराज की पूजा करे।

४. सदैव भक्तिपूर्वक पूजा करे— 'समर्चयेत्सदा भक्त्या'।

५. सहस्रनाम का पाठ भी औपचारिक ढंग से नहीं; बल्कि अत्यन्त आदरपूर्वक सम्पन्न करे— 'कीर्तयेदिदमादरात्'।

६. ललितासहस्रनाम के मन्त्रों द्वारा श्रीचक्र की अर्चना करे— 'एभिर्नामसहस्रैस्तु श्रीचक्रं योऽर्चयेत्सुकृत्'।

७. पूजा के पुष्प होते हैं— पद्म, तुलसीपुष्प, कल्हार, कदम्बक, चम्पक, जाति, मल्लिका, करवीरक, उत्पल, बिल्वपत्र अथवा कोई भी सुगन्धित पुष्प— 'अन्यैः सुगन्धि-कुसुमैः केतकीमाधवीमुखैः'।

८. किन्हीं विशेष पुण्यवासरों में की गई पूजा अधिक फलप्रद होती है। स्तोत्र का पाठ नहीं; संकीर्तन किया जाना विशेष फलदायी होता है।

पूजा विना भक्ति के उचित नहीं होती— 'यः पठेन्नामसाहस्त्रं षण्मासं भक्तिसंयुतः'। भक्तिसमन्वित पूजा ही वरेण्य है।

नामों का पाठ नहीं कीर्त्तन करना चाहिये— 'यः कीर्त्तयति नामानि, भक्तो यः कीर्त्त-यन्नित्यमिदं नामसहस्त्रकम्, अकीर्त्तयन्निदं स्तोत्रं, नित्यं सङ्कीर्त्तनासक्तः, कीर्त्तयेत्पुण्यवासरे, न कीर्त्तयति नामानि, कीर्त्तनीयमिदं सदा'। तस्मात् नामानुकीर्तनं उक्त्वा कीर्तयेन्नामसाहस्त्रं रहस्यनामसाहस्त्रं यः कीर्त्तयति नित्यशः। क्षुद्र प्रयोजनों की सिद्धि के प्रसंग में 'पाठ' शब्द का प्रयोग हुआ है।

विष उतारने एवं नारी-वशीकरण के प्रसङ्ग में— 'यः पठेन्नामसाहस्त्रं, पठेन्नाम-सहस्त्रकम्'। राजा को वश में करने के सन्दर्भ में— 'त्रिरात्रं यः पठेच्छ्रीदेवीध्यानतत्परः'। एक बार पढ़ने पर 'सकृत् पठति भक्तिमान्', 'यो वाऽभिचारं कुरुते नामसाहस्त्रपाठके'। लक्ष्मीप्राप्त्यर्थ— 'यः पठेन्नामसाहस्त्रम्'। भारतीसिद्धिहेतु— 'त्रिवारं यः पठेन्नरः'। एक बार पढ़ने वाले के लिये— 'यस्त्वेकवारं पठति'। 'यः पठेन्नामसाहस्त्रं जन्ममध्ये सकृन्नरः'।

सारांश— ललितासहस्त्रनाम का पाठ (संकीर्तन) तुच्छ ऐहिक कार्यों के लिये वरेण्य नहीं है; क्योंकि वहाँ उसकी बार-बार आवृत्ति संकीर्त्तन न बन कर पाठ बन जायगी; जो कि अभीष्ट नहीं है; क्योंकि इस स्तोत्र का उद्देश्य आत्मदर्शन एवं ब्रह्मप्राप्ति है।

पौर्णमासी को रात्रि में चन्द्रविम्ब में स्थित श्रीचक्र में स्थित भगवती का पूजन सर्वोच्च पूजन है। महानवमी को श्रीचक्रगता देवी का पूजन अधिक प्रशस्त है। इसी प्रकार शुक्रवार के दिन एवं शुक्लपक्ष की चतुर्दशी के दिन पूजा अधिक प्रशस्त है।

जो श्रीविद्योपासक इस सहस्त्रनामस्तोत्र का पाठ नहीं करता, उससे देवी कभी प्रसन्न नहीं रहतीं—

यो भक्तो ललितादेव्याः स नित्यं कीर्तयेदिदम्।
नान्यथा प्रीयते देवी कल्पकोटिशतैरपि।।

जिन्हें सहस्त्रनाम के पाठ में संकीर्त्तन की एकाग्रता, आनन्दानुभूति, शरीरांगों का भगवन्नाम में सञ्चालन होने से सभी अंगों द्वारा (मानों) भगवान् की सेवा करने का भाव जाग्रत होता है, उनके द्वारा स्तोत्र पढ़ना मात्र पाठ है, संकीर्त्तन नहीं। उचित है— संकीर्त्तन, न कि पाठ।

एकचत्वारिंश अध्याय

भगवती त्रिपुरसुन्दरी की उपासना : दास्यभाव

आचार्य शंकर ने सौन्दर्यलहरी में भगवती के प्रति जो प्रेम, निष्ठा एवं भक्ति व्यक्त की है, उसके मुख्यत: दो स्वरूप हैं— 'वात्सल्य भाव'— भगवती की माता के रूप में उपासना एवं 'दास्य भाव'— भगवती की स्वामिनी एवं अपने लिये दास के रूप में भावना करके की गई उपासना।

आचार्य शंकर ने अपनी उपासना का एक तृतीय रूप भी प्रस्तुत किया है और वह है— परोपासना। आचार्य शंकर दास्य भावोद्गार में भी डूबे हैं। वे कहते हैं—

भवानि त्वं दासे मयि वितर दृष्टिं सकरुणा-
मितिस्तोतुं वाञ्छन्कथयति भवानि त्वमिति य:।
तदैव त्वं तस्मै दिशसि निजसायुज्यपदवीं
मुकुन्द-ब्रह्मेन्द्र-स्फुट-मुकुट-नीराजित-पदाम् ।।

सारांश यह कि 'हे भवानी ! तू मुझ इस दास पर भी अपनी करुणार्द्र दृष्टि डाल' इस प्रकार कोई मुमुक्षु स्तुति करते समय 'भवानि त्वं' (मैं तू हो जाऊँ) इस पद का ही उच्चारण कर पाता है कि उसी समय तू उसे सायुज्य पद प्रदान कर देती है। इस पद के लिये तो ब्रह्मा, विष्णु एवं इन्द्र भी मुकुटों के प्रकाश से तेरी नीराजना किया करते हैं"।

यह प्रेमरूपा भक्ति का एक उदाहरण है।

आचार्य शंकर कहते हैं कि हे भगवती ! हे समस्त लोकों की एकमात्र शरणस्थली देवी ! मात्र आपके चरण ही अभयदान एवं वरदान दोनों देने में सक्षम हैं— 'शरण्ये लोकानां तव हि चरणावेव निपुणौ'। स्वयं कामदेव भी अपना समस्त सामर्थ्य तेरे कृपाकटाक्ष-मात्र से ही प्राप्त कर पाये हैं— 'मपाङान्ते लब्ध्वा जगदिदमनङ्गौ विजयते'। वे भगवती से प्रार्थना करते हुये कहते हैं कि 'दवीयांसं दीनं स्नपय कृपया मामपि शिवे'।

ज्ञानार्णव में अन्तर्यागात्मक उपासना-दृष्टि— ज्ञानार्णव के अनुसार मूलाधार चक्र से ब्रह्मबिलपर्यन्त व्याप्त, मृणाल के रेशे के समान सूक्ष्म, विद्युत्समूहात्मिका, अमृतकिरणों से शीतल, तेजोदण्डरूप 'परचिति' की कल्पना करनी चाहिये। फिर उस परम तेज में अर्थात् मूलाधार चक्र से अधोगत अकुल सहस्रार में भूपुरस्थित देवी का, उसके ऊपर विषुव नामक रक्त वर्ण के षड्दलात्मक पद्म में षोडशदल देवी का, मूलाधार पद्म के चार दलों में अष्टदल देवी का, षड्दलात्मक स्वाधिष्ठान चक्र में चतुर्दशार देवी का, षोडशदलात्मक विशुद्ध चक्र में अष्टार देवी का, लम्बिकाग्र में आयुध देवी एवं त्रिकोण देवी का तथा आज्ञाचक्र में बिन्दुगत देवी का ध्यान करना चाहिये। फिर उनके सबके आगे मन्त्रों से उन-उन आवरणों की पूजा करके देवी के वाम हस्त में पूजा

समर्पित करने की कल्पना करके श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी में ही उन-उन चक्रों को अपने-अपने अवयवों सहित विलीन हो जाने की कल्पना करके देवी के चरणों के मूल में स्थित जीवात्मा के साथ श्रीदेवी को हृदय में लाकर अपने अञ्जलिगत पुष्पों से उनकी पूजा करके फिर देवी के समक्ष पाँच देवियों के स्थिति की कल्पना करके यह सोचे कि वे चन्दनादिक उपचारों से भगवती की पूजा कर रही हैं और पञ्चोपचार मुद्राओं को प्रदर्शित कर रही हैं।

फिर देवी की नाकों में गन्धदेवता, कानों में पुष्पदेवता, नाभि में धूपदेवता, नयनों में दीपदेवता, जिह्वा में नैवेद्यदेवता— इस प्रकार क्रमशः इन सभी देवताओं को (देवी के) तत्तत् शरीराङ्गों में लयीभूत होते हुये कल्पना करके मूल विद्या का उच्चारण करते हुये जीवात्मा को श्रीदेवी के पादपद्मों में लयीभूत कल्पित करके, हृदयगत देवीरूप को देवी के चरणों सहित अत्यन्त ज्योतिर्मय रूप में कल्पित करके संक्षोभिणी आदि नव मुद्राओं की कल्पना करके साधक को निर्विचार हो जाना चाहिये (क्षण भर के लिये कुछ भी नहीं सोचना चाहिये)।

फिर स्वयं को देवी के द्वारा उत्प्रेरित हृदय वाला मानकर ज्योतिरूप में स्थित, परम-शिवज्योति से अभिन्न प्रकाशवाली, आकाशादि एवं विश्व की कारणभूता एवं अपनी आत्मा से अभिन्न रूप में स्थित परात्पर चैतन्य शक्ति (परचिति) को सुषुम्ना के मार्ग से ऊपर उठाकर ब्रह्मरन्ध्रान्वित एवं प्रकाशमान सहस्रदल से प्रवाहित होते हुये एवं नासापुट से बहिर्गत उस संविद् देवी को अपने पुष्प से युक्त अञ्जलि में लाकर 'ह्रीं श्रीं सौः श्रीललितायाः अमृतचैतन्यमूर्तिं कल्पयामि नमः' ऐसा कहना चाहिये। इसके बाद निम्नवत् ध्यान करना चाहिये—

ध्यायेन्निरामयं वस्तु जगत्त्रयविमोहिनीम्।
अशेषव्यवहाराणां स्वामिनीं संविदं पराम्।।

उच्चसूर्यसहस्राभां दाडिमीकुसुमप्रभाम्।
जपाकुसुमसङ्काशां पद्मरागमणिप्रभाम्।।

स्फुरत्पद्मनिभां तप्तकाञ्चनाभां सुरेश्वरीम्।
रक्तोत्पलदलाकारपादपल्लवराजिताम् ।। आदि ।।

* * * * *

इक्षुकोदण्डपुष्पेषु पाशाङ्कुशचतुर्भुजाम्।
सर्वदेवमयीमम्बां सर्वसौभाग्यसुन्दरीम्।।

सर्वतीर्थमयीं देवीं सर्वविद्यामयीं शिवाम्।
सर्वयागमयीं विद्यां सर्वदेवस्वरूपिणीम्।।

सर्वशास्त्रमयीं नित्यां सर्वागमनमस्कृताम्।
सर्वाम्नायमयीं देवीं सर्वायतनसेविताम्।।

सर्वानन्दमयीं ज्ञानगह्वरां संविदं पराम्।
एवं ध्यायेत्परामम्बां सच्चिदानन्दरूपिणीम्।।

इस ध्यान के बाद भगवती को अपनी लीला के कारण सौन्दर्यशाली शरीर धारण किये हुये कल्पित करके—

'ह् सैं हस्क्ल्रीं हस्रौः'

महापद्मवनान्तस्थे कारणानन्दविग्रहे।
सर्वभूतहिते मातः एह्येहि परमेश्वरि।।

श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरीपराभट्टारिकामावाहयामि नमः' कहना चाहिये तथा अणिमान्त नित्यादिकों को श्रीदेवी के समान वेषभूषायुधशक्तिचक्र से अलंकृत कल्पित करके ओघत्रय के गुरुमण्डल को वक्ष्यमाण आवरणों में स्थित रूप में कल्पित करके 'मूलं आवाहिता भव, मूलं संस्थापिता भव, मूलं सन्निधापिता भव, मूलं सन्निरुद्धा भव, मूलं सन्मुखी भव, मूलमवगुण्ठिता भव'— इन मन्त्रों से आवाहनादि मुद्रायें प्रदर्शित करनी चाहिये।

द्वाचत्वारिंश अध्याय

भावनोपनिषदोक्त भावनाप्रधान भगवती-पूजा

भावनोपनिषद् में भगवती की पूजा का जो विधान प्रस्तुत किया गया है, वह भावनामूलक एवं मानसिक है। 'उसका स्वरूप मानसिक है' यह उपचार बाह्यपदार्थक न होकर मात्र मानसोपचारात्मक है। इसमें कहा गया है—

१. सलिलं सौहित्यकारणं सत्त्वं कर्त्तव्यमकर्त्तव्यमिति भावनायुक्त उपचारः।
२. अस्ति नास्तीति कर्त्तव्यता उपचारः।
३. बाह्याभ्यन्तःकरणानां रूपग्रहणयोग्यताऽस्तित्वत्यावाहनम्।
४. तस्य बाह्याभ्यन्तःकरणानामेकरूपविषयग्रहणमासनम्।
५. रक्तशुक्लपदैकीकरणं पाद्यम्।
६. उज्ज्वलदामोदानन्दासनं दानमर्घ्यम्।
७. स्वच्छं स्वतःसिद्धमित्याचमनीयम्।
८. चिच्चन्द्रमयीसर्वाङ्गस्रवणं स्नानम्।
९. चिदग्निस्वरूपपरमानन्दशक्तिस्फुरणं वस्त्रम्।
१०. प्रत्येकं सप्तविंशतिधा भिन्नत्वेनेच्छाज्ञानक्रियाऽऽत्मकब्रह्मग्रन्थिमद्रसतन्तुब्रह्मनाडी ब्रह्मसूत्रयम्।
११. स्वव्यतिरिक्तवस्तुसङ्गरहितस्मरणं विभूषणम्।
१२. स्वच्छस्वपरिपूरणानुस्मरणं गन्धः।
१३. समस्तविषयाणां मनसः स्थैर्येणानुसन्धानं कुसुमम्।
१४. तेषामेव सर्वदा स्वीकरणं धूपः।
१५. पवनावच्छिन्नोर्ध्वज्वलनसच्चिदुल्काऽऽकाशदेहो दीपः।
१६. समस्तयातायातवर्ज्यं नैवेद्यम्।
१७. अवस्थात्रयैकीकरणं ताम्बूलम्।
१८. मूलाधारादाब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रादामूलाधारपर्यन्तं गतागतरूपेण प्रादक्षिण्यम्।
१९. तुर्यावस्था नमस्कारः।
२०. देहशून्यप्रमातृतानिमज्जनं बलिहरणम्।
२१. सत्वमस्ति कर्तव्यमकर्तव्यमौदासीन्यनित्यात्मविलापनं होमः।
२२. स्वयं तत्पादुकानिमज्जनं परिपूर्णध्यानम्।

भावनोपनिषदोक्त पूजा का फल— भावनोपनिषद् में कहा गया है कि उक्त भावनोपदिष्ट पूजा का फल जीवन्मुक्ति देवात्मैक्यसिद्धि एवं कामनासिद्धि होती है और ऐसा साधक शिवयोगी कहलाता है— 'एवं मुहूर्त्तत्रयं भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति। तस्य देवताऽऽत्मैक्यसिद्धिः। चिन्तितकार्याण्ययत्नेति सिध्यन्ति। स एव शिवयोगीति कथ्यते'।

लक्ष्मीधर ने लक्ष्मीधरा में समयमत का निरूपण करते हुये कहा है कि समयमत में मात्र सहस्रदल कमल में ही भगवती की पूजा करनी चाहिये— 'समयिनां सहस्रकमलपर्यन्तं आन्तरपूजा कर्तव्या'। सूर्यमण्डल आदि के मध्य भगवती की पूजा नहीं करनी चाहिये, यद्यपि इसका विधान सुभगोदय में है।

भावनोपनिषद् की दृष्टि— भावनोपनिषद् के दो संस्करण प्राप्त होते हैं और दोनों ही पाठभेद की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं। इसका एक संस्करण तो आड्यार लाइब्रेरी से (The Shakta Upanishad) के रूप में प्रकाशित हुआ है और दूसरा मैसूर विश्वविद्यालय के ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट-मैसूर से प्रकाशित हुआ है। दोनों पाठभेद की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं। मैसूर वाले संस्करण में भावनोपनिषद् के साथ ही साथ उस पर भास्करराय का भाष्य भी प्रकाशित है। आचार्य भास्कर ने भी भावनोपनिषद् के इस पाठभेद का उल्लेख किया है— 'तेनास्यामेवोपनिषदि शाखाभेदेन पाठभेददर्शनेऽपि'।

भावनोपनिषद् में भगवती त्रिपुरसुन्दरी की भावनामूलक उपासना का प्रतिपादन किया गया है। भावना की पद्धति से जो उपासना अनुष्ठेय है, उस भावनोपासना में 'तर्पण' का क्या अर्थ है? भावनोपनिषद् (मैसूर-संस्करण) में कहा गया है कि 'भावनाविषयाणामभेदभावना तर्पणम्' (सूत्र-३२)।

भास्करराय इसकी व्याख्या करते हुये कहते हैं कि यद्यपि पूजा के समस्त उपकरणों (गुरु से होमपर्यन्त) को भिन्न-भिन्न या पृथक्-पृथक् रूपों में कल्पित करके इनकी सहायता से भगवती की पूजा की जाती है; किन्तु उपकरणों की पृथक्-पृथक् सत्ता मानकर जो पूजा की जाती है, उससे उपकरणों में भेदबुद्धि तो बनी ही रहती है; अत: उसे उन्मूलित करने हेतु समस्त पदार्थों में परस्पर अभेदभावना रखना (भेद का अभेद द्वारा निगरण) या पदार्थों की निर्विकल्प तुरीयाखण्डविषयता का अनुभव करके और बाद में उसका भी त्याग करके स्वात्मामात्र के अवशिष्ट रह जाने की कल्पना या अनुभूति करना ही तर्पण वासना है।

यदि यह कहा जाय कि 'ताम्बूलमर्चना स्तोत्रं तर्पणञ्च नमस्क्रिया' में तो ताम्बूल + अर्चना + स्तोत्र 'नमस्क्रिया एवं तर्पण' पृथक्-पृथक् गिनाये गये हैं तो सभी एक कैसे हैं? तो इसका समाधान यह है कि यह भेदबुद्ध्यात्मक उपचार केवल आवरणदेवों के उपचार हैं। स्व से पृथक् इतर वस्तुओं की भेदबुद्धि को रोकना भी तर्पण कहा गया है—

एषामन्योन्यसैंभेदभावनं तर्पणं स्मृतम्।

भावनोपनिषद्भाष्य में भास्करराय कहते हैं कि 'यावन्त: पदार्था: इह भाविता ये च भावयिष्यन्ते तेषां सर्वेषामपि परस्पराभेदभावनेन विषयतावैलक्षण्यप्रयुक्तभेदभावनस्यापि निगरणेन निर्विकल्पतुरीयाखण्डविषयतामापाद्य तस्या अपि त्यागेन स्वात्ममात्रावशेष: तर्पणवासना'।

'भावनाविषयाणामभेदभावना तर्पणम्' की व्याख्या इस प्रकार भी की जा सकती है— 'विषयाणामभेदभावना एव भावना, तदेव तर्पणम्'।

होमविषयक भावनोपनिषद्-दृष्टि— 'अहं त्वमस्तिनास्तिकर्त्तव्यमकर्त्तव्यमुपासितव्यमिति विकल्पानामात्मनि विलापनं होमः'।

विज्ञानभैरव की दृष्टि—

महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतना स्रुचा।।

महाशून्य अर्थात् शून्यातिशून्य पदवी (महामाया शक्ति) का जिस परतत्त्वात्मक परभैरवस्वरूप वह्नि में विलयन हो जाता है, उस बोधभैरवरूप अग्नि में पञ्च महाभूतों, एकादश इन्द्रियों, पञ्च विषयों एवं भुवनतत्त्व आदि संकल्प-विकल्पात्मक सकल जगत् की चितिनामक स्रुवा से आहुति देना ही होम है।

स्वच्छन्दतन्त्र की दृष्टि—

एवं हृदयाम्बुजावस्थो यष्टव्यो भैरवो विभुः।
स बाह्याभ्यन्तरं कृत्वा पश्चाद्यजनमारभेत्।।

योगिनीहृदयदीपिका की दृष्टि— इस ग्रन्थ में निम्न श्लोक ग्रन्थान्तर से उद्धृत है—

धर्माधर्महविर्दीप्ते आत्माग्नौ मनसा स्रुचा।
सुषुम्णावर्त्मना नित्यमक्षवृत्तीर्जुहोम्यहम्।। (ज्ञानार्णवतन्त्र)

नैदानैस्तर्पणैः सम्यग् विशुद्धैरमृतात्मभिः।
मदहन्तां करोमीदं विश्वं हव्यपुरस्सरम्।। (सुभगोदयवासना)

'श्रीमद्भगवद्गीता' के अनुसार ज्ञान से जलाई गई योगाग्नि में समस्त विषयों की आहुति देना ही होम माना गया है। इसी आत्मसंयमस्वरूप योगाग्नि में समस्त ऐन्द्रिय एवं प्राणिक कर्मों की आहुति देने को होम माना गया है—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्मणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।

'श्रीसुभगोदय' की दृष्टि में पराहन्तामय संविदग्नि में इदन्तास्वरूप हव्य की आहुति देना ही होम है—

पराहन्तामये संविदग्नौ संवेद्यतर्पणे।
इदन्तालक्षणं हव्यं जुहुयादबहिर्मुखः।।

'महार्थोदय' में इदन्ता को ही आहुति स्वीकार किया गया है, जिसे चैतन्य के मुख में डालना चाहिये। कहा गया है कि—

अथ हव्यमिदन्ताख्यं हावं हावं स्वचिन्मुखे।

मैं-तुम, है-नहीं है, करना चाहिये-नहीं करना चाहिये, उपासना के योग्य है— उपासना के योग्य नहीं है— आदि समस्त विकल्पों का आत्मा में विलापन ही होम है।

यही दृष्टि भावनोपनिषद् की भी है—'अहं त्वमस्तिनास्तिकर्त्तव्यमकर्त्तव्यमुपासितव्यमिति विकल्पानामात्मनि विलापनं होमः'। आशय यह है कि विकल्पों का आत्मा में विलापन ही होम है। विकल्प क्या हैं? इनके जनक कौन हैं? इनका प्रभाव क्या है? इनके निराकरण का फल क्या है? इन सभी शंकाओं का समाधान यह है कि मूलतः स्वभाव-परामर्श का नाम ही विकल्प है। इसके दो भेद हैं— नैश विकल्प और स्वच्छ विकल्प।

भेदों के द्वारा तत्त्व-सन्धान ही नैश विकल्प है और भेदों की सहायता लिये विना ही तत्त्वपरामर्श स्वच्छ विकल्प है। नैश या मायीय विकल्पों में स्नान, अर्चना, होम, ध्यान, जप, चक्रपूजा आदि परिगणित हैं। नैश (मायीय) विकल्पों के परामर्श द्वारा भी भेद से अभेद के मार्ग की यात्रा की जाती है और अभेदत्व प्राप्त किया जाता है। समस्त विश्व विकल्पों के बन्धनों से ही तो परिबद्ध है। स्पन्दप्रदीपिका में कहा भी है—

स्वविकल्पकृतैबैन्धैर्बध्यते त्वनिशं जगत्।

'आत्मसप्तति' का मत तो यह है कि वस्तुतः 'बन्धन' नाम की कोई चीज है ही नहीं; फिर मुक्ति का क्या मतलब है? दोनों प्रत्ययों को मात्र विकल्प ने गढ़ा है। यथार्थतः बन्धन एवं मुक्ति दोनों का अस्तित्व नहीं है—

वस्तुस्थित्या न बन्धोऽस्ति तदभावान्न मुक्तता।
विकल्पघटितावेतावुभावपि न किञ्चन।।

बन्धन, बन्धनकर्त्ता एवं बद्ध— ये तीनों एक ही हैं। इन सभी को विकल्प ने गढ़ा है; क्योंकि ये सभी अपने विकल्प से ही बँधे हुये हैं और इसी विकल्प से समस्त जगत् बँधा हुआ है। स्पन्दप्रदीपिका में कहा भी गया है—

बन्धनं बन्धकृद्बध्यस्त्रिष्वप्येको न भिद्यते।
स्वविकल्पकृतैर्बन्धैर्बध्यते त्वनिशं जगत्।।

'नारदसंग्रह' के अनुसार जैसे भुना हुआ बीज अंकुरित नहीं होता, वैसे ही विकल्प-रहित चित्त भी पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है—

यथा सुभर्जितं बीजं नेह भूयः प्ररोहति।
विकल्पक्षीणचित्तस्य तथा भूयो न संसृतिः।।

विकल्प को छोड़कर कोई अन्य बन्धन ही नहीं है। विकल्पों का ताना-बाना एवं प्रपञ्चीकरण ही तो जगत् एवं बन्धन है—

सर्वो विकल्पः संसारो नान्यो बन्धो विकल्पतः।

'अभिनवगुप्तपाद' तन्त्रालोक में कहते हैं कि निर्विकल्प परामर्श के प्रसाद से ही शिव-तादात्म्य उपलब्ध होता है और उसके बाद होने वाले विकल्पों का कोई मूल्य नहीं रह जाता—

तत्प्रसादात्पुन: पश्चाद्भाविनोऽत्र विनिश्चया:।
सन्तु तादात्म्यमापन्ना न तु तेषामुपायता।।

आचार्य भास्करराय 'मखिन' भावनोपनिषद्-भाष्य में कहते हैं कि श्रीचक्र में तो अनन्त शक्तियाँ हैं और यह विश्व-विकल्पों की जन्मदात्री है। कहा भी गया है—

अन्यास्तु शक्तयश्चक्रगामिन्यो यास्समन्तत:।
तास्तु विश्वविकल्पानां हेतव: समुदीरिता।।

विश्वात्मैक्य, शुद्धभैरवापत्ति एवं शिवोऽहं की अनुभूति के अनन्तर तो विकल्पों के विस्तार की स्थिति में भी साधक महेश्वर ही बना रहता है—

सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानत:।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता।।

किन्तु सामान्य जागतिक स्थिति में विकल्प बन्धन के केन्द्र हैं।

विकल्पों का स्वभाव ही है— भेदवादोत्पत्ति। विकल्प एवं भेद से अज्ञान और बढ़ता है। इसे ही 'अख्याति' (अज्ञान) भी कहते हैं। विवेक में जयरथ ने कहा भी है— 'विकल्पो हि भेदप्रथात्मक: स चैव अख्यातिरूपत्वादज्ञानम्'।

श्रीमन्त्रिशाटनशास्त्र में कहा गया है कि बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर विकल्पों का उन्मूलन हो जाता है और उससे साधक को मुक्ति प्राप्त हो जाती है। तन्त्रालोक में कहा भी है—

बौद्धज्ञाननिवृत्तौ तु विकल्पोन्मूलनाद् ध्रुवम्।
तदैव मोक्ष इत्युक्तं धात्रा श्रीमन्त्रिशाटने।।

इसीलिये कहा भी गया है—

विकल्पयुक्तचित्तस्तु पिण्डपाताच्छिवं व्रजेत्।
विकलहीनचित्तस्तु ह्यात्मानं शिवमव्ययम्।।

अभिनवगुप्तपाद भी यही कहते हैं—

विकल्पयुक्तचित्तस्तु पिण्डपाताच्छिवं व्रजेत्।
इतरस्तु तदैवेति शास्त्रस्यात्र प्रधानत:।।

इन्हीं दृष्टियों को मन में रखकर आचार्य भास्कर कहते हैं कि 'ईदृशविकल्पानामप्यात्म-स्वरूपत्वमात्माविशेषविभावनमेव होमभावना'। भाव यह कि ये भेदप्रथात्मक अनन्त मनो-जात विकल्प भी जब आत्मस्वरूप में लयीभूत हो जाते हैं, तब उनको भी आत्म-स्वरूप में विभावित करना ही 'होमभावना' है। कहा भी गया है— 'होमो विश्वविकल्पानां स्वात्म-न्यस्तमयो दृढम्'। तात्पर्य यह कि विकल्पों के निर्व्युत्थान विलापनपूर्वक उनके जन्मदाता शक्तिकदम्बस्वरूप देवताओं में विलीन हो जाने की भावना ही होम है और होम की इसी स्वरूप में भावना करनी चाहिये— 'विकल्पानां निर्व्युत्थानविलापनपूर्वकं

तद्धेतुकशक्तिकदम्बकस्य देवतायां विलीनतां भावयेदिति फलितार्थः'।

उपचार— भावनोपनिषद् कहता है कि 'भावनायाः क्रिया उपचाराः'। उपचार का अर्थ क्या है? भगवती ललिता को स्वात्मा से अभिन्न मानकर की गई धारावाहिक समस्त क्रियायें उपचार हैं— 'उक्तायाः स्वात्माभेदेन ललिताभावनायाः क्रियाः पुनः पुनः कणानि धारावाहिन्यो भावना इति यावत्'। तन्त्रराज में भी इसी भाव का प्रतिपादन पहले से ही किया गया है— 'उपचारश्चलत्वेऽपि तन्मयत्वाप्रमत्तता'। चलत्व = चाञ्चल्य।

भास्करराय कहते हैं कि उपचार-समर्पण-व्यापार में (गन्धादि समर्पण के समय) भेददृष्टि तो बनी ही रहती है, किन्तु अविरोधिनी उपचारभावना की स्वेच्छापूर्वक उद्भावना अवश्य करनी चाहिये; क्योंकि उपचार में यही भावना अन्तर्निहित है— 'उपचारसमर्पणस्य भेदघटितत्वेन यथास्थितगन्धादिभावनापक्षे पूर्वभावितस्य भेदस्य प्रमोषापत्तेस्तद्विरोधिनीरेवोपचार-भावनाः स्वेच्छया कल्पयेदिति भावः'।

तन्त्रराजतन्त्र की दृष्टि— चलत्व (चाञ्चल्य) के रहने पर भी स्थैर्यभावनात्मक अभेदभावना एवं ब्रह्ममयत्व के अंश में अप्रमाद (सावधानी रखना) के स्वरूप वाली विभावना ही उपचार है। भास्करराय कहते भी हैं— 'अभेदभावनास्थैर्याभावः (चलत्वं) तादृशस्वभावशीलत्वेऽपि ब्रह्ममयत्वांशे प्रमादाभावोऽतीवसावधानता यथा स्यात्तथा विभावना एवोपचार इति'।

भास्करराय कहते हैं कि अपनी इन्द्रियों की विषयोपभोगजनित समस्त आनन्दानुभूतियों की अपनी आत्मा के साथ अभेदानुसन्धानपूर्वक भावना करना ही सपर्या है— 'स्वात्माभेदे-नानुसन्धानं ...... भावनया सपर्या'। सौन्दर्यलहरी में कहा भी गया है—

सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्।

अपने शरीर के अन्तर्गत पार्थिव-नाभस-वायवीय-तैजस भागों का चन्द्रमण्डल में स्थित अमृत एवं उसके मण्डल का जडभागापनयनपूर्वक सच्चिदानन्द मात्रावशेषस्वरूप ब्रह्ममयत्व का विभावन करना ही गन्ध-ताम्बूलान्त षड् उपचार है। नित्याहृदय में इस भाव का प्रतिपादन भी किया जा चुका है—

भवतीं त्वन्मयैरेव नैवेद्यादिभिरर्चयेत्।
पञ्चभूतमयं विश्वं तन्मयी सा सनातनी।।

आचार्य भास्कर का कथन है कि सामान्य उपचारों में तो भौतिक पदार्थ अहोरात्र काल आदि की अपेक्षा है, किन्तु भावनोपासना में द्रव्यों के भौतिक न होने एवं कालादिक नियमों की अपेक्षा न होने के कारण दूसरे उपचार ही कल्पित किये गये हैं— 'अन्य-थैवोपचाराः कल्पनीयाः'। ये उपचार इस प्रकार हैं—

१. **आसन**— अपनी महिमा में प्रतिष्ठित भावना ही यहाँ आसन है।

२. **पाद्य**— अस्ति-भाति-प्रियांशमात्र रूप वाला जल ही पादप्रक्षालन जल (पाद्य) है।

३. अर्घ्य— उसी सूक्ष्म प्रपञ्च का एकदेशत्वाविशेषाध्यस्तत्वेन परिकल्पना द्वारा उक्त रीति से मत-निरास ही अर्घ्य है।

४. आचमन— भावनारूप जल का भी कबलीकार ही आचमन है।

५. स्नान— सत्वचित्वानन्द के कारण समस्त अवयवों की अभेदरूप में भावना करना रूप जो जलसम्पर्क है, वही स्नान है।

६. वस्त्र— उन अवयवों में उक्त जलसम्पर्क से प्रसक्त वृत्तिविषयता का प्रच्छन्नभावन ही वस्त्र है।

७. आभरण— निर्विषयत्व निरञ्जन होने के कारण अनेक ब्रह्मलिङ्गभूत तदभिन्न विभावन ही आभरण है।

८. स्तोत्र— प्रकृतभावनाङ्ग मन्त्र में परा-पश्यन्ती आदि समस्त शब्दों की नाद द्वारा ब्रह्म में उपसंहारविभावना ही स्तोत्र है।

९. प्रदक्षिणा— चित्तवृत्तियों का विभिन्न विषयों में इतस्तत: दौड़ने एवं विषयगत जाड्य के निराकरणपूर्वक उनका ब्रह्म में विलापन करना ही प्रदक्षिणा है।

आड्यार लाइब्रेरी (मैसूर) से प्रकाशित भावनोपनिषद् के अनुसार उपचारों का स्वरूप निम्नलिखित है—

१. पादोदक के लिये समर्पित सलिल— ब्रह्मानन्दयोगिन के मतानुसार गुरु-मन्त्र-आत्मा देवता का सौहित्यकारण (एकीकरण) स्वरूप सत्त्व ही साधक का परम कर्तव्य है और इसकी विपरीत दृष्टि अकर्तव्य है— इस भावनायोग वाला उपचार ही सलिल है।

२. उपचार— मात्र ब्रह्म ही है और उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है— इस द्वैतग्रासात्मक अद्वैत ज्ञान की कर्तव्य बुद्धि ही उपचार है।

३. आसन— बाह्याभ्यन्तर इन्द्रियों एकरूपात्मक विषय को ग्रहण करना ही आसन है।

४. पाद्य— केवल कुम्भक द्वारा सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश करने के अनन्तर मूला-धार, भ्रूमध्य के ऊपर स्थित प्रत्यक पराभिधानात्मक रक्त-शुक्ल पदों का एकीकरण ही पाद्य है।

५. अर्घ्य— प्रत्यगभिन्न ब्रह्मस्वरूप एवं उज्ज्वलदामोदानन्द रूप से अखण्ड अव-स्थान ही साधक का कर्तव्य है— ऐसा निश्चय करके इसको अपने शिष्यों को प्रदान करना ही अर्घ्य है।

६. आचमनीय— जो स्वत:सिद्ध स्वच्छ हो, वही आचमनीय है। ब्रह्म के अति-रिक्त कोई स्वच्छ नहीं है। ब्रह्मग्रन्थि-विष्णुग्रन्थि-रुद्रग्रन्थि से अनुविद्ध रसनाड़ी सुषुम्णा ही स्वच्छ है; अत: ब्रह्म का अपर धाम है और उससे प्रवाहित स्वच्छ अमृत का पान ही आचमनीय है।

७. स्नान— सहस्रार के चेतन चन्द्र से युक्त केन्द्र से स्रवित अमृत का शरीर के समस्त अङ्गों पर स्रवण (टपकना) ही स्नान है।

८. **वस्त्र**— चिदग्निस्वरूप परमानन्द शक्ति का स्फुरण ही वस्त्र है।

९. **ब्रह्मसूत्र**— इच्छा-ज्ञान-क्रिया से युक्त एवं ब्रह्मग्रन्थिमय तन्तुस्वरूपा ब्रह्मनाड़ी ही ब्रह्मसूत्र है।

१०. **विभूषण**— अपने से अतिरिक्त वस्तुओं के सम्पर्क में न रहने का स्मरण बने रहना ही विभूषण है।

११. **गन्ध**— स्वच्छ स्वपरिपूरणानुस्मरण ही गन्ध है।

१२. **कुसुम**— मन के समस्त विषयों का स्थिरतापूर्वक अनुसन्धान ही कुसुम है।

१३. **धूप**— उसी को सदैव स्वीकार करना ही धूप है।

१४. **दीप**— योगकाल में प्राणपान एवं अग्नि की एकता से सुषुम्ना में सच्चिदानन्दात्मक एवं उल्कारूप आकाशदेह ही परम दीपक है। पवनच्छिन्न एवं ऊर्ध्व दिशा में प्रज्ज्वलित उल्का आकाशदेह ही दीप है।

१५. **नैवेद्य**— समस्त यातायात का निषेध ही नैवेद्य है। आत्मयात्रा छोड़कर शेष समस्त इन्द्रियों की विषय-पथ पर की जाने वाली यात्राओं का— आवागमन का— त्याग ही नैवेद्य है।

१६. **ताम्बूल**— तीनों अवस्थाओं का एकीकरण ही ताम्बूल है। तुर्यावस्था, जिसमें तीनों अवस्थाओं का एकीकरण हो जाता है, ताम्बूल है।

१७. **प्रादक्षिण्य**— मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त तथा ब्रह्मरन्ध्र से मूलाधारपर्यन्त जो (चिति शक्ति की) यात्रा होती है, उसे ही प्रदक्षिणा कहा जाता है।

१८. **नमस्कार**— तुर्यावस्था (मैं तुरीयस्वरूप हूँ— यह बोध) ही नमस्कार है।

१९. **बलिहरण**— देह एवं शून्य की प्रमातृता का निमज्जन ही बलिहरण है।

२०. **होम**— सत्त्व-अस्ति-कर्तव्य-अकर्तव्य-औदासीन्य आदि सभी का नित्य चिरन्तन आत्मा में विलापन ही होम है। इस सूत्र का पाठान्तर भी मिलता है। दोनों पाठ इस प्रकार है—

क. आड्यार-संस्करण— सत्वमस्तिकर्तव्यमकर्तव्यमौदासीन्यनित्यात्मविलापनं होमः।

ख. मैसूर-संस्करण— अहं त्वमस्तिनास्तिकर्तव्यमकर्तव्यमुपासितव्यमिति विकल्पानामात्मनि विलापनं होमः।

२१. **ध्यान**— गुरु की पादुका में निमज्जित हो जाना ही परिपूर्ण ध्यान है।

भावनोपनिषद् का प्रथम सूत्र भी गुरुपरक है— 'श्रीगुरुः परमकारणभूता शक्तिः'। भावना का फल क्या है? भावना का फल है— जीवन्मुक्ति। उक्त समस्त उपचारों के साथ तीन मुहूर्त्तपर्यन्त भावनायुक्त होने पर ही साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति की स्थिति में साधक की आत्मा एवं इष्टदेवता में ऐक्य स्थापित हो जाता है। इतना ही नहीं; इस परदशा में साधक के समस्त चिन्तित एवं अभीष्ट कार्य सिद्ध हो जाते हैं। इसे ही शिवयोगी कहा जाता है— 'एवं मुहूर्त्तत्रयं भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति। तस्य देवताऽऽत्मैक्यसिद्धिः। चिन्तितकार्याण्ययत्नेन सिध्यन्ति। स एव शिवयोगीति कथ्यते।

आत्मपूजोपनिषद् के अनुसार मानसोपचार—

१. तस्य निश्चिन्तनं ध्यानम्— आत्मा का निरन्तर चिन्तन ही ध्यान है।
२. सर्वकर्मनिराकरणमावाहनम्— सभी कर्मों का त्याग कर देना ही आवाहन है।
३. निश्चलज्ञानमासनम्— निश्चल ज्ञान ही आसन है।
४. समुन्मनीभाव: पाद्यम्— उन्मनीभाव ही पाद्य है।
५. सदामनस्कमर्घ्यम्— सदैव अमनस्क भाव धारण करना ही अर्घ्य है।
६. सदा दीप्तिराचमनीयम्— आत्मा की शाश्वत दीप्ति ही आचमन है।
७. वराकृतप्राप्ति: स्नानम्— वरदान की प्राप्ति ही स्नान है।
८. सर्वात्मकत्वं दृश्यविलयो गन्ध:— सर्वात्मकस्वरूप दृश्य का विलय गन्ध है।
९. दृगविशिष्टात्मान: अक्षता:— अन्तर्चक्षुज्ञान ही अक्षत है।
१०. चिदादीप्ति: पुष्पम्— चित् तत्त्व का प्रकाश ही पुष्प है।
११. सूर्यात्मकत्वं दीप:— अपने को सूर्य समझना ही दीपक है।
१२. परिपूर्णचन्द्रामृतरसैकीकरणं नैवेद्यम्— पूर्ण चन्द्र के अमृत का एकीकरण ही अमृत है।
१३. निश्चलत्वं प्रदक्षिणम्-— निश्चलता ही प्रदक्षिणा है।
१४. सोऽहम्भावो नमस्कार:— 'सोऽहं' का भाव ही नमस्कार है।
१५. परमेश्वरस्तुतिर्मौनम्— परमेश्वर की स्तुति ही मौन है।
१६. सदा सन्तोषो विसर्जनम्— सतत् सन्तुष्टि ही विसर्जन है।
१७. एवं परिपूर्णराजयोगिन: सर्वात्मकपूजोपचार: स्यात्।
१८. सर्वात्मकत्वं आत्माधारो भवति— सर्वात्मकत्व ही आत्मा का आधार है।
१९. सर्वनिरामयपरिपूर्णोऽहमस्मीति मुमुक्षूणां मोक्षैकसिद्धिर्भवति।

महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्तपाद कहते हैं कि हे जगदम्बिके ! संसार में कौन-सा वाङ्मय ऐसा है, जो तुम्हारी स्तुति नहीं है? क्योंकि तुम्हारा समस्त शरीर समस्त शब्दसमूह है। हे देवि ! समस्त आकृतियों में आपके स्वरूप का ही दर्शन होता है। मेरे समय का क्षुद्रतम अंश भी तुम्हारी स्तुति, जप, पूजा या ध्यानरहित नहीं है। मेरे सम्पूर्ण जागतिक आचार-व्यवहार तुम्हारे ही भिन्न-भिन्न रूपों के प्रति यथोचित रूप से व्यवहृत होने के कारण तुम्हारी पूजा के रूप में परिणत हो गये हैं—

तव च का किल न स्तुतिरम्बिके ! सकलशब्दमयी किल ते तनु:।
निखिलमूर्तिषु मे भवदनवयो मनसिजासु बहि:प्रसरासु च।।

इति विचिन्त्य शिवे ! शमिताशिवे ! जगति जातमयत्नवशादिदम्।
स्तुतिजपार्चनचिन्तनवर्जिता न खलु काचन कालकलास्ति मे।।

आचार्य शंकर भी इसी भावनोन्मुख उपासना या मानसोपचार का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि—

१. हे प्रभु शंकर ! तुम मेरी आत्मा हो।

२. भगवती पार्वती ही मेरी बुद्धि है।

३. प्राण ही मेरे सहचर हैं और शरीर ही मेरा घर है।

४. मेरी सारी उपभोग-सामग्री (भोजनादिक) तेरी पूजा है।

५. मेरी निद्रा ही समाधि है।

६. मेरा अपने चरणों द्वारा घूमना, चलना, टहलना आदि तुम्हारी प्रदक्षिणा है।

७. मेरे मुख से निकले सारे वाक्य तेरी पूजा के स्तोत्र हैं।

८. मै जो कुछ भी क्रियाकलाप निष्पादित करता हूँ, वे मेरे समस्त क्रियाकलाप तेरी आराधनमात्र हैं; इसके अतिरिक्त कुछ नहीं—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्।
पूजा ते विविधोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।।

सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरः।
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भोः तवाराधनम्।।

सन्त कबीरदास की दृष्टि— मध्ययुगीन भारतीय आध्यात्मिक साधना के अग्रदूत महात्मा कबीरदास ने भी आठवीं शताब्दी के महान् आचार्य शंकर की परापूजा (मानस-पूजा) के भावों को ही प्रस्तुत किया है। भगवन्नाम, सुमिरन, पूजा और अद्वैतात्मक समत्व भाव की परिभाषा क्या है? उसका रहस्यात्मक अर्थ एवं स्वरूप क्या है? सन्त कबीरदास कहते हैं—

कहूँ सो नाम, सुनूं सो सुमिरन जो कुछ करूँ सो पूजा।
गिरह-उद्यान एक सम देखूँ भाव मिटाऊँ दूजा।।

भगवान् की प्रदक्षिणा या परिक्रमा क्या है? भगवान् की सेवा क्या है और भगवान् को जो साष्टांग दण्डवत् किया जाता है, वह क्या है? उसका कबीर-भावित स्वरूप क्या है? कबीरदास जी कहते हैं—

जहँ जहँ जाउँ सोई परिकरमा, जो कछु करुँ सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत् पूजूँ और न देवा।।

यथार्थ पूजा तो वही है, जिसमें पृथक् से पूजा करने की आवश्यकता ही न पड़े; प्रत्युत साधक के समस्त व्यापार ही भगवान् की पूजा के अंग बन जायँ तथा काल का क्षुद्रतम से क्षुद्रतम अंश भी भगवान् की पूजा से पृथक् न रह जाय। इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्तपाद कहते हैं— 'स्तुतिजपार्चनचिन्तनवर्जिता न खलु काचन कालकलास्ति मे'। आचार्य शंकर इसे इस प्रकार व्यक्त करते हैं— 'यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्'। पूजा के विषय में सन्त कबीर इस प्रकार कहते हैं—

शब्द निरन्तर मनुआ राता मलिन वचन का त्यागी।
ऊठत-बैठत कबहुँ न विसरै ऐसी तारी लागी।।

आँख न मूँदूँ कान न रुँधूँ, काया-कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मैं हँस हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ।।

अर्थात् व्युत्थानावस्था और तुरीयावस्था में कोई भेद ही नहीं रह गया, जागतिक जीवन एवं साधना में कोई अन्तर ही नहीं रह गया और जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरीय-तुरीयातीत-बन्धन-मुक्ति-सामरस्य और जीवन्मुक्ति सभी परस्पर घुल-मिलकर एक हो गये।

इसी उपर्युक्त प्रकरण में आचार्य शंकर इस प्रकार प्रश्न करते हैं—

१. अखण्ड, सच्चिदानन्द और निर्विकल्पैकस्वरूप अद्वितीय भाव के स्थिर हो जाने पर किस प्रकार पूजा की जाय?
२. जो पूर्ण है, उसका आवाहन कहाँ किया जाय?
३. जो सबका आधार है, उसके आधार (आसन) के लिये कौन-सा आसन दिया जाय?
४. जो स्वयं स्वच्छ है, उसको पाद्य और अर्घ्य कैसे दें?
५. जो नित्य शुद्ध है, उसको आचमन के लिये जल कैसे दें?
६. निर्मल के लिये स्नान कैसा? विश्वोदर के लिये वस्त्र कैसा?
७. गोत्रशून्य एवं वर्णातीत को यज्ञोपवीत कैसा?
८. निर्लेप के लिये गन्ध कैसा? निर्वासनिक को पुष्प कैसा?
९. निर्विशेष को भूषादान कैसा? उसका शोभाकरण कैसा?
१०. निरञ्जन को धूप-दान कैसा? सर्वसाक्षी को दीप कैसा?
११. निजानन्दामृत से तृप्त को नैवेद्य कैसा?
१२. स्वप्रकाश, चित्स्वरूप, सूर्य-चन्द्रावभासक एवं विश्वानन्द को ताम्बूल-समर्पण कैसा?
१३. अनन्त की परिक्रमा कैसी? अद्वितीय को नमस्कार कैसा?
१४. वेदवाक्यों से भी जो अज्ञात है, उसका स्तवन कैसा?
१५. स्वयंप्रकाश एवं विभु की नीराजना कैसी?
१६. बाह्याभ्यन्तर-सर्वपूर्ण का विसर्जन कैसा?

आचार्य शंकर का कथन है कि ब्रह्मवेत्ताओं का सर्वदा एवं सभी अवस्थाओं में इसी प्रकार एकबुद्धि से भगवान् की परापूजा करनी चाहिये—

एवमेव परापूजा सर्वावस्थासु सर्वदा।
एकबुद्ध्या तु देवेश विधेया ब्रह्मवित्तमैः।।

आचार्य शंकर पूछते हैं—

पूर्णस्यावाहनं कुत्र सर्वाधारस्य चासनम्।
स्वच्छस्य पाद्यर्घ्यं च शुद्धस्याचमनं कुतः।।

निर्मलस्य कुतः स्नानं वस्त्रं विश्वोदरस्य च।
अगोत्रस्य त्ववर्णस्य कुतस्तस्योपवीतकम्।।

निर्लेपस्य कुतो गन्धः पुष्पं निर्वासनस्य च।
निर्विशेषस्य का भूषा कोऽलङ्कारो निराकृतेः।।

निरञ्जनस्य किं धूपैर्दीपैर्वा सर्वसाक्षिणः।
निजानन्दैकतृप्तस्य नैवेद्यं कि भवेदिह।।

विश्वानन्दपितुस्तस्य किं ताम्बूलं प्रकल्प्यते।
स्वयंप्रकाशचिद्रूपो योऽसावर्कादिभासकः।। आदि ।।

भगवती त्रिपुरसुन्दरी के पञ्चपुष्पबाण— भावनोपनिषद् कहता है कि 'शब्दादितन्मात्राः पञ्चपुष्पबाणाः' (सूत्र-२१) अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धरूप पञ्चतन्मात्रायें ही भगवती के पञ्चपुष्पबाण हैं। चूँकि ये अभिमुख हैं और अन्त में परुष हैं; अत एव ये बाण से अभिन्न है। जो अविकृत मन है, वही पुण्ड्रेक्षुचाप है। मन विषयपरामर्शरूप इन्द्रियों का प्रेरक है।

धनुष— 'मन इक्षुधनुः' (भावनोपनिषत्सूत्र-२२) के अनुसार विकार-शून्य मन ही भगवती का इक्षु-धनुष है।

पाश— 'रागः पाशः' (भावनोपनिषत्सूत्र-२३)। राग क्या है? प्रश्न के उत्तर में भास्करराय कहते हैं कि 'रागः प्रीतिः षट्त्रिंशदन्तर्गता तत्त्वविशेषः न त्विच्छासामान्यम्।

यहाँ 'राग' शब्द का अर्थ प्रेम नहीं; अपितु ३६ तत्त्वों में जो पञ्चकञ्चुकान्तर्गत राग-तत्त्व है, उसे ही यहाँ राग कहा गया है और वही रागतत्त्व भगवती के हाथ में धृत 'पाश' है। इस प्रकार राग ही बन्धनप्रद भी है और 'राग' (प्रीति) भी; अतः 'राग' एवं 'पाश' दोनों को पर्यायरूप में स्वीकार किया गया है।

अंकुश— 'द्वेषोऽङ्कुशः' (भावनोपनिषत्सूत्र-२४)। भगवती महात्रिपुरसुन्दरी ने अपने हाथ में जो अंकुश धारण कर रक्खा है, वह द्वेष का प्रतीक है। प्रश्न उठता है कि क्या भगवती द्वेष को अपने आयुध के रूप में धारण करके उनका जगत् में प्रसार करती हैं? नहीं। इसका अर्थ तो यह है कि द्वेष उनका दास है और वे उसकी शासिका हैं; अतः वे उसका किसी भी प्रकार से उपयोग कर सकती हैं।

जिस प्रकार हाथी को वश में करने के लिये उसके गण्डस्थल पर अंकुश का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार भगवती भी द्वेष को नियन्त्रित, निवारित करने हेतु इसका प्रयोग करती हैं; इसीलिये इसे 'अंकुश' कहा गया है।[1] ललितासहस्रनाम में कहा भी गया है—

रागस्वरूप-पाशाढ्या क्रोधकाराङ्कुशोज्वला।
मनोरूपेक्षुकोदण्डा पञ्चतन्मात्रसायका।।

---

१. भास्करराय : 'द्वेषः क्रोधः तस्य द्वेष्यान्निवारकत्वादङ्कुशता'।

तन्त्रराजतन्त्र में भी कहा गया है—

......................................मन्मात्रा: पुष्पसायका:।
मनो भवेदिक्षुधनु: पाशो राग उदीरित:।
द्वेष: स्यादङ्कुश: प्रोक्तो क्रमेण वरवर्णिनि।।

भगवान् कामेश्वर का स्वरूप— 'निरुपाधिका संविदेव कामेश्वर:' (भावनोपनिषत्सूत्र-२६)। उपाधिशून्य अर्थात् विशुद्ध चैतन्य (संवित्तत्त्व) एवं बिन्दुस्वरूपाकार तत्त्व ही कामेश्वरतत्त्व कहलाता है— 'उपाधिरहितं शुद्धं चैतन्यमेव बिन्दुरूप: कामेश्वर:'। 'संवित्कामेश्वर: स्मृत:'।

यहाँ मुख्य विशेष्या तो ललिता देवी हैं और विशेष्यतावच्छेदक कामेश्वर हैं। इन दोनों के रक्तचरण-शुक्लचरण ही रक्त-शुक्ल वर्ण हैं। उसी का स्थूल-सूक्ष्म-मिश्र चरणत्व त्रिविधात्मक है।[१]

भगवती ललिता का स्वरूप— 'सदानन्दपूर्णा स्वात्मैव परदेवता ललिता' (भावनोपनिषत् सूत्र-२७)। आशय यह कि भगवती त्रिपुरसुन्दरी अखण्ड रूप से नित्यानन्द से परिपूर्ण रहती हैं। वे अपनी आत्मा ही हैं। वे परात्पर देवता हैं। तन्त्रराजतन्त्र में कहा भी है—

स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा।
लौहित्यं तद्विमर्श: स्यादुपास्तिरिति भावना।।

पाठान्तर में भावनोपनिषद् में ही यह सूत्र भी प्राप्त होता है— 'तयो: कामेश्वरी सदानन्दघना पूर्णा स्वात्मैक्यरूपा देवता'।

जो संवित्तत्त्व है, वह निरुपाधिक है; किन्तु इसी निरुपाधिकत्व विशेषण के बल से उसके अंक में अवस्थित परदेवता की किञ्चिन्मात्र उपाधिवैशिष्ट्य के कारण भिन्नता मान कर उसके उपासस्यत्व का विधान किया गया है और उसी के सदृश ही आत्मा भी है। अपने से अभिन्न परदेवता ही ललिता देवी हैं। उन्हें ही 'सदानन्दपूर्णा' उपाधि से वर्णित किया गया है। उनका जो ललितात्व है, वह अन्त:करणावच्छिन्न का ललितात्व नहीं है; क्योंकि वे तो उपासक कोटि के हैं और भगवती ललिता तो उपास्या हैं। इसीलिये उन्हें 'स्वात्मा' कहा गया है। अपनी (उपासक की) आत्मा अन्तर्यामी हैं। एक ही आत्मा अन्त:करणोपाधिक होने से उपासक कही जाती है, किन्तु सत्त्व, चित्त्व एवं आनन्दत्वरूप धर्मत्रय से विशिष्ट होने पर उपास्या अर्थात् भगवती ललिता कहलाती है। धर्मत्रयविनिर्मुक्त, धर्मिमात्र एवं उपास्य देवता की आधारभूता शक्ति 'कामेश्वर' कहलाती है।[१] रत्नत्रयपरीक्षा में भी कहा गया है—

नित्यं निर्दोषगन्धं निरतिशयसुखं ब्रह्मचैतन्यमेकं
धर्मो धर्मीति भेदस्त्रितयमिति पृथग्भूय मायावशेन।
धर्मस्तत्रानुभूति: सकलविषयिणी सर्वकार्यानुकूला
शक्ति: स्वेच्छादिरूपा भवति गुणगणस्याश्रयस्त्वेक एव।।

---

१. भास्करराय : भावनोपनिषद्भाष्य। २. भास्करराय : भावनोपनिषद्भाष्य (सूत्र-२७)।

कर्तृत्वं तत्र धर्मी कलयति जगतां पञ्चसृष्ट्यादिकृत्ये
धर्मः पुंरूपमाप्त्वा सकलजगदुपादानभावं बिभर्ति।
श्रीरूपं प्राप्य दिव्या भवति च महिषी स्वाश्रयस्यादिकर्तुः
प्रोक्तौ धर्मप्रभेदावपि निगमविदां धर्मिवद् ब्रह्मकोटी।।

विमर्श एवं लौहित्य का स्वरूप— 'लौहित्यमेतस्य सर्वस्य विमर्शः' (भावनोपनिषत्सूत्र-२८)। तन्त्रराजतन्त्र में भी कहा गया है—

स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा।
लौहित्यं तद्विमर्शः स्यादुपास्तिरिति भावना।।

सभी प्राणियों को अपने से प्रेम है। राग एवं लौहित्य— दोनों अभिन्नार्थक हैं और लौहित्य देवीनिष्ठ है; अतः सर्वप्राण्यानुगत है। तन्त्रराजतन्त्र में कहा गया है कि स्वात्मा ही विश्वविग्रहा ललिता देवी हैं और उनका विमर्श ही लौहित्य है। त्रिपुरसुन्दरी एवं कामेश्वर— इन दोनों का विग्रहात्मक स्थूल रूपद्वय सम्बन्ध कामेश्वराङ्कनिलयत्व पद के द्वारा व्यवह्रियमाण शिव-शक्ति का सामरस्यात्मक सम्बन्ध लाक्षाद्रव एवं पट के साथ जुड़े सम्बन्ध के समान सम्बन्ध हैं, संयोगादिक सम्बन्ध नहीं है। यह अयुतसिद्ध सम्बन्ध है, तादात्म्यरूप सम्बन्ध है, भेदघटित सम्बन्ध नहीं।[१]

उपासना के तीन रूप हैं— विग्रहादिपूजन : 'स्थूलरूप', मानस जप : 'सूक्ष्म पूजन' एवं भावना : 'पररूप'। कहा भी है— 'उपास्तेरपि त्रीणि रूपाणि, विग्रहादिपूजनं स्थूलरूपं मानसो जपस्सूक्ष्मं, एषा भावना परं रूपमिति'।[२]

सिद्धि का स्वरूप— 'अनन्यचित्तत्वेन च सिद्धिः' (भावनोपनिषत्सूत्र-२९) अर्थात् किसी लक्ष्य की ओर अनन्यचित्तत्त्व हो जाना ही 'सिद्धि' है। प्रत्येक आवरण में एक सिद्धि है, एक मुद्रा-विधान है और बहिर्याग में यह पूजा-विधान है भी। तन्त्रराजतन्त्र में भी कहा गया है—

सिद्धिस्त्वनन्यचित्तत्वं मुद्रा वैभवभावनम्।

उन-उन आवरणदेवों का अपने शरीर के अङ्गविशेष के साथ अभेद तो है; किन्तु उनकी आत्मा के साथ अनन्य सम्बन्ध होने की भावना ही उन-उन आवरणों में सिद्धि मानी गई है। 'एता मत्तो न भिद्यन्ते' ये मुझसे भिन्न नहीं है— इस प्रकार की निश्चयात्मिका बुद्धि ही सिद्धि है— 'एता मत्तो न भिद्यन्ते' इति बुद्धिरेव सिद्धिरिति यावत्।[३]

जीवन्मुक्ति— 'एवं मुहूर्त्तत्रितयं मुहूर्त्तद्वितयं मुहूर्त्तमात्रं वा भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति स एव शिवयोगीति गद्यते' (भावनोपनिषत्सूत्र-३४)। आन्तर एवं बाह्य सम्पूर्ण विश्व के विलापनपूर्वक स्वात्ममात्रावशेष भावना की अहर्निश धारावाहिकता की आवश्यकता को ध्वनित करते हुये किन्तु अशक्त साधकों में उत्तम, मध्यम एवं अधम साधककोटियों

१. भास्करराय।
२. भास्करराय : भावनोपनिषद्भाष्य
३. भावनोपनिषद्भाष्य

को देखते हुये कालनियम को तीन भागों में विभाजित करते हुये तीन मुहूर्त्त, दो मुहूर्त्त एवं मात्र एक मुहूर्त्त का उल्लेख किया गया है।

उस सूत्र में 'एवं' शब्द का उपयोग यह अर्थ ध्वनित करता है कि स्वात्ममात्रविषयिणी एवं श्वासस्तम्भसहिता निर्विकल्पक वृत्तिपूर्वक 'भावनापर' हो जाने पर व्यक्ति जीवन्मुक्त हो जाता है और शिवयोगी कहलाने लगता है।

'भावनापर' का अर्थ है— भावनेतर व्यापारशून्य साधक जब उक्त भावना में पर (आसक्त) हो जाता है और यह भावना उसमें धारावाहिक रूप में तरंगित होने लगे तभी उसे 'भावनापर' समझा जाय।[1] वेदत्रय बहिरंग कर्मों का प्रतिपादक है, जबकि अथर्वण वेद अन्तरंग कर्मों की प्रचुरता का ही प्रतिपादन करता है।[2] अत: 'य एवं वेद सोऽथर्वशिरोऽधीते'।[3]

उन संकल्पों का जो आधारभूत तेज है अर्थात् तेजस्वरूप मन ही कल्पकोद्यान है। 'मनो ज्योति:' (तैत्तिरीयसंहिता-१.५.२) कहकर श्रुति ने भी संकल्प-विकल्पात्मक मन को ही तेजस्तत्त्व घोषित किया है।

ऋतुओं का स्वरूप— 'रसनया भाष्यमाना मधुराम्लतिक्तकटुकषायलवणरसा: षड् ऋतव:' (भावनोपनिषत्सूत्र-९)। जिह्वा के द्वारा अनुभूयमान मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु कषाय, लवणनामक छ: रस ही छ: ऋतुयें हैं। तन्त्रराजतन्त्र में भी कहा गया है—

रत्नद्वीपो भवेद्देहो नवत्वं तु त्वगादिभि:।
सङ्कल्पा: कल्पतरव: स्वाधारा ऋतव: स्मृता:।।

तन्त्रराज में स्वाधारों को 'ऋतु' कहा गया है। स्वाधार क्या है? स्वाधार = डाकिनी आदि योगिनियाँ, जो कि छ: चक्रों के आधार हैं, वे ही सुषुम्ना नाडी के अन्तर्गत षट्-चक्रों के रूप में आकारित दृष्टिगत होती हैं; अत: वे ही स्वाधार षट्चक्र हैं। सुषुम्ना के द्वारा इड़ा-पिङ्गला से युक्त चन्द्र-अर्कसंयोग से अनुमित एवं कलात्मक होने से तद्गत चक्रों में अमृतत्व संकेतित किया गया है।

मुद्रा का स्वरूप— 'आधारनवकं मुद्राशक्तय:' (भावनोपनिषत्सूत्र-१२) अर्थात् नौ मुद्राशक्तियाँ हैं— त्रैलोक्यमोहन चक्र के तृतीय चतुष्कोण की प्रकट योगिनियाँ (सर्व-संक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्ववशंकरी, सर्वोन्मादिनी, सर्वमहांकुशा, सर्व-खेचरी, सर्वबीजा एवं सर्वयोनिमुद्रा)।

मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूर-अनाहत-विशुद्धि-आज्ञा के ऊर्ध्व एवं नीचे दो सहस्रदल कमल हैं और एक लम्बिकाग्र है। इस प्रकार 'आधारनवक' स्थित है। इनके साथ संक्षो-भिणी आदि त्रिखण्डान्त मुद्राओं की अभिमानिनी शक्तियों का अभेद है।

योगिनीहृदय (कादिमतानुयायी ग्रन्थ) भी मुद्रा के देवताओं को शरीरावयवों में

---

१. भावनोपनिषद्भाष्य
२. भास्करराय : भावनोपनिषद्भाष्य
३. भावनोपनिषत्सूत्र-३६

अवस्थित मानता है। भावनोपनिषत्सूत्र-११ 'नियति........शक्तय:' की पुष्टि में तन्त्रराजतन्त्र में कहा भी गया है—

श्रीचक्रे सिद्धय: प्रोक्ता रसा नियतिसंयुता:।
ऊर्मय: पुण्यपापे च ब्राह्म्याद्या मातर: स्मृता:।।

पीठ का स्वरूप— 'क्रियाशक्ति: पीठम्' (भावनोपनिषद्) अर्थात् क्रियाशक्ति ही पीठ है।

ज्ञानशक्ति का स्वरूप— 'कुण्डलिनी ज्ञानशक्तिगृहम्' (भावनोपनिषद्) अर्थात् कुण्डलिनी ज्ञानशक्ति एवं गृहस्थानीय है।

इच्छाशक्ति का स्वरूप— 'इच्छाशक्तिर्महात्रिपुरसुन्दरी' (भावनोपनिषद्) अर्थात् महात्रिपुरसुन्दरी ही इच्छाशक्ति है।

भावनोपनिषत्सूत्र-१५ 'अलम्बुसा........शक्तय:' में जिन नाड़ियों का उल्लेख किया गया है, उनका स्वस्वरूप निम्नानुसार है—

प्रागुक्तमूलाधारस्य मध्यस्थत्र्यस्रमध्यत:।
सुषुम्ना पृष्ठवंशाख्यवीणादण्डस्य मध्यगा।।

मूर्धनि ब्रह्मरन्ध्रान्ता नासाग्राद् द्वादशाङ्गुला।
तन्मूलात्पायुगा प्रोक्ताऽलम्बुसाख्या तु नाडिका।।

त्र्यस्राग्रादुत्थिता नाडी कुहूर्नाम ध्वजान्तगा।
तद्वामदक्षपार्श्वाभ्यां सविश्वोदरवारणे।।

जठरान्ता सर्वगा च प्रोक्ते तद्वदनन्तरे।
हस्तिजिह्वायशस्विन्यौ पादाङ्गुष्ठान्तविस्तृते।।

तथैवेडा-पिङ्गले द्वे नासारन्ध्रद्वयान्तगे।
गान्धारी च तथा पूषा नेत्रद्वयगते क्रमात्।।

तथैव कर्णगामिन्यौ शङ्खिनी च पयस्विनी।
जिह्वाग्रगा सरस्वत्याख्यैवं नाड्यश्चतुर्दश।।

मूलाधार में नाड़ियों का स्थितिक्रम—

मूलाधारे त्र्यस्रमध्ये सुषुम्नालम्बुसे उभे।
प्राक्प्रत्यगास्थिते अन्यास्त्रिकोणाग्रात्प्रदक्षिणा।।

लेखासु संस्थिता नाड्य: कुहूश्चैव तु वारणा।
यशस्विनी पिङ्गला च पूषानाम्नी पयस्विनी।।

सरस्वती शङ्खिनी च गान्धारी तदनन्तरम्।
इडा च हस्तिजिह्वा च ततो विश्वोदराभिधा।।

रन्ध्रपायुध्वजाशेषपत्रासानेत्रकर्णगा:।
जिह्वाकर्णाक्षिनासाङ्घ्रिजठरान्ताश्चतुर्दश।।

श्रीयन्त्र श्रीविद्या का प्रधान घटक है। श्रीयन्त्र का दो तरह से वर्णन किया जा सकता है— या तो बाह्य चक्र से आभ्यन्तर चक्र की ओर या आभ्यन्तर चक्र से बाह्य चक्रों की ओर। बाहर से भीतर का क्रम 'लयक्रम' है और भीतर से बाहर का क्रम 'सृष्टिक्रम' है। केन्द्रीय बिन्दु या कामेश्वर तथा कामेश्वरी का सामरस्यात्मक स्वरूप आत्मास्वरूपा ललिता या देवी त्रिपुरा हैं। कामेश्वर निरुपाधि परा संवित् है। कामेश्वरी उन्हीं की शक्ति हैं। यह बिन्दु सर्वानन्दमय चक्र में स्थित है।

'योनि' का अर्थ है— विश्व का गर्भ या विश्व का कारण। बिन्दु के तीन भेद हैं— शिव का मुख, भगवती के स्तन एवं सूर्य-चन्द्र-अग्नि। ललिता देवी विमर्शशक्ति हैं। ललिता ही प्रत्येक प्राणी की आत्मा हैं। रक्त वर्ण विमर्श है। श्रीचक्र के नवों चक्रों में महात्रिपुरसुन्दरी की पूजा की जाती है।

गुरुतत्त्व— भावनोपनिषद् के अनुसार गुरु पर, अपर एवं परापर शक्तियों के आयत्तीकरण या साक्षात्कार का साधनमात्र नहीं है; प्रत्युत वह स्वयमेव समस्त कार्यों की आदि-कारणभूता महाशक्ति है— 'श्रीगुरुः सर्वकारणभूता शक्तिः'। तन्त्रराजतन्त्र भी इसी दृष्टि की पुष्टि करता है—

गुरुराद्या भवेच्छक्तिः सा विमर्शमयी मता।
नवत्वं तस्य देहस्य रन्ध्रत्वेनावभासते।।

शिवसूत्रों में से एक सूत्र है— 'गुरुरुपायः' (गुरु उपाय है) अर्थात् गुरु उपेय (साध्य) नहीं, उपाय (साधन) है; किन्तु भावनोपनिषद् के अनुसार गुरु आदिकारण (सर्वकरणभूता) महाशक्ति है। शिवसूत्रवार्त्तिककार का कथन है कि 'गुरु परा शक्ति है'। यह परमात्मा की अनुग्रहात्मिका शक्ति है— 'गुरुरेव पराशक्तिरीश्वरानुग्रहात्मिका'। तन्त्रराजतन्त्र गुरु को आद्या शक्ति कहता है— 'गुरुराद्या भवेच्छक्तिः सा विमर्शमयी मता' अर्थात् गुरु विमर्शात्मिका आद्या शक्ति है। उसकी नवसंख्याक आकृति (अनेकरूपता) नवरन्ध्रात्मकता से परिपुष्ट होती है— 'नवत्वं तस्य देहस्य रन्ध्रत्वेनावभासते'। समस्त कार्यों का पूर्वभावी होने के कारण ही यह आद्या या सर्वकारणभूता कहा गया है— 'आद्या इति सर्वकारणभूता .... कारणस्य कार्यपूर्वभावितेनाद्यत्वात्'। ईश्वरानुग्रह से जायमान विवेक ही समस्त संशयों का उच्छेदक, मन्त्रवीर्य का प्रकाशक एवं तात्त्विक पदार्थों को अवकाश प्रदान करने वाला होने के कारण विमर्शपद नाम वाला गुरु है।[1]

शिवसूत्रवार्तिक के अनुसार अकृत्रिम अहमामर्शस्वरूप के विग्रह के रूप में आद्यन्त अनुभूत होने के कारण गुरु परमेष्ठी के समान होने के कारण परमोपाय भी है—

अवकाशप्रदानेन सैव यायादुपायताम्।
अकृत्रिमाहमामर्शस्वरूपाद्यन्तवेदनात् ।
परमेष्ठिसमत्वेन परमोपायता गुरोः।।

---

१. भास्करराय : भावनोपनिषद्भाष्य

भावनोपनिषद्भाष्य के अनुसार गुरु के तीन रूप होते हैं— दिव्य, सिद्ध एवं मानव। इनमें से प्रत्येक गुरु के तीन-तीन भेद होने के कारण गुरु के कुल नौ भेद हैं। यह भेद प्रकाशानन्दनाथ, सुभगानन्दनाथ आदि के रूप में नौ रूपों वाला है। मालिनीतन्त्र में भी कहा गया है—

स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्यप्रकाशकः।
आदिमान्त्यविहीनास्तु मन्त्राः स्युः शरदभ्रवत्।
गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं निवेदयेत्।।

उस विमर्शशक्तिरूप गुरु का देह नवरन्ध्रमय है। भावनोपनिषद् कहता भी है— 'तेन नवरन्ध्ररूपो देहः'।

तन्त्रराजतन्त्र में पठित 'गुरुराद्या भवेच्छक्तिः सा विमर्शमयी मता' वाक्य में जिस विमर्शशक्ति का प्रयोग किया गया है, उसकी व्याख्या करते हुये भास्करराय कहते हैं कि 'विवेकाख्यवृत्त्यवच्छिन्नचिच्छक्तिस्तु प्राणशक्तिविहारावसाना सुषुम्नाख्या नाड्येव विमर्शमयीत्युच्यते'। शिवसूत्रविमर्शिनी में आचार्य क्षेमराज भी गुरु को एक शक्ति के रूप में ही स्वीकार करते हैं— 'गुरुर्वा पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्तिः'। यह पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति ही गुरु है। श्रीमालिनीविजय में शक्तिचक्र एवं गुरुवक्त्र दोनों को पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया गया है— 'शक्तिचक्रं तदेवोक्तं गुरुवक्त्रं तदुच्यते'। श्रीमत्त्रिशिरोभैरव में भी कहा गया है— 'गुरोर्गुरुतरा शक्तिर्गुरुवक्त्रगता भवेत्'। गुरु एवं परमात्मा में अभिन्नता एवं मन्त्रवीर्यप्रकाशात्मकता स्वीकार की गई है— 'स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्यप्रकाशकः'। जो तात्त्विक अर्थों का उपदेश प्रदान करता है, वही गुरु है— 'गृणाति उपदिशति तात्त्विकमर्थमिति गुरुः'। गुरु मुद्रावीर्यमन्त्रवीर्यस्वरूप (व्याप्तिवान्) मार्गप्रदर्शक एवं साधनोपाय भी है। शिवसूत्रविमर्शिनी में कहा भी है— 'सोऽत्र व्याप्तिप्रदर्शकत्वेन उपायः'। उस विमर्शशक्ति का देहस्वरूप नवरन्ध्रमय है। जिह्वा, पायु, उपस्थ तथा दो नासारन्ध्र, दो चक्षु एवं दो कर्ण— ये ही नवरन्ध्र हैं। इसमें पायु एवं उपस्थ तो मोचनादिक (मल-मूत्रोत्सर्ग आदि) के साधन हैं तथा नासा-चक्षु एवं कर्ण ज्ञानोपाय होने से विमर्श-रूप हैं। ये अपने-अपने विषयों का विमर्शन करते रहते हैं।

भावनोपनिषद् भोगायतन एवं षाट्कौशिक शरीर को नवरन्ध्रात्मक स्वरूप में निरूपित करके एवं नवरन्ध्रों को प्रतीकार्थ में ग्रहण करके इनके द्वारा नव गुरुओं को द्योतित करता है— 'देहरन्ध्रनवत्वेन गुरोर्नवत्वं भासत'। ये गुरु हैं कौन? ये हैं नवरन्ध्रात्मक एवं देहगत नवनाथ— 'स्वदेहगतनवरन्ध्राणि नव नाथा इति यावत्'। इन नौ रन्ध्रों में श्रोत्रद्वय हैं— 'दिव्यौघ', चक्षुद्वय हैं— 'सिद्धौघ' एवं नासाद्वय हैं— 'मानवौघ'। 'इति सम्प्रदायः' कहकर आचार्य भास्कर इस व्याख्या को ऋषिपरम्परानुगत घोषित करते हैं; स्वेच्छाकल्पित नहीं।

इस विमर्शननवक की मूलभूता शक्ति मात्र सुषुम्ना नाड़ी है। रन्ध्रान्वित सुषुम्णा के

मूलभाग में श्रोत्रादिक नाड़ियों के मिलने से सुषुम्नावच्छिन्न चिच्छक्तिमात्र का ही उन-उन नाड़ियों द्वारा उन-उन विषयों का अवभासन किया जाता है।

'स्वदेहगतनवरन्ध्राणि नवनाथा इति यावत्' कहकर भास्करराय ने देह को नवनाथों का प्रतीक सिद्ध किया है। नव रन्ध्रों के कार्यभूत स्व-स्वविषय-विमर्शनवक समष्टि के साथ गुरु की अभेदता है। इसीलिये भास्करराय कहते हैं— 'रन्ध्रनवककार्यभूतस्वस्वविषय-विमर्शननवकसमष्टिं गुर्वभेदेन भावयेत्'।

कोई-कोई आचार्य श्रोत्रादिक अवयवों एवं उन-उन नाड़ियों की उन-उन नाथों के साथ अभेदात्मकता भी मानते हैं। भावनोपनिषद्भाष्य में कहा भी गया है-- 'तेन नवरन्ध्र-रूपो देहः', 'देहो नवरत्नद्वीपः', 'नवचक्ररूपं श्रीचक्रम्'। इन तीनों सूत्रों में (अनेक बिन्दुओं के आधार पर) देह, नवरत्नद्वीप, श्रीचक्र, नव नाथ एवं नाडियों की एकात्मता की पुष्टि की गई है।

देह का स्वरूप— 'देहो नवरत्नद्वीपः' (भावनोपनिषत्सूत्र-६) अर्थात् देह नवरत्नद्वीप है। देह नवरन्ध्रात्मक एवं नवशक्तिमय श्रीचक्र है— 'नवरन्ध्ररूपो देहो नवशक्तिमयं श्रीचक्रम्'। इस प्रकार देह नवरत्नद्वीप एवं श्रीचक्र दोनों है। इसमें एक भगवती का मणिपूर (चिन्तामणिगृह) धाम है तथा दूसरा श्रीचक्र है। भावनोपनिषद् कहता है कि 'त्वगादिसप्तधातुरोमसंयुक्तः' अर्थात् त्वचा, रुधिर, मांस, अस्थि, मेद, शुक्र, लोम आदि जो नौ की संख्या है, वही नवरत्नात्मक खण्डनवक (नौ खण्डों की समष्टि) है।

इसका सम्प्रदायार्थ स्पष्ट करते हुये भास्करराय कहते हैं कि रस, मांस, रोम, त्वचा रुधिर, शुक्र, मज्जा, अस्थि एवं मेद— इन नव तत्त्वों तथा पुष्पराग, नील, वैडूर्य, विद्रुम, मौक्तिक, मरकत, वज्र, गोमेद एवं पद्मरागनामक नवरत्नों से निर्मित खण्डरूपों को प्रतीची आदि दिशाओं के मध्य कल्पित करना चाहिये।

कल्पवृक्ष का स्वरूप— 'सङ्कल्पाः कल्पतरवस्तेजःकल्पकोद्यानम्' (भावनोपनिषत्सूत्र-८ अर्थात् संकल्प ही भगवती की वाटिका के कल्पवृक्ष हैं और तेजस्तत्त्व ही वह कल्प-कोद्यान है।

मानसोत्पन्न संकल्पविशेष ही सन्तानादि कल्पवृक्ष हैं; क्योंकि संकल्पपुरस्सर (संकल्प-संवलित) कर्मप्रवृत्ति ही साधक को समस्त अभीष्ट प्रदान कराते हैं; अतः वे ही कल्पवृक्ष हैं।

त्रिचत्वारिंश अध्याय

महात्रिपुरसुन्दरी का पूजा-विधान एवं पूजाफल

त्रिपुरतापिन्युपनिषद् में भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की पूजा-प्रक्रिया एवं पूजा के फल-स्वरूप प्राप्त होने वाले फल पर भी प्रकाश डाला गया है, जो निम्नवत् है—

श्रीचक में भगवती त्रिपुरसुन्दरी की पूजा-विधि— उक्त उपनिषद् में इस पूजा की पद्धति को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि 'तस्य नाभ्यामग्निमण्डले सूर्याचन्द्रमसौ तत्रोङ्कार-पीठं पूजयित्वा तत्राक्षरं बिन्दुरूपं तदन्तर्गतव्योमरूपिणीं विद्यां परमां स्मृत्वा महात्रिपुर-सुन्दरीमावाह्य—

क्षीरेण स्नापिते देवि ! चन्दनेन विलेपिते।
बिल्वपत्रार्चिते देवि ! दुर्गेऽहं शरणं गतः।।

इत्येकचर्या प्राथ्र्य मायालक्ष्मीमन्त्रेण पूजयेदिति भगवानब्रवीत्'।

पूजा-फल— उक्त रीति से पूजा सम्पन्न करने का फल इस प्रकार बताया गया है— 'एतैर्मन्त्रैर्भगवतीं यजेत्। ततो देवी प्रीता भवति, स्वात्मानं दर्शयति। तस्माद्य एतैर्मन्त्रै-र्यजति स ब्रह्म पश्यति, स सर्वं पश्यति, सोऽमृतत्वञ्च गच्छति। य एवं वेदेति महोपनिषत्'।

भगवती की भक्त्युपासना— भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की तात्त्विकी उपासना तो ज्ञानमूलक एवं योगमूलक है, किन्तु उसमें भक्तितत्त्व का भी महत्त्व है। शक्तिसूत्र (प्र० ह०) में भक्ति की प्रशंसा करते हुये एक श्लोक उद्धृत किया गया है—

समाधिवज्रेणाप्यन्यैरभेद्यो भेदभूधरः।
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद्भक्तिबलशालिभिः।।

अर्थात् जो भेदरूपी पर्वत दूसरे लोगों (योगियों) के लिये समाधिरूपी वज्र से भी अभेद्य था, वही तुम्हारी भक्ति के बल से सम्पन्न जनों के द्वारा एकात्मानुभव से नष्ट कर दिया गया।

हयग्रीव द्वारा शाक्तदर्शनम् में परंज्योतिस्वरूपा, तुर्यदेहात्मिक, इच्छाधृतविग्रहा, शक्तिस्त्रिजननी, नेत्री, पराम्बा को भक्तिवश्या (सूत्र-१.४.६) कहा गया है। यद्यपि शाक्ताचार्य हयग्रीव यह मानते हैं कि 'अज्ञातरूपावरणमोचने ज्ञानमेव' (४.१.१८), 'ज्ञानेनाज्ञाननाशः' (४.१.१३), 'ज्ञानमावरणनाशाय' (४.३.९), 'योगी ज्ञानाधिकारी' (५.१.१), 'मूलाविद्यानाशद्वारा ब्रह्मप्राप्तिर्मुक्तिः' (५.१.८), 'मुक्तो ज्ञानी' (५.१.१३), 'ज्ञानेनाज्ञाननाशः' (५.१.१४), 'ज्ञानेन दुःखनिवृत्त्यानन्दप्राप्तिः' (५.१.१९); तथापि वे साधना के मूलाधार गुरु में नवरसात्मिका (५.३.२) भक्ति मानते हैं। ऋषि अगस्त्य शक्तिसूत्र (३६) में कहते हैं कि 'भक्तिर्दक्षिणा'। आचार्य शंकर कहते हैं—

रे मूढा:! किमयं वृथैव तपसा काय: परिक्लिश्यते
यज्ञैर्वा बहुदक्षिणै: किमितरे रिक्तीक्रियन्ते गृहा:।
भक्तिश्चेदविनाशिनी भगवती पादद्वयी सेव्यताम्
उन्निद्राम्बुरुहातपत्रसुभगा लक्ष्मी: पुरो धावति।।

मन्त्र वाक् है। देवी वाणी के रूप में परावाक् है। सृष्टि उसका विवर्त नहीं, परिणाम है। मन्त्र देवी का स्व-स्वरूप है।

पूजा का उद्देश्य देव-तादात्म्य— शक्तिदर्शन में देवी त्रिपुरसुन्दरी का सर्वोच्च स्थान है। भगवती त्रिपुरा के आराधकों (स्त्री-पुरुषों) की यही उद्देश्य एवं आकांक्षा होती है कि मैं भगवती के साथ तादात्म्य प्राप्त करके उनसे अभिन्न हो जाऊँ। भक्त भावना करता है कि 'अहं देवी न चान्योऽस्मि'। साधक को यह भी अभ्यास करना पड़ता है कि 'मैं नारी हूँ'। शाक्त मानते हैं कि परमात्मा नारीरूप है; अत: सभी का यह उद्देश्य है कि वे स्वयं भी नारी बन जायँ।

इस साम्प्रदायिक परम्परा में दीक्षा-विधि के द्वारा आराधना की जाती है। इस विधि के द्वारा देवी को प्राप्त करने के तीन चरण (साधन) हैं। उनमें प्रथम साधन है— ध्यान। महापद्मवन में शिवांक में आसीन भगवती का ध्यान करते हुये उनके विग्रह को आनन्द-मय, सर्वकारणभूत एवं आत्मा से अभिन्न रूप में कल्पित किया जाता है। द्वितीय साधन है— चक्र-पूजन। दीक्षा का द्वितीय चरण चक्रपूजा है। यह बाह्य याग या बाह्य पूजा है। अन्तिम तृतीय साधन है— धर्मग्रन्थानुशीलन एवं ज्ञानाप्ति।

इस साम्प्रदायिक परम्परा में चक्रपूजा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें भूर्जपत्र, रेशमी वस्त्र या स्वर्णपत्र पर नौ योनियों के मण्डल के मध्य एक योनि का चित्र बनाकर पूर्वकौल उसकी पूजा करते हैं, जबकि उत्तरकौल जीवित सुन्दरी की योनि की पूजा करते हैं। साथ ही ये कौलोपासक देवी को मांस, मधु, मदिरा, मीन आदि अर्पित करके उसका प्रसाद ग्रहण करते हैं।

पूजा-पद्धति की दृष्टि से शाक्तों के मुख्यत: दो वर्ग हैं— कौल एवं समयी। इन दोनों के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर चलने वाले तीसरे वर्ग के साधक 'मिश्र' कहलाते हैं।

समयी साधक बाह्याचार, वामाचार, पञ्च मकार एवं कौलाचार से दूर रहते हैं। कौलों की पूजा में भैरवीचक्र के आरम्भ होने पर वर्णभेद नहीं रह जाता; किन्तु भैरवीचक्र से निवृत्त होते ही पुन: भिन्न-भिन्न वर्ण हो जाते हैं।[१]

समयमार्ग— समयमार्ग में श्रीविद्या की उपासना प्रचलित है। लक्ष्मीधर एवं भास्कर राय ने (लक्ष्मीधरा एवं ललितासहस्रनामभाष्य में) समयमार्ग की विशद् विवेचना की है।

समयमार्ग की उपासना का मूल लक्ष्य प्रसुप्ता कुलकुण्डलिनी शक्ति को योगविधि

१. रामकृष्णगोपाल भण्डारकर : 'वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत' (पृ.-१६६)।

से प्रबुद्ध करके उसका सहस्रारस्थ शिव के साथ सामरस्य (सम्मिलन) कराना है। इस परमोद्देश्य की पूर्ति दहराकाश के अवकाश में चक्र की कल्पना करके पूजाविधानात्मक समय नामक अन्तर्योग से सम्पन्न होती है। इसी कारण इस मार्ग को 'समयमार्ग' कहते हैं।

सहस्रचक्र में मध्य में एक चतुष्कोण चन्द्रमण्डल है, जो कि समयमतानुयायियों के अनुसार बिन्दुस्थान ही है; जबकि कौलों के तम से त्रिकोणस्वरूप मूलाधार चक्र में स्थित बिन्दु ही बिन्दुस्थान है या स्वयं त्रिकोण ही बिन्दुस्थान है।

बिन्दुस्थान— चतुष्कोण चन्द्रमण्डल ही समयानुयायियों का बिन्दुस्थान है; इस बैन्दवस्थान को ही सरघा एवं सुधासिन्धु आदि नामों से भी पुकारा गया है। सहस्रदल कमल के मध्य अवस्थित यही सुधासिन्धु समयी-साधकों का वह उपासना-केन्द्र है, जहाँ वे लोग भगवती समया एवं भगवान् समय (शम्भु) की आराधना करते हैं। समयमत में त्रिकोणादिक पूजा का बाह्याचार स्वीकृत नहीं है।

समया— शम्भु के साथ पाँच प्रकारों से समता रखने के कारण ही भगवती त्रिपुर-सुन्दरी समया कहलाती हैं— 'देव्या सह पञ्चविधं साम्यं याति इति समयः', शम्भुना पञ्चविधं साम्यं याति इति समस्या भगवती'।[१]

सारांश यह कि भगवती के साथ पञ्चविध समतायें रखने के कारण शम्भु का नाम 'समय' है और उन्हीं भगवान् समय (शम्भु) के साथ पञ्चविध साम्य रखने के कारण भगवती का नाम 'समया' है।

इस 'समय' के उपासक ही 'समयी' कहलाते हैं और उनका उपासनामार्ग ही 'समय-मार्ग' कहा जाता है। समप्रधान भावापन्न समया एवं समय में पञ्चविध साम्यों के प्रकार हैं— अधिष्ठानसाम्य, अवस्थानसाम्य, अनुष्ठानसम्य, रूपसाम्य एवं नामसाम्य।

अधिष्ठानसाम्य— समय एवं समया दोनों सम रूप से मूलाधारचक्र के अधिष्ठान हैं; अतः दोनों में अधिष्ठानसाम्य है।

अवस्थानसाम्य— समया एवं समय दोनों नृत्यशील हैं। समया का नृत्य 'लास्य' एवं समय का नृत्य 'ताण्डव' है। इस प्रकार नृत्य की समानधर्मिता दोनों में है; अतः दोनों में अवस्थानसाम्य है।

अनुष्ठानसाम्य— समय एवं समया दोनों मिलकर जगत् की सृष्टि का अनुष्ठान करते हैं। यह समानधर्मिता ही अधिष्ठानसाम्य है।

रूपसाम्य— समय एवं समया दोनों ही अरुण वर्ण के हैं। यह वर्णसाम्य ही रूप-साम्य है।

नामसाम्य— समय एवं समया दोनों को ही 'नवात्मा' कहा जाता है। नवात्मा का उभयसाम्य होना ही नामसाम्य कहलाता है।

---

१. भारतीय दर्शनों का समन्वय (पृ.-१५३)।

यह साम्य-विधान भिन्न-भिन्न प्रकारों से भी किया गया है और उसका कारण है— साधकों की अपनी-अपनी रुचि एवं भिन्न-भिन्न प्रकार की भक्ति।

समयी लोग आन्तर पूजा को ही स्वीकार्य मानने के कारण बाह्य पूजा को कोई महत्त्व नहीं देते। दक्षिणमार्ग एवं वाममार्ग की दृष्टि से भी सम्प्रदायभेद है। दक्षिणमार्गी समयाचारी होते हैं, जो कि वेद एवं धर्मशास्त्र के अनुयायी होते हैं; कौल वाममार्गी होते हैं और वे वेद तथा धर्मशास्त्र के विरोधी होते हैं। 'तारिणीपारिजात, ताराभक्तिसुधार्णव' आदि मैथिल ग्रन्थ दक्षिणमार्गी तारा के उपासकों के सर्वोच्च ग्रन्थ हैं; जबकि 'सौन्दर्यलहरी, ललितासहस्रनामभाष्य' आदि दक्षिणमार्गीय त्रिपुरसुन्दरी के उपासकों के सर्वोच्च ग्रन्थ हैं।

समस्त (दश) महाविद्याओं के उपासक वामाचार एवं दक्षिणाचार अर्थात् वाममार्ग एवं दक्षिणमार्ग में विभक्त हैं।[१]

कौल-दर्शन और समय-दर्शन में दृष्टि-वैषम्य— यद्यपि कौल और समयी दोनों ही भगवती महात्रिपुरसुन्दरी के उपासक हैं; किन्तु दोनों में यथेष्ट दृष्टि-वैषम्य भी है। जैसे कि कौल मानते हैं कि कुण्डलिनी का जैसे ही प्रबोधन किया जाता है, उसी क्षण मुक्ति प्राप्त हो जाती है— 'कुण्डलिनीप्रबोधो यदा स्यात्तत्क्षमणमेव मुक्तिः कौलानाम्' (लक्ष्मीक्षर)। कौल सामयिकों की दृष्टि में 'क्षणमुक्त' हैं; जबकि सामयिक इसे स्वीकार नहीं करते।

कौल लोग भगवती की त्रिकोण में पूजा किया करते हैं और भैरवी चक्र को प्राप्त कर लेने पर वे आनन्दभैरव एवं आनन्दभैरवी दोनों की ही तादात्म्यभाव से पूजा करते हैं। बिन्दुपूजा के अवसर पर कौल भैरववत् दिगम्बर होकर पूजा करते हैं अर्थात् कौलिना- एवं कौल दोनों ही आवरणविहीन (नग्न) रूप में पूजा करते हैं; जबकि सामयिक इसे निषिद्ध मानते हैं।

कौलमत में त्रिकोण ही बिन्दुस्थान होता है और वहीं पर वे बिन्दु की पूजा करते हैं; जबकि समयी सहस्रार में बिन्दुपूजन करते हैं।

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की उपासना के सम्प्रदाय— भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की उपासना के सम्प्रदाय के तीन सम्प्रदाय हैं— कौलसम्प्रदाय, मिश्रसम्प्रदाय एवं समय-सम्प्रदाय। इनमें से कौलसम्प्रदाय के दो भेद हैं, जो निम्नवत् हैं—
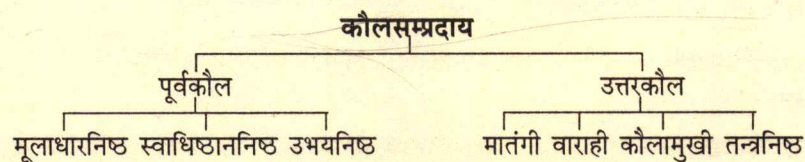
१. भारतीय दर्शनों का समन्वय (पृ.-१५२-१५४) पदोत्तिष्ठ कौल, महाकौल, मूल कौल, योगिनी कौल, सिद्ध कौल, वह्नि कौल, वृषणोत्थ कौल।

सहस्रदल कमल ही बैन्दवस्थान है; अत: उसके मध्य में चन्द्रमण्डल स्थित है, यह चतुरस्रात्मा है। उसके मध्य के बिन्दु में पञ्चविंशति तत्त्वातीत (२५ तत्त्वों अतीत) षड्विंशात्मक शिव-शक्तिमेलनरूप सादाख्य तत्त्व है।

उस चन्द्रमण्डलान्तर्गत स्थित सादाख्य तत्त्व का अनुसन्धान ही सहस्रदल कमल की पूजा है।

समयिमत में बाह्याराधन तो बहुत दूर की बात है। वह कथमपि मान्य नहीं है— 'अतएव समयिमते बाह्याराधनं दूरत एव निरस्तम्'।

षोडशोपचार पूजा-विधान तो समय-मत में और भी अधिक निषिद्ध है— 'षोडशोपचार-रूपपूजाङ्गकलापश्च ततोऽपि दूरत एव'।

ऐक्यचतुष्टय— आधार आदि षट्चक्रों का त्रिकोणादि (श्रीचक्र के अङ्ग) के साथ तादात्म्य है— 'आधारादिषट्चक्राणां त्रिकोणादिषट्चक्रत्वेन तादात्म्यम्'।

बिन्दुस्थान का चतुरस्र सहस्र कमल के साथ तादात्म्य है; क्योंकि शिव एवं बिन्दु दोनों में तादात्म्य है।

देवी एवं शिव में तादात्म्य है। इस प्रकार के तादात्म्यत्रय की स्थापना उपासना में भी आवश्यक है।

इसी प्रकार श्रीचक्र एवं मन्त्र में भी तादात्म्य है। इस प्रकार समयमत में (समयाराधन में) ऐक्यचतुष्टय स्वीकृत है।

भगवती का समाराधन— चतुर्विध ऐक्य ही भगवती का समाराधन है और यह सर्वसम्मत विधान है। कहा भी है— 'समयिनां चतुर्विधैक्यानुसन्धानमेव भगवत्या: समा-राधनमित्येतत्सर्वसम्मतम्'। लेकिन जो लोग षोढ़ा ऐकात्म्य को समयाराधना-पद्धति मानते हैं, क्या उनकी दृष्टि भ्रमपूर्ण है? नहीं; वह भी समीचीन है। समस्त आगम कहते हैं कि भागवत तत्त्व नादबिन्दु कलातीत है। नाद के चार प्रकार है— परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी। इनमें से परा वाक् त्रिकोणात्मिका है। पश्यन्ती वाक् अष्टकोणचक्ररूपिणी है। मध्यमा वाक् द्विदशाररूपिणी है और वैखरी वाक् चतुर्दशाररूपिणी है। शिवचक्र भी इसी में अन्तर्भूत है। श्रीचक्र चतुश्चक्रात्मक है; क्योंकि 'चतुश्चक्रात्मकं श्रीचक्रं नादशब्दवाच्यम्'। चूँकि पराप्रभृति नाद एवं चक्र एकरूप हैं; अत: श्रीचक्र नाद की दृष्टि से चतुश्चक्रात्मक है।

बिन्दु का स्वरूप क्या है? षट्चक्र ही बिन्दु है— 'षट्चक्राणि मूलाधारस्वाधिष्ठान-मणिपूर-अनाहत-विशुद्धि-आज्ञानामक छ: चक्र ही बिन्दु हैं। कलायें संख्या में पचास या तीन सौ साठ हैं। भगवती त्रिपुरसुन्दरी नाद, बिन्दु एवं कला तीनों से अतीत हैं— 'एवं नादबिन्दुकलातीता भगवती'। सहस्रदल कमल बिन्द्वातीत है। यह बैन्दवस्थानात्मक है। इसका पर्याय 'सुधासिन्धु' एवं 'सरघा' है। त्रिपुरसुन्दरी भी नादातीता है— 'नादातीतत्वं तु त्रिपुरसुन्दर्यादिशब्दाभिधेयम्'।

ऐक्यचतुष्टय के साथ ही षोढा ऐक्य भी है। नाद, बिन्दु एवं कला का परस्परैक्यानुसन्धान ही षोढा ऐक्य है— 'नादबिन्दुकलानां परस्परैक्यानुसन्धानं षोढा भवति। षोढा ऐक्यमाहु:'।

इस प्रकार भगवती के षड्विध ऐक्य के अनुसन्धान द्वारा उनकी पूजा करने पर भगवती सादाख्य में विलीन हो जाती है; तदुपरान्त षड्विध ऐक्यानुसन्धान की महिमा से तथा गुरु के कटाक्षसञ्जात महावेध की महिमा से शीघ्र ही मूलाधार-स्वाधिष्ठानात्मक चक्रद्वय का भेदन करके वे मणिपूर चक्र में दर्शन देती हैं।

मणिपूर में भगवती के दर्शन हेतु जिस 'महावेध दीक्षा' का आश्रय लेना पड़ता है, वह इस प्रकार है—

क. अभ्यासदशा में गुर्वैकपरतन्त्र रहकर गुरुमुख से महाविद्या ग्रहण करके ऋषि-छन्द-देवता के साथ गुरूपदेश-विधि से मूल मन्त्र का शुष्क जप करके आश्वयुज शुक्ल पक्ष में 'महानवमी' शब्दाभिधेय अष्टमी तिथि को रात्रि के समय गुरु का पादोपसंग्रह करना चाहिये। उनकी महिमा से उस समय शिष्य मस्तक पर गुरु की कृपापाणि को प्राप्त करके तथा गुरु से मन्त्रोपदेश ग्रहण करके षट्चक्र पूजा का उपदेश प्राप्त करके षड्-विधैक्यानुसन्धान की शिक्षा प्राप्त करके शैव महावेध प्राप्त कर लेता है और उससे साधक सादाख्या तत्त्व के प्रकाश को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार की महावैधी दीक्षा प्राप्त कर लेने पर साधक को महादेवी मणिपूर में दर्शन देती है— 'एवं महावेधे जाते भगवती मणिपूरे प्रत्यक्षा भवति'। साधक को उनकी पूजा करनी चाहिये।

ख. मणिपूर में उन देवी की अर्घ्य-पाद्य-भूषण आदि के द्वारा पूजा करके भगवती को अनाहत चक्र के मन्दिर में ले जाकर और वहीं धूप-दीप-नैवेद्यादिक द्वारा पूजन करने के बाद हस्त-प्रक्षालन करके निवृत्त होने पर विशुद्धि चक्र में ले जाकर सिंहासन पर समासीन एवं अपनी सखियों से संलाप करने में संलग्न देवी को देखते हुये शुद्ध स्फटिक-सदृश मणियों से उनकी पूजा करनी चाहिये। यद्यपि मौक्तिकादिक शुद्ध स्फटिक-सदृश तो नहीं होता, किन्तु वहाँ षोडश दलगत षोडश चन्द्रकलायें तो इसी प्रकार निर्मल हैं। इस प्रकार विशुद्ध चक्र में देवी की पूजा करके उन्हें आज्ञा चक्र में लाकर देवी कामे-श्वरी की समस्त नीराजना-विधियों से पूजा करके उन्हें प्रसन्न करना चाहिये। उसके बाद शीघ्र ही वे विद्युल्लता की भाँति सहस्रकमल में प्रवेश करके सुधाब्धि में पाँच कल्पवृक्षों की छाया में मणिद्वीप (सरघा) के मध्य सदाशिव के साथ विहार करती हैं। तब तिरस्करिणी का प्रसार करके मन्दिर के समीप तब तक रहना चाहिये, जब तक कि भगवती मूलाधार चक्र में पुन: प्रत्यावर्तित नहीं हो जातीं। यही है— समयमत के तत्त्व का रहस्य।

देवी का स्थूल स्वरूप— हमारी पद्धति के अनुसार तो षड्विधैक्यानुसन्धान के बाद मूलाधार द्विक का भेदन करके मणिपूर चक्र में आह्लादित भगवती दशभुजा देवी (धनुष-बाण-पाश-अंकुश-वरदान-मुद्रा-अभयदान-पुस्तक-अक्षमाला एवं हाथ में वीणा धारण करके) दर्शन देती हैं। शंकर भगवत्पाद की दृष्टि में चतुर्विध ऐक्यानुसन्धान के

अनन्तर मणिपूर चक्र में भगवती का प्रत्यक्ष स्वरूप 'क्वणत्काञ्चीदामा' (सौन्दर्यलहरी) के अनुरूप होता है और ध्यानोपयोगी रूप चतुर्भुजी एवं धनुष-बाण-पाश-अंकुश धारण किये हुये दृष्टिगत स्वरूप वाला होता है। उनके मतानुसार भी भगवती उसी प्रकार दिखाई पड़ती हैं। मेरे समयमत के एकदेशी मत के अनुसार वे पाश-अंकुश-पुण्ड्र-इक्षु-चाप-पुष्प-बाण-जपमालिका-शुकाभय वरद मुद्रा धारण की हुई रहती हैं; किन्तु समयमत में दोनों ही रूप स्वीकृत हैं— 'उभयमस्माकं सम्मतमेव'।

कर्णावतंसस्तुति (कर्णसंस्तुति) में देवी के स्वरूप को इस प्रकार से बतलाया गया है—

भवानि श्रीहस्तैर्वहसि कणिपाशं सृणिमधो
धनुः पौण्ड्रं पौष्पं शरमथ जपस्त्रक्शुकवरम्।
अथ द्वाभ्यां मुद्रामभयवरदानैकरसिके
क्वणद्वीणां द्वाभ्यामुरसि च कराभ्यां च बिभृषे।।

समयमतावलम्बियों को भगवती का साक्षात् दर्शन होता है इनकी पूजा सहस्त्रकमलपर्यन्त आन्तर पूजा होती है— 'समयिनां प्रत्यक्षं परिदृश्यमाना आस्ते भगवती। समयिनां सहस्त्र-कमलपर्यन्तं आन्तरपूजा कर्तव्या'।

सहस्त्रकमल में तो तिरस्करिणी प्रसारपर्यन्त दर्शन ही समाराधन है। सुभगोदय में कहा भी गया है—

सूर्यमण्डलमध्यस्थां देवीं त्रिपुरसुन्दरीम्।
पाशाङ्कुशधनुर्बाणहस्तां ध्यायेत्सुसाधकः।
त्रैलोक्यं मोहयेदाशु वरनारीगणैर्युतम्।।

कालिदास ने चर्चास्तुति में कहा है—

ये चिन्तयन्त्यरुणमण्डलमध्यवर्तिरूपं तवाम्ब नवयावकपङ्करम्यम्।
तेषां सदैव कुसुमायुधबाणभिन्नवक्षस्थला मृगदृशो वशगा भवन्ति।।

देवी की सपर्या-विधि— समयमत वालों के लिये बाह्य पूजा निषिद्ध होने के कारण सूर्यमण्डलान्तर्गत देवी-पूजन भी निषिद्ध होना चाहिये। यदि ऐसा कहा जाय तो उपपन्न नहीं है; क्योंकि ब्रह्माण्ड में स्थित पिण्डाण्ड के भीतर चन्द्र एवं सूर्य दोनों में ऐक्य है। ऐसा इसलिये कि सूर्य चन्द्रमा के कलामृतनिष्यन्द से ही उज्जीवित है। यदि कोई यह कहे कि चन्द्रकला विद्या का सूर्य से सम्पर्क होने के कारण तेज का तिरोधान हो जायगा तो यह भी उपपन्न नहीं है; अतः पिण्डाण्ड ब्रह्माण्ड में चन्द्रमा की एकता होने से चन्द्र-मण्डल के अन्तर्गत होने से चन्द्रकला विद्या का पूजन युक्तियुक्त ही है।

पूर्व में जो चन्द्रविम्बगत होने से देवी का पूजन निषिद्ध किया गया था, वह तो आन्तर चन्द्र के, जो कि आज्ञाचक्र के ऊपर स्थित है तथा सहस्त्रकमलदल के भीतर स्थित है और जिसके चन्द्रकलामृत के निष्यन्द से उज्जीवन हुआ करता है, वहाँ पर

उसका पूजा-निर्बन्ध नहीं है। अतः पिण्डाण्ड ब्रह्माण्ड में स्थित चन्द्रमा का ऐक्य होने से ब्रह्माण्डस्थित चन्द्रमण्डल में भी पूजा-निर्बन्ध नहीं है।

देवी का आन्तर पूजन— भगवती की पूजा यदि हृदयकमल में की जाती है तो वह समस्त ऐहिक फल प्रदान करती है— 'एवं हृदयकमल एव समाराधिता भगवती ऐहिकानि कलानि सर्वाणि ददाति'। जब यह वशिनी आदि देवियों के साथ ध्यान की जाती है तब यह सारस्वत प्रदान करती है। 'मुखं बिन्दुं कृत्वा' इत्यादि के द्वारा ध्यान किये जाने पर यह ध्याता को तदनुरूप फल देती है। ऐहिक फल प्राप्त करने के लिये साधकों को चाहिये कि वे हृदयकमल में ही होमादिक एवं तर्पणादिक किया करे— 'हृदयकमले एव होमादिकं तर्पणादिकञ्च कार्यं ऐहिकफलसाधनमिति'।

आन्तर पूजा के विधान की अपरिहार्यता— चाहे ऐहिक फलाकांक्षा हो और चाहे आमुष्मिक, किन्तु सभी के लिये देवी की समाराधना प्रत्येक स्थिति में आन्तर ही होनी चाहिये— 'अतः समयिनां ऐहिकामुष्मिकफलसाधनोपायः आन्तरपूजेति समयमततत्त्वम्'। तादात्म्यपूर्ण ध्यान से व्यतिरिक्त पूजा 'पूजा' है ही नहीं; क्योंकि कहा भी है— 'तादात्म्य-ध्यानव्यतिरेकेण पूजायाः असम्भवात्'। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि 'विधिः क्रियात्मको नादरणीयः'।

पूजा की प्रतीकात्मिका दृष्टि— भगवती के पूजन की बाह्य सामग्रियों का उपयोग न करके उनको कल्पना द्वारा कल्पित करके उन कल्पित सामग्रियों से किया गया भगवती का पूजन प्रतीकात्मक पूजन कहलाता है। वामकेश्वरतन्त्र में इस स्थूल पूजा को प्रतीकार्थ में ग्रहण करके कहा भी गया है—

पाशाङ्कुशौ तदीयौ तु रागद्वेषात्मकौ स्मृतौ।
शब्दस्पर्शादयो बाणाः मनस्तस्याभवद्धनुः।।

करणेन्द्रियचक्रस्था देवी संवित्स्वरूपिणीम्।
विश्वाहङ्कारपुष्पेण पूजयेत्सर्वसिद्धिभाक्।।

यही वास्तविक उपासना है। क्रियात्मक विधि कथमपि आदरणीय नहीं है— 'इय-मुपासना। विधिः क्रियात्मको नादरणीयः'।

'पिबेयं विद्यार्थी तव चरणनिर्णेजनजलम्' (सौन्दर्यलहरी) में 'चरणनिर्णेजनजलम्' वाक्य का प्रयोग करके आचार्य शंकर ने कौलमत के स्थान पर समयिमत का ही प्रतिपादन किया है; क्योंकि कौलमत में देवी सर्पिणी के रूप में अवस्थित मानी जाती है; अतः सर्पिणी का 'चरणनिर्णेजनजल' तो सम्भव ही नहीं है। चरणजिर्णेजनजलम् का अर्थ है— सहस्रदल कमल। कहा भी गया है— 'सहस्रकमल एव चरणनिर्णेजनजलमिति'।

सुधाधारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः ।
प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसः।।

सौन्दर्यलहरी के दशम श्लोक का यह अर्धभाग समयमत का ही प्रतिपादक है। साथ ही शेष अर्धभाग द्वारा कौलमत का प्रतिपादन किया गया है—

अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयम्।
स्वात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि।।

'पशु' एवं 'पाश' बन्धनरूप हैं। 'पश' बन्धने धातु से 'पशु' निष्पन्न होता है और पशु है— अविद्याबद्ध जीव 'पश बन्धने इत्यस्माद्धातोः पशुः अविद्याबद्धो जीवः'। पाश है— अविद्या (पाशः अविद्या)। तैत्तिरीयसंहिता (३.१.४) में कहा भी गया है— 'अदितिः पाशं प्रमुमोक्त्वेतन्नमः। पशुभ्यः पशुपतये करोमि'। अर्थात् अदितिमण्डलान्तर्गत बैन्दवी शक्ति (अदिति) अविद्याकृत बन्धन (पाश) से मुक्त करे; एतदर्थ मैं पशुपति को नमस्कार करता हूँ। आशय यह है कि अदिति पशुपति सदाशिव से युक्त होकर पाश-विमोचन करे, इसके लिये मैं सदाशिव को नमन करता हूँ। सौन्दर्यलहरी में शंकराचार्य भी कहते हैं कि 'चिरञ्जीवन्नेव क्षपितपशुपाशव्यतिकरः परानन्दाभिख्यं सरयति रसं त्वद्भ-जनवान्'। इसीलिये तैत्तिरीयसंहिता (६.१.३) में भी कहा गया है कि 'तस्मादुद्रः पशु-नामधिपतिः'।

जीवन्मुक्ति— 'चिरं जीवन्नेव क्षपितपशुपाशव्यतिकरः' जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त को शंकराचार्य भी स्वीकार करते हैं। 'जीवन्मुक्त' अविद्यानिवृत्ति हो जाने पर भी कुलालचक्रभ्रमण न्याय से पार्थिव देह से सम्बद्ध रहते ही हैं। षष्टितन्त्रसप्तति में कहा भी गया है—

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद्धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद्धृतशरीरः।।

भजन और मुक्ति— शंकराचार्य भजनवान को रसास्वाद एवं परानन्द का भोक्ता कहते हैं। यहाँ भजन क्या द्वैतभक्ति का द्योतक है? 'भजन' शब्द 'भज सेवायाम्' धातु से निष्पन्न होकर सेवा करने का बोधक है। सेवा तो बाह्य पूजा है। क्या शंकर को बाह्य पूजा में विश्वास है? आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं कि समयाचारी आचार्य शंकर द्वैतभक्त्यात्मक भजनरूप बाह्याचारों में विश्वास नहीं रखते थे; क्योंकि जिस 'भजन' शब्द का उन्होंने प्रयोग किया है, उसके दो भेद हैं— षट्चक्रसेवात्मक भजन और धारणात्मक भजन। जहाँ तक षट्चक्रात्मक भजन का प्रश्न है तो उसमें—

क. आधार-स्वाधिष्ठान चक्र का भजन तो निषिद्ध है; क्योंकि ये दोनों चक्र तामिस्र लोक हैं, अतः ये उपास्य नहीं हैं।

ख. मणिपूर से सहस्रदल कमल तक के सारे चक्र पूज्य अवश्य हैं।

ग. मणिपूरक चक्र की पूजा से सार्ष्टिरूपा मुक्ति प्राप्त होती है।

सार्ष्टि मुक्ति है— देवी के पुर के निकट पुरान्तर निर्मित करके सेवा करते हुये अवस्थान करना।

'सालोक्य' मुक्ति उन भक्तों को प्राप्त होती है, जो संवित्कमल की पूजा करते हैं।

सालोक्य मुक्ति है— देवी के पट्टन में निवास।

'सामीप्य' मुक्ति वे प्राप्त करते हैं, जो विशुद्धि चक्र की उपासना करते हैं। अंग-सेवकत्व ही सामीप्य है।

जो आज्ञाचक्र की उपासना करते हैं, वे 'सारूप्य' मुक्ति प्राप्त करते हैं। सारूप्य का अर्थ है— समानरूपत्व।

सारूप्य मुक्ति 'सायुज्य' मुक्ति से इसलिये भिन्न है; क्योंकि इस मुक्ति में साधक का स्वत्व भगवती में लय नहीं होता, प्रत्युत इसमें वह पृथक् शरीर धारण करके स्थित रहता है।

लक्ष्मीधर के अनुसार सार्ष्टि, सालोक्य, सामीप्य एवं सारूप्य मुक्ति ही गौणी मुक्ति है और सायुज्य मुक्ति को ही शाश्वती मुक्ति के नाम से जाना जाता है; जैसा कि सौन्दर्य-लहरी में कहा भी गया है— 'परं तु सायुज्यात्मिकैव शाश्वती मुक्तिः सहस्रकमलोपासकानामेवेति'। आशय यह कि सहस्रदल कमल की उपासना से प्राप्त परानन्द रस को प्राप्त कराने वाली मुक्ति ही सायुज्य मुक्ति कहलाती है।

परानन्दाभिख्यं रसयति रसं त्वद्भजनवान्।

भजन = सेवा : तव भजनं सेवा, द्विविधं भजनं— षट्चक्रसेवात्मकं धारणात्मकञ्च। षट्चक्र-भेदन से सुखस्वरूपा मुक्ति प्राप्त तो अवश्य होती है, फिर भी इससे प्राप्त होने वाला सुख तो सांसारिक प्राणियों द्वारा प्राप्त स्त्रीसंसर्गजन्य सुख के ही समतुल्य है; क्योंकि इस मुक्ति में परम सुख नहीं है, बल्कि यह क्षणिक है। इसी प्रकार इन मुक्तियों का भी परिणाम एवं स्वरूप है।

दुःखों के आत्यन्तिक उच्छेदन के उपरान्त सायुज्य मुक्ति के सिद्ध हो जाने पर उसमें शिव-शक्तिसम्पुट के अन्तर्भूत होने से तदात्मिका जो मुक्ति प्राप्त होती है, वही वास्तविक मुक्ति है। आचार्य लक्ष्मीधर की यही दृष्टि है।

निष्कर्ष यह कि प्रथमतः मूलाधार आदि षट्चक्रों का श्रीचक्र के त्रिकोण-अष्टकोण-दशारद्वितय मन्वस्र शिवचक्रों के साथ तादात्म्य प्रतिपादित किया गया है। नाद ही श्रीचक्र है और बिन्दु षट्चक्र है— 'नादोनाम श्रीचक्रम्। बिन्दुर्नाम षट्कमलगहनं वक्ष्यते'। षट्-चक्र एवं श्रीचक्र तथा नाद एवं बिन्दु का ऐक्य ही समयमत का प्रतिपाद्य सिद्धान्त है।

आधार चक्र : चतुर्दल : उसकी कर्णिका त्रिकोणात्मिका है।
स्वाधिष्ठान चक्र : षड्दल : उसकी कर्णिका अष्टकोणात्मिका है।
मणिपूर चक्र : दशदल : उसकी कर्णिका दशकोणात्मिका है।
अनाहत चक्र : द्वादशदल : उसकी कर्णिका द्वितीय दशकोणात्मिका है।
विशुद्धि चक्र : षोडशदल : उसकी कर्णिका चतुर्दशकोणात्मिका है।

—यहाँ तक शक्तिचक्र का प्रसार है।

आज्ञा चक्र : द्विदल : (अष्टकोणमेकत्र षोडशकोणमपरत्रेति द्विधा भिन्ना कर्णिका)

एक दल = अष्टकोण।

द्वितीय दल = षोडश कोण।

(द्विधा भिन्नं चतुरस्रप्रकृतिकं शिवचक्रचतुष्टयात्मकमाधारस्वाधिष्ठानात्मकञ्चेति प्रपञ्चितम्।)

वृत्तत्रय—

प्रथम वृत्त : 'रुद्रग्रन्थ्यात्मक' स्वाधिष्ठानान्त में।

द्वितीय वृत्त : 'विष्णुग्रन्थ्यात्मक' अनाहतान्त में।

तृतीय वृत्त : 'ब्रह्मग्रन्थ्यात्मक' आज्ञाचक्रान्त में।

इसके ऊपर चतुर्द्वारोपेत भूपुरत्रितय चारो द्वारों पर सोपानयुक्त है और वही है— सहस्रदलकर्णिका। इस कमल के १००० दल हैं। चतुर्द्वारोपेत कर्णिका के बीच बैन्दव-स्थान है। प्रासादन्याय से श्रीचक्र के कमलों की एकता अनुसन्धेय है। यही है— नादबिन्द्वैक्य।

इस षट्चक्र में ५० कलाओं का अन्तर्भाव है। इसमें चन्द्रखण्ड में स्वर शब्द है। सूर्यखण्ड में स्पर्श शब्द है। अग्निखण्ड में अन्तःस्थ एवं हकारवर्जित ऊष्म वर्ण है। बैन्द-वखण्ड में हकार लकार है। क्षकार सर्वत्र है। मूलाधार आदि कमलों के दलों में कलाओं का अन्तर्भाव है।

कलायें तिथ्यात्मक हैं। नित्यायें कलात्मक हैं। कलायें मूलमन्त्रगत पञ्चदशाक्षरात्मक हैं। पञ्चदशाक्षर त्रिखण्डात्मक है। त्रिखण्ड सोम-सूर्य-अनलात्मक हैं। सोम-सूर्य-अनल ग्रन्थित्रयात्मक हैं। ग्रन्थित्रय मन्त्रगत ह्रींकारत्रयात्मक है। ह्रींकार भुवनेश्वरीमन्त्रात्मक है। भुवनेश्वरी मन्त्र मूलमन्त्रात्मक है— 'कलानां तिथ्यात्मकत्वम्, नित्यानां कलात्मकत्वम्, कलानां मूलमन्त्रगतपञ्चदशाक्षरात्मकत्वम्, पञ्चदशाक्षराणां त्रिखण्डत्वम्, त्रिखण्डस्य सोमसूर्या-नलात्मकत्वम्, सोमसूर्यानलानां ग्रन्थित्रयात्मकत्वम्, ग्रन्थित्रयस्य मन्त्रगतह्रींकारत्रयात्मकत्वम्, ह्रींकारस्य भुवनेश्वरीमन्त्रत्वम्, भुवनेश्वरीमन्त्रस्य मूलमन्त्रान्तर्गतत्वम्, मूलमन्त्रस्य चक्रेणैक्यम्'।

चक्रनवक का मूलाधारादि षट्चक्रों में (ब्रह्मग्रन्थ्यादि त्रिक होने पर भी) सहस्रकमल-कर्णिका आदि से तादात्म्यभाव है। यही है— कला एवं नाद का ऐक्य।

भगवती की सपर्या (षोढैक्य)— षोढ़ा ऐक्य ही भगवती की सपर्या (पूजा) है। ऐक्य समष्टि इस प्रकार है—

१. नाद के साथ बिन्दु का ऐक्य।
२. बिन्दु एवं कला का ऐक्य।
३. कला का नाद के साथ ऐक्य।
४. कला के साथ बिन्दु का ऐक्य।
५. कला एवं नाद का ऐक्य।
६. श्रीविद्या का ५ के साथ ऐक्य।

यह षड्विध ऐक्य परम रहस्य है और गुरूपदेश से ही अवगन्तव्य है।

इस षोढ़ा ऐक्य के अनुसन्धान के अनन्तर ही दशभुजा भगवती श्रीविद्या मणिपूर चक्र में प्रत्यक्षतया दर्शन देती हैं। षोढैक्य द्वारा भगवती का साक्षात्कार एवं भगवती के साथ ऐक्यानुसन्धान ही भगवती की पूजा है— 'षोढैक्यानुसन्धानानन्तरं दशभुजा भगवती श्रीविद्याविस्रा मणिपूरे प्रत्यक्षं परिदृश्यमाना सपर्यया सन्निधेयेति ऐक्यानुसन्धानमेव सपर्येति वदतो ममाशय:'।

बिन्दुस्वरूप का विवेचन— बिन्दु क्या है? यह पहले ही बताया जा चुका है कि 'बिन्दुरिति मूलाधारादिचक्रषट्कम्' अर्थात् मूलाधारादि षट्चक्र ही बिन्दु है। यह बिन्दु शिव की शक्तिविशेष है, यह जगत् की उत्पत्ति एवं लय का कारण है, यह केवल एक ही है, यह सहस्रकमलान्तचतुर्द्वारात्मक कर्णिकामध्यगत चतुष्कोणात्मक शक्तितत्त्व है, उसके मध्य में ही नाद प्रतिष्ठित है। यह चतुर्विध है।

शिव एवं शक्ति शब्दार्थरूप होने के कारण कलात्मक हैं। अत: नाद एवं बिन्दु भी कलात्मक हैं। इसलिये दोनों का मेलनरूप जो नाद-बिन्दुकलातीत पद है, वही है— समयमत का रहस्य।

आचार्य गौड़पाद ने इस बिन्दु के दश प्रकार स्वीकार किये हैं। ग्रन्थान्तर में कहा भी गया है—

दशधा भिद्यते बिन्दुरेक एव परात्मक:।
चतुर्धाऽधारकमले षोढाऽधिष्ठानपङ्कजे।
उभयाकाररूपत्वादितरेषां तदात्मता।।

एक परम तत्त्व से ही जगत् की उत्पत्ति होती है। यह परम तत्त्व ही सहस्रारस्थ बिन्दु है। यह एकात्मक बिन्दु ही दशधा विभक्त होकर मूलाधार के चार एवं स्वाधिष्ठान के छ: दलों (४ + ६ = १०) द्वारा दश दल बनते हैं। यह दश दल एक ही बिन्दु का दशधा प्रसार है। ये लयक्रम में पुन: सहस्रार पद्म में एकाकार हो जाते हैं।

मूलाधार में स्थित बिन्दु के चार प्रकार ही चार दल हैं और वे हैं— मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार (अन्त:करणचतुष्टय)।

स्वाधिष्ठान में स्थित बिन्दु के छ: प्रकार ही छ: दल हैं और वे हैं— काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य। गौड़पाद ने इसकी पुष्टि करते हुये सुभगोदय स्तुति में कहा गया है—

अधिष्ठानाधारद्वितयमिदमेवं दशदलं
सहस्राराज्जातं मणिपुरमतोऽभूद्दशदलम्।
हृदम्भोजान्मूलान्नृपदलमभूत्स्वान्तकमलं
तदेवैको बिन्दुर्भवति जगदुत्पत्तिकृदयम्।।

सारांश यह कि एक ही बिन्दु मूलाधार कमल के पत्रचतुष्टय में तथा स्वाधिष्ठान

पद्म के षड्दलों में स्थित होकर अपने को दश रूपों में विभाजित करता है।

क. मूलाधार = चतुष्पत्र सरसिज। घ. अनाहत = द्वादशदल सरसिज।
ख. स्वाधिष्ठान = षड्दल सरसिज। ङ. विशुद्धि = षोडशदल सरसिज।
ग. मणिपूर = दशदल सरसिज। च. आज्ञा = द्विदल सरसिज।

आधारपद्म के दलचतुष्टय हैं।

मन-बुद्धि-अहंकार-चित्त के भेद से बिन्दु चतुष्टयात्मक है। यह बिन्दु प्रकृत्यात्मक है, जगन्निर्माण का कारण है।

बिन्दु

मूलाधारगत बिन्दु — स्वाधिष्ठानगत बिन्दु[1]

मूलाधारगत बिन्दु: मन बुद्धि चित्त अहंकार
(जगन्निर्माण के बिन्दु)

स्वाधिष्ठानगत बिन्दु: काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य
(संहति बिन्दु)
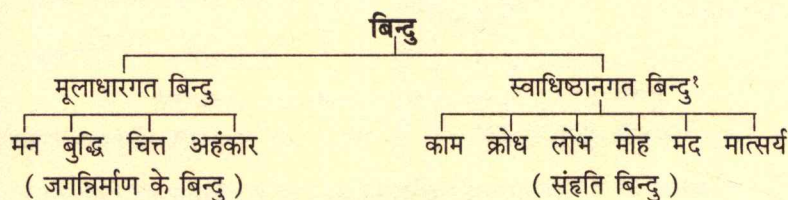
मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान का सर्वोत्पादकत्व—

१. मणिपूर चक्र— दश दल : मूलाधार के ४ बिन्दु + स्वाधिष्ठान के ६ बिन्दु। (मूलाधारात्मक एवं स्वाधिष्ठानात्मक मणिपूर चक्र)।

२. अनाहत चक्र— बारह दल : मणिपूरकप्रकृतिक (१० दल) एवं पूर्वकमलद्वय-प्रकृतिक (२ दल)।

३. विशुद्धि चक्र— सोलह दल : अनाहतप्रकृतिक (१२ दल) एवं आधारप्रकृतिक (४ दल) तथा मणिपूरप्रकृतिक (१० दल) एवं स्वाधिष्ठानप्रकृतिक (६ दल)।

४. आज्ञा चक्र— दो दल : आधार चक्रात्मक एवं स्वाधिष्ठान चक्रात्मक।

मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूर-अनाहत-विशुद्धि-आज्ञा— ये छः चक्र हैं और सहस्रार सबके अन्त में है। मणिपूर से लेकर आज्ञान्त चार कमल मूलाधार एवं स्वाधिष्ठानप्रकृतिक हैं। अतः मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान में ही उपर्युक्त मणिपूरादि चार चक्र अन्तर्भूत हैं।

एक परम बिन्दु से ही छः चक्रों की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार एक ही बिन्दु से १० की उत्त्पत्ति हुई है— यह सिद्ध है।

निष्कर्ष यह कि सहस्रार चक्र में एक बिन्दु अवस्थित है और इसी के कारण उसे 'बैन्दवगृह' कहा जाता है। इसी अद्वैत (एकात्मक) परम बिन्दु से सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती है।

परमबिन्दु या कारणबिन्दु— शक्ति का निर्गुणस्वरूप बिन्दुरूप है। कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार में परमशिव से मिलकर बिन्दुरूपा बन जाती है या कुण्डलिनी शक्ति

---

१. स्वाधिष्ठाने संहारः षड्बिन्दुकृतः। (पतञ्जलि)

सहस्रार में बिन्दुरूप में निवास करती है। उन्मनी अवस्था में यह बिन्दुरूपा है। इसी के कारण सहस्रार को बैन्दवगृह भी कहा जाता है। शक्ति का यह स्वरूप ही परमबिन्दु या कारणबिन्दु कहलाता है। यही बिन्दु समस्त प्रपञ्च की सृष्टि का कारण है। इसी कारण इसे कारणबिन्दु भी कहते हैं। मूल चक्र केवल दो ही हैं— मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान।
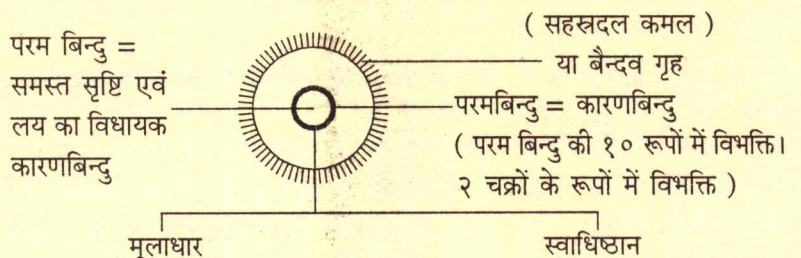
मणिपूरक चक्र में मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान का युग्म रूप विद्यमान है। मणिपूर चक्र से आज्ञा चक्र तक के सभी चक्र मूलाधार एवं स्वाधिष्ठानरूप हैं।

मणिपूरक चक्र (१० दल) ↓	मणिपूरचक्र में दशधा विभक्त यह परम बिन्दु अपने दसों रूपों में विद्यमान रहता है, जबकि मूलाधार में ४ अंशों में एवं स्वाधिष्ठान में ६ अंशों में स्थित होता है।
अनाहत चक्र (१२ दल) ↓	१० दल मणिपूरक के। १ दल मूलाधार एवं १ दल स्वाधिष्ठान के = १०+१+१=१२ दल।
विशुद्धि चक्र (१६ दल) ↓	अनाहत चक्र के १२ एवं मूलाधार के ४ दल = १२+४=१६ दल।
आज्ञा चक्र (२ दल)	मूलाधार का १ दल। स्वाधिष्ठान का १ दल = १+१+२ दल।
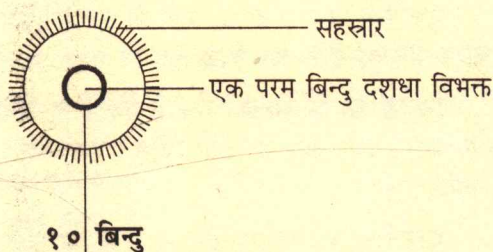
मूलाधार चक्र के ४ दल   स्वाधिष्ठान चक्र के ६ दल

(मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य।)

पिण्डस्थ चक्रों का रचना-तन्त्र
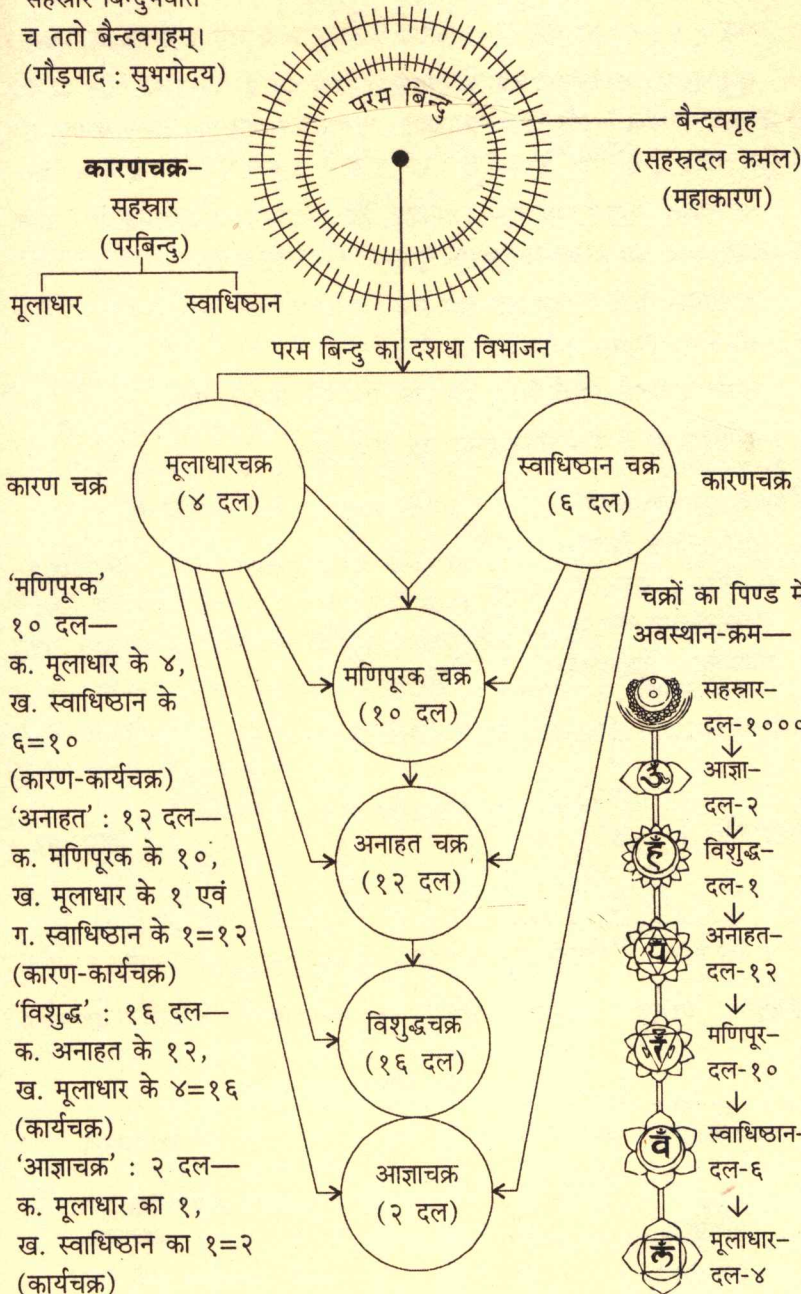
चक्रों की गणना— चक्रों के दलों की संख्या के आधार पर प्रत्येक चक्रों की संख्या इस प्रकार है—

चक्र = ६— कारणचक्र = २, कारण-कार्यचक्र = २ एवं कार्यचक्र = २ = ६।

मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्र से सम्बद्ध तो सभी चक्र हैं; किन्तु कुछ दल की दृष्टि से प्रत्यक्षत: सम्बद्ध हैं और कुछ अप्रत्यक्षत:। प्रत्यक्षत: सम्बद्ध चक्र हैं— मणिपूर एवं विशुद्ध चक्र। (मूलाधार के ४ दल) मणिपूरक में ४ दल एवं विशुद्ध में ४ दल।

अप्रत्यक्षत: सम्बद्ध चक्र हैं— अनाहत एवं आज्ञाचक्र। अनाहतचक्र में मूलाधार की संख्या = १ एवं आज्ञा-चक्र में भी मूलाधार की संख्या = १।

कारणचक्र दो हैं— मूलाधार चक्र एवं स्वाधिष्ठान चक्र। कारणात्मक दल हैं— ६ + ४ = १० दल।

कारण-कार्यचक्र भी दो हैं— मणिपूरक चक्र एवं अनाहत चक्र।

कार्यचक्र भी दो हैं— विशुद्धचक्र एवं आज्ञाचक्र।

गौड़पाद : सुभगोदयस्तुति—
अधिष्ठानाधारं द्वितय-
मिदमेवं दशदलम्।
सहस्राराज्जातं मणिपुर-
मतोऽभूद् दशदलम्।।

मूल चक्र

मूलाधार → → → → ← ← ← ← स्वाधिष्ठान

मणिपूरक (दल-१०) अनाहत (दल-१२) विशुद्ध (दल-१६) आज्ञाचक्र (दल-२)

दश दल[1]

मूलाधार : स्वर्णिम वर्ण = ४ दल — स्वाधिष्ठान : अरुण वर्ण = ६ दल

(वं शं षं सं) — (बं भं मं यं रं लं)
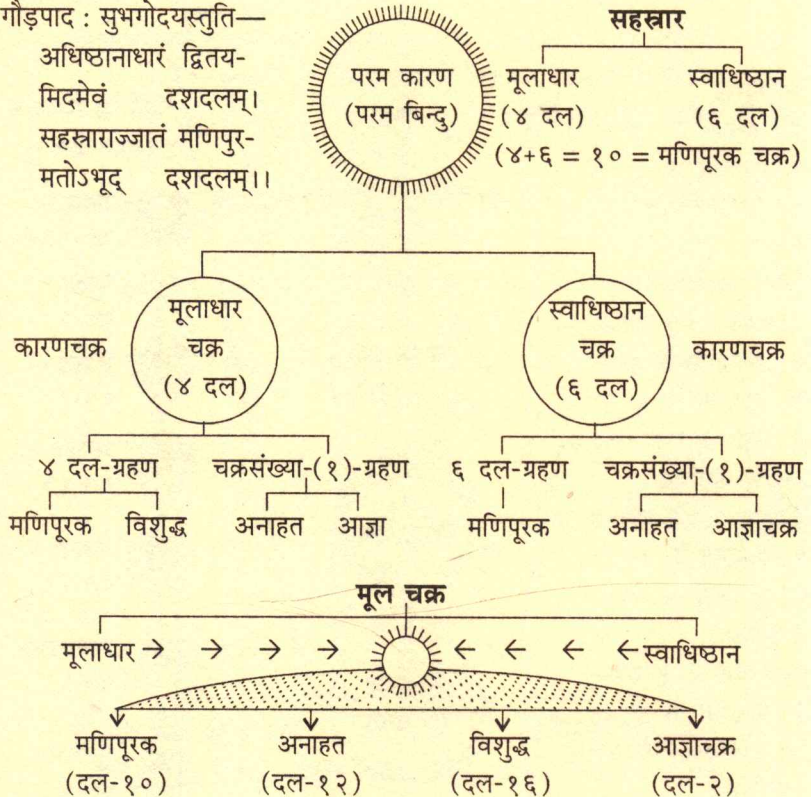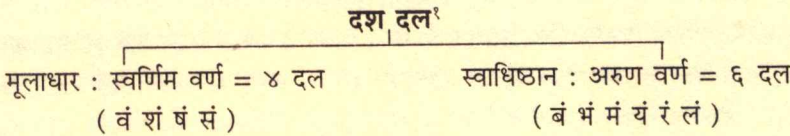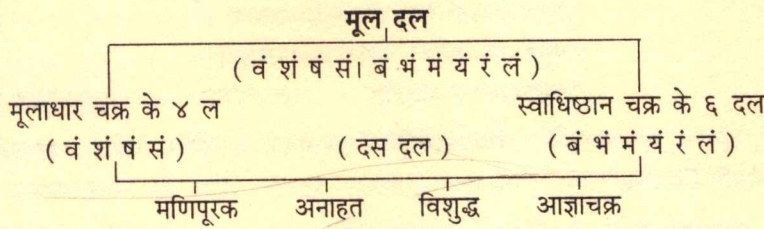
इन्हीं दोनों चक्रों के मध्य में योनिस्थान है और इन्हीं दोनों चक्रों के मध्य में काम-रूप पीठ विद्यमान है। योनि ही कामाख्या पीठ है। कहा भी है—

योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते। (गोरक्षशतक)
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाक्षा सिद्धवन्दिता। (गोरक्षशतक)
योनिस्थाने तयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते। (योगमार्तण्ड[2])

योगमार्त्तण्ड में बताया गया है कि कामाख्या योनि के मध्य में ही पश्चिमाभिमुखी स्वयम्भू लिङ्ग स्थित है—

योनिमध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम्।

मेढ्र से ऊपर एवं नाभि से नीचे खगाण्डवत् कन्दयोनि है, जिससे ७२००० नाड़ियाँ निकली हुई हैं। इसी कन्द के ऊर्ध्व भाग में कुण्डलिनी शक्ति अवस्थित है; जैसा कि योगमार्त्तण्ड में कहा भी है—

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलीकृता।

१. मूलाधार चक्र (१)
२. स्वाधिष्ठान चक्र (१) } २ दल →

सहस्रारं बिन्दुर्भवति च ततो बैन्दवगृहं
तदेतस्माज्जातं जगदिदमशेषञ्च करणम्।
ततो मूलाधाराद् द्वितयमभवत्तद्दशदलं
सहस्राराज्जातं तदिति दशधा बिन्दुरभवत्।।

(आचार्य गौड़पाद : सुभगोदयस्तुति)

---

१. 'चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानञ्च षड्दलम्।' (गोरक्षशतक)
२. 'आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिधावर्तं भगमण्डलाकारन्तत्र मूलकन्दस्तत्र पावकाकारं ध्यायेत्, तत्रैव कामरूपपीठं सर्वकामप्रदं भवति।' (सिद्धसिद्धान्तपद्धति)

दशधा भिद्यते बिन्दु एक एव परात्मकः।
चतुर्धाऽऽधारकमले षोढाऽधिष्ठानपङ्कजे।
उभयाकाररूपत्वादितरेषां तदात्मता।। (लक्ष्मीधरा)

अतएव मूलाधारद्विके उत्तरकमलचतुष्कमन्तर्भूतमिति एकस्यैव बिन्दोः दशधात्वं नान्यथेति सिद्धम्। (लक्ष्मीधरा)

उत्तरकमलचतुष्क (मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा) के भीतर एक ही परमबिन्दु दशधा विभक्त होकर स्थित एवं व्याप्त है। बिन्दु क्या है? मूलाधार आदि चक्र-षट्क ही बिन्दु है। यह शिव की वह शक्ति है, जो कि जगत् की उत्पत्ति एवं प्रलय का कारण है। वह केवल एक है।[१]

सहस्रदलकमल के अन्तर्गत चतुर्द्वारात्मक कर्णिका के मध्य स्थित चतुष्कोणात्मक शक्तितत्त्व है। उसके मध्य में स्थित शिवतत्त्व ही नाद है। यह चतुर्विधात्मक है। इन शिव एवं शक्तितत्त्वों में कलात्मकता उभयसामान्य है। यह बिन्दु दश प्रकार से विभाजित होकर स्थित होता है। लक्ष्मीधर कहते भी हैं— 'एक एव बिन्दुः मूलाधारगतचतुर्दलेषु चतुर्धा, स्वाधिष्ठानपद्मगतषड्दलेषु षोढा, एवं दशधा भिद्यते'। 'आधारपद्मस्य दलचतुष्टयं बिन्दुचतुष्टयात्मकम्' में पठित मूलाधर के चार बिन्दु हैं— मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार। इन्हीं चार बिन्दुओं से जगत् का निर्माण होता है।

स्वाधिष्ठान के छः बिन्दु हैं— काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य।

इस प्रकार दश बिन्दु कमलद्वयदलात्मक हैं।[२]

१० बिन्दु क्या हैं ? मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्र के ४ एवं ६ (अर्थात् १०) दलों पर अंकित १० मातृकायें एवं उपर्युक्त मन की १० वृत्तियाँ हैं। षट्चक्रों में ५० कलाओं का अन्तर्भाव है। चन्द्रखण्ड में 'स्वर', सूर्यखण्ड में स्पर्श एवं अग्निखण्ड में अन्तःस्थ, हकारवर्जित ऊष्म वर्ण।

सारांश—

बिन्दु में हकार, ळकार एवं क्षकार सर्वत्र।

मूलाधार = मूल चक्र, स्वाधिष्ठान चक = मूल चक्र, मणिपूर = मूलाधारस्वाधिष्ठा-नात्मक, अनाहत = मणिपूरप्रकृतिक + पूर्वकमलद्वयप्रकृतिक, विशुद्धि पद्म = अनाहतचक्र-प्रकृतिक + आधारप्रकृतिक, आज्ञा-पद्म = आधार-स्वाधिष्ठानात्मक।

सहस्रार एवं श्रीयन्त्र में ऐक्य— पिण्डस्थ चक्र 'सहस्रार' एवं 'श्रीचक्र' दोनों अभिन्न हैं। आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि ये दोनों ही अमृतात्मक हैं और परस्पर अभिन्न हैं। यहीं पहुँचकर भगवती कुण्डलिनी सादाख्य तत्त्व (सदाशिव तत्त्व) को अतिक्रान्त करके परासंवित् स्वरूप धारण करती है—

१. लक्ष्मीधरा २. लक्ष्मीधरा

ततो गत्वा ज्योत्स्नामयसमयलोकं समयिनां
पराख्या सादाख्या जयति शिवतत्त्वेन मिलिता।
सहस्रारे पद्मे शिशिरमहसां बिम्बमपरं
तदेव श्रीचक्रं सरघमिति तद्बैन्दवमिति।।

इसी स्थान को 'सरघा, श्रीचक्र, सहस्रार, बैन्दवस्थान' आदि कहते हैं।

जो बिन्दु दशधा विभक्त होकर मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान में क्रमशः चार एवं छः दल बन जाता है, वही सृजन का केन्द्र है। जिस बिन्दुतत्त्व से सृजनारम्भ होता है, वह नाद से उत्पन्न होता है— 'आसीच्छक्तिस्ततो नादः नादाद्बिन्दुसमुद्भवः'। यही सृष्टि का उत्स है। नाद में जो क्रियाशक्ति जागृत् होती है, बिन्दु में 'अहं' उसका निमेषस्वरूप है और 'इदं' उन्मेषस्वरूप है। 'इदं' सृष्टिरचना की सर्वप्रथमावस्था है। ईश्वर में यह 'इदं' (विश्वं) अन्तःकरणैकवेद्य होता है; क्योंकि उसमें इन्द्रिय-व्यापार तो होता नहीं, जिससे कि बाहर देखे। नाद एवं बिन्दु दोनों शक्ति की भिन्न-भिन्न अवस्थायें हैं। इसी में क्रिया-शक्ति का बीज अंकुरित होकर सृष्टिरचना की भूमि तैयार होती है। 'बिन्दु' शक्ति की उच्छूनावस्था है, घनीभूतावस्था है। शक्ति भी सिसृक्षावश सृष्टिरचना के समय घनीभूत हो उठती है— 'प्राणिकर्मणामपरिपाकदशायां तादृशकर्माभिन्नमायावच्छिन्नं ब्रह्म घनीभूत-मित्युच्यते'। कालवश कर्मों का परिपाक हो जाता है। परिपाक प्रागभाव को 'विचिकीर्षा' कहते हैं। परिपाकक्षण में माया वृत्ति उत्पन्न होती है। परिपक्व कर्माकार परिगणित माया-विशिष्ट ब्रह्म 'अव्यक्त' कहा जाता है और वही जगदंकुर कन्दरूप होने के कारण 'कारण-बिन्दु' कहलाता है। इसीलिये 'विचिकीर्षुघनीभूता सा चिदभ्येति बिन्दुता' कहा गया है। कारणबिन्दु → कार्यबिन्दु → नाद → बीजत्रय। इसे ही पर, सूक्ष्म एवं स्थूल कहा गया है। इसके तीन रूप हैं— चिदंश, अचिदंश एवं चित्-अचित् का मिश्रांश (कालेन भिद्यमानस्तु स बिन्दुर्भवति त्रिधा)। 'स बिन्दु नादबीजत्वभेदेन च निगद्यत' द्वारा इसी अवस्था को व्यक्त किया गया है। कारणबिन्दु अधिदैवत-अव्यक्त ईश्वर-विराट् या शान्ता-वामा-ज्येष्ठा-रौद्री, अम्बिका-इच्छा-ज्ञान-क्रिया। अधिभूत = कामरूप पीठ। पूर्णगिरिपीठ, जालन्धरपीठ, उड्डयानपीठ (नित्याहृदय)। सूक्ष्म बिन्दु = हिरण्यगर्भ।[१]

बिन्दुतत्त्व का त्रिधा विभाजन— कारणबिन्दु → कार्यबिन्दु → नाद → बीज : पर-बिन्दु, सूक्ष्म बिन्दु, स्थूल बिन्दु = विराट। शक्ति की अवस्थायें → उन्मनी, समनी। उन्मनी = निष्कल ब्रह्म में स्थित रहने वाली शक्ति। यह ब्रह्म में लीन रहती है। समनी शक्ति कला-युक्त होकर सकल ब्रह्ममयी होती है। चिद्रूपिणी शक्ति जब ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्ममयी हो जाती है, तब ब्रह्मनिष्कल (तत्त्वातीत) हो जाती है; किन्तु जब ब्रह्ममयी शक्ति चैतन्य-रूपिणी होती है, तब ब्रह्म सकल हो जाता है। निष्कल एवं सकल— ये दोनों ब्रह्मस्वरूप नित्य हैं। जब शक्ति सिसृक्षावश घनीभूत हो उठती है,

१. सौभाग्यभास्कर

तब शक्ति की त्रिगुणात्मिका स्थिति— सकल ब्रह्म में चिद्रूपेण ज्ञानप्रधाना, नादतत्त्व में क्रियारूप से रज:प्रधाना और बिन्दुतत्त्व में घनीभूत होने के कारण तम:प्रधाना हो जाती है। सृष्टि के विकास में मूल तत्त्व शक्ति ही है, जो एक ओर चित् शक्ति तथा दूसरी ओर माया शक्ति के रूप में कार्य करती है। चैतन्यरूप में वह द्रष्टा विश्वोत्तीर्णा बन जाती है और मायिक रूप में दृश्या विश्वरूपिणी बन जाती है।[१]

लक्ष्मीधर का कथन है कि यद्यपि यह सत्य है कि कौलों के द्वारा द्विकानुसन्धान (मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान की पूजा) षट् कमलों की पूजा का फल प्रदान कर देगा, किन्तु कौलों में षड्विध ऐक्यानुसन्धान के अभाव के कारण कौलोपासक मणिपूर में भगवती का साक्षात्कार नहीं कर पाते। जैसा कि कहा भी है— 'कुलमार्ग एवेति न देव्या मणिपूरे सान्निध्यम्'।

कौलों में पञ्चविध मुक्ति की युक्तियों का भी अभाव है और उनमें नाद-बिन्दुकलातीतत्व भी असम्भाव्य है। जैसा कि कहा है— 'नादबिन्दुकलातीतत्वमप्यसम्भाव्यमेव'।

समयिमत में कार्यभूत चतुष्क चक्रानुसन्धान से ही कारणभूत कमलद्वयानुसन्धान का फल प्राप्त कर लिया जाता है। अतएव पञ्चविध साम्य की सिद्धि होने पर समय-समयिभाव प्रत्यक्ष रूप से परिदृष्ट हो जाता है। आशय यह कि समयमार्गियों को समय एवं समया (कामेश्वर-कामेश्वरी, शिव-पार्वती) का प्रत्यक्षीकरण हो ही जाता है और यही भगवत्पाद शंकराचार्य का मत है।

धारणात्मक भजन का स्वरूप— भजन के जो दो अर्थ दिये गये थे— षट्-चक्रात्मक सेवा एवं धारणात्मक सेवा, उनमें से षट्चक्रोपासना के विषय में चतुर्विध ऐक्य एवं षोढ़ा ऐक्यरूप सपर्या (भजन) का तो सविस्तार विवेचन किया गया; किन्तु धारणात्मक भजन का स्वरूप क्या है? यह अविवेचित ही रह गया। अत: अब यहाँ उसी का विवेचन किया जा रहा है।

आचार्यपाद शंकर ने कहा है कि 'धारणापरिज्ञानान्मुक्ति:'। धारणाओं को ३६० प्रकार का बताया गया है; किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह 'धारणा' है क्या? इस जिज्ञासा का शमन करने के लिये कहते हैं कि 'धारणा' नाद एवं कला के द्वारा कमलों में वायु का निरोध है— 'धारणानाम वायो: कमलेषु नादकलाभ्यां निरोध:'। यह निरोध छ: कमलों में षड्विध है और सप्तम कमल (सहस्रदल कमल) में समय के साथ सप्तविध है। एक-एक कमल में ५०-५० अर्थात् कुल ३६० धारणायें हैं और ये ही धारणायें नाद, बिन्दु एवं कला के साथ मिलायी जाने पर अनन्त प्रकार की हो जाती हैं। आधारादिक षट्चक्रों में धारणाओं का फल यथाक्रम मति-स्मृति-बुद्धि-प्रज्ञा-मेधा-प्रतिभा एवं संवित् के रूप में प्रतिफलित होता है।

---

१. सौभाग्यभास्कर

कालिदास ने कुलमत एवं समयमत का भेद 'सकलजननीस्तोत्र' में इस प्रकार निरूपित किया है—

चतुष्पत्रान्तष्षड्दलपुटभगान्तस्त्रिवलय-
स्फुरद्विद्युद्वह्निद्युमणिनियुताभद्युतिलते ।
षडस्रं भित्वाऽदौ दशदलमथ द्वादशदलं
कलास्रञ्च द्व्यस्रं गतवति नमस्ते गिरिसुते।।

आशय यह कि आज्ञाचक्र के अन्त में ब्रह्मग्रन्थिभेदन के समय विद्युन्नियुताभा है। स्वाधिष्ठान चक्र के अन्त में रुद्रग्रन्थिभेदन के समय वह्निनियुताभा है। अनाहत चक्र के अन्त में विष्णुग्रन्थिभेदन के समय द्युमणिनियुताभा है। षडस्र (मूधाधारगर्भित स्वाधिष्ठान) का भेदन करने के बाद दशदल मणिपूर चक्र का भेदन करके, फिर द्वादशकमल अनाहत चक्र का भेदन करके, फिर विशुद्धि चक्र (कलास्र) का भेदन करने के उपरान्त द्व्यस्र (आज्ञाचक्र) का भेदन करके सहस्रकमल में जाना चाहिये।

चतुष्पत्र मूलाधार स्वाधिष्ठान में अन्तर्भूत है। इसकी उपासना कौल किया करते हैं। समयी उपासक स्वाधिष्ठान का भेदन करके मणिपूर में प्रवेश कर देवी की उपासना करते हैं। यही है— समयमततत्त्व। पिण्डब्रह्माण्डैक्यानुसन्धान, षट्कमलानुसन्धान, पञ्चविध साम्यानुसन्धान एवं षड्विधैक्यानुसन्धान द्वारा पिण्डाण्ड ब्रह्माण्ड की भाँति अवभासित होने लगता है। अत: योगियों को चतुर्विधैक्यानुसन्धान अवश्य ही करना चाहिये; तत्पश्चात्—

पिण्डब्रह्माण्डयोक्यं लिङ्गसूत्रात्मनोरपि।
स्वापाव्याकृतयोरैक्यं क्षेत्रज्ञपरमात्मनो:।।

अर्थात् पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड का ऐक्य होने के पश्चात् लिङ्गशरीर एवं सूत्रात्मा में ऐक्य होना चाहिये। पुन: स्वाप (सुषुप्त्यवस्थापन्न साक्षी प्राज्ञ) एवं अव्याकृत (अविद्याशबलित ब्रह्म) का ऐक्य होना चाहिये और अन्त में क्षेत्रज्ञ (जीव) एवं परमात्मा (ब्रह्म) का ऐक्य होना चाहिये।

आचार्य शंकर ने सौन्दर्यलहरी में शाक्तसम्प्रदायगत कौलशाखा एवं समयशाखा दोनों के मतों का प्रस्तुतीकरण किया है। लक्ष्मीधर कहते हैं कि मैंने सौन्दर्यलहरी के इस श्लोक की कौल एवं समयमतों की दृष्टि से व्याख्या की है— 'अस्मिन् श्लोके सौन्दर्यलहर्या यावत्प्रमेयजातं समयसिद्धान्तरहस्यत्वेन कौलसिद्धान्तरहस्यत्वेन च प्रतिपादितमस्माभि:'।

शंकराचार्य की उपासना-दृष्टि— लक्ष्मीधर कहते हैं कि शंकराचार्य समयतत्त्व के मर्मज्ञ थे और उन्होंने १०० श्लोकों वाली सौन्दर्यलहरी में समयाभिधाना 'चन्द्रकला' का विवेचन किया है— 'इह खलु शङ्करभगवत्पूज्यपादा: समयमततत्त्ववेदिन: समयाख्यां चन्द्रकलां श्लोकशतेन प्रस्तुवन्ति'।[१]

१. भगवत्पादाचार्या: समयमतपारदृश्वान: समयाचारप्रवणा: समयरूपां भगवतीं स्तुवन्ति। समयाचारो नाम आन्तरपूजारति:। कुलाचारो नाम बाह्यपूजारतिरिति।

भगवती का जब आन्तर पूजन किया जाय तब उस अवसर पर समयोपासकों को चाहिये कि वे तृतीय कमल में अनेक प्रकार के मणियों से खचित भूषणों को देवी को अर्पित करें। ऐसा करने से भगवती इस तृतीय चक्र 'मणिपूर' को मणियों से सम्पूरित कर देती हैं; इसीलिये इस चक्र का नाम मणिपूर चक्र है— 'यत्र स्थिता भगवती मणिभिस्तत्प्रदेशं पूरयति स देशो मणिपूरः'।

आचार्य शंकर और कुण्डलिनी— आचार्य शंकर ने सौन्दर्यलहरी में भगवती त्रिपुरसुन्दरी का पूजा-विधान प्रस्तुत करते हुये भगवती-कुण्डलिनी की उपासना का भी विधान किया है। इस सन्दर्भ में निम्न श्लोक ध्यातव्य है—

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे।।

सुधाधारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः
प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसः।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि।।

(सौन्दर्यलहरी-९-१०)

भगवती के अन्तर्यजन एवं ध्यानोपासना में यह ध्यान करना चाहिये कि भगवती महात्रिपुरसुन्दरी मूलाधार में पृथ्वी एवं जलतत्त्व को, मणिपूर में अग्नितत्त्व को (जिसकी स्थिति स्वाधिष्ठान में है), हृदय में वायुतत्त्व को, ऊपर विशुद्ध चक्र में आकाशतत्त्व को एवं मन को भ्रूमध्य में— इस प्रकार समस्त कुलपथ (शक्तिमार्ग) का वेध करके सहस्रार पद्म में अपने पति के साथ एकान्त में विहार करती हैं।

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी अपने दोनों चरणों के मध्य टपकती हुई अमृत-धाराओं की वर्षा से जगत् को सींचती हुई छहों आम्नायों से होती हुई या छहों चक्रों द्वारा सींचती हुई अपनी भूमि पर उतर कर एवं अपने-आपको सर्पिणी की भाँति साढ़े तीन कुण्डलों से आवेष्टित करके कुलकुण्ड में सोती हैं।

पूजा-विधान— तैत्तिरीय आरण्यक (१.११) में भगवती त्रिपुरसुन्दरी की पूजा के विषय में निर्देश दिया गया है कि 'नैतमृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेत'। अर्थात् इस ऋषि कामदेव को विधिवत् जानकर भी नगर (श्रीचक्रात्मक नगर) में प्रवेश नहीं करना चाहिये; क्योंकि भगवती की पूजा में बाह्य पूजा नहीं करनी चाहिये। यही निषेधविधि है। यतः बाह्य पूजा में ही ऋषि, छन्द, अर्गला, न्यास, कीलक, स्तव आदि का विधान है; अतः वह यहाँ स्वीकार्य नहीं है। चूँकि आन्तर पूजा में तादात्म्यानुसन्धान प्रमुख है; अतः वहाँ ऋषि आदि का ज्ञान अनावश्यक है।

आन्तर पूजा— समयाचार में बाह्य पूजा निषिद्ध है। यहाँ केवल आन्तर पूजा ही स्वीकार्य है; अत: यहाँ ऋषि, छन्द आदि (बाह्य पूजापरक) तत्त्वों की कोई उपयोगिता नहीं है। पूजा के ये सभी बाह्याङ्ग समयमत में अस्वीकार्य या अग्राह्य हैं। 'नैतमृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेत' में प्रयुक्त 'ऋषि' शब्द ऋषि-छन्द-पटल-पद्धति-बाह्य न्यास आदि सभी का उपलक्षक है और वह इन बाह्योपकरणों एवं बाह्याचारों का निषेध करता है।

सौन्दर्यलहरी के तैंतीसवें श्लोक की टीका आचार्य लक्ष्मीधर भी कहते हैं कि 'एवं ऋषिं मन्मथं विदित्वा नगरं श्रीचक्रात्मकं न प्रविशेत्, ऋषिज्ञानपूर्वकं श्रीचक्रात्मकं नगरं न पूजयेत्, बाह्यपूजा न कुर्यादिति निषेधविधि:। बाह्यपूजायामेव ऋषिच्छन्द:प्रभृतिज्ञान-पूर्वकत्वम्।

आन्तरपूजायां तादात्म्यानुसन्धानात्मिकायामृष्यादिज्ञानं नास्त्येव। उपयोगस्तु दूर एव।
अतो वस्तुसिद्धऋष्यादिपर्युदासमुखेन श्रीचक्रस्य बाह्यपूजनं त्रैवर्णिकै: न कर्तव्यमिति नियम्यते।

सनत्कुमारसंहिता में भी कहा गया है—

बाह्यपूजा न कर्तव्या कर्तव्या बाह्यजातिभि:।
सा क्षुद्रफलदा नृणां ऐहिकार्थैकसाधनात्।।

बाह्यपूजारता: कौला: क्षपणाश्च कपालिका:।
दिगम्बराश्चेतिहासा वामकास्तन्त्रवादिन:।।

आन्तराराधनपरा वैदिका ब्रह्मवादिन:।
जीवन्मुक्ताश्चरन्त्येते त्रिषु लोकेषु सर्वदा।।

बाह्यपूजा-विधान में विश्वास रखने वाले उपासक हैं— कौल, क्षपण, कपाली, दिगम्बर, इतिहास में विश्वास रखने वाले या इतिहास को प्रमाण मानने वाले, वाममार्गी एवं तान्त्रिक। इनमें से कौल तो आधारचक्र की पूजा में ही निरत रहते हैं और क्षपण योषित्त्रिकोण की पूजा में ही अनुरक्त रहते हैं। दिगम्बर उपर्युक्त दोनों ही पूजाओं में निरत रहते हैं। इतिहासवादी भैरवयामल आदि को प्रमाण मानते हैं। वामक तन्त्रवादी अपनी एक पृथक् ही दृष्टि रखते हैं और बाह्य पूजा किया करते हैं तथा वामकेश्वरतन्त्र को प्रमाण मानते हैं। वे केवल चक्रपूजक हैं और वेद-बाह्य हैं। आन्तर पूजा तो मात्र शुभागमतत्त्ववेत्ता ब्रह्मवादी ही किया करते हैं— 'आन्तरपूजारता: ब्रह्मवादिन: शुभागमतत्त्ववेदिन:'।[1]

'यदि प्रविशेत्। मिथौ चरित्वा प्रविशेत्' (तैत्तिरीय आ०-१.१) आशय यह कि यदि प्रवेश करना ही है तो मिथ (एकान्त) में प्रवेश करे अर्थात् आन्तर पूजा करे— 'आन्तरपूजां कुर्यादित्यर्थ:'। 'या मिथौ' अर्थात् मिथुनीभूत शिव-पार्वती दोनों के मेलन को जान कर प्रवेश करे। एकान्त में प्रवेश करने के अर्थ में भी ऐकात्म्यानुसन्धान की

१. आचार्य लक्ष्मीधर : लक्ष्मीधरा

दिशा में सहायान्तर अपेक्षित नहीं है; क्योंकि 'एकान्ते एव विद्या फलवती' ऐसा कहा गया है।

पूर्वोक्त में प्रमाण है तैत्तिरीय आरण्यक का यह वाक्य— 'तत्सम्भवस्य व्रतम्'। अर्थात् चित्तजात मन्मथ का यही व्रत (माहात्म्य) है कि वह सहायान्तर का परित्याग करके एकान्त में स्त्री-पुरुष संयोजनरूप है। अत: मन्मथोपदिष्ट मन्त्र का अनुष्ठान करने वाले को भी अपना विद्यानुष्ठान गुप्त रीति से ही करना चाहिये या मन्मथमिथुन (पति-पत्नी) को एकान्त में गया हुआ देखकर उन दोनों में एकान्त स्थल में प्रवेश करता है। इसी प्रकार शिव-शक्ति के सम्पुट को जानकर ही साधक को प्रवेश करना चाहिये।

तैत्तिरीय आरण्यक की 'पुत्रो निर्ऋत्या वैदेह:', 'जनको ह वैदेह:' आदि ऋचायें भी एक का ही अर्थात् एकान्त का ही प्रतिपादन करती हैं।[1]

सामयिकसम्मत पूजा की विशेषतायें— समयमतावलम्बियों की इस पूजा की प्रमुख विशेषताओं को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है—

१. इसमें मन्त्रों का पुरश्चरण नहीं किया जाता— 'समयिनां मन्त्रस्य पुरश्चरणं नास्ति'।

२. इसमें मन्त्रों के जप का भी विधान नहीं है— 'जपो नास्ति'।

३. इसमें जो भी अनुष्ठान किया जाता है, उसका स्थान मात्र हृदय (हृत्कमल— अनाहत चक्र) है, द्वादश कमलात्मक चक्र है— 'हृत्कमल एव सर्वं यावदनुष्ठेयम्'।

आचार्य शंकर ने सौन्दर्यलहरी के ३६वें श्लोक में इसका प्रतिपादन भी किया है—

तवाज्ञाचक्रस्थं तपनशशिकोटिद्युतिधरं
परं शम्भुं वन्दे परिमिलितपार्श्वं परचिता।
यमाराध्यन् भक्त्या रविशशिशुचीनामविषये
निरालोकेऽलोके निवसति हि भालोकभुवने।।

इस श्लोक का सामान्य अर्थ तो मात्र यह है कि 'हे भगवति ! मैं तेरे आज्ञाचक्र में स्थित करोड़ों सूर्य-चन्द्रों के अमित तेज से देदीप्यमान परमशिव की वन्दना करता हूँ, जिनका वाम पार्श्व पराचिति से एकीभूत है। जो मनुष्य उसकी सश्रद्धा उपासना करते हैं, वे उस प्रकाशमान लोक में निवास करते हैं, जो सूर्य-चन्द्र-अग्नि का विषय नहीं है या समस्त आतंकों से मुक्त है या सूर्य-चन्द्र-अग्नि का विषय न होने के कारण उनके प्रकाश से प्रकाशित नहीं है'।

इस श्लोक में पर चिति को वामांक में आसीन कराकर स्थित परमशिव की आराधना भ्रूमध्य में करने का विधान किया गया है और भगवती की काल्पनिक मूर्ति को भ्रूमध्य में ध्यान का विषय बनाने उपदेश दिया गया है, न कि बाह्योपचार पूजन का।

---

१. लक्ष्मीधर : लक्ष्मीधरा

भगवती के देह में पिण्ड-ब्रह्माण्ड समाविष्ट है। श्रीचक्र भगवती के शरीर का प्रतीक है। श्रीचक्र के षोडश और अष्टदलों में आज्ञाचक्र की भावना करके वहीं भगवती की समाराधना करने का भी यह श्लोक उपदेश देता है। यहाँ अपने शरीरस्थ चक्रों में ही ध्यान करने का विधान किया गया है।

'तवाज्ञाचक्रस्थं' में 'तव' शब्द के दो अर्थ हैं— १. वह स्थान, जहाँ भगवती प्रधानतया निवास करती हैं; अत: उसे उनका स्थान (तव = तुम्हारा) कहा गया है और २. साधक को देहाभिमान गलित करने हेतु कहा गया कि यह भ्रूमध्योपरि स्थित जीव का आज्ञाचक्र भी जीव का नहीं, भगवती का ही है। अर्थात् ध्येय भी भगवती है और ध्यान भी भगवत्कार है तथा ध्यान-स्थान भी भगवती का ही अपना धाम है। अत: साधक को 'मेरा' कहने के लिये कुछ भी शेष नहीं है; क्योंकि पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-आकाश सभी तो भगवती की ही परिणति हैं। सुषुम्ना में स्थित समस्त चक्र भी चिति-शक्ति के ही विभिन्न केन्द्र हैं; अत: भगवती के ही चक्र हैं—

सुषुम्नाद्यै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रमण्डलात्।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने।।

(योगशिखोपनिषद्)

सुषुम्ना भी चिदात्मिका महाशक्ति का ही रूपान्तर है।

आज्ञाचक्र को प्रधानता इसलिये दी गई है कि मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान अग्निमण्डल है तथा मणिपूर एवं अनाहत चक्र सूर्यमण्डल है। विशुद्ध एवं आज्ञाचक्र ही चन्द्रमण्डल के अन्तर्गत है और भगवती की आराधना चन्द्रमण्डल में एवं पूर्णिमा के चाँद में ही करने का विधान है; इसीलिये आज्ञाचक्र का विशेष रूप से आत्मीकरण किया गया है।

आचार्य लक्ष्मीधर का कथन है कि 'तवाज्ञाचक्रस्थं' में प्रयुक्त 'चक्र' शब्द भ्रूमध्य-मध्यान्तर्गत शिवचक्रचतुष्टय का बोधक है, न कि द्विदल पद्म का। साथ ही यह भी कि स्वाधिष्ठान के आगे अग्निमण्डल है एवं अनाहत चक्र के आगे सूर्यमण्डल है; किन्तु आज्ञाचक्र के आगे चन्द्रमण्डल है। अग्नि-सूर्य-चन्द्र की किरणें संख्या में ३६० हैं और वे आधारचक्र से लेकर आज्ञा चक्रपर्यन्त प्रसृत हैं। आज्ञाचक्र में स्थित चन्द्र से अन्य चन्द्र, जो कि सहस्रदल कमल में स्थित है, वह श्रीचक्रात्मक है, नित्यकल है और नित्य ध्येय है। इसी प्रसंग में आचार्य शंकर की सौन्दर्यलहरी का सत्ताईसवाँ श्लोक भी ध्यातव्य है—

जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना
गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणमशनाद्याहुतिविधिः।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदृशा
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्।।

अर्थात् भगवती की यथार्थ उपासना में तो उच्चारण करना ही 'मन्त्र', हस्तविन्यासादि व्यापारनिचयात्मक कर्मकाण्ड 'मुद्रा', स्वयं का चलना-फिरना ही 'प्रदक्षिणा' स्वयं का

खाना-पीना 'आहुति' स्वयं का शयन 'प्रणाम' एवं समस्त सुखों के उपभोग में आत्म-समर्पण की दृष्टि ही सपर्या अर्थात् पूजा है। ठीक भी है; क्योंकि दुर्गासप्तशती (५. २६) में कहा भी गया है—

या देवी सर्वभूतेषु क्षुधारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।

श्रीमद्भगवद्गीता (१५.१४) में भी कहा गया है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।

आचार्य लक्ष्मीधर ने लक्ष्मीधरा में ठीक ही कहा है—

क. जल्पादीनां जपादिरूपता यथार्हं कल्पिता।

ख. एवं नयनोन्मीलननिमीलननिमेषोन्मेषाङ्गभङ्गजृम्भादीनां यथार्हं सपर्यापर्यापर्यायता ऊह्या।

ग. हे भगवति ! आत्मार्पणदृशा जपः शिल्पः, सकलमपि शिल्पं मुद्राविरचना, गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणं, अशनादि आहुतिविधिः, संवेशः प्रणामः, अखिलं सुखं मे यद्वि-लसितं च तव सपर्यापर्यायः भवतु।

घ. शब्दादीनां यादृच्छिकसम्भवेन सुखप्रादुर्भावे तत्सुखं मच्छेषं न भवति किन्तु सदाशिवायेत्यर्पणं सपर्यापर्यायः।

—'यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्' ही यथार्थ पूजा है, जिसमें बाह्या-चार के लिये कोई स्थान नहीं है।

ङ. शब्दादेः सुखकरस्य वस्तुनः षोडशोपचारव्यतिरेकेण आत्मार्पणबुद्ध्या त्याग एव सपर्यापर्यायः, न तु स्वीकृतानाम्।

—शब्दादिक यादृच्छिक सुखों के उत्पन्न होने पर यह समझना कि यह 'मेरे' एवं 'मेरे लिये' नहीं; प्रत्युत सदाशिव को अर्पित करने के लिये हैं— यह भाव ही पूजा या उपासना है। अर्थात् यहाँ बाह्य षोडशोपचार स्वीकृत नहीं है। सामयिकों के मत में समय (सादाख्य तत्त्व) की सहस्रदल कमल में पूजा करनी चाहिये, न कि बाह्य पीठ आदि में; जैसा कि आचार्य लक्ष्मीधर ने कहा भी है—

समयिनां मते समयस्य सादाख्यतत्त्वस्य सपर्या सहस्रदलकमल एव न तु बाह्ये पीठादौ। ये ये समयिनो योगीश्वरा जीवन्मुक्ता; संसारयात्रामनुवर्तमानाः सादाख्यतत्त्वमनु-चिन्तयतः आत्मैकप्रवणााः वर्तन्ते, तेषां जपो जल्पशिल्पमित्यादिना सपर्याप्रकारो निरूपितः।

सारांश—

१. समयमतानुयायी सहस्रदल कमल में सादाख्य तत्त्व की पूजा करते हैं।

२. जो समयी योगी हैं और व्युत्थानात्मक सांसारिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं, वे

जीवन्मुक्त आत्मैकपरायण योगी 'जल्प ही जप है' आदि विधि से भगवती की पूजा करते हैं।

३. इसके अतिरिक्त जो विजन गुहान्तर में बद्धपद्मासनस्थ होकर इन्द्रियजय करके सादाख्य तत्त्व के ध्यान में एकनिष्ठ योगीश्वर हैं, वे चतुर्विध एवं षड्विध ऐक्यानुसन्धानात्मक पूजा करके ही भगवती की उपासना करते हैं— 'चतुर्विधषड्विधैक्यानुसन्धानमेव भगवत्याः सपर्या'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही विधानों में कहीं भी भगवती की पूजा में बाह्य पूजा या तज्जन्य क्रिया-कलाप के निष्पादन का विधान नहीं है— 'बाह्यपूजायां तत्क्रियाकलापे च तत्सम्पादनायां च क्लेशो नास्ति समयिनामिति रहस्यम्' और यही इस सामयिक पूजा का रहस्य है।

४. चन्द्रज्ञानविद्या में भी कहा गया है—

सूर्यमण्डलमध्यस्थां देवीं त्रिपुरसुन्दरीम्।
पाशाङ्कुशधनुर्बाणान् धारयन्तीं प्रपूजयेत्।।

आचार्य लक्ष्मीधर यह भी कहते हैं कि बाह्य पूजाप्रकार का जो उपदेश दिया भी गया है, वह समयैकदेशिमतमात्र ही है, सार्वभौम नहीं— 'बाह्यपूजाप्रकारकथनं तत्तु समयैकदेशिमतमिति'।

समयमत के अनुसार हृदयकमल में समाराधना करने पर भगवती शीघ्र प्रसन्न होती हैं; किन्तु यहाँ समाराधना के करने पर आराधक को ऐहिक फल ही प्राप्त होते हैं— 'एवं हृदयकल एव समाराधिता भगवती ऐहिकानि फलानि सर्वाणि ददाति। हृदयकले एव होमादिकं तर्पणादिकञ्च कार्यमैहिकफलसाधनमिति'। लेकिन उच्चतम उपलब्धियों के लिये तो सहस्त्रदल कमल में ही आराधना करनी चाहिये।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ऐहिक एवं आमुष्मिक सभी प्रकार के फलों के प्राप्त्यर्थ साधकों को मात्र आन्तर पूजा ही करनी चाहिये; जैसा कि आचार्य लक्ष्मीधर ने कहा भी है— 'समयिनामैहिकामुष्मिकफलसाधनोपायः आन्तरपूजेति समयमततत्त्वम्'।

सूर्यमण्डल के अन्दर भगवती की पूजा का जो विधान किया गया है, वह सामयिकों को मान्य नहीं है— 'अत्र समयिनां बाह्यपूजानिषेधात्सूर्यमण्डलान्तर्गतत्वेन पूजनं निषिद्धम्'। यद्यपि इसका विधान सुभगोदय में 'सूर्यमण्डलमध्यस्थां देवीं त्रिपुरसुन्दरीम्' के द्वारा किया गया है, तथापि समयमत में यह निषिद्ध है।

▼

चतुश्चत्वारिंश अध्याय

श्रीदेवी का मन्दिर और उसका पूजन-विधान

भैरवयामल में भगवती त्रिपुरसुन्दरी के मन्दिर का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

तत्र चिन्तामणिमयं देव्या मन्दिरमुत्तमम्।
शिवात्मके महामन्त्रे महेशानोपबर्हणे।।

अतिरम्यतले तत्र कशिपुश्च सदाशिवः।
भृतकाश्च चतुष्पादा महेन्द्रश्च पतद् ग्रहः।
तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी।।

आचार्य शंकर ने इसी मन्दिर का निरूपण (सौन्दर्यलहरी में) करते हुये उसका स्वरूप 'सुधासिन्धोर्मध्ये.................चिदानन्दलहरी' के द्वारा इस प्रकार चित्रित किया है— एक अमृत का सागर है। उसके मध्य एक रत्नद्वीप है। उस रत्नद्वीप में कल्पतरु, सन्तान, हरिचन्दन, मन्दार एवं पारिजातनामक पाँच देववृक्षों से सुशोभित एक रमणीक वाटिका है। इस वाटिका के चतुर्दिक पुष्पराग (पद्मराग), गोमेद, वज्र, वैदूर्य, इन्द्रनील, मुक्ता, मरकत, विद्रुम एवं माणिक्य से निर्मित नौ रत्नप्राकार हैं। इनके मध्य सहस्त्रों स्तम्भों से सुशोभित एक माणिक्यमण्डप और अमृतवापी, आनन्दवापी एवं विमर्शवापी नाम वाली तीन वापियाँ हैं।

इसी वाटिका के भीतर एक रमणीक चिन्तामणिगृह है। उसके मुख्य द्वार पर एक रमणीय अर्गल (प्रवेशपथ) है। चिन्तामणिगृह की चारों दिशाओं में चार द्वार हैं— पूर्वाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, दक्षिणाम्नाय एवं उत्तराम्नाय कहलाते हैं।

चिन्तामणिगृह के मध्य मणिमय प्रदीपवलय से वेष्टित एक मणिजटित सिंहासन स्थित है। इस सिंहासन के चार चरण हैं, जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं रुद्रस्वरूप हैं। इसके फलक हैं— सदाशिव।

सिंहासन पर हंस के पंखों की मसृण लोमश शय्या बिछी है। उसके ऊपर कुसुम-पुष्प के रंग की चादर कौस्तुभ आस्तरण बिछा है। सिंहासन के ऊपर चन्द्रातप एवं चतुर्दिक मनोरम परदे लगे हुये हैं। यही दृश्य है-- भगवती त्रिपुरसन्दरी के श्रीपुर, श्रीनगर एवं श्रीदेवी के मन्दिर का। सौन्दर्यलहरी में इसी श्रीपुर का वर्णन आचार्य शंकर ने उपयुक्त 'सुधासिन्धोर्मध्ये' श्लोक के द्वारा किया है। दुर्वासाप्रणीत 'दुर्वासास्तवरत्न' एवं 'श्रीविद्यार्णवतन्त्र' में इस श्रीपुर का सविस्तार वर्णन किया गया है।

उड़ीसा के निवासीगण श्री जगन्नाथ जी के बड़े मन्दिर को श्रीमन्दिर तथा नीलचक्र को श्रीचक्र मानते हैं। आषाढ़ शुक्ल द्वितीया से नौ दिन तक जगन्नाथ, बलभद्र, सुभद्रा

एवं सुदर्शन यात्रा के कारण 'गुण्डिचा मण्डप' में रहने के बाद उनके न रहने के समय जगन्नाथ जी के बड़े मन्दिर को 'श्रीमन्दिर' कहते हैं; किन्तु गुण्डिचा मण्डप को कोई भी श्रीमन्दिर नहीं कहता; क्योंकि उस समय 'श्री' (महालक्ष्मी) को अपने साथ लिये विना ही श्रीजगन्नाथ रथयात्रा करते हैं। इतना ही नहीं; इस यात्रा के समय श्रीजगन्नाथ 'भील' जाति की नारियों द्वारा चढ़ाया गया नैवेद्य भी ग्रहण करते हैं।

इसके कारण रथयात्रा से प्रत्यावर्तित होने पर 'श्री' के द्वारा प्रवेशद्वार बन्द कर दिया जाता है और इस प्रकार मन्दिर में उनका प्रवेश निषिद्ध करके श्रीदेवी उन्हें दण्डित करती हैं। सारांश यह कि श्री या महालक्ष्मी के कारण ही जगन्नाथ के बड़े मन्दिर को श्रीमन्दिर कहा जाता है।

श्रीजगन्नाथ जी का श्रीमन्दिर ही श्रीयन्त्र है। मन्दिर की रत्नवेदी, जहाँ श्रीललिताम्बा अपने चतुर्भुज मूर्ति में आसीन हैं, श्रीयन्त्र अंकित है। श्रीललितासहस्रनाम में कहा भी गया है— 'चराचरजगन्नाथा चक्रराजनिकेतना'। इस चक्रराज में ४३ त्रिकोण हैं और श्रीजगन्नाथ जी के रथ के चक्रों की कुल संख्या भी ४३ ही है। ४३ त्रिकोण और ४३ रथचक्रसंख्या का विवरण इस प्रकार है—

चक्रराज श्रीयन्त्र में		**रथयात्रा के समय जगन्नाथपुरी के रथ में**	
मूलत्रिकोण	— १	सुभद्रा के देवदलनरथ के चक्र	— १२
अष्टार	— ८	बलभद्र के रक्तध्वजरथ के चक्र	— १४
अन्तः एवं बहिर्दशार	— २०	जगन्नाथ के नन्दिघोष	— १६
चतुर्दशार	— १४	भगवान् का सुदर्शन चक्र	— १
योग	**— ४३**	**योग**	**— ४३**

काश्मीर के श्रीनगर नाम में 'श्री' शब्द इन्हीं श्रीदेवी को संकेतित करता है; क्योंकि काश्मीर शैव-शाक्त-उपासना का प्रमुख केन्द्र रहा है। सुन्दरी श्रीदेवी होने के कारण महालक्ष्मी भी है।

महात्रिपुरसुन्दरी एवं तारा के नित्य धाम में साम्य— भगवती तारा के नित्य धाम का स्वरूप निम्नावत् है—

एक सुधासागर है, जिसका ध्यान हृदय में करना चाहिये। उस सुधासागर के पुलिनों पर एवं आदि-मध्य-अन्त सर्वत्र स्वर्णबालुका है। इसी स्वर्ण-बालुका से मण्डित एक रत्नद्वीप है, जिसमें पारिजातवन (कल्पवृक्षारण्य) स्थित है। इसी पारिजातवन में रत्न-जटित दिव्य मन्दिर है—

स्वकीयहृदये ध्यायेत्सुधासागरमुत्तमम्।
रत्नद्वीपञ्च तन्मध्ये सुवर्णबालुकामयम्।।

पारिजातवनं तत्र रत्नानाञ्चापि मन्दिरम्।

सौन्दर्यलहरी में भगवती त्रिपुरसुन्दरी के भी नित्य धाम का इसी प्रकार वर्णन किया गया है—

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम्।।

भैरवयामल में भी इसी प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है—

बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्चयोन्यः सुरद्रुमाः।
तत्रैव नीपश्रेणी च तन्मध्ये मणिमण्टकम्।।

तत्र चिन्तामणिकृतं देव्या मन्दिरमुत्तमम्।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हणे।। आदि।

अथवा— सुधाब्धौ नन्दनोद्याने रत्नमण्टपमध्यगाम्।
बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहां त्रिलोचनाम्।।

भगवती तारा के धाम में महाश्मशान की स्थिति दोनों के मध्य एक व्यावर्तक बिन्दु है; क्योंकि भगवती महात्रिपुरसुन्दरी के धाम में यह नहीं है। ताराधाम में महाश्मशान स्थित है। जैसा कि कहा भी है— 'श्मशानं तत्र सञ्चिन्त्य तत्र कल्पद्रुमं स्मरेत्'।

भगवती के मन्दिर की पूजा— श्रीभगवती की चतुश्चत्वारिंशन्मन्दिरपूजा में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर एवं सदाशिव— इन पञ्चपादों तथा परमशिवस्वरूप मन्त्रफलक (पर्यंक) की निम्न प्रकार से पूजा होती है—

१. ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं ब्रह्मामयैकमञ्चपादाय नमः।
२. ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं विष्णुमयैकमञ्चपादाय नमः।
३. ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं रुद्रमयैकमञ्चपादाय नमः।
४. ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं ईश्वरमयैकपञ्चपादाय नमः।
५. ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं परमशिवफलकाय नमः।

ललिता और पञ्चब्रह्म में तादात्म्य— इनमें प्रथम पञ्चदेव 'पञ्चब्रह्म' कहे गये हैं। इसीलिये ललितासहस्रनाम में भगवती के विभिन्न नामों में इसे भी परिगणित किया गया है; जैसे कि 'पञ्चब्रह्मस्वरूपिणी'। सौभाग्य भास्कर में भास्करराय इसकी व्याख्या करते हुये कहते हैं कि 'ब्रह्मादिसदाशिवान्तानां पञ्चानामपि ब्रह्मकोटावन्तर्भावात्पञ्चब्रह्मणां स्वरूपमस्याः'। तदुक्तं त्रिपुरासिद्धान्ते—

निर्विशेषमपि ब्रह्म स्वस्मिन् मायाविलासतः।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।
इत्याख्यावशतः पञ्च ब्रह्मरूपेण संस्थितः।।

अर्थात् ब्रह्मा से सदाशिवपर्यन्त पञ्चदेवताओं की गणना ब्रह्मकोटि में ही होती है। त्रिपुरासिद्धान्त में कहा गया है कि निर्विशेष ब्रह्म अपनी माया के विलास से अपने-आप में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर एवं सदाशिव नामों के वशीभूत बनकर पञ्चब्रह्मरूप से संस्थित है अर्थात् उक्त पाँचों के नाम भी ब्रह्म के ही नाम हैं। अत: श्रीललिता का नाम 'पञ्चब्रह्म-स्वरूपिणी' हुआ अर्थात् पञ्चब्रह्म भगवती के स्वस्वरूप ही हैं।

भगवती के नामों में उनका नाम है— 'पञ्चब्रह्मासनस्थिता' अर्थात् 'पञ्चभिर्ब्रह्मभिर्निर्मितं आसनं मञ्चकरूपं तत्र स्थिता'। अर्थात् उक्त पञ्चब्रह्मों से निर्मित मञ्चक (पर्यंक) रूप आसन पर स्थित। आचार्य शंकर ने भी अपने सौन्दर्यलहरी में कहा है—

शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयाम्।
भजन्ति त्वां धन्या: कतिचन चिदानन्दलहरीम्।।

भैरवयामल एवं बहुरूपाष्टकतन्त्र में लिखा है कि चिन्तामणिमन्दिर में शिवाकार मञ्च (पर्यंक) बिछा हुआ है; उसके ऊपर महेशानरूप तकिया लगा हुआ है तथा सदाशिवरूपी पलंगपोश एवं आग्नेय से ईशान कोणपर्यन्त यथाक्रम ब्रह्मा आदि चार देवता पर्यंक के चार पाए हैं।

ब्रह्मादिक ऊर्ध्व में देवरूप में, निम्नभाग में स्तम्भरूप में एवं मध्यभाग में पुरुषरूप में स्थित हैं। ये चारो पुरुषाकार होने पर भी भगवती ललिता के ध्यान सें शक्तिभाव प्राप्त किये हुये हैं तथा नेत्र बन्द किये हुये हैं।

ब्रह्माण्डपुराण के ललितोपाख्यान में इसका सविस्तर वर्णन किया गया है। वहाँ कहा गया है कि श्रीललिताजी का मञ्च पञ्चब्रह्ममय है (पञ्च ब्रह्मों से निर्मित है)। मञ्च के चारो पैर दश हाथ ऊँचे एवं तीन हाथ की गोलाई लेकर निर्मित हैं। ये ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र एवं ईश्वर देवता हैं। ये पञ्चदेवता पुरुषाकार होते हुये भी भगवती ललिता के ध्यान के कारण शक्तिभाव से आपन्न हैं और नेत्र बन्द किये हुये निश्चल स्थित हैं। ये चारो ही देव सायुध एवं सालंकार हैं। मध्य एवं ऊर्ध्व भागों में स्तम्भरूप से स्थित ये देवगण मध्य में पुरुषाकृति धारण कर स्वस्वरूप में अवस्थित हैं। उनके ऊपर भगवान् सदाशिव मञ्च-फलक के स्वरूप में स्थित हैं।

भगवती ललिता की सपर्या के समय मन्दिरपूजन में पञ्चब्रह्ममय मञ्चपादों की एवं सदाशिवमय मञ्चफलक की पूजा होती है। इनके आयुध एवं ध्यान भी यथावत् ही रहते हैं अर्थात् जिस देवता का जो ध्यान है, उसके अनुसार ही उसका ध्यान करना होता है।

भगवती ललिता का एक नाम यद्यपि 'पञ्चप्रेतासनासीना' (पाँच प्रेतों के आसन वाली) भी है, तथापि 'ब्रह्मासनस्थिता' नाम ही उनकी पूजा में लिया जाता है, 'पञ्चप्रेता-सनासीना' नहीं। 'प्रेत' शब्द की व्युत्पत्ति है— 'प्रकृष्टत्वेन इत: = गत:'। प्रेतात्मा अर्थात् मृतात्मा। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र एवं ईश्वर की अपनी शक्तियाँ हैं— वामा, ज्येष्ठा, रौद्री और

अम्बिका। जब ये देवगण अपनी-अपनी शक्तियों से पृथक् रहते हैं, तब वे 'प्रेत' कहलाते हैं; क्योंकि शक्तिरहित प्रत्येक सत्ता 'शव' ही कही जाती है।

ज्ञानार्णवतन्त्र में ब्रह्मादि देवों को 'पञ्चप्रेत' कहे जाने के कारण के उत्तर में भगवान् शिव भगवती से कहते हैं कि 'ब्रह्मादि देवस्वरूप 'पञ्चप्रेत' सदा निश्चल हैं; क्योंकि ब्रह्मा स्रष्टा माने जाते हैं; किन्तु उनकी सृजन-शक्ति अपनी नहीं, प्रत्युत उनकी वामा शक्ति की है; अतः ब्रह्मा उससे रहित होने पर प्रेत बन जाते हैं'। यही अन्य देवताओं के प्रेतत्व का कारण है।[१] आचार्य शंकर ने सौन्दर्यलहरी में तो लिखा है कि शक्ति से रहित शिव हिल भी नहीं सकते—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।।

कहा गया है कि 'शिव' शब्द के 'शि' अक्षर में से यदि इकार (शक्ति) को निकाल दिया जाय तो जिस प्रकार मात्र 'शव' ही शेष रह जाता है, उसी प्रकार शिव से शक्ति के निकल जाने पर शिव मात्र शव ही रह जाते हैं।

मन्दिरपूजा का विधान— महायोगपद्धति में चतुश्चत्वारिन्मन्दिरमन्त्र निम्नवत् हैं— 'अमृताम्भोनिधये नमः। रत्नद्वीपाय नमः। नानावृक्षमहोद्यानाय नमः। कल्पवाटिकायै नमः। हरिचन्दनवाटिकायै नमः। सनतानवाटिकायै नमः। पारिजातवाटिकायै नमः। कदम्ब-वनवाटिकायै नमः। पुष्परागरत्नप्राकारायै नमः। पद्मरागरत्नप्राकारायै नमः। गोमेदरत्नप्राकारायै नमः। वज्ररत्नप्राकारायै नमः। वैडूर्यरत्नप्राकारायै नमः। इन्द्रनीलरत्नप्राकारायै नमः। मुक्तारत्न-प्राकारायै नमः। मरकतरत्नप्राकारायै नमः। विद्रुमरत्नप्राकारायै नमः। माणिक्यरत्नप्राकारायै नमः। सहस्रस्तम्भमण्डपाय नमः। अमृतवापिकायै नमः। आनन्दवापिकायै नमः। बाला-तपोद्गाराय नमः। चन्द्रकोद्गाराय नमः। महाशृङ्गारपरिधायै नमः। महापद्माख्यै नमः। चिन्ता-मणिगृहराजाय नमः। पूर्वाम्नायमयपूर्वद्वाराय नमः। उत्तराम्नायमयोत्तरद्वाराय नमः। दक्षिणा-म्नायमयदक्षिणद्वाराय नमः। पश्चिमाम्नायमयपश्चिमद्वाराय नमः। रत्नप्रदीपवलयाय नमः। महा-सिंहासनाय नमः। ब्रह्ममयैकमञ्चपादपाय नमः। विष्णुमयैकमञ्चपादपाय नमः। रुद्रमयैक-मञ्चपादपाय नमः। ईश्वरमयैकमञ्चपादपाय नमः। सदाशिवमयमञ्चफलकाय नमः। हंसतूल-तूलिकायै नमः। हंसकलमहोपधानाय नमः। कौस्तुभास्तरणाय नमः। महावितानकाय नमः। महाजनिकायै नमः'। —ये सभी नमोन्त वाङ्मय कमलापुरःसर मन्दिरमन्त्र हैं।

भगवती का पूजन— पूजा के चार प्रकार प्रचलित है— पञ्चोपचार, षोडशोपचार, चतुर्विंशत्युपचार और चतुःषष्ट्युपचार। इन चार प्रकारों में से किसी देवता के पाँच, किसी के सोलह और किसी के चौबीस उपचार प्रचलित हैं; किन्तु भगवती की पूजा चौंसठ उपचारों से की जाती है। यही भगवती का भजन (सेवा या पूजा) है। 'भजनित त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम्' में 'भजन्ति' पद का भजन यही है।

---

१. ब्रह्माद्याः पञ्चापि वामादिस्वशक्तिविरहे सति कार्याक्षमत्वाद्वामांशेन प्रेताः तैः कल्पिते आसने मंचके आसीना।

आचार्य शंकर ने सौन्दर्यलहरी में भगवती के सुधासिन्धुस्थित मणिद्वीप, चिन्तामणि गृह, शिवाकार मञ्च, परमशिवपर्यंक आदि का वर्णन किया है—

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटिपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम्।।

भगवती की चौंसठ उपचारों से पूजा का विधान— भगवती की चतुःषष्ट्युपचारात्मक पूजा का विधान डिण्डिम भाष्य में इस प्रकार बताया गया है— 'आवाहनानन्तरं पाद्यं कल्पयामि नमः। अर्घ्यं कल्पयामि नमः'। इसी क्रम से 'आभरणावरोपणं, सुगन्धितैलाभ्यङ्गम्, मज्जनशालाप्रवेशनम्, मञ्चमण्डपमणिपीठोपवेशनम्, दिव्यस्नानार्थोद्वर्तनमुष्णोदकस्नानम्, कनककलशच्युततीर्थाभिषेव, धौतवस्त्रपरिमार्जनम्, अरुणदुकूलपरिधानम्, अरुणदुकूलोत्तरीयम्, आलेपमण्डपप्रवेशनम्, आलेपमण्डपमणिपीठोपवेशनम्, चन्दनागुरुकुङ्कुमशङ्कुमदमृगकर्पूर-कस्तूरीगोरोचनादिदिव्यगन्धेन सर्वविलेपनम्, केशभारस्य कालागुरुधूपम्, मल्लिकामालतीजाती-चम्पकाशोकशतपत्रपूगकुहलीपुन्नागकह्लारमुख्यसर्वर्तुकुसुममाला, भूषणमण्डपप्रवेशन्, भूषण-मण्डपमणिपीठोपवेशनम्, नवमणिमुकुटम्, शशिशकलसीमन्तसिन्दूरतिलककरम्, कालाञ्जम्, नीलीयुगलम्, नासाभरणम्, अधरयावकम्, प्रथमभूषणम्, कनकचिताकम्, पदकम्, महापदकम्, मुक्तावलीम्, एकावलीछन्नकेयूरयुगलचतुष्टयम्, वलयावलिम्, अर्मिकावलीम्, काञ्चीदाम, कटीसूत्रम्, सौभाग्याभरणम्, पादकटकम, रत्ननूपुरम्, पादाङ्गुलीयकम्, एककरे पाशम्, अन्य-करे अङ्कुशम्, इतरकरे पुण्ड्रेक्षुचापम्, अपरकरे पुष्पबाणान्, श्रीमणिमाणिक्यपादुके स्वसमान-वेषाभिरावरणदेवताभिः सह महाचक्राधिरोहणम्, कामेश्वराङ्कपर्यङ्कोपवेशनम्, अमृतासवचषकम्, आचमनीयम्, कर्पूरवीटिकाम्, आनन्दोल्लासविलासहासम्, मङ्गलारार्तिकम्, छत्रचामरयुगलम्, दर्पणतालवृन्तम्, गन्धपुष्पम्, धूपदीपनैवेद्यं कल्पयामि नमः— इति चतुःषष्ट्युपचारमन्त्राः'।

पञ्चचत्वारिंश अध्याय

मातृकाभेदतन्त्र के अनुसार त्रिपुरसुन्दरी-सपर्या

मातृकाभेदतन्त्र के सप्तम पटल में भगवती त्रिपुरा की आराधना का क्रम प्रस्तुत करते हुये कहा गया है कि भगवती त्रिपुरा की पूजा के पूर्व प्रात:काल उठकर अपने गुरु का सम्यक् ध्यान करते हुये उनकी बहुत प्रयत्नपूर्वक पूजा करनी चाहिये।

श्रीगुरु का किस प्रकार ध्यान किया जाना चाहिये?— इस विषय में गुप्तसाधनतन्त्र में उपदिष्ट प्रक्रिया का अनुसरण करना चाहिये। इसके अनन्तर मन्त्र-जप की प्रक्रिया का अनुसरण करने की दिशा में सर्वप्रथम वाग्बीज, महामाया एवं विष्णुशक्ति का उच्चारण करना चाहिये और फिर आनन्दभैरव के मन्त्र 'ह स ख क्रें' का जप करना चाहिये। फिर उनकी शक्ति के मन्त्र का उच्चारण करते हुये 'ह सौ:' का उच्चारण करना चाहिये। यही है गुरु एवं शक्ति का मन्त्र।

इसके अनन्तर वाग्बीज आदि उच्चारण करके अमुकानन्द नाथपूर्वक 'श्रीपादुकां पूजयामि नम:' कहना चाहिये। वाग्बीज एवं भूतबीज का भी उच्चारण करना चाहिये तथा इसके साथ ही 'समर्पयामि' कहकर देवी को मन्त्र-अर्पण भी करना चाहिये।

इसके अनन्तर १०८ बार (अष्टोत्तरशत बार) अष्टाक्षर मन्त्र का जप करके और जप को देवता को समर्पित करके साञ्जलि अभिवादन करना चाहिये।

शक्तिरूपिणी गुरु की प्रयत्नपूर्वक पूजा करने की दिशा में उनके स्तोत्र-कवच आदि का पाठ करना चाहिये। इस गुरु-स्तोत्र को मातृकाभेदतन्त्र में निम्नवत् बताया गया है—

शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि स्तोत्रं परमगोपनम्।
यस्य श्रवणमात्रेण संसारान्मुच्यते नरः।।

नमस्ते देवदेवेशि ! नमस्ते हरपूजिते !।
ब्रह्मविद्यास्वरूपायै तस्यै नित्यं नमो नमः।।

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जलशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

भवबन्धनपारस्य तारिणी जननी परा।
ज्ञानदा मोक्षदा नित्या तस्यै श्रीगुरवे नमः।।

श्रीनाथवामभागस्था सर्वदा सुरपूजिता।
सदा विज्ञानदात्री च तस्यै श्रीगुरवे नमः।।

सहस्रारे महापद्मे सदानन्दस्वरूपिणी।
महामोक्षप्रदा देवि तस्यै नित्यं नमो नमः।।

ब्रह्मविष्णुस्वरूपा च महारुद्रस्वरूपिणी।
त्रिगुणात्मस्वरूपा च तस्यै नित्यं नमो नमः।।

चन्द्रसूर्याग्निरूपा च सदाघूर्मितलोचना।
स्वनाथञ्च समालिङ्ग्य तस्यै नित्यं नमो नमः।।

इदं स्तोत्रं महेशानि यः पठेद्भक्तिसंयुतम्।
स सिद्धिं लभते नित्यं सत्यं सत्यं न संशयः।।

प्रातःकाले पठेद्यस्तु गुरुपूजापुरःसरम्।
स एव धन्यो लोकेस्मिन्देवीपुत्र इव क्षितौ।।

मातृकाभेदतन्त्र में ही गुरुकवच का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

स्तोत्रं समाप्तं देवेशि! कवचं शृणु सादरम्।
यस्य श्रवणमात्रेण वागीशसमतां व्रजेत्।।

श्रीगुरोः कवचस्यास्य सदाशिव ऋषिः स्मृतः।
तदाख्या देवता प्रोक्ता चतुर्वर्गफलप्रदा।।

क्लीं बीजं मे शिवः पातु तदाख्यातं ललाटकम्।
क्लीं बीजं चक्षुषोः पातु सर्वाङ्गं मे सदाऽवतु।।

वकारं मे नितम्बं च रकारं जठरं तथा।
रींकारं पादयुगलं हसौः सर्वाङ्गे मेऽवतु।।

हसौर्लिङ्गं च लोमं च केशं च परिरक्षतु।
श्रीबीजं पातु पूर्वे च ह्रीं बीजं दक्षिणेऽवतु।।

श्रीं बीजं पश्चिमे पातु उत्तरे भूतसम्बरम्।
श्रीं पातु चाग्निकोणे तु तदाख्या नैर्ऋतेऽवतु।।

देव्यम्बा पातु वायव्यां शम्भो श्रीपादुकां तथा।
पूजयामि तथा चोर्ध्वं नमश्चाधः सदाऽवतु।।

इति ते कथितं कान्ते कवचं परमाद्भुतम्।
गुरुमन्त्रं पठित्वा च कवचं प्रपठेद्यदि।।

उपर्युक्त कवचपाठ के फल को मातृकाभेदतन्त्र में इस प्रकार बताया गया है—

स सिद्धः सुगुणः सोऽपि शिवः साक्षान्न संशयः।
पूजाकाले पठेद्यस्तु कवचं मन्त्रविग्रहम्।।

पूजाफलं लभेत्तस्य सत्यं सत्यं सुरेश्वरि!।
भूर्जे विलिख्य गुटिकां स्वर्णस्थां धारयेद्यदि।।

तस्य दर्शनमात्रेण वादिनो निष्प्रभां गतः।
विवादे जयमाप्नोति मम तुल्यो न संशयः।।

सहस्रारे भावयन् तं त्रिसन्ध्यं यः पठेद्यदि।
स एव सिद्धो लोकेऽस्मिन्निर्वाणपदमीहते।।

समस्तमङ्गलं नाम कवचं परमाद्भुतम्।
यस्मै कस्मै न दातव्यं न प्रकाश्यं कदाचन।।

देयं शिष्याय शान्ताय चान्यथा पतनं भवेत्।
अभक्तेभ्योऽपि देविशि ! पुत्रेभ्योऽपि न दर्शयेत्।।

इदं कवचमज्ञात्वा दशविद्यां च यो जपेत्।
स नाप्नोति फलं तस्य परे च नरकं व्रजेत्।।

भगवती त्रिपुरसुन्दरी के सन्ध्याकालीन स्वरूप के विषय में मातृकाभेदतन्त्र में इस प्रकार बताया गया है—

ध्यायेच्च सुन्दरीं देवीं त्रिविधां बिन्दुरूपिणीम्।
प्रभाते च गुरुं देवीं मध्याह्ने च सदात्मिकाम्।।

सायाह्ने शक्तिरूपां च त्रिविधां बिन्दुरूपिणीम्।
पूजाकाले महादेवीं ध्यानानुरूपिणीं शिवाम्।।

वाग्भवेनेन्दुमाहेशीं शुक्लवर्णां विचिन्तयेत्।
शक्तिबीजस्वरूपां च स्वर्णवर्णं विचिन्तयेत्।।

प्रभाते शुक्लवर्णाभां मध्याह्ने.................................. ।
साहाह्ने रक्तवर्णाभां भावयेत्साधकोत्तमः।।

..................................महेशानि सन्ध्यां कुर्याद्विचक्षणः।
त्रिविधा परमा विद्या महाविद्या................................ ।।

पतिपूजां विना पूजां न गृह्णाति कदाचन।
अतः.................................. आदौ लिङ्गं प्रपूजयेत्।।

पञ्चाक्षरं पञ्चवक्त्रं पूजयेद्बहुयत्नतः।
ततस्तु पूजयेद्देवीं त्रिपुरां मोक्षदायिनीम्।।

सारांश यह कि भगवती त्रिपुरसुन्दरी का ध्यान प्रातःकाल में गुरुदेवी के रूप में, मध्याह्न काल में सदात्मिका के रूप में एवं सन्ध्याकाल में शक्ति के रूप में— इस प्रकार त्रिविध रूप से निष्पादित किया जाना चाहिये। वाग्भव मन्त्र के साथ शुक्लवर्णा देवी के रूप में इन्दु माहेशी का ध्यान करना चाहिये। शक्तिबीजस्वरूपा का ध्यान स्वर्णवर्णा देवी के रूप में करना चाहिये। देवी का ध्यान प्रभातकाल में शुक्लवर्णाभा के रूप में एवं

सायं-काल में रक्तवर्णाभा के रूप में करना चाहिये।

लिङ्गपूजा के विना भगवती अपनी पूजा स्वीकार नहीं करतीं— 'पतिपूजां विना पूजां न गृह्णाति कदाचन'।

ध्यान मुक्ति प्रदान करता है। प्रश्न यह उठता है कि कौन-सी मुक्ति यथार्थ मुक्ति है; क्योंकि जीवन एवं समस्त साधनाओं का लक्ष्य मुक्ति ही होती है। सार्ष्टि मुक्ति, सालोक्य मुक्ति, सामीप्य मुक्ति एवं सारूप्य मुक्ति— ये चारो मुक्तियाँ गौण हैं एवं मात्र बाह्य दु:खों को ही दूर करने वाली हैं। यथार्थ मुक्ति तो सायुज्य मुक्ति ही है।

त्रिकाचार्यों एवं स्पन्दसूत्रकारों ने जीवन्मुक्ति को ही यथार्थ मुक्ति की आख्या दी है। प्रत्यभिज्ञादर्शन 'प्रत्यभिज्ञा' को, पतञ्जलि 'स्वरूपावस्थान' को एवं सांख्य 'कैवल्य' को सर्वोच्च स्तर की मुक्ति मानते हैं; लेकिन आचार्य लक्ष्मीधर (शाक्त) सायुज्य मुक्ति को ही यथार्थ मुक्ति मानते हैं।

आचार्य शंकर कहते हैं कि 'धारणा परिज्ञानान्मुक्ति:' अर्थात् षट्चक्रों में नाद एवं कला के द्वारा वायु का निरोध ही धारणा है और उसके द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है। लक्ष्मीधर कहते हैं कि सायुज्य ही मुक्ति है— 'परं तु सायुज्यात्मिकैव शाश्वती मुक्ति:'।

षट्चत्वारिंश अध्याय

योगसाधनात्मक भगवत्युपासना

तान्त्रिक योग के व्यावर्तक बिन्दुओं में उसकी विशिष्ट साधना ही षट्चक्रों की साधना है और भगवती को उनमें निवास करते हुये प्रतिपादित किया गया है। ललिता-सहस्रनाम में कहा भी गया है—

क. विशुद्धचक्रनिलयाऽऽरक्तवर्णा त्रिलोचना।

ख. अनाहताब्जनिलया श्यामाभवदनद्वया।

ग. मणिपूराब्जनिलया वदनत्रयसंयुता।

घ. स्वाधिष्ठानाम्बुजगता चतुर्वक्त्रमनोहरा।

षट्चक्रभेदन तान्त्रिक योग की क्रिया है। ललिताम्बा इसका उद्भेदन करने वाली कही गई हैं। इसके अतिरिक्त मूलाधारादिक चक्र तो योग-साधना के अङ्गमात्र हैं। भगवती त्रिपुरसुन्दरी का उनसे अभिन्न सम्बन्ध है। षट्चक्र भगवती के शरीराङ्ग हैं; साथ ही उन्हें भगवती का आवास भी कहा गया है। ललितासहस्रनाम में कहा गया है—

मूलाधारैकनिलया ब्रह्मग्रन्थिविभेदिनी।
मणिपूरान्तरुदिता विष्णुग्रन्थिविभेदिनी।
सहस्राराम्बुजारूढा सुधासागराभिवर्षिणी।।

अर्थात् भगवती मूलाधार चक्र, मणिपूर चक्र, आज्ञा चक्र एवं सहस्रार चक्र की निवासिनी; ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि एवं रुद्रग्रन्थि का उद्भेदन करने वाली एवं अमृतसागर की वर्षा करने वाली महाकुण्डलिनी परा शक्ति हैं— 'महाशक्तिः कुण्डलिनी विसतन्तु-तनीयसी'। ललितासहस्रनाम के अनुसार वे कुलामृतैकरसिका, कुलसङ्केतपालिनी, कुलाङ्गना, कुलान्तःस्था, कौलिनी, कुलयोगिनी, अकुला, समयान्तःस्था एवं समयाचारतत्परा भी हैं।

भगवती योग का नादतत्त्व भी हैं; जैसा कि कहा भी गया है— 'नारायणी नादरूपा नामरूपविवर्जिता'। परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी आदि की धारणायें तान्त्रिक योग की धारणायें हैं और तान्त्रिक योग में ही इनकी साधनायें भी हैं।

ललितासहस्रनाम में भगवती त्रिपुरा को परा प्रत्यक्चितीरूपा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरीरूपा देवता कहा गया है—

परा प्रत्यक् चितीरूपा पश्यन्ती परदेवता।
मध्यमा वैखरीरूपा भक्तमानसहंसिका।।

उड्डीयान, जालन्धर, कामाख्या आदि पीठों की धारणायें भी तान्त्रिक योग में ही पाई जाती हैं, न कि पातञ्जल योग में। भगवती को इन पीठों की निवासिनी कहा गया है और

इन पीठों की साधना का निर्देश किया गया है। ललितासहस्रनाम के अनुसार भगवती 'प्राणेश्वरी प्राणदात्री पञ्चाशत्पीठरूपिणी' हैं तथा 'कामेश्वर प्राणनाडी कृतज्ञा कामपूजिता। शृङ्गाररससम्पूर्णा जया जालन्धरस्थिता। ओड्याणपीठनिलया बिन्दुमण्डलवासिनी' भी हैं।

'कौलमार्ग' योगाश्रित मार्ग है और 'कौल' कुण्डलिनीपूजक हैं। भगवती त्रिपुरसुन्दरी उनकी उपास्या हैं। ललितासहस्रनाम में कहा भी गया है— 'कुलकुण्डालया कौलमार्गतत्पर-सेविता'। शक्तिसूत्र में अगस्त्य कहते हैं कि 'अष्टाङ्गयोगैरिष्टार्थसिद्धिः'। आशय यह है कि समस्त इष्टार्थों की सिद्धि अष्टाङ्गयोग से हो जाती है।

तान्त्रिक योगियों की दृष्टि के अनुकूल ही भगवती त्रिपुरा के विषय में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि वे विभिन्न यौगिक चक्रों में विभिन्न आकार वाली विभिन्न देवियों का स्वरूप ग्रहण करके उसमें आसीन हैं। ललितासहस्रनाम में इनका विवेचन निम्न रूप से किया गया है—

विशुद्धचक्र में— विशुद्धचक्रनिलयाऽरक्तवर्णा त्रिलोचना।
खट्वाङ्गादिप्रहरणा वदनैकसमन्विता।।

पायसान्नप्रियात्वक्स्था पशुलोकभयङ्करी।
अमृतादिमहाशक्तिसंवृता डाकिनीश्वरी।।

अनाहतचक्र में— अनाहता निलया श्यामाभा वदनद्वया।
दंष्ट्रोज्वलाऽक्षमालादिधरा रुधिरसंस्थिता।।

कालरात्र्यादिशक्त्यौघवृता स्निग्धौदनप्रिया।
महावीरेन्द्रवरदा राकिण्यम्बास्वरूपिणी।।

मणिपूरचक्र में— मणिपूराब्जनिलया वदनत्रयसंयुता।
वज्रादिकायुधोपेता डामर्यादिभिरावृता।।

रक्तवर्णा मांसनिष्ठा गुडान्नप्रीतमानसा।
समस्तभक्तसुखदा लाकिन्यम्बास्वरूपिणी।।

स्वाधिष्ठानचक्र में— स्वाधिष्ठानाम्बुजगता चतुर्वक्त्रमनोहरा।
शूलाद्यायुधसम्पन्ना पीतवर्णाऽतिगर्विता।।

मेदोनिष्ठा मधुप्रीता बन्दिन्यादिसमन्विता।
दध्यन्नासक्तहृदया काकिनीरूपधारिणी।।

मूलाधारचक्र में— मूलाधाराम्बुजारूढा पञ्चवक्त्राऽस्थिसंस्थिता।

आज्ञाचक्र में— आज्ञाचक्राब्जनिलया शुक्लवर्णा षडानना।
मज्जासंस्था हंसवती मुख्यशक्तिसमन्विता।।

हरिद्रान्नैकरसिका हाकिनीरूपधारिणी।

सहस्रदलपद्म में— सहस्रदलपद्मस्था सर्ववर्णोपशोभिता।
सर्वायुधधरा शुक्लसंस्थिता सर्वतोमुखी।।
सर्वौदनप्रीतचित्ता याकिन्यम्बास्वरूपिणी।

समस्त योगों का मूलाधार प्राणतत्त्व है। प्राणायाम का मेरुदण्ड प्राण ही है। भगवती त्रिपुरसुन्दरी प्राणरूपिणी हैं। ललितासहस्रनाम में कहा भी गया है—

प्रत्यग्रूपा पराकाशा प्राणदा प्राणरूपिणी।

तान्त्रिक योग का परम लक्ष्य शिव-शक्ति का सामरस्यस्थापन है। भगवती त्रिपुरा सामरस्यस्वरूपा हैं— 'सत्यज्ञानानन्दरूपा सामरस्यपरायणा' एवं 'श्रीशिवशिवशक्त्यैक्यरूपिणी ललिताम्बिका'। योगियों ने ज्योतिर्ध्यान, ज्योति:स्वरूप परमात्मा एवं ज्योति-साधना को महत्त्व दिया है। ललितासहस्रनाम में भगवती ललिताम्बा को 'परंज्योति: परं धाम परमाणु: परात्परा' कही गई है।

भैरवयामल में कहा गया है कि 'शिवार्कमण्डलं भित्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम्। तदुद्भूतामृतस्यन्दि परमानन्दनन्दिता। कुलयोषित्कुलं त्यक्त्वा परं वर्षणमेत्य सा' में 'शिवार्क' शब्द में 'शिवा' पद कुण्डलिनी शक्ति है। अर्कमण्डल (हृत्कमल) के ऊपर स्थित ब्रह्मद्वार को रोक कर सहस्रदल कमलस्थित इन्दुमण्डल को कुण्डलिनी डसती है। कुलयोषित् कुण्डलिनी शक्ति है। यह कुण्डलिनी-साधना तान्त्रिक योग की साधना है, जो कि शाक्त परम्परा की प्रधान साधना है।

एक ही परमबिन्दु दश भागों में विभाजित हो गया है—

दशधा भिद्यते बिन्दुरेक एव परात्मक:।
चतुर्धाऽधारकमले षोढाऽधिष्ठानपङ्कजे।
उभयाकाररूपत्वादितरेषां तदात्मता।।

एक ही बिन्दु मूलाधार चक्र में चार एवं स्वाधिष्ठान चक्र में छ: दलों में स्थित होकर दशधा विभक्त हो गया है।

१. मूलाधार चक्र में (जगन्निर्माणात्मक तत्त्व) चारो दलों में मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकाररूप बिन्दुचतुष्टय स्थित हैं।

२. स्वाधिष्ठान चक्र के छ: दलों में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्यरूप षड्बिन्दु (संहृति बिन्दु) स्थित हैं। पतञ्जलि ने कहा भी है— 'स्वाधिष्ठाने संहारषड्बिन्दुकृत:'।

३. मणिपूरक चक्र के दश (मूलाधार के ४ एवं स्वाधिष्ठान के ६) दलों में दश बिन्दु स्थित हैं।

४. अनाहत चक्र के द्वादश दलों में द्वादश बिन्दु स्थित हैं।

५. विशुद्धि चक्र के षोडश (अनाहत चक्र के १२ एवं आधारकमल के ४) दलों में षोडश बिन्दु स्थित हैं।

६. आज्ञा चक्र के (एक आधारचक्र एवं एक स्वाधिष्ठान चक्र वाले) दो दल दो बिन्दु स्थित हैं।

मणिपूरप्रभृति चक्रों से आज्ञा तक के चक्र ४ कमल = मूलाधार स्वाधिष्ठानप्रकृतिक चक्र।[१]

यद्यपि कौल द्विकानुसन्धान के फलस्वरूप षट्कमलानुसन्धान का फल प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु षड्विधैक्य के अभाव में मणिपूर में देवी का सान्निध्य प्राप्त नहीं होता। समयमार्गी चतुष्कानुसन्धान से ही कारणभूत कमलद्वय के अनुसन्धान से भगवती का सान्निध्य प्राप्त कर लेते हैं।

'धारणा' कमलों में वायु का नादकला द्वारा निरोध है। लक्ष्मीधर ने कहा भी है— 'धारणा नाम वायोः कमलेषु नादकलाभ्यां निरोधः'। वह छः कमलों में छः प्रकार से एवं सातवें कमल में सप्तविध है। एक-एक कमल में ५० और सब मिलाकर ३६० धारणायें हैं। धारणा के परिज्ञान से मुक्ति मिलती है— 'धारणापरिज्ञानान्मुक्तिः'। इन धारणाओं का सविस्तर विवेचन सुभगोदय में द्रष्टव्य है।

श्रीचक्रोपासना में योग के समस्त (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, सहस्रार आदि) चक्रों के साथ तादात्म्यभाव की कल्पना करनी पड़ती है। ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि एवं रुद्रग्रन्थि (योगदर्शन के प्रतिपाद्य विषय) का भी उद्भेदन करना पड़ता है। योगदर्शन-प्रतिपादित वाक्चतुष्टय (परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी) की श्रीविद्या के जप-विधान में साधना करनी पड़ती है और उन्हें श्रीविद्या, श्रीचक्र एवं श्रीदेवी में अवस्थित मान कर साधना करनी पड़ती है।

षट्चक्रभेदन का वर्णन पतञ्जलि के योगशास्त्र में कहीं भी नहीं है। यह तान्त्रिक योग की साधना है; किन्तु श्रीविद्या एवं श्रीचक्र की उपासना में उसकी सर्वत्र साधना करनी पड़ती है। 'अजपा जप' एवं 'मन्त्रयोग' पतञ्जलि के योग में कहीं भी उल्लखित नहीं है, किन्तु तान्त्रिक योग में है। भगवती की श्रीविद्यात्मक एवं श्रीचक्रात्मक साधना में उसकी भी साधना करनी पड़ती है और समस्त पिण्डस्थ एवं श्रीविद्या के नव चक्रों में इसकी 'हंसः' 'सोऽहं' की कल्पना करनी पड़ती है।

'प्राणायाम' का 'प्राणापानयोग' पतञ्जलियोग की तो नहीं, किन्तु तान्त्रिक योग की साधना अवश्य है और इसकी श्रीविद्या की उपासना में पद-पद पर आवश्यकता पड़ती है; क्योंकि शाक्तसाधना चरमोद्देश्य शक्ति का आयत्तीकरण या सुषुप्त शक्ति का जागरण हैं। चूँकि प्राणों के आयाम— प्राणापान योग के विना यह सम्भव ही नहीं है; अतः यह सुस्पष्ट है कि प्राणायाम की यौगिक साधना की भी श्रीविद्या की उपासना में पुष्कल महत्ता है।

'भूतशुद्धि' पतञ्जलि के राजयोग की तो नहीं, किन्तु तान्त्रिकयोग की एक अपरिहार्य

---

१. लक्ष्मीधरा

साधना है। श्रीविद्यासम्प्रदाय की साधना में इसका भी अत्यधिक महत्त्व है; क्योंकि जब तक पञ्चभूतों पर विजय नहीं की जाती, तब तक शक्ति (कुण्डलिनी शक्ति) का ऊर्ध्वारोहण होता ही नहीं। जब तक कुण्डलिनी शक्ति की ऊर्ध्व यात्रा सम्पन्न नहीं होती, तब तक चक्रगत मलिन वासनाओं का उन्मूलन नहीं होता और चक्रस्थ शक्तियों का जागरण न होने के कारण आत्मशक्ति का विकास भी नहीं होता। चिद्रश्मि का स्फार ही तो अन्त में आत्मजागृति के रूप में अवतरित होता है; अत: षट्चक्रवेधन, ग्रन्थित्रय का उद्भेद, वाक्चतुष्टय का विस्फोट, नादोत्थान, नादानुसन्धान, अजपा जप, धारणा, ध्यान, समाधि, आदि तत्त्वों का सन्निवेश श्रीसम्प्रदाय के दर्शन (दार्शनिक चिन्तन) एवं उपासना दोनों में सन्निविष्ट हैं।

हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग, अमनस्कयोग, हंसयोग, शून्ययोग, प्राणापान (गंगा-जमुना) योग, राजाधिराजयोग आदि समस्त योगशैलियाँ श्रीसम्प्रदाय के दार्शनिक चिन्तन एवं उपासना— दोनों में अन्तर्भुक्त हैं।

कुण्डलिनी शक्ति का भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का मूलाधार में सुषुप्त स्वरूप एवं महाकुण्डलिनी को सहस्रार में उनका जाग्रत् स्वरूप मानकर तथा कुण्डलिनी को वर्णात्मिका, नादात्मिका, मन्त्रात्मिका, चक्रात्मिका, श्रीविद्यात्मिका, चिदात्मिका मानकर श्रीसम्प्रदाय के योगियों ने योग की समस्त साधनाओं को अङ्गीकृत करके योग को पातञ्जल योग के चित्तवृत्तिनिरोधात्मक योग से पृथक् एक नया स्वरूप— कुलाकुल-सामरस्यात्मक, शिव-शक्ति-ऐक्यात्मक, सर्वचिन्मयात्मक, सर्वशिवशक्त्यात्मक— प्रदान किया।

सप्तचत्वारिंश अध्याय

हवनादि तत्त्व और भगवती की उपासना

(भगवती की प्रतीकात्मक पूजा)

स्वच्छन्दतन्त्र (२.१५४) में इस होम के स्वरूप का विवेचन इस प्रकार किया गया है—

एवं हृदयम्बुजावस्थो यष्टव्यो भैरवो विभुः।
स बाह्याभ्यन्तरं कृत्वा पश्चाद्यजनमारभेत्।।

योगिनीहृदयदीपिका में भी होम के इसी प्रतीकार्थ को ग्रहण करके कहा गया है—

धर्माधर्महविर्दीप्ते आत्माग्नौ मनसा स्रुचा।
सुषुम्णावर्त्मना नित्यमक्षवृत्तीर्जुहोम्यहम्।।

नो दानैस्तर्पणैः सम्यग् विशुद्धैरमृतात्मभिः।
मदहन्तां करोमीदं विश्वं हव्यपुरस्सरम्।।

विज्ञानभैरव में भी कहा गया है—

महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतना स्रुचा।।

'महाशून्य' अर्थात् शून्यातिशून्य पदवी (महामाया शक्ति) का परभैरवस्वरूप जिस वह्नि में विलय हो जाता है, उस बोधभैरवरूप अग्नि में पञ्चमहाभूत, इन्द्रियाँ, उनके विषय, भुवनतत्त्व आदि की मन के साथ आहुति देना ही यथार्थ 'हवन' या 'होम' है। यह अद्भुत हवि चितिनामक पात्र में रखकर दी जाती है। इस चेतना में ही समस्त जागतिक पदार्थों को रखकर उनको बोधभैरवरूप अग्नि में लीन कर दिया जाता है, जिससे कि मात्र शुद्ध स्वात्मस्वरूप शेष रह जाता है और यही है— वास्तविक होम। सुभगोदय में कहा भी गया है—

पराहन्तामये संविदग्नौ संवेद्य तर्पणे।
इदन्तालक्षणां हव्यं जुहुयादबहिमुखः।।

भाव यह कि पराहन्तास्वरूप संविदग्नि में इदन्तारूप हव्य का हवन किया जाना ही यथार्थ हवन है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।

भगवान् श्रीकृष्ण ने भी यथार्थ होम का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया था—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।

महार्थोदय में भी कहा गया है कि—

> अथ हव्यमिदन्ताख्यं हावं हावं स्वचिन्मुखे।
> उल्लङ्घ्य मायामालिन्यं.................................।।

विज्ञानभैरव में कहा गया है कि समाधि में अनुभूत आनन्द से उत्पन्न सन्तुष्टि ही योग है—

> योगोऽत्र परमेशानि तुष्टिरानन्दलक्षणा।
> क्षपणात्सर्वपापानां त्राणात्सर्वस्य पार्वति।।

'आसन' क्या है? इस विषय में योगिनीहृदय में कहा गया है कि क्षिति से शिव-पर्यन्त ३६ तत्त्व ही 'आसन' हैं। चैतन्य की रश्मियों के आधार होने के कारण श्रीचक्र ही आसन है। श्रीपराक्रम में कहा भी गया है—

क. षट्त्रिंशत्तत्त्वपर्यन्तमासनं परिकल्प्य च।

ख. हृत्सरोजान्तरे ध्यायन् पृथिव्यादि शिवान्तिकम्।
गुप्तादिवातकुसुमक्षेपेणाऽसनतां नयेत्।।

उपासना की निष्पत्ति अर्थात् प्रत्यगात्मत्व की प्राप्ति। आचार्य अगस्त्य शक्तिसूत्र में कहते हैं कि 'अहन्ता प्रकृतिः। प्रथमं प्रकृतिं मनसा विभाव्य तामपि स्वात्मनि स्वात्मानं तस्यां मिथो विलाप्य तत एकोऽवशिष्यते। मुक्तः शुद्धः पूर्णः प्रत्यगात्मैव भवति'।

षष्ठ परिच्छेद

(अध्याय : ४८-६३)

उपासना के मुख्य अङ्ग और उनका यथार्थ स्वरूप

* उपासना (पूजा) के मुख्याङ्ग और उनका यथार्थ स्वरूप *
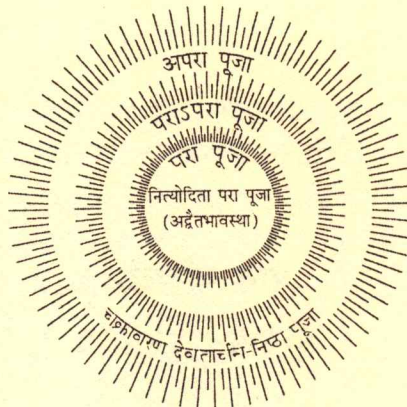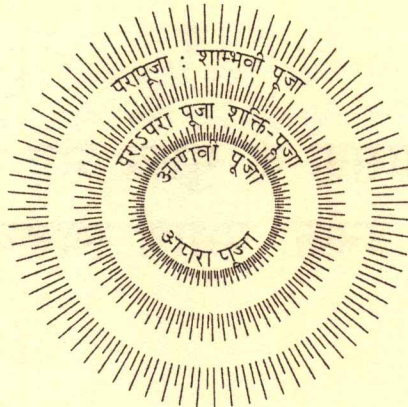
॥ श्रीः ॥

षष्ठ परिच्छेद

उपासना के मुख्य अङ्ग और उनका यथार्थ स्वरूप

एवं मुहूर्त्तत्रयं भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति, तस्य देवताऽऽत्मैक्यसिद्धिः।

(भावनोपनिषत्)

१. इत्येकं परं ब्रह्मरूपं सर्वभूताधिवासं तुरीयं जानीते सोऽक्षरे परमे व्योमन्यधिवसति।

२. एतां तुरीयां श्रीकामराजीयामेकादशधा भिन्नामेकाक्षरं ब्रह्मेति यो जानीते स तुरीयं पदं प्राप्नोति।

३. निष्कलं निश्चलं शान्तं ब्रह्माहमिति संस्मरेत्।

४. न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।

५. यदा यात्यमनीभावस्तदा तत्परमं पदम्। (त्रिपुरातापिन्युपनिषत्)

६. स ब्रह्म पश्यति, स सर्वं पश्यति, सोऽमृतत्वं गच्छति।

(त्रिपुरातापिन्युपनिषत्)

७. प्रथमं प्रकृतिं मनसा विभाव्य तामपि स्वात्मनि स्वात्मानं तस्यां मिथो विलाप्य तत एकोऽवशिष्यते। मुक्तः शुद्धः पूर्णः प्रत्यगात्मैव भवति प्रत्यगात्मैव भवति।

(अगस्त्य-शक्तिसूत्र)

८. इयं हयग्रीवविद्या ब्रह्मैक्यदायिनी। (हयग्रीव-शाक्तदर्शनम्)

९. विदिता येन स मुक्तो भवति महात्रिपुरसुन्दरीरूपः। (कामकलाविलास)

१०. चिदानन्दलाभे देहादिषु चैत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः।

(प्र० ह०-शक्तिसूत्र)

११.समाधि संस्कारवति व्युत्थाने भूयो भूयश्चिदैक्यामर्शान्नित्योदितसमाधिलाभः; तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रविर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात् सदा सर्वसर्गसंहारकारिनिजसंविद्देवताचक्रेश्वरताप्राप्तिर्भवतीति शिवम्। (शक्तिसूत्र)

▼

उपासना के मुख्य अङ्ग और उनका यथार्थ स्वरूप

शाक्तोपासना अद्वैतोपासना है। अन्य उपासनायें द्वैतमूलक हैं; अत: वहाँ उपासना एवं साधना अपनी द्वैतमूलक दृष्टि के कारण जो अर्थ देती है, वही अर्थ एवं वही दृष्टि शाक्तोपासना में नहीं है। उन भक्ति-सम्प्रदायों में भक्ति विना भेद के सञ्चरित ही नहीं हो सकती; अपितु शाक्तोपासना में अद्वैत भक्ति की भी धारणा है। श्रीसम्प्रदाय में भी शाक्तोपासना के सारे आदर्श एवं समस्त अद्वैतमूलक दृष्टियाँ स्वीकृत हैं। शाक्तोपासना की दृष्टि को हृदयङ्गम करने के लिये उपासना एवं उसके समस्त अंगों के विषय में जो शाक्त दृष्टि है, उसे एवं उसके व्यावर्त्तक बिन्दुओं को भी पृथक् रूप से जान लेना आवश्यक है, जिससे कि शाक्तोपासना के अङ्गभूत मन्त्र, जप, ध्यान, पूजा, देवता, न्यास आदि तत्त्वों को शाक्तोपासना के सन्दर्भ में समझकर उसकी उपासना-पद्धति और विशेषताओं से अभिज्ञता प्राप्त की जा सके। इसी प्रयोजन से इस अध्याय को पृथक् रूप से जोड़ा गया है और इसमें देवतातत्त्व, पूजातत्त्व, भावतत्त्व, गुरुतत्त्व, दीक्षातत्त्व, प्राणतत्त्व, मन्त्रतत्त्व, जपतत्त्व, ध्यानतत्त्व, न्यासतत्त्व, पीठतत्त्व आदि की मीमांसा की गई है; साथ ही शाक्तोपासना में गृहीत योगसाधना, ज्ञानसाधना एवं भक्तिसाधना पर भी प्रकाश डाला गया है।

शाक्तोपासना में 'भाव कुभाव अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।।' के आदर्श को लेकर नहीं चला गया है। यहाँ साधना, उपासना, पूजा एवं भक्ति के अपने पृथक् आदर्श हैं। यहाँ गौणी, अपरा एवं वैधी भक्ति अधमाधमा भक्ति मानी जाती है और नारद की प्रेमा भक्ति, भावभक्ति मान्य है, जो परम प्रेमरूपा एवं अमृतस्वरूपा है— 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।।२।। अमृतस्वरूपा च।।३।।' और जिसे पाकर साधक सिद्ध, अमृत, तृप्त, नि:स्पृह, आप्तकाम तो हो ही जाता है; साथ ही—

१. यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति।।५।।
२. यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति।।६।।
३. यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।।४।।

(नारदभक्तिसूत्र)

४. न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्।।

(श्रीमद्भागवत-११.१४.१४)

इसके अतिरिक्त इस भक्ति, उपासना एवं साधना में—

५. 'अहं देवी न चान्योऽस्मि' का देहात्मविरोधी आत्ममूलक एवं अद्वैत संवित्

परामर्श तथा देवी के साथ अभेदात्मक सामरस्य भी अन्तर्निहित है।

६. यहाँ यह तो मान्य है कि—

ज्ञानस्य परमा भूमिर्योगस्य परमा दशा।
त्वद्भक्तिर्या विभो कर्हि पूर्णा मे स्यात्तदर्थिता।। (शिवस्तोत्रावली)

तथापि यह अभेद दृष्टि भी स्वीकृत है कि—

क्वचिदेव भवान् क्वचिद्भवानी सकलार्थक्रमगर्भिणी प्रधाना।
परमार्थपदे तु नैव देव्या भवतो नापि जगत्त्रयस्य भेदः।।

शाक्तोपासना की सूक्ष्म एवं तात्त्विक दृष्टि के कारण ही यहाँ—

१. तन्मयभाव से वस्तु का अर्पण ही पूजा है।

२. पदार्थों में सार्वरूप्य का अनुसन्धान ही ध्यान है।

३. साधक का स्वात्मविमर्श ही जप है।

४. ऐकात्म्यानुभूति के कारण वस्तु एवं परमात्मा के भेदरूप हविष्य का अर्पण ही होम है।[१]

१. अभिनवगुप्तपाद : तन्त्रालोक (१२ आह्निक)

अष्टाचत्वारिंश अध्याय

पूजातत्त्व और त्रिपुरोपासना

शाक्तोपासना मूलत: ज्ञान-प्रधान अद्वैतोपासना है, अद्वैत भाव की साधना है, सामरस्य का प्रयास है और 'अहं देवी न चान्योऽस्मि' की अभेदमूलक अनुभूति का अखण्ड अभ्यास है; अत: शाक्तोपासना के मार्ग में पूजा का अपना विशिष्ट स्वरूप भी है।

पूजा का लक्ष्य 'महाभाव' की प्राप्ति है। महाभाव ही पशुभाव, वीरभाव एवं दिव्य भाव में परिणत हो जाता है। इन परिणत भावों में दिव्य भाव ही श्रेष्ठतम भाव है। दिव्य भावापन्न पूजा ही आदर्श पूजा है।

दिव्य भाव द्वारा साधक भावातीतावस्था और गुणातीतावस्था में पहुँच जाता है। यह परिपक्व ज्ञानावस्था है। साधक, साध्य एवं जगत्— इन तीनों में ऐकात्म्य भाव का दर्शन करना, अपने शरीर के प्रत्येक अंग एवं विश्व के प्रत्येक अंश में इष्टदेवता के अवस्थान का साक्षात्कार करना और 'साऽहं' की अनुभूति में लय हो जाना ही दिव्य भाव है और इसी दिव्य भाव के अमृत से आर्द्र पूजा को यथार्थ पूजा माना गया है।

भाव-सम्बन्ध से पूजा के तीन स्तर कहे जा सकते हैं—

१. तमोगुणी साधक : पशुभाव की पूजा।

२. रजोगुणी साधक : वीरभाव की पूजा।

३. सतोगुणी एवं गुणातीत साधक : दिव्य भाव की पूजा।

दिव्य भाव का साधक गुणातीत परब्रह्म में लीन होकर ब्रह्मीभूत स्थिति में अवस्थित रहता है। यही पूजा का आदर्श भी है। शाक्तोपासना में भक्ति एवं ज्ञान अभिन्न हो जाते हैं।

शाक्तोपासना के मुख्यत: तीन भेद हैं और तीन आचार हैं— कुलाचार, मिश्राचार एवं समयाचार। इन तीनों में पूजा का वही अद्वैत भावापन्न स्वरूप ही आदर्श माना गया है। भगवती की पूजा का वरेण्य स्वरूप यही है।

आचार्य महेश्वरानन्द की दृष्टि— आचार्य महेश्वरानन्द ने महार्थमञ्जरी में पूजा के उपर्युक्त स्वरूप का ही प्रतिपादन किया है। महेश्वरानन्द कहते हैं—

'णिअ बलणि भालणच्चिअ वरिवस्सा सा अ दुल्लभा लोए।' अर्थात् 'निज बल निभालन' (आत्मशक्ति की प्रत्यभिज्ञा या आत्मशक्ति का साक्षात्कार) ही वरिवस्या (पूजा) है। इस पूजा में आत्मबल ही मन्त्र है। पूजा में ४ तत्त्वों का प्रयोग होता है— चार, राव, चरु और मुद्रा— 'चाररावचरुभिर्विभेदितैर्मुद्रया च यदुपासनम्'।

श्रीचिद्गगनचन्द्रिका में पूजा के ये ही चार मुख्यांग (मुख्य तत्त्व) बताये गये हैं।

(चार = समयाचार, राव = विमर्श, चरु = द्रव्य, मुद्रा = अङ्गन्यासादि अङ्ग)।

इन चारो पूजाङ्गों में राव या विमर्श ही पूजा का विशेषाङ्ग है— 'तत्र चतुर्ष्वपि पूजाक्रमेषु प्राधान्येन राव एवोपयुज्यते'। इसीलिये महेश्वरानन्द कहते हैं कि 'स्वस्वरूप-परामर्श ही परमा पूजा है'— तस्मात्स्वस्वरूपपरामर्श एव परमा पूजा'। गन्ध, पुष्प, दीपादि तो आडम्बरमात्र हैं— 'गन्धपुष्पधूपदीपादि आडम्बरमात्रमिति'। इस पूजा में देवता कौन है? 'स्वहृदयस्फुरत्तारूपः परमेश्वर एव देवता' अर्थात् अपने हृदय में स्फुरत्तारूपा जो महासत्ता स्थित है, वही देवता है।

श्रीपादुकोदय में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है—

पूजा च स्वात्मभावेन देशिकेन्द्रविमर्शनम्।

श्रीमत् ऋजुविमर्शिनी में भी कहा गया है— 'पूजा विश्वस्य वेद्यस्य चिद्भूमिविश्रान्तिः' अर्थात् वेद्यरूप विश्व की चिद्भूमि में चिर विश्रान्ति ही पूजा है।

आचार्य महेश्वरानन्द कहते हैं कि सामान्य जनों की पूजा तो अत्यन्त सरल और सर्वसुलभ है; क्योंकि यह ताम्बूल, गन्ध, पुष्प आदि बाह्य द्रव्यों के समर्पण से अनुष्ठित होती है; किन्तु आत्मबल के निभालन से की जाने वाली पूजा दुर्लभ है और वही यथार्थ पूजा है—

निजबलनिभालनमेव वरिवस्या सा च दुर्लभा लोके।
सुलभानि विश्वपतेरासवताम्बूलगन्धपुष्पाणि।।

दवाग्नि को दीपक दिखाकर उसे प्रकाशित करना, बादलों को झरने के जल दिखा कर उन्हें तृप्त करना और आँधी को आँचल के पंखे की हवा से पंखा झलना जिस प्रकार व्यर्थ है, उसी प्रकार पूर्णतम एवं पूर्णकाम को भौतिक पदार्थों का नैवेद्य अर्पित करना भी है—

दीपार्पणं दवाग्नेः पर्जन्यस्य प्रपाजलोद्धारः।
वात्यायाश्च पटाञ्चलवीजनमेतत्तवाद्य नैवेद्यम्।।

ऋजुविमर्शिनी के अनुसार तो निर्विकल्प महाव्योम में की गई पूजा ही यथार्थ पूजा, न कि पुष्पादि से अनुष्ठित पूजा— 'निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः'। यह पूजा स्वात्मविलय नामक स्वविश्रान्ति लक्षण वाले स्वपरामर्श में पर्यवसित होती है। यह वह पूजा है, जहाँ कि द्वैतदृष्टिरूप जंगल ही (यज्ञ का) इन्धन है और मृत्यु ही वधार्थ लाया गया महापशु है—

यत्रेन्धनं द्वैतवनं मृत्युरेव महापशुः।
अलौकिकेन यज्ञेन तेन नित्यं यजामहे।।

महानयपद्धति में कहा गया है कि परम निरावरणस्वरूप आत्मा में साधक का जो दृढ़ परामर्श है, वही पूजन है—

परमनिरावरणात्मनि रूपे यो दृढ़तर: परामर्श:।
पूजनमेतदितीत्थं प्रभुणा निरणायि यद्यपि प्रकृतम्।।

परा पूजा ही यथार्थ पूजा है।

षट्त्रिंशोपचारानुगत भगवत्युपासना— यद्यपि किसी देवता की पाँच उपचारों से और किसी की १६ उपचारों से पूजा की जाती है; किन्तु भगवती त्रिपुरसुन्दरी की पूजा ३६ उपचारों से की जाती है।

तान्त्रिक पूजा का परमादर्श क्या है? यह भी विवेच्य है। तान्त्रिक साधना की दृष्टि से पूजा और जप किया जाय तो पूजातत्त्व का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेने पर साधक अपने शिवत्व का अनुभव करके जीवन्मुक्ति के आनन्द का आस्वादन कर सकता है। तन्त्रशास्त्र में देवी की पूजा को साधारणत: उत्तम, मध्यम एवं अधमरूप तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है। इन प्रकारों में से उत्तम पूजा 'परा पूजा', मध्यम पूजा 'परापरा पूजा' एवं अधम पूजा 'अपरा पूजा' कही गई है। यह भी सत्य है कि अपरा पूजा (अधम पूजा) से भी निम्न कोटि की पूजा होती है। व्यवहार में प्रयुक्त पूजा 'अधमाधम पूजा' का प्रकार है।

वर्त्तमान काल में हममें से अधिकांश लोग भगवत्पूजा की अधम कोटि की पूजा के भी अधिकारी नहीं हैं। कारण यह है कि कुण्डलिनी शक्ति की सुषुप्ति को भंग किये विना जीव अनादि माया से आवृत्त ही रहता है; अत: उसे अधम पूजा में भी प्रवेशाधिकार प्राप्त नहीं हो पाता।

शाक्त पूजा-पद्धति में परा पूजा ही यथार्थ पूजा है। सुषुप्ता कुण्डलिनी शक्ति जब तक जाग नहीं जाती, तब तक चिन्मय सूक्ष्म जगत् में प्रवेश नहीं हो पाता और उसका द्वार भी नहीं खुल पाता। कुण्डलिनी ने ब्रह्मद्वार को ढक रक्खा है। समस्त बाह्म साध-नायें द्वारमुक्ति की प्रयत्नमात्र हैं। निम्न कोटि की पूजा परम पूजा का अधिकार पाने के सोपानमात्र हैं।

पूज्य कौन है? जगत् की सृष्टि करने वाला, जगत् को अपने भीतर स्थित रखने वाला एवं प्रलयकाल में जगत् को अपने भीतर समेट लेने वाला परम तत्त्व ही पूज्य है और वह परम तत्त्व है— शक्ति। परम शिव की स्वरूपभूता 'विमर्श' नाम्नी जो परा शक्ति है, वही पूज्य है; क्योंकि उसके विना तो प्रकाशस्वरूप परम शिव भी प्रकाशित नहीं हो सकते—

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाश: प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।।

श्रीचक्र में भगवती त्रिपुरसुन्दरी की पूजा— त्रिपुरतापिन्युपनिषत् में भगवती त्रिपुरा का यन्त्र में पूजा करने का विधान इस प्रकार बताया गया है—

श्रीचक्र के नाभिमण्डल में स्थित अग्निमण्डल में सूर्य, चन्द्र एवं ॐकारपीठ की पूजा करके वहाँ बिन्दु-स्थित व्योमरूपिणी चित्सामान्यरूपिणी परमा विद्या का स्मरण करके और महात्रिपुरसुन्दरी का आवाहन करके—

क्षीरेण स्नापिते देवि ! चन्दनेन विलेपिते।
बिल्वपत्रार्चिते देवि ! दुर्गेऽहं शरणं गतः।।

इस मन्त्र से प्रार्थना करके मायालक्ष्मीमन्त्र से उनकी पूजा करनी चाहिये।

इस मन्त्र से भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का यजन करना चाहिये। इस प्रकार पूजा करने से देवी प्रसन्न होती है और दर्शन देती है। ऐसा यजन-कर्त्ता ब्रह्म-दर्शन करता है। वह सबका दर्शन करता है और अमृतत्व प्राप्त करता है—

'एतैर्मन्त्रैर्भगवतीं यजेत्। ततो देवी प्रीता भवति, स्वात्मानं दर्शयति। तस्माद्य एतैर्मन्त्रैर्यजति स ब्रह्म पश्यति, स सर्वं पश्यति, सोऽमृतत्वञ्च गच्छति'।[१]

यथार्थ पूजा तो ब्रह्मसद्भाव है, शिव में लय है, तत्त्वचिन्ता है और अद्वैतभाव में अवस्थान की सहजावस्था है। सारांश यह कि—

१. कोटि पूजा के तुल्य एक 'स्तोत्र' है।
२. कोटि स्तोत्रों के तुल्य एक 'जप' है।
३. कोटि जपों के तुल्य एक 'ध्यान' है।
४. कोटि ध्यानों के तुल्य एक 'लय' है। कहा भी है—

पूजाकोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमो जपः।
जपकोटिसमं ध्यानं ध्यानकोटिसमो लयः।।

उत्तम साधना—

१. तत्त्वचिन्ता ही 'उत्तम' साधना है।
२. जपचिन्ता 'मध्यम' साधना है।
३. शास्त्रचिन्ता 'अधमाधमा' साधना है—

उत्तमा तत्त्वचिन्ता स्याज्जपचिन्ता तु मध्यमा।
शास्त्रचिन्ताऽधमा ज्ञेया लोकचिन्ताऽधमाऽधमा।।

१. अवस्थाओं में सहजावस्था ही उत्तमावस्था है।
२. जपस्तुति अधमावस्था है।
३. होम-पूजा अधमाधमा पूजावस्था है—

उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा।
जपस्तुतिः स्यादधमा होमपूजाऽधमाऽधमा।।

उपासनाओं के स्तरों में—

---

१. त्रिपुरतापिन्युपनिषत् (तृतीयोपनिषत्)

१. उत्तम स्तर ब्रह्मसद्भाव है।
२. मध्यम स्तर ध्यानभाव है।
३. स्तुति एवं जप का स्तर अधम है।
४. अधमाधम स्तर है— बाह्यपूजा। कहा भी है—

उत्तमो ब्रह्म सद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोऽधमोभावो बाह्यपूजाऽधमाऽधमा।।

परम शिव के साथ अपनी अभेद भावना ही परापूजा है। द्वैतभावशून्य अपनी स्वरूपमहिमा में जो अपनी स्थिति है, वही यथार्थ पूजा है— 'स्वे महिम्न्यद्वये धाम्नि सा पूजा या परा स्थितिः'।[1] जो अद्वैत स्थिति है, वही परम शिवरूपी आत्मा की स्वमहिमा में है और वही अपनी अद्वैत स्थिति 'परापूजा' का स्वरूप है। साधक जब अपने को परिच्छिन्न 'सकल' (जीव) प्रमाता न मान कर 'परप्रमाता' के रूप में अनुभव करने लगता है, तभी वह शक्ति का श्रेष्ठ उपासक माना जाता है।

चिद्गगनचन्द्रिका में चार प्रकार का पूजा-विधान निर्दिष्ट हुआ है— चार, राव, चरु और मुद्रा। इनमें से श्रेष्ठ पूजा 'राव' को ही माना गया है। अपनी आत्मशक्ति या विमर्श को ही राव कहा गया है। चार, चरु और मुद्रा— ये क्रमशः आचारविशेष, द्रव्यविशेष एवं मूर्ति या वेशविशेष के पर्याय हैं और राव के ही उपकारक साधन हैं। राव अपने स्वरूप की अपरोक्षानुभूति का ही पर्याय है। इसे ही 'निजबलनिभालन' भी कहा गया है अर्थात् साधक की अपने हृदय की स्फुरत्ता ही देवतातत्त्व या परमेश्वर है। विश्वविक्षोभ की जो सहिष्णुता साधक में अभिन्न रूप में स्थित है, वही विमर्श शक्ति या बल है। उसकी आलोचना करना ही पूजा का रहस्य है। यह आत्मविमर्श या जीवन्मुक्ति ही भगवती की परा पूजा है।

संविदुल्लास में कहा गया है कि 'हे शम्भो ! तुम्हारे भक्तों के लिये विश्व ही तुम्हारी मूर्त्ति है, वैखरी वाणी ही तुम्हारी नाममाला है, स्वैरचार ही पूजा है, स्वेच्छा ही शास्त्र है और अपना स्वभाव ही मोक्ष है—

विश्वं मूर्त्ति वैखरी नाममाला यस्यैश्वर्यं देशकालातिलङ्घि।
त्वद्भक्तानां स्वैरचार्यः सपर्या स्वेच्छाशास्त्रं स्वस्वभावश्च मोक्षः।।

अर्थात् हे परमात्मा ! तुम्हारा ऐश्वर्य देश-काल द्वारा अनतिक्रम्य एवं अपरिच्छिन्न है—'यस्यैश्वर्यं देशकालातिलङ्घि'।

परा पूजा— यह पूजा की दुर्लभावस्था है। आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि संसार-चक्र से मुक्तप्राय एवं चित् शक्ति की अनुकम्पा का पात्र कोई महापुरुष ही इस पूजारहस्य को प्राप्त कर पाता है।

---

१. सङ्केतपद्धति

शंकराचार्य की परा पूजा का स्वरूप इस प्रकार है—

यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।

ऋजुविमर्शिनी में कहा गया है कि गुरु की अपने आत्मा के रूप में भावना करना ही पूजा है। यह भी कहा गया है कि निर्विकल्प महाकाल में सादर लयीभाव प्राप्त करना ही पूजा है।

परा पूजा अद्वैत भावापन्न पूजा है। इसमें सम्पूर्ण इन्द्रिय-व्यापारों का आश्रय लेकर पूजा की जाती है। इस विशिष्टावस्था में बाहर या भीतर किसी भी विषय में मन की प्रवृत्ति होने पर भी उनमें संस्कार निर्मित नहीं होते; क्योंकि परमेश्वर की चैतन्य शक्ति ही इन्द्रियपथों द्वारा विषयों के रूप में प्रवाहित होती है। इस अवस्था के आयत्तीकरण से विषयों से अचित् भाव नष्ट हो जाता है और सर्वत्र अखण्ड चैतन्य की अद्वैतानुभूति होने लगती है और यही शाक्तों की परा पूजा है।

मध्यम या परापर पूजा— अद्वैतानुभूति अपने विशुद्ध स्वरूप में नहीं होती। फिर होती है। 'बाह्य जड़ पदार्थ आभ्यन्तरिक चिन्मयस्वरूप में या अद्वैतरूप में विलीन होते जा रहे हैं'— बाह्य पदार्थों के विषय में यह भावना ही मध्यम पूजा है। इस पूजा में अचिद् वस्तु चिद्वस्तु में लय हो जाता है। इसमें भावना प्रधान है; किन्तु परा पूजा में भावना भी अनावश्यक हो जाती है।

तन्त्रालोक में कहा गया है कि इन्द्रिय विशेष में स्थित मन की जो आह्लाद वृत्ति है, उसे ब्रह्म से जोड़ देना ही पूजा है।

अपरा पूजा— अधम पूजा या अपरा पूजा निम्न कोटि की पूजा का स्तर है। यह भेदज्ञान अर्थात् द्वैतभावापन्न पूजा की पद्धति है। सामान्य साधक इसी बाह्य पूजा से पूजा का आरम्भ करता है। चक्र पूजा को ही लें। सभी चक्रों का आरम्भ चतुष्कोण (मूलाधार चक्र) से एवं अन्त बिन्दु (सहस्रार) में होता है। सारे चक्र वासनाओं के विकास के विकासमात्र हैं। चक्रपूजा में अपने इष्टदेवता के आवरण के रूप में सभी देवों की पूजा की जाती है और यही है— अपरा पूजा। स्वयं परमेश्वर भी सर्वज्ञ होने पर भी महाशक्ति की अपरा पूजा करते हैं। इसी पूजा से अभेदज्ञान (यथासमय) प्रादुर्भूत हो जाता है।

इसी पूजा से साधक धीरे-धीरे मध्यम पूजा का अधिकार प्राप्त करते हैं। आवरणार्चनस्वरूपा, कर्मात्मिका, बाह्यमुखी इस अपरा (अधम) पूजा की भेदमयी दृष्टि ही क्रमशः ज्ञान एवं अद्वैत बोधस्वरूप में लयभाव प्राप्त कर लेती है। कर्म ज्ञान का स्वरूप धारण कर लेता है। यही मध्यम पूजा का आरम्भ या सूचना है। मध्यम पूजा क्या है?

जिस प्रकार अग्नि में घृताहुति प्रदान की जाती है, उसी प्रकार साधक मध्यम पूजा में अपनी विकल्पात्मक प्रकृति एवं स्वभाव को परमेश्वर की परम ज्योति में आहुति के रूप में निक्षिप्त कर देता है। इस साधना की परिपक्वावस्था में परा पूजा के द्वार अपने-

आप खुलने लगते हैं। शिवरूपी परम गुरु जब प्रसन्न होते हैं, तब सभी तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं और सभी कुछ चिदात्मक रूप में अनुभूत होने लगता है।

परमेश्वर के साथ अद्वैतभाव की अनुभूति और तत्परिणाम से स्वाभाविक परम आनन्दोल्लास ही परापूजा का स्व-स्वरूप है।

कहा गया है कि स्वयं भगवान् शिव ने अपने को ही गुरु एवं शिष्य के रूप में विभाजित करके पार्वती को शिष्य एवं अपने को शास्ता (गुरु) के रूप में प्रस्तुत करते हुये ज्ञानपयस्विनी को प्रवाहित किया। इससे सिद्ध होता है कि 'ज्ञान' स्वयं शिव है, 'गुरु' ज्ञानस्वरूप है और 'शिष्य' भी ज्ञानस्वरूप है; अत: पूजा का आदर्श यही होना चाहिये कि वह अखण्ड, अद्वैत तथा चिदानन्दमय ज्ञान एवं सच्चिदानन्द परम शिव के साथ अद्वैत भाव प्राप्त करे; क्योंकि यही यथार्थ ज्ञान की चरितार्थता है और यही आदर्श पूजा है। इस परा पूजा में ही सप्तविध सामरस्य भी निहित रहते हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. आत्मा में सामरस्य
२. मन्त्र में सामरस्य
३. नाड़ियों में सामरस्य
४. शक्ति में सामरस्य
५. व्यापिनी में सामरस्य
६. समना में सामरस्य
७. तत्त्व में सामरस्य

उन्मना में प्रवेश से इन सप्तविध सामरस्यों से अन्तिम सामरस्य प्राप्त होता है। तत्त्व में सामरस्य ही सर्वोत्कृष्ट सामरस्य है। यह सामरस्य ही सर्वोत्तम 'गुरुपादुका' है। शिव भी गुरुपादुका हैं और शक्ति भी; किन्तु शिव-शक्ति का सामरस्य ही श्रेष्ठतम गुरु-पादुका है। गुरु है परम शिव एवं पादुकायें हैं— शिव एवं शक्ति तथा उनका सामरस्य।

अभिनवगुप्तपाद की दृष्टि— अभिनवगुप्त अपने तन्त्रालोक (१२.९) में कहते हैं कि तन्मय भाव से वस्तु का अर्पण ही अर्चन या पूजा है—

तत्रार्पणं हि वस्तूनामभेदेनार्चनं मतम्।

एकोनपञ्चाशत् अध्याय

देवतातत्त्व और त्रिपुरोपासना

समस्त प्राणियों की आत्मा भगवती त्रिपुर-सुन्दरी हैं; अत आत्मपूजा ही देवता की पूजा है और आत्मा से बढ़कर कोई अन्य देवता नहीं है—

नहि नादात्परो मन्त्रो न देव: स्वात्मन: पर:।
नानुसन्धे: परा पूजा न हि तृप्ते: परं फलम्।।

श्रीविद्या-सम्प्रदाय में देवता का अर्थ मात्र राजराजेश्वरी परा भट्टारिका भगवती महा-त्रिपुरसुन्दरी है। त्रिपुरा-सम्प्रदाय में जिन्हें कामेश्वरी कहा गया है, उन्हीं को श्रीसम्प्रदाय में सुन्दरी, महात्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुरभैरवी, राजराजेश्वरी, षोडशी आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। वे ही भगवती ललिता देवी भी हैं। उनसे परतर कोई देवता नहीं है। वे ही जग-न्माता और परात्पर देवता हैं— 'न मातु: परमस्ति दैवतम्। देवता ललितातुल्या यथा नास्ति घटोद्भव:' (ललितासहस्रनाम)।

महेश्वरानन्द महार्थमञ्जरी में देवतातत्त्व की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि—

१. जिस साधक का जैसा भाव एवं भावयोग होता है, उसी प्रकार के स्वरूप का उसका देवता भी होता है।

२. साधक के भावभावित देवता का जो स्वरूप होता है, उसी स्वरूप के अनुकूल उस देवता द्वारा फल भी प्रदान किया जाता है—

यो यस्य भावयोगस्तस्य खलु स एव देवता भवति।
तद्भावभाविता अभिलषितं तथा फलन्ति प्रतिमा:।।

महेश्वरानन्द परिमल में भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुये कहते हैं कि 'अर्चकानां हि प्रमातृणामर्च्यभूता देवतानाम नान्या कादिदुपपद्यते। अपितु तेषां मध्ये यस्य यस्य स्वहृदय-स्फुरत्तालक्षणो भाव: तस्य तस्य स एव देवता भवितुमर्हति न पुनर्मृदुपललोहपट्टकाष्ठा-प्रतिमादिस्वभावा'।

देवता का यथार्थ स्वरूप क्या है? आत्मा से बढ़कर अन्य कोई देवता नहीं है—

नास्ति नादात्परो मन्त्रो न देव: स्वात्मन: पर:।
नानुसन्धे: परा पूजा न हि तृप्ते: परं फलम्।।

आत्मा से बढ़कर कोई देवता नहीं है और अपनी आत्मा ही विश्वविग्रहा भगवती ललिता देवी हैं— 'स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा'। महेश्वरानन्द भी कहते हैं कि 'स्वात्मरूपा सौभाग्यसंविन्मय्येव देवतेत्यत्र न किञ्चिद्द्वैमत्यम्। स्वात्मप्रकाश एव देवता। न देव: स्वात्मन: पर:। यद्यद्रूपं कामयते तत्तद्देवतारूपं भवति'। इसीलिये कहा

गया है कि 'रूपं रूपं मघवान् बोभवीति रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। महाप्रकाश एव देवता, नान्यः कश्चित्'।

हृदय का स्फुरणस्वभाव ही देवता है— 'भावभेदस्य प्रकाशैकात्म्यपारिशेष्यात्सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य एक एव हृदयस्फुरणस्वभावो देवतात्वेनाराध्यः। भावानां बाहुल्योपपादनद्वारा देवतात्वमुन्मीलितम्'।

प्रत्यभिज्ञा में भी गया गया है कि 'चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः'। निष्कर्ष यह कि 'स्वात्मैव देवता इति निर्बन्धः' (परिमल)।

देवता मन्त्राङ्ग भी है। मन्त्र के नव तत्त्व बताये गये हैं, उनमें देवता भी एक है। कामधेनुतन्त्र के अनुसार देवतत्त्व, प्राणतत्त्व, बिन्दुतत्त्व, ज्ञानतत्त्व, शक्तितत्त्व, योनितत्त्व आदि नव तत्त्व की गये हैं।

शाक्तपरम्परा में देवी एवं श्रीसम्प्रदाय में भगवती त्रिपुरसुन्दरी ही देवता हैं तथा ललिता परदेवता हैं; जैसा कि ललितासहस्रनाम में कहा भी गया है— 'रात्रौ यश्चक्रराज-स्थाम-र्चयेत् परदेवताम्'।

यह ललितास्वरूपा देवता कोई अन्य नहीं, प्रत्युत साधक की स्वयं की आत्मा-मात्र ही है— 'स्वात्मैव ललिता प्रोक्ता मनोज्ञा विश्वविग्रहा'। अपनी आत्मा ही भगवती ललिता हैं। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' कहकर साधक को स्वयं देवता बनकर देवता की उपासना करने का विधान किया गया है; अतः शाक्तसाधना में देवोपासना अद्वैतोपासना ही है।

शाक्तानन्दतरङ्गिणी में कहा गया है कि साधक को ब्राह्म मुहूर्त्त-वेला में उठकर प्रातःकृत्य से निवृत्त होकर भगवती के साथ परम गुरु शिव का ध्यान करना चाहिये। फिर पञ्चभूतमय तत्त्वों द्वारा स्वेष्ट देवता की पूजा करनी चाहिये। फिर गुरु की पूजा करके गुरुमन्त्र का जप करना चाहिये। फिर वाग्भवबीज 'ॐ ऐं' (या अन्य में 'क्लीं') का जप करना चाहिये—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय चिन्तयेद्गुरुदैवतम्।
स्वमूर्द्धनि सहस्रारे शिवाख्यपरबिन्दुके।।

अर्थात् रात्रि के दो दण्ड़ शेष रह जाने पर ब्राह्म मुहूर्त्त में अपनी मूर्द्धा में शिव-बिन्दु सहस्रार में भगवती पराम्बा एवं भगवान् परम शिवरूप परम गुरु का ध्यान करना चाहिये। 'श्यामारहस्य' में कहा गया है कि पूजाविधान में मानसिक गन्ध-पुष्पादि समर्पित करते हुये ही वाग्भवमन्त्र का जप करना चाहिये— 'मनसा गन्धपुष्पाद्यैः सम्पूज्य वाग्भवं जपेत्'। इष्टदेव की स्तुति करनी चाहिये और 'तेजोरूपं समर्प्याथ स्तवेन तोषयेद् गुरुम्'।

नादबिन्दुयुक्त, अकथादि रेखा वाले, अलक्ष त्रय कोण वाले, सहस्रार महापद्म में स्थित, सृष्टि-स्थिति-लयात्मक परबिन्दु एवं उसकी परमा शक्ति (सार्धत्रिवलयाकारा, कोटिविद्युत्समप्रभा, परम कुण्डली) की पूजा करनी चाहिये, जो कि योनिरूपा, सनातनी

एवं नादात्मिका है— 'नादरूपेण सा देवी योनिरूपा सनातनी'। सहस्रार ही 'शिवपुर' है; अत: वहीं कल्पद्रुमाच्छादित रत्नवेदिका पर नानारत्नोपशोभित पर्यङ्क पर शब्दब्रह्मशरीरी सदाशिव एवं शक्ति की पूजा करनी चाहिये; किन्तु देवता को शब्दस्वरूप में कल्पित करना चाहिये— 'पद्ममध्ये स्थितं देवं निरीहं शब्दरूपवत्'; क्योंकि 'पादयोर्नूपुरं रम्यं शब्दब्रह्ममयं वपु:' कहा गया है। यहीं श्यामा कुण्डलिनी का भी ध्यान करना चाहिये; जैसा कि कहा भी गया है—

ध्यायेत् कुण्डलिनीं देवीं स्वयम्भूलिङ्गसंस्थिताम्।
श्यामां सूक्ष्मां सृष्टिरूपां सृष्टिस्थितिलयात्मिकाम्।
विश्वातीतां ज्ञानरूपां चिन्तयेदूर्ध्वरूपिणीम्।।

जैसे ही वह शिव का मुखपद्म चूमती है और क्षण भर भी रमण करती है, वैसे ही लाक्षा रस की भाँति अमृत का स्राव होने लगता है। इसी अमृत से षट्चक्र के समस्त देवताओं की तृप्तिरूप पूजा करनी चाहिये और परदेवता का भी तर्पण करना चाहिये—

अमृतं जायते देवि ! तत्क्षणात्परमेश्वरि।
तदुद्भवामृतं देवि ! लाक्षारससमोपमम्।।

तेनामृतेन देवेशि ! तर्पयेत् परदेवताम्।
षट्चक्रदेवतास्तत्र सन्तर्प्याऽमृतधारया।।

तत्पश्चात् देवी को पुन: मूलाधार चक्र में लाना चाहिये और इसी देवी के आवागमनरूपी इसी यात्रा द्वारा मनोलय करना चाहिये— यातायातक्रमेणैव तत्र कुर्यान्मनोलयम्'।

मूलाधार में कुण्डली का प्रत्यावर्तन करने के बाद उसे सहस्रार में लाना चाहिये तथा शक्ति-शक्तिमान के सामरस्य का चिन्तन करना चाहिये—

रमित्वा शम्भुना सार्धं कुण्डली परदेवता।
मूलाधारान्महेशानि ! सहस्रारे समानयेत्।।

शम्भुगतां परां शक्तिमेकीभावं विचिन्तयेत्।
ध्यायेत् कुण्डलिनीं तत्र इष्टदेवस्वरूपिणीम्।।

भगवती को मूलाधार से स्वाधिष्ठान, स्वाधिष्ठान से मणिपूर, मणिपूर से अनाहत, अनाहत से आज्ञाचक्र, आज्ञाचक्र से बिन्दु, अर्धेन्दु आदि के यात्रापथ से सहस्रार में लाना चाहिये तथा उन जगन्मयी भुजङ्गरूपिणी देवी पराकुण्डलिनी का षट्चक्रों में ध्यान करना चाहिये। इससे ध्याता साक्षात् ब्रह्ममय हो जाता है; जैसा कि कहा भी है—

षट्चक्रे परमेशानि ! ध्यात्वा जगन्मयीं शिवाम्।
भुजङ्गरूपिणीं देवीं नित्यां कुण्डलिनीं पराम्।।

विषतन्तुमयीं देवीं साक्षादमृतरूपिणीम्।
अव्यक्तरूपिणीं दिव्यां ध्यानगम्यां वरानने।।

ध्यात्वा जप्त्वा च देवेशि ! साक्षाद् ब्रह्ममयो भवेत्।।

किन्तु इस ध्यान एवं जप में ध्यान का स्वरूप ध्याता-ध्येय का सामरस्य (एकीभाव) ही होना चाहिये; जैसा कि कहा भी गया है—

अहं देवी न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तः स्वभाववान्।।

परदेव्या हृदिस्थेन प्रेरितेन करोम्यहम्।
न मे किञ्चित्क्वचिद्वापि कृत्यमस्ति जगत्त्रये।।

भगवती कुण्डलिनी बीजत्रयात्मिका हैं; अतः वे अनेकरूपा हैं— तुरीया कुण्डलिनी, वह्निकुण्डलिनी, सूर्यकुण्डलिनी, चन्द्रकुण्डलिनी और तुर्यकुण्डलिनी। इनके ध्यान का विवेचन शाक्तानन्दतरङ्गिणी में इस प्रकार किया गया है—

तुरीया कुण्डलिनी का ध्यान— वे मूर्द्धा में नित्यानन्दस्वरूपपिणी हैं और मूल-देश में वाग्भवात्मिका हैं तथा द्रवित स्वर्ण के वर्ण वाली है।

वह्निकुण्डलिनी का ध्यान— ये बालार्कसदृश अरुण वर्ण की हैं, कोटि सूर्यों के प्रकाश के समान प्रकाशित हैं और हृदय में कामबीज के रूप में स्थित हैं।

सूर्यकुण्डलिनी का ध्यान— ये नित्यानन्दस्वरूपिणी हैं, करोड़ों चन्द्रों के समान भास्वर हैं तथा भ्रूमध्य में शक्तिबीज के रूप में स्थित हैं।

चन्द्रकुण्डलिनी का ध्यान— ये अमृतविग्रहा हैं, बीजत्रयमयी हैं और बिन्दुत्रयात्मिका हैं।

तूर्यकुण्डलिनी का ध्यान— ये ज्ञानविग्रहा हैं।

पूजाकाल— शक्तिमन्त्र का जप सदैव रात्रि में ही करना चाहिये; क्योंकि वह तभी अधिक सफल होती है। शाक्तानन्दतरङ्गिणी में कहा भी गया है—

शक्तिमन्त्रं जपेद्रात्रौ विनापि पूजनं शुचिः।
विशेषतो निशेथे तु तत्रातिफलदो जपः।।

रात्रौ पूजां सदा कुर्याद्रात्रौ सिद्धिर्न संशयः।
सफला रजनीपूजा दिव्यपूजा न निष्फला।।

समयातन्त्र में भी कहा गया है कि—

दिवा प्रपूजनं देवि यथोक्तफलदं भवेत्।
पूजनं लक्षगुणितं निशि नीरजलोचने।।

पूजा के प्रकार— वैसे तो देवता की पूजा के तीन प्रकार हैं— नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य; जैसा कि शाक्तानन्दतरङ्गिणी में कहा भी है—

'नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं पूजनं स्मृतम्', तथापि इनमें से शाक्तपरम्परा में नित्य पूजा ही वरेण्य मानी गई है और उसमें भी जो तादात्म्य, सामरस्य एवं देवी के साथ ऐकात्म्य प्रदान कर सके, वही पूजा वरेण्य मानी गई है।

देवताओं के शरीर की उत्पत्ति 'बीज' से होती है और मन्त्र उसी बीज से युक्त रहा करता है; जैसा कि शाक्तानन्दतरङ्गिणी (३.१७) कहता भी है—

देवतायाः शरीरं तु बीजादुत्पद्यते ध्रुवम्।
तत्तद्बीजात्मकं मन्त्रं जप्त्वा ब्रह्ममयो भवेत्।।

भगवती वर्णरूपिणी और जगदाधार हैं। इस सम्बन्ध में शाक्तानन्दतरङ्गिणी का निम्न (३.१८) वचन द्रष्टव्य है—

वर्णरूपेण सा देवी जगदाधाररूपिणी।

इसीलिए देवी के सूक्ष्म स्वरूप (सूक्ष्म ध्यान) को वहाँ मन्त्रमय कहा गया है—

सूक्ष्मं मन्त्रमयं देहं स्थूलं विग्रहचिन्तनम्।।

शाक्तानन्दतरङ्गिणी (३.२९) के अनुसार देवता (देवी) का स्वरूप (श्रीक्रम) आत्मारूप है—

आत्मानं चिन्तयेद्देवीं शक्तिमाद्यास्वरूपिणीम्।
मनसा वचसा चैव कायिकेन च चिन्तयेत्।।

देवता को अपनी आत्मा के रूप में ही कल्पित करना चाहिये—

ध्यायेच्च परमेशानि यथोक्तं ध्यानयोगतः।
देव्यात्मकं स्वमात्मानं भावयेद्यतमानसः।।

ध्यान के समय अपने में, गुरु में एवं देवता में ऐक्यानुसन्धान करना चाहिये—

तस्याऽन्यरूपं यद्यत्तत् स्वकीयमिति भावयेत्।
ऐक्यं सम्भावयेन्नित्यं स्वगुरुं देवतात्मनाम्।।

इतना ही नहीं; प्रत्युत अपने स्वेष्ट देवता के जितने भी रूप हैं, उन्हें भी अपना ही रूप मानना चाहिये—'स्वकीयमिति भावयेत्'।

भगवती (देवता) को सर्वदेवस्वरूप मानना चाहिये और उस परमानन्दस्वरूपिणी देवी के साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहिये; जैसा कि शाक्तानन्दतरङ्गिणी में कहा भी गया है—

सर्वदेवमयीं देवीं सर्वदेवमयीं पराम्।
आत्मानं चिन्तयेद्देवीं परमानन्दरूपिणीम्।।

शाक्तानन्दतरङ्गिणी (३.२२) के अवलोकन करने से यह स्पष्ट होता है कि देवता को अपने से भिन्न मानने पर समस्त पूजा व्यर्थ हो जाती है—

मन्यन्ते ये च आत्मानं विभिन्नं परमेश्वरात्।
न ते पश्यन्ति तं देवं वृथा तेषां परिश्रमः।।

देवताओं को यथार्थ तृप्ति उनके मन्त्र का जप करने से ही होती है—

जपेन देवता नित्यं स्तूयमाना प्रसीदति।

देवता के प्रसन्न होने पर मन्त्रसिद्धि अवश्य हो जाती है; जैसा कि कुलार्णवतन्त्र में कहा भी गया है—

देवता प्रीतिमापन्ने मन्त्रसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम् ।

देवता (देवी) मातृका एवं शब्दब्रह्म है। इस विषय में ज्ञानार्णवतन्त्र कहता भी है—

अकार: प्रथमो देवी क्षकारोऽन्त्यस्तत: परम्।
अक्षमालेति विख्याता मातृकावर्णरूपिणी।
शब्दब्रह्मस्वरूपेयं शब्दातीतं तु जप्यते।।

श्रीसम्प्रदाय की इष्ट देवता त्रिपुरा है। 'त्रिपुरा' नाम क्यों है? इस जिज्ञासा के शमन हेतु सौभाग्यभास्कर में भास्करराय कहते हैं कि— 'त्रयात्मकं पुरं भूपुरं मण्डलकोण-रेखामन्त्रादिसमूहो वा यस्या: सा त्रिपुरा'।

त्रिविधा कुण्डली शक्तिस्त्रिदेवानां च सृष्टये।
सर्वत्रयं त्रयं यस्मात् तस्मात् तु त्रिपुरा मता।।

पञ्चाशत् अध्याय

गुरुतत्त्व और त्रिपुरोपासना

शाक्तदृष्टि में गुरुतत्त्व— गुरुतत्त्व शब्दब्रह्मरूप है। परब्रह्म उपेय है और शब्द-ब्रह्म उपाय—'शब्दब्रह्मणि निष्णात: परब्रह्माधिगच्छति'। शब्दब्रह्म-सञ्जात चैतन्यशक्ति-सम्पूरित शब्द ही 'मन्त्र' है और यह मन्त्र ही गुरु है। शब्दब्रह्म से ही परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी वाणियों का उद्भव हुआ है। शब्दब्रह्म की मुख्यत: दो धारायें हैं— परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरीरूप वाक् धारा (मातृका-वर्ण-नाद) एवं सदाशिव से पृथ्वीपर्यन्त तत्त्व या षट्त्रिंशदात्मक जगत्। शब्दतत्त्व का विवर्त ही तो अर्थसृष्टि है— शब्द का विवर्त अर्थ (आर्थी सृष्टि) है; जैसा कि महावैयाकरण आचार्य भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में कहा भी है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रकिया जगतो यत:।।

अनादि और अनन्त शब्दनामक ब्रह्मतत्त्व ही अर्थरूप से विवर्त्तित होता है और जगत् की रचना करता है। 'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे' कहकर भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है। वर्णमातृकायें भी शब्दब्रह्म का ही अंग हैं। वर्णमातृकायें योगिनी के रूप में सृष्टि-कार्य का निष्पादन करती हैं। वर्णों (मातृकाओं) की चिद्रश्मियाँ सूक्ष्म जगत् एवं कारणभूमि में कार्यरत हैं। नादस्थ ईश्वर के साथ वर्णमातृकायें योगिनी के रूप में सृष्टि-व्यापार का निष्पादन करती हैं। गुरु बिन्दु में, त्रिकोण में स्थित है। वह कामेश्वर-कामेश्वरीस्वरूप है।

शब्द के विवर्त्त ही अर्थ हैं— 'द' से 'झ' तक के वर्ण जलादि प्रकृत्यन्त तत्त्व हैं। 'छ' से 'अ' तक के वर्ण पुरुषादि मायापर्यन्त तत्त्व हैं। 'इ' से 'घ' तक के वर्ण शुद्ध विद्या, ईश्वर एवं सदाशिव के वाचक हैं। 'ग' से 'न' पर्यन्त सोलह वर्ण शिवतत्त्व के वाचक हैं एवं 'क' पृथ्वीतत्त्व का बोधक है।

उपर्युक्त मत मालिनीविजयोत्तरतन्त्र की उत्तरमालिनी वर्णमाला एवं उसके सृजन-व्यापार का है ('न' से 'क' में अन्त वर्णमाला)। उत्तरमालिनी नादि कान्त वर्णमालाक्रम का प्रतिपादन करती है।

पूर्वमालिनी (अकारादि क्षकारान्त— अक्षमाला) का प्रतिपादन परात्रिंशिका में किया गया है और उसके अनुसार—

१. 'अ' से 'अ:' तक के १६ वर्ण शिवतत्त्व के वाचक हैं।

२. 'क' से 'ङ' तक के वर्ण पृथिव्यादिक पञ्चभूतों के वाचक हैं।

३. 'च' से 'ञ' तक के वर्ण गन्धादि पञ्च तन्मात्राओं के वाचक हैं।
४. 'ट' से 'ण' तक के वर्ण पादादि पञ्च कर्मेन्द्रियों के वाचक हैं।
५. 'त' से 'न' तक के वर्ण प्राणदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के वाचक हैं।
६. 'प' से 'म' तक के वर्ण अहंकार, बुद्धि, प्रकृति एवं पुरुष के वाचक हैं।
७. 'श-ष-स-ह-क्ष' महामाया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव एवं शक्ति के वाचक हैं।

मातृकाचक्रविवेक एवं तन्त्रालोक भी इसी मत को सम्पुष्ट करता है।

मन्त्र, मन्त्रेश्वर एवं मन्त्रमहेश्वर के रूप में गुरुतत्त्व—

विद्येश्वर (या मन्त्र)— ये प्रमाता अपने-आपको बोधरूप एवं कर्तृत्वरूप समझकर सर्वज्ञ एवं सर्वकर्तृत्वयुक्त होकर भी वेद्य जगत् को अपने से भिन्न मानते हैं— ऐसा ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में कहा गया है— 'ते (वेद्येश्वराः) हि शुद्धचिन्मात्रगृहीताहम्भावाः स्वतस्तु। भिन्नं वेद्यं पश्यन्ति यथा द्वैतवादिनामीश्वरः'।

आचार्य अभिनवगुप्त ने विद्येश्वर प्रमाताओं का अवस्थान 'विद्यापाद' में स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है कि 'विद्यापादे च विद्येश्वरादीनामवस्थितिः' (परात्रिंशिकाविवरण)। ये विद्येश्वर ही 'मन्त्र-प्रमाता' या 'मन्त्र' भी कहलाते हैं।

मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर— विद्येश्वर प्रमाताओं से भी श्रेष्ठतर गुरुपद शुद्ध विद्या के भागी प्रमाताओं का है। शुद्ध 'अहं' के चिन्मात्ररूप अधिकरण जब 'इदम्' अंश से उन्मिषित होता है, तब जिन प्रमाताओं में इदन्ता का आन्तर अवभास अस्फुट रूप से प्रकट होता है, उन (सदाशिव तत्त्व में अवस्थित) प्रमाताओं को 'मन्त्रमहेश्वर' कहते हैं और जिनमें इस इदन्ता का अवभास स्फुट रूप से होता है, उन्हें 'मन्त्रेश्वर प्रमाता' कहते हैं और ये ईश्वरतत्त्व में अवस्थित रहते हैं।

मन्त्रेश्वर एवं मन्त्रमहेश्वर में भिन्नता यह है कि मन्त्रेश्वरों के शुद्ध विमर्श में 'इदम्' भाव स्फुट रहता है और मन्त्रमहेश्वरों के शुद्ध विमर्श में यह विमर्श अस्फुट रहता है।

क्षीयमाण आणवमल की चार अवस्थायें हैं— किञ्चिद् ध्वस्यमान, ध्वस्यमान, किञ्चिद् ध्वस्त एवं ध्वस्त। इन्हीं अवस्थाओं में स्थित हैं— मन्त्र, मन्त्रेश्वर।

मन्त्रमहेश्वर एवं शिव मन्त्रमहेश्वरप्रमाता से श्रेष्ठतर हैं— मात्र शिव। शिव में प्रमेयकल्पना का स्पर्श तक भी नहीं है। इनमें मात्र एक शुद्ध अहन्ता का ही विमर्श होता है। शिव सर्वथा शुद्ध प्रमाता हैं। शिव ही तो परमशिव हैं। मन्त्रों (विद्येश्वरों), मन्त्रेश्वरों एवं मन्त्रमहेश्वरों में स्वरूप-सङ्कोच अत्यन्त सूक्ष्म है। शिवप्रमाता में यह सङ्कोच पूर्णतः ध्वस्त हो जाता है। शिव पूर्णतः मलोत्तीर्ण एवं सर्वथा शुद्ध प्रमाता है। प्रमाता मुख्यतः सात हैं (आठवाँ शक्तिज प्रमाता भी मान लिया गया है)। ये सात हैं—

१. सत्य प्रमाता या परप्रमाता = 'शिव'।
२. शक्तिज अनाश्रित।

३. सदाशिव तत्त्वावस्थित प्रमाता = 'मन्त्रमहेश्वर'।[1]

४. ईश्वरतत्त्वावस्थित प्रमाता = 'मन्त्रेश्वर'।

५. शुद्ध विद्यातत्त्व में अवस्थित प्रमाता = 'मन्त्र'।

६. मायातत्त्व से ऊपर का प्रमाता (शुद्ध विद्या के नीचे का प्रमाता 'विज्ञानकल')

७. मायातत्त्व में स्थित प्रमाता = प्रलयाकल।

१. शाम्भवाः शक्तिजा मन्त्रमहेशा मन्त्रनायकाः।
मन्त्रा इति विशुद्धाः स्युरमी पञ्च गणाः क्रमात्।।[2]
'शक्तिजाः इति अनाश्रिताद्याः।' (तन्त्रालोक-टीका)

२. मुख्यत्वेन तु सप्तैव मातृभेदाः प्रकीर्तिताः।

३. तथा च शास्त्रे शिवादिसफलान्ताश्च शक्तिमन्तः सप्त।[3]

प्रमाता-श्रेणी (माया प्रमाता, परिमित प्रमाता, संकुचित प्रमाता) = 'सकल' जीव।

शिव (परप्रमाता), शक्तिज, (सदाशिव) मन्त्रमहेश्वर, (ईश्वर) मन्त्रेश्वर, (शुद्ध विद्या) मन्त्र, विज्ञानाकल (मायातत्त्व से ऊपर एवं विद्यातत्त्व से नीचे), प्रलयाकल (मायातत्त्वावस्थित प्रमाता), सकल (जीव) माया प्रमाता।

शुद्ध कैवल्यस्थिति सदाशिवावस्था से भिन्न है और परमशिव की अवस्था से भी भिन्न है। 'विज्ञानकैवल्य' मायोपरि है; किन्तु इसमें 'आणवमल' रहता है। मन्त्र एवं मन्त्रेश्वर के ज्ञान में विज्ञेय के साथ सम्पर्क रहता है। आत्मतत्त्व तो माया तक किन्तु विद्यातत्त्व से शक्ति तक का विस्तार विद्यातत्त्व है। उन्मना परा विद्या है।

मन्त्र मन्त्रेश्वर एवं मन्त्रमहेश्वर गुरु हैं। योगशास्त्र में पतञ्जलि ने ईश्वर को 'सर्वेषामेव गुरुः' कहा है।

ऋजुविमर्शिनी की दृष्टि— ऋजुविमर्शिनी में कहा गया है कि गुरु को अपनी आत्मा के रूप में भावित करना ही 'पूजा' है।

'विश्वगुरु' परमशिव और गुरुपादुका— सर्वानन्दमयचक्र के त्रिकोणबिन्दु में आदिगुरु अपनी शक्ति के साथ कामेश्वर-कामेश्वरी के रूप स्थित हैं।

गुरुपादुका दो प्रकार की है— पर गुरुपादुका एवं अपर गुरुपादुका। पुनः परा पादुका के तीन भेद बताये गये हैं— परमशिव (स्वप्रकाश), विमर्शशक्ति (शिवस्वरूपभूता आत्मशक्ति) एवं दोनों का सामरस्य। कहा भी है—

स्वप्रकाशशिवमूर्तिरेकिका तद्विमर्शतनुरेकिका तयोः।
सामरस्यवपुरिष्यते परा पादुका परशिवात्मनोः गुरोः।।

---

१. मालिनीविजयवार्तिक (१.९६०)

२. अभिनवगुप्त : तन्त्रालोक (६.९.५३-५४)

३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी

गुरुपादुका— ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रदलान्वित शुभ्रवर्ण का एक अधोमुख कमल है। उसके मध्य निष्कला शक्ति है। इसके गर्भ में व्यापिनी नामक शक्ति या कला है। इसके द्वारा ऊपर से नीचे अमृत झरता रहता है। इस महा पद्मारण्य के ऊर्ध्व में समनारूपी तिरोधान शक्ति का अधिष्ठान है। मन की गति की यही अन्तिम लक्ष्मणरेखा है; इसके आगे मन की गति नहीं है। इसी अधोमुखी अकुल पद्म की कर्णिका में वाग्भव नामक त्रिकोण है। यहीं से परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी वाणियाँ प्रवाहित होती हैं। गुरु-पादुका इसी त्रिकोण में अवस्थित है। विश्वगुरु परमशिव की पादुका ही गुरुपादुका है।

शिवोक्त 'पादुकापञ्चक' में कहा गया है कि—

१. सहस्रार में स्थित ब्रह्मरन्ध्र में कुण्डली-विवर-काण्ड-मण्डित द्वादशार्ण सरसीरुह (श्वेत वर्ण वाला) द्वादशाक्षरयुक्त कमल है। इस पद्मकन्द की कर्णिका के पुट में शक्ति-पीठ है। शक्तिपीठ त्रिकोणात्मक है, जिसमें वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, (या अ, क एवं थ) रेखायें हैं। इस त्रिकोण के भीतर प्रत्येक कोण में और भी बिन्दु हैं, जिससे मण्डल निर्मित होता है।

२. उक्त त्रिकोण के मण्ड़ल में नाद-बिन्दु-संलग्न मणिपीठ है।

३. हंसपीठ के ऊपर नाद-बिन्दु के मध्य त्रिकोण है और वही गुरु का स्थान है। इसमें परमहंस स्थित है।

४. त्रिकोण में वामा अग्निरूपा, ज्येष्ठा चन्द्ररूपा एवं रौद्री सूर्यरूपा है। 'वामा' रेखा दक्षिण से उत्तर-पूर्व कोण तक, 'ज्येष्ठा' उत्तर-पूर्व से उत्तर-पश्चिम तक एवं 'रौद्री' उत्तर-पश्चिम से वामा रेखा में मिल जाती है। ये तीनों बिन्दु त्रिपुरा एवं त्रिपुरसुन्दरी के स्वरूप हैं।

५. गुरु के चरणकमल से लाख के रंग के समान अमृत निकलता रहता है— 'तत्र नाथचरणारबिन्दयोः कुङ्कुमासवपरीमन्दयोः।'

जो साधक गुरु के चरणकमल में अपनी आत्मा को लीन कर देता है, वह समस्त बन्धनों एवं पापों से मुक्त हो जाता है। 'मैं परमामृत सरोवर में उत्फुल्ल गुरु-चरणकमलों का जो कि शिव में स्थित हैं— भजन करता है।

आगम में कहा गया है कि स्वयं भगवान् शंकर ने ही विश्वकल्याणार्थ अपने को दो भागों में विभाजित कर लिया— गुरुरूप में एवं शिष्यरूप में। इससे भी सिद्ध है कि गुरु का आदर्श रूप है अखण्ड एवं चिद्रूप ज्ञान के स्वरूप— परमशिव। विना गुरुकृपा के चित्तविश्रान्ति सम्भव नहीं होती; भले ही करोड़ों शास्त्र क्यों न पढ़ लिये जायँ—

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च।
दुर्लभा चित्तविश्रान्तिर्विना गुरुकृपां पराम्।।

दुर्वासा कहते हैं कि भगवती त्रिपुरसुन्दरी ही गुरु हैं—

कर्तार्हन्पुरुषो हरिश्च सविता बुद्धः शिवस्त्वं गुरुः।।

गुरुतत्त्व— शैव-शाक्त-स्मार्त-वैष्णव-इस्लाम आदि सभी पन्थों में गुरु का सर्वातिशायी महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इस सम्बन्ध में ऋषि अगस्त्य ने 'शक्तिसूत्र' के दीक्षा-क्रम-विधान के प्रसंग में गुरु का महत्त्व प्रतिपादित करते हुये इस प्रकार कहा है—

१. जो दीक्षापर है, वह मनूपदेष्टा गुरु को ईश्वर की भाँति मानता है— 'यश्च दीक्षापरः, मनूपदेष्टारं गुरुमीशं मनुते'।

२. गुरु ही समस्त देवताओं की आत्मा है।

३. गुरु का शासन वेद के शासन के समान महनीय है।

४. गुरु के चरण पवित्र गंगा एवं पुण्यतोया मन्दाकिनी हैं।

५. गुरु की पूजा में ही समस्त देवी-देवताओं की पूजा अन्तर्निहित है।

६. गुरुमात्र का स्मरण कर लेने से समस्त देवों का स्मरण हो जाता है।

७. गुरु समस्त इन्द्रियसंयमी साधकों के शास्ता हैं।

८. यदि गुरु का दर्शन कर लिया तो यह मानना चाहिये कि मैंने समस्त देवताओं का दर्शन कर लिया।

९. गुरु ही संसार से उद्धार करने वाला है।

१०. वह तारक एवं संसारोत्तारक दोनों है।

११. यदि गुरु को सन्तुष्ट कर लिया तो मानना चाहिये कि मैंने समस्त देवताओं को सन्तुष्ट कर लिया।

१२. साधक का लक्ष्य तो आत्मा की ओर होना चाहिये; किन्तु उसका शिर गुरुचरणों में, कान गुरुवाक्यों में, आँखें गुरुदर्शन में, वाणी पञ्चदशी में, चित्त बीज (मन्त्र के बीज) में, कर तर्पण में तथा शरीर गुरु के श्रीपादुका के अर्चन में संलग्न होने चाहिये।

शरीर को ही श्रीचक्र के रूप में देखना चाहिये।[१]

आदि गुरु— गुरुरूप कामेश्वर एवं शिष्यारूपा कामेश्वरी सर्वानन्दमय चक्र के त्रिकोण में स्थित बिन्दु में अविनाभाव से स्थित हैं। वे ही आदिगुरु हैं। आगम की मान्यता है कि सर्वोच्च तत्त्व गुरुतत्त्व है। वही ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं परब्रह्म है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

भावनोपनिषद् में श्रीगुरु को परमकारणभूता शक्ति कहा गया है—

'श्रीगुरुः परमकारणभूता शक्तिः।'

गुरु की महत्ता का रहस्य— 'गुरुः साक्षात् परब्रह्म' कहने का कारण यह है कि गुरु कोई मांसल, मर्त्य एवं पाञ्चभौतिक शरीर नहीं है, प्रत्युत वह परब्रह्म है: क्योंकि 'स सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (समाधिपाद-१.२६–पतञ्जलि)।

'भोजवृत्ति' में कहा गया है कि 'आद्यानां स्रष्ट्रीणां ब्रह्मादीनामपि स गुरुरुपदेष्टा यतः

१. शक्ति सूत्र (१.२५)

स कालेन नावच्छिद्यते अनादित्वात्।'

'भावगणेशवृत्ति' में कहा गया है कि 'स एष ईश्वरः सर्वेषां हिरण्यगर्भादीनामपि गुरुरन्तर्यामिविधया ज्ञानचक्षुप्रदः।'

'नागोजिभट्टवृत्ति' में कहा गया है कि 'स एष ईश्वरः पूर्वेषां पूर्वसर्गोत्पन्नानामपि ब्रह्मविष्णुहरादीनामपि गुरुः स्रष्टाऽन्तर्यामिविधया वेदादिद्वारा ज्ञानचक्षुः, यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।'

'योगचन्द्रिका' में कहा गया है कि 'स ब्रह्मादीनामपि गुरुरुपदेष्टा यतः स कालेन नावच्छिद्यते अनादित्वात्।'

'योगवार्तिक' में कहा गया है कि 'पूर्वेषां पूर्वपूर्वसर्गाद्युत्पन्नानां ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादीनामपि गुरुः पिताऽन्तर्यामीविद्यया ज्ञानचक्षुः।'

गुरु का यह सर्वोपरि महत्त्व क्यों है? कारण सुस्पष्ट है। आगम में कहा गया है कि स्वयं शिव ही गुरुविग्रह में स्थित होकर शम्भु-शक्ति-अनुवेधपूर्वक विश्वात्मा के रूप में शिष्य को दीक्षा देते हैं—

शिव एव तदा साक्षादास्थाय गुरुविग्रहम्।
दीक्षां करोति विश्वात्मा शम्भुशक्त्यनुवेधतः।।

इसीलिये 'स्वच्छन्दतन्त्र' में भी कहा गया है—

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्।।

गुरुओं की श्रेणी— आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने तन्त्रालोक में गुरुओं की श्रेणियों का सविस्तार विवेचन किया है। उसमें कहा गया है कि सद्गुरु चार श्रेणियों में विभक्त हैं— सांसिद्धिक (अकल्पित), अकल्पित कल्पक, कल्पित एवं कल्पिताकल्पित।

सांसिद्धिक गुरु कौन कहलाता है? जिसमें 'सत्तर्क' स्वतः उत्पन्न हो जाय और जिसे गुरु एवं गुरुदीक्षा की अपेक्षा भी न हो, ऐसा सत्तर्कमण्डित साधक 'सांसिद्धिक' कहलाता है—

स तावत्कस्यचित्तर्कः स्वत एव प्रवर्तते।
स च सांसिद्धिकः शास्त्रे प्रोक्तः स्वप्रत्ययात्मकः।।

(तन्त्रालोक-४.४०)

इन्हें ही 'महामुनि' भी कहा गया है—

गुरुशास्त्रानपेक्षं च यस्यैतत्स्वयमुद्भवेत्।
स सांसिद्धिक इत्युक्तस्तत्त्वनिष्ठो महामुनिः।।

अर्थात् गुरु और शास्त्र की अपेक्षा किये विना जिस साधक में पारमेश्वर शक्तिपात हो जाता है, वह 'महामुनि' है। वह वस्तुतः तत्त्वनिष्ठ है और वही सांसिद्धिक कहलाने लगता है।

'किरणा संहिता' में कहा गया है कि परतत्त्व को जानने के तीन उपाय हैं— गुरु, शास्त्र एवं स्वयम्। इन तीनों में यथाक्रम उत्तरोत्तर श्रेष्ठतर हैं; क्योंकि गुरु शास्त्र का, शास्त्र ज्ञान का एवं ज्ञान संविदुल्लास का उपाय है; अत: सत्तर्क से स्वत: स्फूर्त ज्ञान वाला योगी ही सर्वोच्च गुरु है और वही सांसिद्धिक या अकल्पित गुरु भी कहलाता है। इन्हें 'सत्तर्क' से उद्भूत समस्त ज्ञान सद्विद्या की कृपा से (विना गुरु एवं गुरुदीक्षा के) प्राप्त हो जाता है—

स समस्तं च शास्त्रार्थं सत्तर्कादेव मन्यते।
शुद्धविद्या हि तन्नास्ति सत्यं यद्यन्न भासयेत्।।
सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्वमकस्माच्चास्य जायते।। (४.४५)

परमात्मा ही सर्वोच्च वास्तविक गुरु— आचार्य जयरथ ने तन्त्रालोक की टीका 'विवेक' में कहा है कि स्वयं परमात्मा ही आचार्यमूर्ति का आश्रय लेकर जीवों के पशुत्व एवं दुष्कृत-निवारण एवं उद्धार के लिये अवतरित होते हैं— 'परमेश्वर एव हि आचार्य-मूर्त्तिमाश्रित्य अशेषपाशौघविनिवर्तनं कुर्यात्'—

यस्मान्महेश्वर: साक्षात्कृत्वा मानुषविग्रहम्।
कृपया गुरुरूपेण मग्ना प्रोद्धरति प्रजा।।

अकल्पित या सांसिद्धिक गुरु— 'अकल्पित गुरु' के निम्न लक्षण हैं—

१. गुरु एवं दीक्षा की अपेक्षा से रहित होते हैं।
२. अपनी प्रतिभा के बल पर शास्त्राधिगम कर लेते हैं।
३. उनमें 'शुद्धविद्या' का उदय रहता है।

जो कल्पित गुरु किसी लोकोत्तर पारमार्थिक शास्त्रीय वस्तुरूप प्रमेय में अनुप्रवेश करके स्वयं गुरु की अपेक्षा के विना आकस्मिक बोध प्राप्त कर लेता है, वह कल्पिता-कल्पक गुरु कहलाता है—

यो यथाक्रमयोगेन कस्मिंश्चिच्छास्त्रवस्तुनि।।
आकस्मिकं ब्रजेद्बोधं कल्पिताकल्पितो हि स:।
तस्य योऽकल्पितो भाग: स तु श्रेष्ठतम: स्मृत:।।
(तन्त्रालोक-४.७२-७३)

अकल्पित गुरु में स्वानुभव की मुख्यता रहती है। इनमें सर्त्तक स्वयं प्रवृत्त होता है। ये त्रिप्रत्यय ज्ञान (स्वात्म, शास्त्र एवं गुण) में स्वात्मज्ञान के अनुगामी होते हैं।

अकल्पित कल्पक गुरु— सांसिद्धिक होने पर भी जिनमें स्वयं उद्भूत ज्ञान पूर्ण नहीं रहता; अपितु उसके लिये किसी गुरु से दीक्षा लेकर जो गुरु 'मैं ही परमहंस हूँ'— इत्याकारक भावना से ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें 'अकल्पितकल्पक गुरु' कहते हैं।

चूँकि उनका ज्ञान सांसिद्धिक (गुरुप्रदत्त नहीं) रहता है; अत: वे अकल्पित होते

हैं; किन्तु उन्होंने आत्मभावना के बल से ज्ञान प्राप्त किया रहता है; अतः वे कल्पित भी होते हैं।[1]

कल्पित गुरु— कल्पित एवं कल्पिताकल्पित गुरुओं का ज्ञान (सत्तर्क) स्वयमेव उदित नहीं होता। इन्हें किसी अकल्पित या अन्य गुरु से दीक्षा लेकर ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। उससे उनमें 'शुद्ध विद्या' का उदय हो जाता है। इन्हें 'कल्पित गुरु' कहते हैं। इनमें समस्त पाशों को पूर्णतः काट देने की क्षमता नहीं होती।[2] भगवती महात्रिपुरसुन्दरी केवल गुरु ही नहीं; अपितु सम्पूर्ण गुरुमण्डल है—

सम्प्रदायेश्वरी साध्वी गुरुमण्डलरूपिणी।

कल्पिताकल्पित गुरु— कल्पित होने पर भी इनका बोध स्वतः प्रवृत्त होता है; अतः ये 'अकल्पित' भी होते हैं और इसीलिये इन्हें 'कल्पिताकल्पित' कहते हैं—

शास्त्रवित्स गुरुः प्राप्ते शास्त्रे प्रोक्तोऽकल्पितकल्पकः।।

(तन्त्रालोक, आ०-४.५१)

ज्ञानी गुरु— 'ज्ञानी गुरु' वे कहलाते हैं, जो ज्ञान तो दे सकते हैं; किन्तु 'भोग' या 'विज्ञान' नहीं दे सकते। वे ज्ञान देकर मुक्त तो कर सकते हैं; किन्तु विज्ञान प्रदान करके अधिकार नहीं दे सकते। ये ज्ञानी तो होते हैं; किन्तु योगी नहीं होते।

'सद्गुरु' उन्हें कहते हैं, जो योगी और ज्ञानी— भोग एवं मोक्ष दोनों दे सकने में समर्थ होते हैं।[3]

गुरुरूपी परमात्मा या गुरुदेह में अधिष्ठित परमात्मा अपनी क्रियाशक्ति के द्वारा (दीक्षा के माध्यम से) दिव्यज्ञानावरक अनादि मल का नाश करके जीव के पशुत्व का निकृन्तन करके उसमें सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्व का स्फुरण करते हैं।[4]

योगवाशिष्ठ का मत— योगवासिष्ठ के निर्वाणप्रकरण (१.१२८,१६१) में कहा गया है कि जो कृपापूर्वक दर्शन, स्पर्शन या शब्द के द्वारा शिष्य के देह में शिवभाव का आवेश करा सकता है, वही 'देशिक' या 'गुरु' है—

दर्शनात् स्पर्शनाच्छब्दात् कृपया शिष्यदेहके।
जनयेद्यः समावेशः शाम्भवं स हि देशिकः।।

नवचक्रेश्वरतन्त्र का मत— नवचक्रेश्वरकार कहते हैं कि जो पिण्ड, पद, रूप, एवं रूपातीत को सम्यक् रीति से जानते हैं, वे ही गुरु हैं और इनमें 'पिण्ड' कुण्डलिनी है, 'पद' हंस है, 'रूप' बिन्दु है और 'रूपातीत' निरञ्जन है—

पिण्डं पदं तथा रूपं रूपातीतं चतुष्टयम्।
यो वा सम्यग्विजानाति स गुरुः परिकीर्तितः।।

---

१. अभिनवगुप्तपाद (तन्त्रालोक)
२. तन्त्रालोक (आ०-४)
३. तन्त्रालोक (आ०-४)
४. तन्त्रालोक (आ०-४)

पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः।।
रूपं बिन्दुरिति ज्ञेयं रूपातीतं निरञ्जनम्।।

स्वच्छन्दतन्त्र में भी यही श्लोक है; किन्तु उसमें अन्त में लिखा है— 'रूपातीतं हि चिन्मयम्।' सुन्दरदास ने ध्यान-प्रसङ्ग में भी इन्हें उल्लिखित किया है— पदस्थ। पिण्डस्थ। रूपस्थ। रूपातीत (ज्ञानसमुद्र)। मालिनीतन्त्र के अनुसार गुरु का एकमात्र लक्षण 'स्वभ्यस्त विज्ञान' है; न कि योगित्व।

गुरुओं के भेद-प्रभेद

सांसिद्धिक गुरु के भेद-प्रभेद— तन्त्रालोक के अनुसार सांसिद्धिक गुरु के मुख्य चार भेद होते हैं— निर्भित्तक, सर्वग, अंशग एवं सहभित्तिक। पुनश्च अंशग भी दो प्रकार के होते हैं— मुख्यांशग एवं अमुख्यांशग।

इन्हीं को 'अकल्पित गुरु' भी कहा गया है—

अकल्पितो गुरुर्ज्ञेयः सांसिद्धिक इति स्मृतः।।

(तन्त्रालोक-४.५१)

अकल्पितकल्पक के भेद— तन्त्रालोक के अनुसार अकल्पितकल्पक छः प्रकार के होते हैं—

१. उत्कृष्ट शक्तिपात वाले।

२. मध्य शक्तिपात वाले।

३. मन्द शक्तिपात के आधार में भेद वाले।

३. मन्त्राक्षरों का सुषुम्नापथ में प्रभविष्णु होने वाले—

सौषुम्ने ध्वन्यच्चरिताः प्रभुत्वं प्राप्नुवन्ति ते।

४. मन्त्राक्षरों को चिच्छक्ति के आन्तर सूत्र में ग्रथित करने वाले—

मन्त्राक्षराणि चिच्छक्तौ ग्रथितानि विभावयेत्।
तामेव परमे व्योम्नि परमानन्दबृंहिते।।

५. चिच्छक्ति में स्थित मन्त्रों की अभिव्यक्ति से ही मन्त्रों की स्वात्माभिव्यक्ति करने वाले—

दर्शयत्यात्मसद्भावं पूजा होमादिभिर्विना।

६. सुषुम्ना में मन्त्रजप से ही मन्त्रार्थ एवं मन्त्र-चैतन्य की अभिव्यक्ति करने वाले—

मूलमन्त्रं जपेद्बुद्ध्या सुषुम्णामूलमध्यगम्।
मन्त्रार्थस्तस्य चैतन्यं जीवं ध्यात्वा पुनः पुनः।। (गौतमीय तन्त्र)

गुरु का सर्वातिशायित्व एवं उसका कारण— वास्तविक स्थिति तो यह है कि विना गुरु के मन भागता रहता है; अतः इस स्थिति में विना गुरु की सहायता के करोड़ों

कल्पों में भी मन्त्र जाग्रत् एवं सिद्ध नहीं रहता। इसीलिये कहा गया है—

मनोऽन्यत्र शिवोऽन्यत्र शक्तिरन्यत्र मारुतः।
न सिद्ध्यति वरारोहे कल्पकोटिशतैरपि।।

पशु-साधना में तो मन अन्यत्र है, शिव अन्यत्र है, शक्ति अन्यत्र है और प्राणवायु भी अन्यत्र है और जब तक ये चारो एकत्र न हो जायँ, तब तक मन्त्रसिद्धि कहाँ?

इसीलिये शास्त्रों में गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश, साक्षात् परब्रह्म आदि कहा गया है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः महेश्वरः।
गुरुरेव परं तत्त्वं तस्मै श्रीगुरवे नमः।। (माहेश्वरतन्त्र)

इसीलिये कहा गया है कि प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त की वेला में सर्वप्रथम गुरु का ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान करना चाहिये और मानसिक उपचारों से उनकी पूजा करनी चाहिये। माहेश्वरतन्त्र में कहा भी गया है—

प्रातरुत्थाय देवेशि ! ब्रह्मरन्ध्रे निजं गुरुम्।
ध्यात्वा पञ्चोपचारैश्च मानसैः पूजयेत्परम्।।

स्पन्दसूत्रकार की दृष्टि— मन्त्र की योजना आत्मबल के साथ होनी अनिवार्य है। स्पन्दसूत्र में कहा गया है कि 'प्रत्येक प्रकार के मन्त्र स्पन्दरूप आत्मबल के साथ तादात्म्य प्राप्त करने से ही सर्वज्ञता आदि माहेश्वर बलों को प्राप्त करके सुशोभित होते है। इन स्थितियों में वे मन्त्र किसी भी स्पृहणीय एवं अभीष्ट कार्य को साधिकार करने में प्रवृत्त होते हैं। जैसे कि वशीकृत इन्द्रियाँ—

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम्।।

ये ही मन्त्र अन्ततोगत्वा शान्तरूप (शुद्ध संवित् रूप) एवं निरञ्जन (मायीय उपराग से रहित होकर) आराधक के चित्त के साथ-साथ चिदाकाश में ही लीन हो जाते हैं; क्योंकि समस्त मन्त्र शिवधर्मा या शिवस्वरूप हैं—

तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः।
सहाराधकचित्तेन तेन ते शिवधर्मिणः।।

भट्टकल्लट ने भी स्पन्दकारिकावृत्ति में इसी की पुष्टि की है—

तद्बलं निरावरणचिद्रूपमधिष्ठाय मन्त्राः सर्वज्ञत्वादिना बलेन श्लाघायुक्ताः प्रवर्तन्तेऽनुग्रहादौ स्वाधिकारे।

तत्रैव स्वस्वभावव्योम्नि निवृत्ताधिकाराः प्रलीयन्ते, शान्तरूपाः, मायाकालुष्यरहिताः, सह साधकचित्तेन, अनेन कारणेन शिवसंयोजनास्वभावेन इति शिवात्मका उच्यन्ते।

मन्त्र साञ्जन, निरञ्जन (भोगरूप एवं मोक्षरूप) दोनों हैं। इन दोनों की सिद्धि केवल गुरु द्वारा ही सम्भव होती है।

मन्त्रसिद्धि का फल होता है— मन्त्र के देवता के साथ तादात्म्य—

अयमेवोदयस्तस्य ध्येयस्य ध्यायिचेतसि।
तदात्मतासमापत्तिरिच्छत: साधकस्य या।। (स्पन्दसूत्र-२.३१)

यह तदात्मता-समापत्ति भी गुरु के अनुग्रह से ही सिद्ध होती है।

आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि जिस किसी भी तरह हो, किन्तु गुरु की उपासना अनिवार्यत: करनी चाहिये। गुरु के सन्तुष्ट हो जाने पर शांकरी दीक्षा प्राप्त करके साधक समस्त शास्त्रों का रहस्य समझ जाता है। आराधना के अतिरिक्त अन्य उपायान्तर नहीं है। प्रयास करना चाहिये कि आपकी उपासना गुरु स्वीकार कर ले। आचार्य अभिनव कहते हैं—

येन केनाप्युपायेन गुरुमाराध्य भक्तित:।
तमाराध्य ततस्तुष्टाद्दीक्षामासाद्य शाङ्करीम्।।

गुरु को मनुष्य मानना भी पाप है; अत: इस पाप के लिये रौरव नरक का विधान किया गया है—

गुरौ मनुष्यबुद्धिश्च मन्त्रे चाक्षरबुद्धिकाम्।
प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं व्रजेत्।। (ज्ञानार्णवतन्त्र)

गुरु की सर्वोच्च महिमा का कारण— ज्ञानार्णवतन्त्र में कहा गया है—

गुरौ सन्निहिते यस्तु पूजयेदन्यदेवताम्।
प्रयाति नरकं घोरं सा पूजा विफला भवेत्।।

गुरु: पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो गुरुर्गति:।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।।

मन्त्रत्यागाद्भवेन्मृत्युर्गुरुत्यागाद् दरिद्रता।
गुरुमन्त्रपरित्यागद् रौरवं नरकं व्रजेत्।।

आगमकल्पद्रुम में कहा गया है कि गुरु चाहे विद्यावान हो, चाहे विद्याहीन; किन्तु वही देवता है और वही एकमात्र सदागति है—

अविद्यो वा सविद्यो वा गुरुरेव तु दैवतम्।
आमार्गस्थोऽपि मार्गस्थो गुरुरेव सदागति:।।

दीक्षा का आधार गुरु है। जो गुरु से दीक्षा नहीं लेता, वह नरक जाता है। जप का मूल भी दीक्षा में निहित है और तप का भी। अत: जहाँ भी रहे, दीक्षा का आश्रय लेकर ही रहे—

दीक्षामूलं जपं सर्वं दीक्षामूलं परं तप:।
दीक्षामाश्रित्य निवसेद्यत्र कुत्राश्रमे वसन्।।

अदीक्षितोऽपि मरणे रौरवं नरकं व्रजेत्।
तस्माद्दीक्षां प्रयत्नेन सदा कुर्याच्च तान्त्रिकाम्।।

गुरु मन्त्र का भी आधार है। मन्त्र-दीक्षा भी गुरु ही देता है। विना गुरु के शिष्य मन्त्र में विन्यस्त चित् शक्ति का जागरण कैसे हो सकता है? विना चित् शक्ति के जागरण के 'मन्त्र' मृत वर्णों के पश्वाक्षरमात्र रह जायेंगे। इसीलिये कहा भी गया है—

पशुभावे स्थिता मन्त्रा: केवलं वर्णरूपिण:।

इन मन्त्राक्षरों के प्रभुत्व की अभिव्यक्ति तो इनके सुषुम्नामार्ग (मध्यमार्ग) में सञ्चरित होने पर ही सम्भव है—

सौषुम्ने ध्वन्युच्चरिता: प्रभुत्वं प्राप्नुवन्ति ते।। (गौतमीय तन्त्र)

मन्त्र चिच्छक्तिरूपी सूत्र में ग्रथित हैं और 'परमेव्योमन्' में परमानन्दसागर में हिलोरें ले रहे हैं। यदि गुरु इन वैखरीगत तथा चैतन्यहीन जड़ अक्षरों को चैतन्य प्रदान न करे तो इन मन्त्राक्षरों के चेतन होने, चैतन्यसूत्र में ग्रथित रहने तथा परमेव्योमन् में परमानन्दबृंहित होने की अनुभूति कौन करायेगा? मन्त्र अपने मूल रूप में मध्यमार्ग में चेतन रूप में ध्वनिरूप में स्थित हैं। अत: वहीं उनका जप करना सफल होता है और मध्यमार्ग में प्रवेश भी केवल गुरु की कृपा द्वारा ही सम्भव है। शास्त्रों में इस तथ्य की निम्न शब्दों द्वारा पुष्टि की गई है—

१. वर्णरूप मन्त्रों का 'पशुत्व'— पशुभावे स्थिता मन्त्रा: केवलं वर्णरूपिण:।

२. सुषुम्नापथ में मन्त्रों की सार्थकता— सौषुम्ने ध्वन्युच्चरिता: प्रभुत्वं प्राप्नुवन्ति ते।

भगवान् शिव स्वयं गुरु हैं—

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देव: सदाशिव:।
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्।। (स्वच्छन्दतन्त्र)

ग्रन्थ का ग्रन्थकार भी गुरु है— आचार्य लक्ष्मीधर ने सौन्दर्यलहरी के ३२वें श्लोक की व्याख्या करते हुये कहा है कि—

१. षोडशी परमा कला का उपदेश मात्र अपने सच्छिष्य को ही देना चाहिये; अन्य को नहीं। इस तत्त्व को मात्र गुरुमुख से ही प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि यह गोपनीय है, प्रकाश्य नहीं है—

सच्छिष्यायोपदेष्टव्या गुरुभक्ताय सा कला।

२. जो मेरे ग्रन्थ का अध्ययन करके उस परमा कला को जान गये हों, उन्हें मेरा शिष्य माना जाना चाहिये; क्योंकि यह ज्ञान भी मेरी कृपा (मेरे अनुग्रह) के कारण ही सम्भव हुआ है।

३. यदि यह कहा जाय कि पादवन्दन, पादोपसंग्रहण, प्रणाम, अभिवादन, दण्डवत् आदि न करने वाले किसी अज्ञात व्यक्ति को शिष्य कैसे कहा जा सकता है, तो ऐसा कहना समीचीन नहीं है; क्योंकि यदि मेरे ग्रन्थ को पढ़कर कोई पाठक दूसरे गुरु के पास जाकर

षोडशी कला का ज्ञान प्राप्त करता है तो वह मेरा शिष्य नही है; किन्तु जो इसे गुर्वन्तर से भी नहीं जान पाते, उनके लिये तो उपदेश सम्भाव्य नहीं है। ऐसी अवस्था में उसकी इस जिज्ञासा के उपरान्त कि 'मेरा गुरु कौन है?' उन वर्त्तमान, वर्त्तिष्यमाण, जिज्ञासु लोगों के हम लोग ही गुरु हैं। उनके ऊपर हमारा अनुग्रह रहता है— 'तेष्वनुग्रहः कृतोऽस्माभिः।'

गुरु मनुष्य नहीं; प्रत्युत परमशिव है। गुरु के प्रति मनुष्य की धारणा, मन्त्र में अक्षर की धारणा एवं मूर्ति में प्रस्तर की धारणा एक पाप है और इसके लिये नरक जाना पड़ता है—

गुरौ मनुष्यबुद्धिश्च मन्त्रे चाक्षरबुद्धिकाम्।
प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं व्रजेत्।।

गुरु देवता से भी बड़ा है; क्योंकि परम गुरु तो परमेश्वर है। अतः गुरु के समीप में रहने पर अन्य की पूजा करना नरक का कारण बनता है—

गुरौ सन्निहिते यस्तु पूजयेदन्यदेवताम्।
प्रयाति नरकं घोरं सा पूजा विफला भवेत्।।

गुरुतत्त्व के तीन पक्ष हैं— ग, उ एवं र। कहा भी गया है— 'गकारः सिद्धिदः प्रोक्तः। उकारः शम्भुरित्युक्तः। रेफः पापस्य दाहकः।' गुरु को इन्हीं तीनों से समवेत होने के कारण 'त्रितयात्मा' कहा गया है—

उकारः शम्भुरित्युक्तस्त्रितयात्मा गुरुः स्मृतः। (यामल)

भास्करराय की दृष्टि— भास्करराय सौभाग्यभास्कर (सौन्दर्यलहरी की टीका) में कहते हैं कि मोक्ष का मूल ज्ञान है, ज्ञान के मूल महेश्वर हैं, महेश्वर के मूल पञ्चाक्षर मन्त्र हैं और मन्त्र का मूल गुरुवाणी है—

मोक्षस्य मूलं यज्ज्ञानं तस्य मूलं महेश्वरः।
तस्य पञ्चाक्षरो मन्त्रो मूलमन्त्रं गुरोर्वचः।।

भास्करराय अपने शब्दों में कहते हैं कि 'मन्त्रणाद्यो मूलकारणं श्रीगुरुः सार्वभौमो जयति।'

गुरुप्रदत्त बीजमन्त्र शिष्य के शुद्ध ज्ञानशरीर का बीज है। यह बीजमन्त्र साधक के हृदयरूपी खेत में पड़कर 'विशुद्ध ज्ञानदेह' का रूप ग्रहण करता है। 'भावदेह' स्वभाव-देह है। भावसाधना इसी देह में निष्पन्न होती है। भाव की साधना स्वाभाविक साधना है। भावना-साधना के द्वारा (भावनायोग की सहायता से) भावदेह की रचना रागानुगा मार्ग से सम्भव है। भक्तिसाधना में मुख्य चार दशायें हैं— ज्ञान, वरण, प्राप्ति और अनुभव। इनका विकास गुरुशक्ति पाने पर शीघ्र होता है। 'भावदेह' में भावसाधना का परिपाक → भाव का पूर्ण परिपाक → प्रेम का उदय।

परम रसास्वाद ही भक्तिसाधना का चरम लक्ष्य है। गुरु अपनी दीक्षा द्वारा इसको त्वरित विकास की भूमि प्रदान करता है।

एकपञ्चाशत् अध्याय

दीक्षातत्त्व और त्रिपुरोपासना

यामल के मत में दीक्षा शक्तिपात का एक ऐसा आध्यात्मिक दिव्य विधान है, जिसके द्वारा गुरु के माध्यम से शिष्य को दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है तथा पापक्षय होता है। दीक्षा में दो अक्षर है— 'द' या 'दी' तथा 'क्ष'। 'द' का अर्थ है— दिव्य ज्ञान प्रदान किया जाना और 'क्ष' का अर्थ है— पापों का क्षय होना। अत: दीक्षा, दिव्य ज्ञान की प्राप्ति एवं पापक्षय की एक शक्तिपातज तकनीक है—

दिव्यज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पापक्षयं यत:।
तेन दीक्षेति लोकेऽस्मिन् कीर्तिता तनत्रपारगै:।। (यामल)

हजारों उपचारों से अर्चित एवं भक्ति से आसिक्त होने पर भी जो अर्चना अदीक्षितों द्वारा निष्पादित की जाती है, उसे देवगण कभी स्वीकार नहीं करते—

उपचारसहस्त्रारैस्त्वर्चितां भक्तिसंयुताम्।
अदीक्षितार्चनं देवा न गृह्णन्ति कदाचन।।

जो व्यक्ति अदीक्षित होता है, वह पशु होता है और उसके समस्त कर्म व्यर्थ हो जाते हैं—

कर्माखिलं वृथा यस्मात्तस्माददीक्षित: पशु:।

विना दीक्षा के मोक्ष भी सम्भव नहीं है—

विना दीक्षां न मोक्ष: स्यात्प्राणिनां शिवशासने।। (शा० त०)

आचार्य हयग्रीव यह मानते हैं कि जो व्यक्ति दीक्षित नहीं होता, वह मोक्ष प्राप्त करने के योग्य नहीं होता— 'नादीक्षितो मोक्षार्ह:' (१५.२-२)। दीक्षा प्राप्त कर लेने पर साधक शिवत्व प्राप्त कर लेता है— 'शिवत्वं लभते ध्रुवम्।' आचार्य हयग्रीव की मान्यता है कि जो साधक दीक्षित होता है, वही संस्कृत होता है; अन्य लोग तो असंस्कृत ही होते हैं।[१]

हयग्रीव के मतानुसार दीक्षा के पाँच भेद हैं—'समयविशेषमहाविशेषज्ञानभेदात्पञ्च।'

दीक्षा के भेद

समय	वैशेष	सामान्य ज्ञान	वैशेष ज्ञान	निर्वाण
(समय दीक्षित)	(वैशेष दीक्षित)	(सामान्य ज्ञान-दीक्षित)	(वैशेष ज्ञान-दीक्षित)	(राजयोगी ही निर्वाणदीक्षा का अधिकारी है।)

---

१. दीक्षित: संस्कृत:। नादीक्षितो मोक्षार्ह:। (१५.२-१-२)

ज्ञान-दीक्षा के भेद

सामान्य दीक्षा | विशेष दीक्षा | महाविशेष दीक्षा

दीक्षितों के भेद

नामनिष्ठ	कर्मनिष्ठ	मन्त्रनिष्ठ	ज्ञाननिष्ठ	योगनिष्ठ
(विशेषान्तं नामनिष्ठः)	(महाविशेषान्तं कर्मनिष्ठः)	(सामान्यज्ञानदीक्षान्तं मन्त्रनिष्ठः)	(विशेषज्ञाननिष्ठः)	
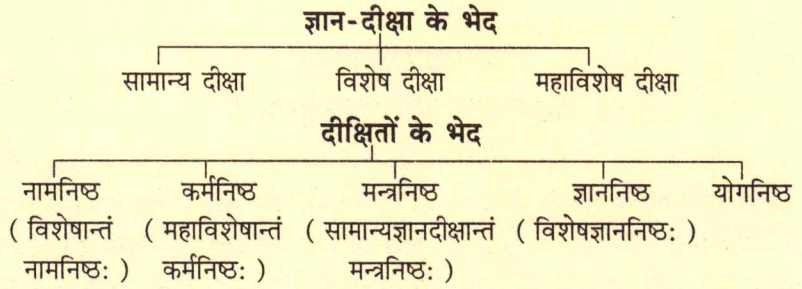
श्रेष्ठता का उत्तरोत्तर क्रम— समयदीक्षित → वैशेष दीक्षित → सामान्य ज्ञान दीक्षित → वैशेष ज्ञान दीक्षित → निर्वाण दीक्षित।

समय = मूल मन्त्रग्रहण ही समय है। समयदीक्षित = गृहीत मूलमन्त्र। महाविशेष = यन्त्रार्चन आदि विशिष्ट अर्चन। इसके बाद ही साधक इतिहास-पुराण (पञ्चम वेद) का अधिकारी बनता है। सामान्य ज्ञान दीक्षित = गृहीतपञ्चमवेदः।

१. 'पञ्चमवेदविचारात्मकं परोक्षं सामान्यम्।' (शाक्तदर्शनम्-१.१५.२.८)
२. 'सिद्धान्तविचारजं प्रकाशात्मकं ज्ञानं विशेषम्।' (शाक्तदर्शनम्-१५.२.९)
३. 'आत्मप्रकाशात्मकं महाविशेषम्।' (शाक्तदर्शनम्-१५.२.१०)
४. 'निर्वाणमपरोक्षम्।' (शाक्तदर्शनम्-१५.२.११)[१]

निर्वाणदीक्षित अपरोक्ष ज्ञानी ही मुक्त होता है और वह राजयोगी होता है—

निर्वाणदीक्षितापरोक्षज्ञानी मुक्तः। राजयोगिनः।

(शाक्तदर्शनम्-१५.४)

इनमें राजयोगी को व्यवहार एवं लौकिक कर्मों की अपेक्षा नहीं होती।

'दीक्षा' शिष्य को भोग एवं मोक्ष प्रदान करने की एक अनुग्रहात्मक आध्यात्मिक क्रिया है, जो गुरु शिष्य को प्रदान करता है। 'हंसविलास' में कहा गया है कि जहाँ शक्तिपात नहीं किया गया (दीक्षा द्वारा शक्तिपात नहीं किया गया), वहाँ सिद्धि सम्भव नहीं होती— 'यत्र शक्तिर्न पतति तत्र सिद्धिर्न जायते।' स्पष्ट है कि 'दीक्षा' शिष्य को मुक्ति दिलाने हेतु उस पर किये गये शक्तिपात का विधान है; क्योंकि विना शक्तिपात के मुक्ति समिंव ही नहीं है। इसीलिये दीक्षा का विधान किया गया है।

आचार्य शंकर की दृष्टि में दीक्षा का स्वरूप— आद्य शंकराचार्य ने प्रपञ्चसारतन्त्र के पञ्चम पटल के प्रारम्भ में दीक्षा के स्वरूप का निरूपण करते हुये कहा है—

दद्याच्च दिव्यभावं क्षिणुयाद्दुरितान्यतो भवेद्दीक्षा।
मननात्तत्त्वपदस्य त्रायते इति मन्त्रमुच्यते भयतः।।

---

१. विशेषं ज्ञाननिष्ठः। मन्त्रयोगी महाविशेषम्। हठयोगी च। निर्वाणं राजयोगी (१५.२-१६,१८,१९)।

समय— मूलमन्त्रग्रहणं समयः। विरजाकुङ्कुमतिलकपरं समयः।

दीक्षा के दो व्यापार हैं— दिव्यभाव का दान एवं दुरितों (दुष्कृतों) का क्षय। 'दाञ्' दाने एवं 'क्षि' क्षये धातुओं से दीक्षा शब्द निष्पन्न हुआ है।

दीक्षा सिद्धि प्रदान करने वाला एक सशक्त माध्यम भी है। शंकराचार्य कहते हैं—

येनोपलब्धेन समाप्नुवन्ति सिद्धिं परत्रेह च साधकेशाः।

शिवाग्रयोगीन्द्र ज्ञानशिवाचार्य की दृष्टि में दीक्षा का स्वरूप— ज्ञानशिवाचार्य की दृष्टि में दीक्षा की परिभाषा इस प्रकार है— 'दीक्षासामान्यलक्षणन्त्वागमिकनित्याद्यधिकारागमश्रवणाद्यधिकारान्यतरनिर्वर्तनसमर्थशिवव्यापारत्वम्।'

प्राथमी दीक्षा समयदीक्षा है— 'प्रथमं समयदीक्षा लब्धव्या।' समयदीक्षा अर्थात् शिवालय-परिचर्या, शिवपूजादिक। 'निर्वाणदीक्षा' तो आगमश्रवण-मननादि अधिकारसम्पादिका है। कहा भी गया है— 'समयदीक्षा विशेषदीक्षा च शिवालय-परिचर्या-शिवपूजादिनित्याद्यधिकारसम्पादिका। निर्वाणदीक्षा तु आगमश्रवणमननाद्यधिकारसम्पादिका।'
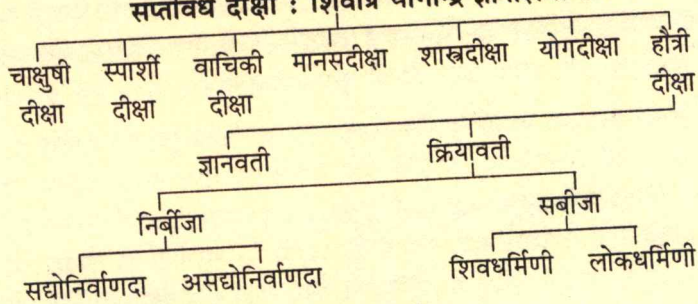
सबीजा = समयाचारसमर्थानां क्रियमाणा सबीजा।

क्रियावती दीक्षा के प्रकारान्तर से अन्य भेद

समयदीक्षा (रुद्रपद में योजन)
विशेष दीक्षा (ईश्वरपद में योजन)
निर्वाणदीक्षा (शिखाच्छेद, अध्वशुद्धि) (शिवपद में योजन)
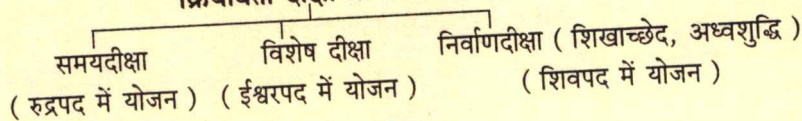
अध्व

मन्त्र	पद	वर्ण	भुवन	तत्त्व	कला
(११)	(८१)	(५०)	(२२४)	(३६)	(५)

शैवमत में वेधदीक्षा

मन्त्रवेध नादवेध बिन्दुवेध शाक्तवेध भुजङ्गवेध परवेध

सांसिद्धिक साधकों को दीक्षा की आवश्यकता नहीं होती।

पुत्र या समयी

सबीज निर्बीज
(पुत्रक दीक्षा)
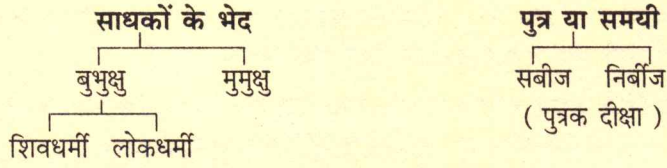
'ताराभक्तिसुधार्णव' के अनुसार शाक्तों की दीक्षा भी शैवों की ही भाँति है; यथा— शाक्ती, शाभवी एवं मान्त्री दीक्षा।

कलावती दीक्षा— 'शारदातिलक' के अनुसार क्रियावती, वर्णमयी, कलावती एवं वेधमयी दीक्षा।

हठयोगी व्यवहारसापेक्ष होते हैं। मन्त्रयोगियों के लिए व्यवहार नित्य आवश्यक होता है। ज्ञाननिष्ठ को महावैशेषाधिकार प्राप्त रहता है। नामनिष्ठ पूत एवं अपूत दोनों होते हैं और दोनों को सामान्य जप एवं पूजा का अधिकार होता है। दीक्षात्रय से पूत 'कर्मनिष्ठ' होता है। विशेष जापक 'मन्त्रनिष्ठ' कहलाते हैं। इन्हें होमादिक नित्य करने होते हैं; क्योंकि होमादिक जप के अंग हैं। मन्त्रनिष्ठों की विशेष दिवसों में विशेष पूजा हुआ करती है। होम-तर्पण आदि वैशेषी पूजा कहलाती है।

महावैशेषदीक्षितों को प्रतिमा, यन्त्रशिला आदि की नित्य पूजा करनी होती है। ज्ञान-निष्ठ जप, अर्चन, उपनिषद्, गीता के पाठ एवं उनके अर्थभावन में संलग्न रहते हैं। इन्हें भी विशेष दिनों विशेष पूजा करनी पड़ती है। इन्हें जप करना भी उचित है। मन्त्र-योगी मन्त्रयोग के अनुसर्त्ता एवं बिम्बार्चननिष्ठ होते हैं। हठयोगी भी व्यवहार में जप-पूजा में अनुरक्त रहते हैं; किन्तु राजयोगियों के लिये लौकिक व्यवहारगत विधान ऐच्छिक है; अनिवार्य नहीं। ज्ञानी स्वतन्त्र होता है और उसके लिये व्यवहार काम्य नहीं है। ज्ञानी के ज्ञान का स्वरूप निम्नांकित है—

अन्तःकरणवृत्त्यामारूढ़ब्रह्मप्रकाशो ज्ञानम्।

सावित्रीग्रहण 'वर्णदीक्षा' कहलाती है और अग्न्याधान 'वैशेषी दीक्षा' कहलाती है। सन्ध्याओं में उत्तम संख्या में मातृजप-ग्रहण 'महावैशेषी दीक्षा' है। अष्टसाधनों से ब्रह्मविचार करना 'ज्ञानदीक्षा' है। निदिध्यासन 'निर्वाणदीक्षा' है। अदीक्षित को दीक्षा देने का अधिकार नहीं है। दीक्षितों को भी वर्णधर्म का त्याग नहीं करना चाहिये।[१]

तन्त्र में वर्णधर्म त्याज्य माना गया है; किन्तु हयग्रीव के शाक्तदर्शन में कहा गया है कि 'दीक्षितैरपि न त्याज्या वर्णधर्माः।' दीक्षितों को अदीक्षितों की पूजा नहीं करनी चाहिये और तान्त्रिकों की तो कभी भी पूजा नही करनी चाहिये— 'न कदापि तान्त्रिकान्' (१६.२.२२)।

सामान्य जनों से तो सौर, वैष्णव एवं शैव भी श्रेष्ठतर हैं।[२]

---

१. शाक्तदर्शनम् २. शाक्तदर्शनम्

दीक्षित साधकों का चिह्न कुंकुम है, जो कि प्रवाल-मिश्रित होना चाहिये। भ्रूमध्य में कुंकुम धारण करना चाहिये। एतदर्थ भस्मगन्ध भी प्रयुक्त होता है। प्रतिदिन मन्त्र-सन्ध्योपासना करनी चाहिये। नामनिष्ठ को संकीर्तन-अर्चन सदा निष्पाद्य है। कर्मनिष्ठ द्वारा वर्ण-सन्ध्या गायत्रीजप के साथ 'मतसन्ध्या' जप-होम-तर्पण-वैश्वदेव-आतिथ्य आदि प्रतिदिन करने चाहिये— 'वर्णसन्ध्याजपवन्मतसन्ध्याजपार्चनानि नित्यम्।'[1]

प्रतिदिन दशांगों का जप करना चाहिये। कवच, हृदय, सहस्रनाम, स्तवराज, लहरी (सौन्दर्यलहरी), वेदपादस्तव, आवरणस्तव, गीता, अथर्वशीर्ष एवं अथर्वस्तव दशाङ्ग कहे गये हैं।[2]

शुक्रवार को नक्तपूजा करनी चाहिये। यह पूजा निवेदन एवं अर्चनसापेक्ष है।

यद्यपि पुरश्चर्या आदि भी यज्ञ हैं; किन्तु 'ज्ञानयज्ञ' इनसे हजारगुना श्रेष्ठतर होता है— 'सहस्रगुणितं ज्ञानयज्ञम्' (१६.४.१५)।

औशनस भाष्यसहित ब्रह्मसूत्र का अध्ययन करने पर ही साधक वैशेषिक ज्ञान-दीक्षा का अधिकारी होता है; अन्य नहीं। वैशेषिक ज्ञानदीक्षा के दो प्रकार हैं— द्वैपायनब्रह्मसूत्राध्ययनयुता एवं शाक्ततत्त्वज्ञानावबोधयुता।

द्वैपायनकृत ब्रह्मसूत्र एवं शक्तिसूत्रों पर हयग्रीवकृत भाष्य के ऊपर शुक्राचार्य द्वारा किये गये भाष्य को 'औशनस भाष्य' कहते हैं।

दीक्षा : दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण

'दीक्षा' आत्मसंस्कार का नामान्तर है। आणव, मायीय एवं कार्ममलों या पाशों से जीवात्मा आच्छन्न है। इसके प्रभाव से उसके स्वभावसिद्ध पूर्णत्व का स्फुटन नहीं हो पाता। जीवात्मा शिवस्वरूप होने पर भी आणवमल के कारण स्वरूपगत संकोच से अपने को अपूर्ण मानता है। इसी के कारण शुभाशुभ वासनाओं के उन्मेष के फलस्वरूप जन्म, आयु एवं भोगों का उदय होता है। यही 'कार्ममल' है। कर्म से ही पञ्चकञ्चुक (कला, विद्या, राग, काल एवं नियति तथा इनकी समष्टिभूता माया) अस्तित्व में आते हैं। इन्हीं के द्वारा भोग्य पदार्थों का अनुभव होता है। यही 'मायीय मल' है। दीक्षा मलों का संस्कार या मल-निवृत्ति का साधन है। तन्त्र एवं मन्त्र के क्षेत्र में विना दीक्षा के प्रवेश करना ही निषिद्ध है—

अथ दीक्षां प्रवक्ष्यामि शृणुष्व कमलानने।
यया विना नाऽधिकारस्तन्त्रे मन्त्रेऽपि च क्वचित्।।

(नीलतन्त्र-षष्ठ पटल)

---

१. शाक्तदर्शनम्

२. शाक्तदर्शनम् : 'कवच-हृदय-सहस्रनाम-स्तवराज-लहरी-वेदपादस्तवावरणस्तवगीताथर्वशीर्षसूक्तान्यङ्गानि' (१६.३.१८)

दीक्षा एक तप है और यह समस्त जगत् का मूल है—

दीक्षामूलं जगत्सर्वं दीक्षाऽपि परमं तपः।

(नीलतन्त्र- षष्ठ पटल)

साधक को चाहिये कि वह जहाँ कहीं भी निवास करे, वहाँ दीक्षा लेकर ही रहे; क्योंकि अदीक्षित होकर मरने से व्यक्ति को रौरव नरक की यातना भोगनी पड़ती है—

अदीक्षितोऽपि मरणे रौरवं नरकं व्रजेत्। (नीलतन्त्र)

इसीलिये कहा गया है—

तस्माद्दीक्षां प्रयत्नेन सदा कुर्याच्च तान्त्रिकीम्। (नीलतन्त्र)

कहते हैं कि कोटि जन्मों से अर्जित पाप भी दीक्षाग्रहण करने के काल से ही नष्ट हो जाते हैं—

कोटिजन्मार्जितं पापं ज्ञानाज्ञानकृतं चरेत्।
दीक्षाग्रहणमात्रेण पलायन्ते न संशयः।।

ब्रह्महत्या, स्वर्णस्तेय आदि घोर पातक एवं अन्य लाखों उपपातक दीक्षा द्वारा नष्ट हो जाते हैं—

ब्रह्महत्या सुरापानं स्वर्णस्तेयादि पातकम्।
उपपातकलक्षाणि हन्ति दीक्षा ग्रहान्विता।। (नीलतन्त्र)

दीक्षा शक्ति। गन्धर्वतन्त्र में कहा गया है—

इयं दीक्षा सर्वतन्त्रे शक्तिर्या परिकीर्तिता।।(शाक्ता०-२ उल्लास)

'दीक्षा' मल-संस्कार की एक आध्यात्मिक क्रिया है। दीक्षा के दो पक्ष हैं— दान और क्षपण—

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुवासना।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता।।

अर्थात् जिसके द्वारा ज्ञान दिया जाता है और पशुवासना का क्षय होता है, ऐसी दान एवं क्षपणयुक्त क्रिया ही 'दीक्षा' है। यही दीक्षा का स्वरूप है। दीक्षा की निष्पत्ति से पाशों का प्रशमन (पाश-विच्छेद), शिवत्व की अभिव्यक्ति और मलोपेत आत्मा का संस्कार (मल-निवृत्ति) होता है।

दीक्षा द्वारा मलोपेत आत्मा का संस्कार किया जाता है। उससे मल-निवृत्ति होती है। परमात्मा अपनी क्रियाशक्तिस्वरूप दीक्षा के द्वारा पश्वात्मा को मुक्त करते हैं। सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्व का पूर्ण विकास ही तो 'मोक्ष' है। दीक्षा ही मुक्ति प्रदान करती है—

दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि।

ज्ञान और क्रिया अभिन्न हैं। भगवान् की शक्ति अभिन्न ज्ञानक्रियात्मिका है। क्रिया शक्ति एक होकर भी व्यापार-भेद से तीन प्रकार की है— वामा, ज्येष्ठा एवं रौद्री।

वामा— जगत् की स्थिति, संरक्षण।

ज्येष्ठा— संहार।

रौद्री— पाप-विमोचन और अनुग्रह।

मल + वामा शक्ति के आवरणात्मक अधिकार की निवृत्ति तथा अनुग्रह → आत्मा में कैवल्योन्मुखी एवं अनिर्वचनीय भाव का उदय → परमात्मा द्वारा पश्वात्माओं के ज्ञान + क्रियाओं का आवरण-विच्छेद → पश्वात्मा में भी अनन्त ज्ञान + अनन्त क्रिया का प्रादुर्भाव। आणव + कार्म + मायीय मलों का क्षय → बन्धननिवृत्ति → जीव की शिवत्व में प्रतिष्ठा या जीव की शिव के रूप में प्रतिष्ठा।

तीव्रतम शक्तिपात → अनुपायक्रम द्वारा दीक्षा सम्पन्न होती है और क्षणमात्र में जीव मुक्त हो जाता है।

अल्प शक्तिपात → शाभवी दीक्षा, शाक्ती दीक्षा एवं आणवी दीक्षा दीक्षा के विना मुक्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है।

वास्तविक दीक्षा है— आत्मसंस्काररूप आन्तर दीक्षा।

'दीक्षा' से बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति तो नहीं होती; किन्तु बौद्ध ज्ञान से हो जाती है। बौद्ध ज्ञान → विकल्पों का विच्छेद + सद्योमुक्ति। विकल्पहीन चित्त की सद्योमुक्ति जीवन्मुक्ति है। विकल्प-निवृत्ति → देह रहने पर भी मुक्ति में बाधाभाव। पूर्णत्व-प्राप्ति का क्रम—

दीक्षा— पौरुष ज्ञान का अन्त— अद्वय आगम के श्रवण का अधिकार— बौद्ध ज्ञान का उदय— बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति— जीवन्मुक्ति— भोगादि द्वारा प्रारब्ध का ध्वंस— देहत्यागानन्तर पौरुष ज्ञान का उदय— मोक्ष या परमेश्वरत्व की सम्प्राप्ति।

दीक्षा के भेद

१. समयी दीक्षा— दीक्षाओं में एक निर्दिष्ट क्रम तो है; किन्तु शिष्य की पात्रता के आधार पर यह क्रम भिन्न हो जाता है। एक ही क्रम सर्वत्र अनुसृत नहीं होता। दीक्षाओं में सर्वप्रथम 'समयदीक्षा' पर प्रकाश डाला जा रहा है। इस दीक्षा का वैशिष्ट्य निम्नांकित है—

१. समयी दीक्षा में समस्त पशु आत्माओं का समान अधिकार है।

२. इस दीक्षा में काल एवं आश्रम आदि का कोई नियम-प्रतिबन्ध नहीं है।

३. यदि आत्मा का अनादि मल थोड़ा भी पक्व हो जाय तो भगवान् की अनुग्रह-शक्ति मन्द रूप में जीव में प्रवेश करने लगती है।

४. गुरु के द्वारा शिष्य के मस्तक पर शिवहस्तार्पण ही इस दीक्षा का रहस्य है।

५. इस दीक्षा के अनन्तर गुरु-सेवा एवं विभिन्न देवी-देवताओं की आराधना का अधिकार प्राप्त हो जाता है और भक्ति का उन्मेष भी होने लगता है।

कर्म के फलों के भोग से कर्मों का क्षय तो होता है; किन्तु कर्म नि:शेष नहीं हो सकते; क्योंकि कर्मसञ्चय भी चलता रहता है। अत: एतदर्थ दीक्षा आवश्यक है।

कालाग्नि रुद्र या काल तथा भगवान् की रौद्री शक्ति (क्रियाशक्ति) एवं दीक्षा सभी रौद्री शक्ति के विभिन्न रूप हैं। भगवान् की कालशक्ति भी रौद्री शक्ति ही है। दीक्षा भी भगवान् की क्रियाशक्ति का व्यापार है। यही शक्ति रौद्री शक्ति है।

६. समयदीक्षा प्राप्त होने पर साधक को होम-जप-पूजन-ध्यान आदि में योग्यता प्राप्त हो जाती है।

७. समयी की आत्मा 'चर्या' एवं 'ध्यान' से निर्मल होती है। 'चर्या' = गुरूपदिष्ट एवं शास्त्रोक्त आचारों का पालन। 'ध्यान' = योगाभ्यास।

८. समयी दीक्षा से साधक को पूर्णत्व की प्राप्ति कभी नहीं होती और भोग का लाभ भी प्राप्त नहीं होता; किन्तु 'ईश्वर पद' की प्राप्ति या 'अपरा मुक्ति' प्राप्त हो सकती है। पाश-शुद्धि से ऐश्वर्य-लाभ तो हो जाता है; किन्तु सम्पूर्ण पाशों का समुच्छेद नहीं हो पाता। अत: पूर्णत्व भी प्राप्त नहीं हो सकता।

९. समयी का संस्कार जात्युद्धार, द्विजत्व-प्राप्ति एवं रुद्रांशापत्ति के द्वारा होता है।

क. जात्युद्धार— भोग हेतु पश्चात्मा द्वारा प्राप्त भोगायतन शरीर से सम्बद्ध जाति का उत्कर्ष ही 'जात्युद्धार' है। इसके द्वारा साधक की पूर्ववर्ती जाति न रहकर भैरवीय या शिवमयी जाति हो जाती है। इसके बाद अपनी पूर्ववर्ती जाति बताना भी पातक माना जाता है। इस व्यापार के द्वारा देह के सूक्ष्मतम अंगसंस्थान में एक आमूल परिवर्तन हो जाता है।

ख. द्विजत्वापादन— जात्युद्धार के बाद द्विजत्वापादन-हेतु प्रयास आवश्यक है। इसमें मन्त्रशक्ति ही कार्य करती है।

● द्विजत्वापादन में मन्त्रों से ही देह की योनि, बीज, आहार, देश एवं भाव की शुद्धि करनी पड़ती है। मन्त्रशक्ति द्वारा योनि एवं बीज का शोधन करना चाहिये। इसके द्वारा देहगत अशुद्धि एवं शास्त्रोक्त आहार ग्रहण करने से आहार-शुद्धि करनी चाहिये और इसके लिये मन्त्र-साधना भी आवश्यक है; क्योंकि देहशुद्धि एवं भोजनशुद्धि पूर्व व्यापार से सम्भव नहीं हो पाती। दुष्टों की संगति से देश की अशुद्धि एवं असत्य कौटिल्यादि से भावाशुद्धि होती है। इनकी मलिनता दूर करने हेतु भी मन्त्रसाधन आवश्यक है। मन्त्राराधन से शुद्ध विद्या में जन्म प्राप्त करने पर अलौकिक द्विजत्व प्राप्त हो जाता है। इस दीक्षा के द्वारा एक ही जाति— शिवमयी (भैरवीय) जाति प्राप्त होती है। द्विजत्व प्राप्त होने पर 'उपवीत' दिया जाता है। समयी 'शिशु' कहलाता है; क्योंकि वह आध्यात्म जगत् में नया जन्म ग्रहण करता है।

'उपवीत'— 'उप' (आत्मा के समीप) 'वि' = विशेष अर्थात् मन्त्रसामर्थ्य से 'इत' अर्थात् सम्बद्ध होना ही उपवीतग्रहण है। उपवीत अनन्त मन्त्रों एवं देवताओं के शुद्ध विद्यारूप शक्तिसूत्र का प्रतिरूप है। भुवनाध्वा में ४८ संस्कारों के द्वारा द्विजत्वापादन किया जाता है।

● गर्भाधान से जन्मपर्यन्त जो ४० संस्कारों का विधान है, उसकी शक्ति से शिशु शुद्ध विद्या में जन्म लेता है और फिर उसके बाद अष्टगुणों के द्वारा उसका चैतन्य संस्कार करने का विधान है। ये ही हैं— ४८ संस्कार। ४८ संस्कार अर्थात् पूर्ण द्विजत्वसिद्धि।

ग. रुद्रांशापादन— रुद्रांश न होने तक रुद्र के ध्यान में एकाग्रता आ पाना सम्भव नहीं है। एतदर्थ गुरु के अनेक कर्तव्य हैं—

● गुरु शिष्य का 'प्रोक्षण' एवं 'तारण' करके ऊर्ध्वमार्गिक रेचक क्रिया द्वारा अपने शरीर से निर्गत होकर शिष्य-देह में प्रविष्ट होते हुये उसके हृदय तक पहुँचे। वहाँ पहुँचकर शिष्य के पुर्यष्टक को शिथिल करे (विश्लेषित करे)। इसके द्वारा जीव का शरीर के साथ एक सूक्ष्म सूत्र का सम्बन्धमात्र रह जाता है।

● इसके बाद गुरु पुर्यष्टक को पृथक् करके शुद्धोपादान से उसका अवगुण्ठन (आवरण) करे।

● फिर आकृष्ट करते हुये द्वादशान्त (मस्तक) में स्थापित करे।

● फिर जीव को सम्पुटित करके संहारमुद्रा से खींचकर ऊर्ध्व पूरक के द्वारा अपने हृदय में प्रत्यावर्तित हो जाना चाहिये और वहाँ कुम्भक के द्वारा स्वारस्य-सम्पादन करके (अपने साथ शिष्य का अभेदापादन करके) ऊर्ध्वोद्वेष्टन क्रम से रेचन करना चाहिये। इस रेचन के साथ शिष्य विश्व के निम्नतम देश से ऊर्ध्वतम प्रदेशपर्यन्त समस्त अध्वाओं में अधिष्ठित ६ देवताओं का त्याग कर दे। ये ६ देवता निम्नांकित हैं—

१. हृदय में ब्रह्मा	४. भ्रूमध्य में ईश्वर
२. कण्ठ में विष्णु	५. ललाट में सदाशिव
३. तालु में रुद्र	६. ब्रह्मरन्ध्र में शिव

● विश्व के अधिष्ठातृ कारणवर्ग से विशिलष्ट हो जाने पर ईश्वरपद-प्राप्त्यर्थ ईश्वराराधन की योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है।

● फिर भ्रूमध्य से जीव को लेकर सम्पुटित करके एवं संहारमुद्रा से उठाकर पुनः शिष्य के हृदय में स्थापित किया जाना चाहिये। यही है— समयी दीक्षा।

२. भोगदीक्षा (साधना दीक्षा)— समयी दीक्षा के अनन्तर 'पुत्रकादि' अन्यान्य दीक्षाओं का विधान है। समयी दीक्षा में अध्व-शुद्धि की आवश्यकता नहीं है; केवल दीक्षा द्वारा ही किसी अंश में पाश-शुद्धि सम्पादित हो जाती है।

फलाकांक्षी शिष्य भोग एवं मोक्षस्वरूप फल से भोगार्थी एवं मोक्षार्थी द्विविध प्रकार के होते हैं। मुमुक्षु के भी दो भेद है— पुत्रक और आचार्य। स्वप्रत्ययी शिष्यों को शिष्य की वासना के अनुकूल दीक्षा देनी चाहिये। गुरुप्रत्ययी साधकों को (गुरु का कर्तव्य है कि) भोगदीक्षा न देकर मोक्षदीक्षा दे।

३. शिवधर्मिणी दीक्षा— साधकों के दो भेद हैं— शिवधर्मी एवं लोकधर्मी। 'भोगदीक्षा' एवं 'भूतदीक्षा' के भी दो भेद होते हैं— शिवधर्मिणी एवं लोकधर्मिणी। इन दोनों को साधक दीक्षा कहते हैं। शिवधर्मिणी दीक्षा के अनुसार साधक को प्राप्त सिद्धियों के प्रकार इस तरह हैं— १. मन्त्रेश्वर पद की प्राप्ति, २. मन्त्रपद की प्राप्ति, ३. पिण्ड-सिद्धि + अवान्तर सिद्धि। यह साधक भोगास्वादनार्थ जिस भी लोक में जाता है वहाँ उसे अमर एवं स्थिर शरीर प्राप्त हो जाता है। प्रलयकाल में उस लोक के नष्ट न होने तक ये सिद्ध उसी स्थिर से रहा करते हैं। इसके साथ अवान्तर सिद्धियाँ भी उन्हें प्राप्त हो जाती हैं; यथा— खड्गसिद्धि, अञ्जनसिद्धि एवं पादुकासिद्धि। ये भी समयाचार के पालक होते हैं। ये मन्त्राराधक होते हैं। शिवधर्मी साधक यति एवं गृहस्थ दोनों होते हैं और आराध्य मन्त्र के आदेशानुसार ही समस्त कार्य करते हैं।

४. लोकधर्मिणी दीक्षा— इस सन्दर्भ में कहा गया है कि गुरु लोकधर्मी साधक को अपने इष्ट भुवनेश्वर के स्वरूप से युक्त करके उनके धर्म से युक्त करे या यदि वह मुक्तिकामी हो तो उसे शिव में आरोपित करके उनके धर्मों से युक्त करे। ये ऊर्ध्व गति और योजन क्रमशः साधक एवं गुरु के संकल्पानुसार हुआ करते हैं—

लोकधर्मिणमारोप्य मते भुवनभर्तरि।
तद्धर्मापादनं कुर्याच्छिवे वा भुक्तिकांक्षिणम्।।

इस दीक्षा के प्रभाव से सञ्चित (प्राक्तन) एवं आगामी कर्मों के अन्तर्वर्ती अशुभांश नष्ट हो जाते हैं। प्रारब्ध-भोगान्त में देह के नष्ट होने पर अणिमादिक-भोगार्थ गुरु ऊर्ध्व-लोक में भेज देते हैं। वहाँ भोगान्तोपरान्त भी भोग-तृप्ति न होने पर गुरु वासनानुरूप भोगार्थ ऊर्ध्वतर भुवन में भेज देते हैं। फिर शुभकर्म-भोग के अन्त में वैराग्योदय होने पर अन्तिम भोगस्थान से ही परमेश्वर के निष्कल स्वरूप में योजित कर दिया जाता है। यह योजना निष्कल ब्रह्म के साथ नहीं; प्रत्युत मायातीत विशुद्ध भुवनों के अधीश्वर के साथ होती है।

५. मोक्षदीक्षा : निर्बीज दीक्षा— मुमुक्षु की दीक्षा के ३ प्रकार हैं— सबीज, निर्बीज एवं सद्यः निर्वाणदायिनी। निर्बीज दीक्षा बालक, वृद्ध, स्त्री, व्याधिग्रस्त एवं मूर्खों के लिये है अर्थात् यह शास्त्रविचार में अक्षम लोगों के लिये है। इनके लिये समयाचार-पालन की भी आवश्यकता नहीं होती; बल्कि केवल गुरुभक्ति से ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है—

दीक्षामात्रेण मुक्तिः स्याद भक्तिमात्राद गुरोः सदा। (स्वच्छन्दतन्त्र)

इन साधकों के लिए गुरुभक्तिमात्र ही एक समय (शर्त) है; अन्य कोई नहीं है।

सद्यः निर्वाणदायिनी दीक्षा— यह दीक्षा मुमुर्षु अवस्था में ही देय है; क्योंकि यह दीक्षा दीप्ततम मन्त्र से सम्पन्न होने के कारण पाशत्रय का ध्वंस कर देती है। इस दीक्षा का प्रभाव है— शुद्धि एवं देहपात के अनन्तर परमपद की प्राप्ति—

दृष्ट्वा शिष्यं जराग्रस्तं व्याधिना परिपीडितम्।
उत्क्रमय्य ततस्त्वेन परतत्त्वे नियोजयेत्।।

अर्थात् गुरु को चाहिये कि वह शिष्य को जरा या व्याधि से ग्रस्त देखे तो शिष्य का शरीर से उत्क्रमण कराकर उसे परमतत्त्व में नियोजित करे।

सबीज दीक्षा— यह दीक्षा कष्टसहिष्णु एवं शास्त्रपारङ्गत शिष्यों को प्रदान की जाती है। ऐसे साधकों को शास्त्रनिर्दिष्ट समयाचार का सम्यक् रूप से पालन करना अनिवार्य है; अन्यथा वे शिवमयी सत्ता से अध:पतित हो कर कष्टापन्न हो जाते हैं।

६. क्रियादीक्षा-— 'दीक्षा' क्रिया एवं ज्ञान के भेद से दो प्रकार की होती है। क्रियादीक्षा छः अध्वाओं के भेद से अनेक प्रकार की है; यथा—

कलादीक्षा	मन्त्रदीक्षा	पञ्चतत्त्वदीक्षा
तत्त्वदीक्षा	भुवनदीक्षा	त्रितत्त्वदीक्षा
पददीक्षा	षट्त्रिंशत्तत्त्वदीक्षा	एकतत्त्वदीक्षा
वर्णदीक्षा	नवतत्त्वदीक्षा	

क्रियात्मिका (या हौत्री दीक्षा = 'हूति') दीक्षा में होने वाली तत्त्वशुद्धि में भी ज्ञान ही प्रधान होता है। इसीलिये कहा गया है कि जिसे ज्ञान से तत्त्वशुद्धि की सम्यक् प्राप्ति नहीं होती, उसी के लिये क्रिया का विधान है—

यस्य ज्ञानान्न सम्प्राप्ति: क्रिया तस्य विधीयते।

३६ तत्त्वों को ९ तत्त्वों में परिणत कर सकने से नवतत्त्वदीक्षा से भी ३६ तत्त्वों की शुद्धि हो जाती है। ९ तत्त्व निम्नांकित हैं—

१. प्रकृति	४. काल	७. ईश्वर
२. पुरुष	५. माया	८. सदाशिव
३. नियति	६. विद्या	९. शिव

पञ्चतत्त्व— पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश।

तत्त्वत्रय— शिवतत्त्व, आत्मतत्त्व एवं मायातत्त्व।

ग्यारह क्रियादीक्षायें— कलादीक्षा-१, तत्त्वदीक्षा-४, एकत्वदीक्षा-१, पददीक्षा-१, मन्त्र-वर्ण-भुवनदीक्षा-३, एवं साधारण दीक्षा-१ = ११ दीक्षा।

११ दीक्षायें + ज्ञानदीक्षा-१ = १२ दीक्षायें।

पुत्रक की दीक्षा— सबीज, निर्बीज एवं सद्य: निर्वाणदायिनी = ३। १२ × ३ = ३६ दीक्षायें। आचार्यदीक्षाओं की संख्या = १२। ये मात्र सबीज होती हैं। अत: इनकी संख्या मात्र १२ है।

शिवधर्मी एवं लोकधर्मी साधक की दीक्षा— दोनों मिलाकर १२ + १२ = २४

होती हैं। समयी दीक्षा = ज्ञान द्वारा हृदयग्रन्थिप्रभृति का भेदन होने पर तथा क्रिया द्वारा ग्रन्थिभेद होने पर १ + १ = २ (दो प्रकार)।

कुल दीक्षायें = ३६ + १२ + २४ + २ = ७४ हैं।

शिष्यों के आशय में भिन्नत्व होने के कारण एक साधक के लिये किसी अध्वा का तो प्राधान्य रहता है; किन्तु अन्य अध्वाओं का गौणत्व रहता है। निष्कर्ष यह है कि दीक्षाओं के अनन्त प्रकार हैं—

यत्र यत्र हि भोगेच्छा तत्प्राधान्योपयोगतः।
अन्यान्तर्भावनातश्च दीक्षानन्तविभेदभाक्।।

इसी प्रकार 'तत्त्वाध्वा' में भी जब किसी तत्त्व का प्राधान्य होता है तब अन्य तत्त्वों का गौणत्व हो जाता है। ३६ तत्त्वदीक्षा की अपेक्षा नव तत्त्वदीक्षा का अधिकारी एवं गुरु श्रेष्ठतर है।

इसी प्रकार ९ तत्त्व से ५ तत्त्व, ५ तत्त्व से ३ तत्त्व एवं ३ तत्त्व से १ तत्त्वदीक्षा का अधिकार उच्च कोटि का है। एक तत्त्वदीक्षा के योग्य गुरु एवं शिष्य दोनों दुर्लभ हैं—

एकतत्त्वविधिश्चैव सुप्रबुद्धं गुरुं प्रति।
शिष्यगतभोगकाङ्क्षमुदितः शम्भुना यतः।।

निष्कर्ष यह कि ३६ तत्त्वों को ५ या ३ तत्त्वों में परिणत कर लेने पर ५ या ३ तत्त्वों की दीक्षा होती है।

'एकतत्त्वदीक्षा' में ३६ तत्त्वों की समष्टि रूप से एक तत्त्वरूप में ग्रहण किया जाता है। इसे ही 'बिन्दु' कहा जाता है। इसके शोधन से सभी तत्त्वों का शोधन हो जाता है। सकल + निष्कल अघोरेश्वरी-प्रभृति अनुष्ठान + लोकधर्मी साधक के वैचित्र्य + भौतिक नैष्ठिक तथा आचार्यों के भेद से दीक्षा के असंख्य भेद हैं।

पुत्रक की कला दीक्षा : कलादीक्षा

वागीश्वरी के गर्भ से जन्म लेने के कारण जिसके संसार का उपशम हो गया है, उसको 'पुत्रक' कहा जाता है।

संसारमण्डल (पृथ्वी से कलातत्त्व तक 'माया' का राज्य है और यही है— संसार-मण्डल) के बाद आता है— शुद्ध विद्या का राज्य। शुद्ध विद्या का नामान्तर है— वागीश्वरी। उसके गर्भ से जन्म लेने पर विशुद्ध भुवनों में अवस्थान एवं सञ्चार का अधिकार अधिगत हो जाता है। इस देह को 'बैन्दव देह' 'मन्त्रदेह' की प्राप्ति कहते हैं।

२१ अवान्तर संस्कारों द्वारा यह जन्म होता है। इसके बाद ५ संस्कार और किये जाते हैं, जिनसे पाश-विच्छेद किया जाता है। पाशनिवृत्ति + पाशसंस्कार → मुक्ति। शिवत्वयोजनार्थ १३ पदार्थों का ज्ञान भी आवश्यक है। दीक्षा → पाशक्षपण, शिवत्वा-भिव्यक्ति।

दीक्षा के दो पक्ष हैं— पाशक्षपण एवं शिवत्वयोजन।

पाशक्षपण के साधन ६ संस्कार हैं— अधिकार, भोग, लय, निष्कृति, विश्लेष तथा बैन्दव देह की प्राप्ति।

शिवत्वयोजन के १३ अंग हैं— ४ प्रमाण, प्राणसञ्चार, ६ अध्वाविभाग, हंसोच्चार, वर्णोच्चार, वर्णों द्वारा कारणों का त्याग, शून्य, सामरस्य, त्याग-संयोग-उद्भव, पदार्थभेदन, आत्मव्याप्ति, विद्याव्याप्ति एवं शिवव्याप्ति।

क्रियादीक्षा : शिवत्वयोजन— पाशशुद्धि के अनन्तर अभेद-सम्पादक योजनक्रिया आवश्यक है। चिदात्मा के निष्कल स्वरूप को आच्छादित करके सकल भाव को स्फुरित करने में संलग्न परमात्मा की अन्तरङ्ग शक्ति— 'मन्त्र' भेदज्ञान उत्पन्न करते हैं; अत: मन्त्र से भी निवेदन करना पड़ता है कि आप पशु को सकल भाव में परिणत न करें। योजन-व्यापार से ही जीवात्मा-परमात्मा में एकता स्थापित होती है और जीव परम शिवावस्था प्राप्त करने के योग्य हो पाता है। ज्ञान + योग का अभ्यासाभाव → योजन-व्यापार असम्भव।

सर्वप्रथम पुर्यष्टक के अहम्भाव का प्रशमन करना पड़ता है; अन्यथा परमात्मा के साथ योग असम्भव है। पुर्यष्टक स्वप्नावस्था में 'प्राण' तथा सुषुप्ति में 'शून्य' में स्थित होता है। कारणदेवताओं में पुर्यष्टक के अवयवों का अर्पण किये जा चुकने पर वृत्तियों का निरोध ही हो पाता है, भूमिशुद्धि नहीं हो पाती। भूमिशुद्धि के विना योजन की अङ्ग-भूत व्याप्तियाँ सम्भव नहीं हो पातीं।

प्राण एवं शून्य के प्रशमन के उपाय हैं— ज्ञान + योगादिक अन्त:क्रियायें। श्वासों का देशगत + कालगत परिणाम जानकर प्राण की आरोहण + अवरोहण क्रियाओं का तत्त्व जानना भी आवश्यक है। पूर्णत्वाधिगम के मार्ग के अध्वाओं के अतिक्रमण का भी ज्ञान आवश्यक है। अध्वातिक्रमण का साधन है— ऊर्ध्वनाद (हंसोच्चार)। हंसोच्चार का व्यापार दो प्रकार का होता है— स्वाभाविक एवं प्रयत्नज।

प्रयत्नज हंसोच्चार → उच्चार के प्रभाव से निष्कल मन्त्र के अङ्ग अ + उ + म आदि वर्ण ब्रह्मादिक कारणों तथा काल त्यागने में समर्थ हो जाते हैं। इन क्रियाओं से 'प्राण की शान्ति' हो जाती है।

शून्य प्रशमन की साधना— विषुवत् ज्ञान द्वारा मन्त्र + आत्मा + नाड़ी आदि में सामरस्य जानना आवश्यक है।

मन्त्रोच्चार के अङ्गभूत ('अ' से उन्मना तक के १२ प्रमेयों) अंगों का त्याग एवं संयोग सभी का जानना आवश्यक है।

विशुद्ध ज्ञान (मन्त्राभ्यासजन्य ज्ञान) + मुद्रा + भावयुक्त मन्त्र से ग्रन्थियों का भेदन भी आवश्यक है; क्योंकि अन्यथा पूर्वोक्त दशा का त्याग एवं उद्भव दोनों असम्भव हैं। पूर्वोक्त ज्ञान एवं योग का मूल है— भावप्राप्ति (सुदृढ़ धारणा + शब्दादि अनुभव) → विशुद्ध ज्ञान एवं योग की प्राप्ति। परिणाम → शून्योपशम।

इस दीर्घसाधना का फल → आत्मतत्त्व में अपनी विशुद्धावस्था का अनुभवरूप 'आत्मव्याप्ति', फिर विद्यातत्त्व के उन्मना में विश्रान्त होने पर 'विद्याव्याप्ति' तथा अन्त में शिवतत्त्व का परमशिव में समावेशस्वरूप 'शिवव्याप्ति' और इन तीनों द्वारा परतत्त्व-योजन का व्यापार निष्पादित होता है।

प्राण के दो भेद हैं— स्थूल एवं सूक्ष्म। स्थूल प्राण ३६ अंगुल परिमाण वाला है। सूक्ष्म प्राण में गति नहीं है। अध्वाओं की गति सूक्ष्म प्राण में है। प्राण में 'तत्त्वाध्वा' 'वर्णाध्वा' स्थित हैं। शब्द ध्वन्यात्मक प्राण ही तो है। मन्त्र भी प्राणों में ही प्रतिष्ठित हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि— आचार्य अभिनवगुप्त 'दीक्षा'तत्त्व में निहित दो शक्तियों या व्यापारों को प्रधान मानते हैं, जो 'ज्ञानसद्भाव का दान' एवं 'पशुवासना का क्षपण' है। कहा भी है—

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयन्ते पशुवासनाः।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता।।(तन्त्रालोक-अ०-१)

मल, कर्म एवं माया नामक पाशों से बद्ध 'पशु' केवल पशुपति (शिव) या शक्ति के अनुग्रह से ही मुक्त हो जाता है। परा सत्ता का यह अनुग्रह ही 'दीक्षा' है। पशुपति पशुओं को पाशमुक्त करके स्वस्वरूप बना लेते हैं। यह स्वस्वरूपापत्ति ही परमेश्वर का अनुग्रह है। शिवसाधर्म्य की प्राप्ति ही जीवों की मुक्ति है। आत्मचैतन्य के प्रतिबन्धक अनादि मल की अपसारणा (निवारण) से ही परमेश्वरानुग्रह की पात्रता प्राप्त होती है; अन्यथा नहीं। 'दीक्षा' शक्तिपातजन्य होती है। 'दीक्षा' परमेश्वर की आराधना करने की पात्रता प्रदान करने की एक पद्धति है।

दीक्षा के प्रकार— दीक्षा के तो अनेक प्रकार हैं; यथा— 'स्पार्शी दीक्षा, हौत्री दीक्षा, कलावती दीक्षा, दृग्दीक्षा, वैधी दीक्षा' आदि; किन्तु यहाँ निम्न दीक्षात्रय पर ही प्रकाश डाला जा रहा है; जो निम्नांकित हैं—

१. समय दीक्षा २. विशेष दीक्षा ३. निर्वाण दीक्षा

समय दीक्षा— जब शुभ वासनाओं, सुकृतों एवं सुकृत-फलों के परिणामस्वरूप जीवात्मा की आत्मा के चैतन्य के प्रतिबन्धक एवं आत्मज्ञान के आवरक मल का थोड़ा-बहुत परिपाक होता है, तब मलपाक के कारण उसे मन्द शक्तिपात प्राप्त होता है। 'शक्तिपात' ईश्वरानुग्रह का ही अभिधानान्तर है। इसकी मात्रा के तारतम्य में ही जीव की परमेश्वर के प्रति श्रद्धा, विश्वास, निष्ठा, भक्ति आदि का उदय होता है। इसी काल में प्राथमिक दीक्षा का अवसर आता है और उसे 'समय दीक्षा' या 'शिवहस्तार्पण' कहते हैं। इस दीक्षा के परिणामस्वरूप ही दीक्षित शिष्य में गुरु एवं देवों के प्रति भक्ति एवं पूजाभाव का उदय होता है।

यामल की दृष्टि— यामल में कहा गया है कि हजारों उपचारों से भी भक्ति-संवलित पूजा क्यों न की जाय; किन्तु परमात्मा अदीक्षित व्यक्ति का अर्चन स्वीकार ही नहीं करते—

उपचारसहस्रैस्तु अर्चितां भक्तिसंयुताम्।
अदीक्षितार्चनं देवा न गृह्णन्ति कदाचन।।(शा० त०-२.१६)

दीक्षा के दो पक्ष हैं— दान एवं क्षपण। 'दान' अर्थात् ज्ञानसद्भाव का दान और 'क्षपण' अर्थात् अखिल मलों का नाश। कहा भी है—

ददाति ज्ञानसद्भावं क्षपयत्यखिलं मलम्।
दानक्षपणधर्मत्वाद्दीक्षेति हि प्रकीर्तिता।।

विशेष दीक्षा— 'समय दीक्षा' के अनन्तर परमात्मा या गुरु दीक्षित शिष्य पर पूर्व की तुलना में अधिक शक्तिपात करते हैं। यही प्रवर्द्धित शक्तिपात की मात्रा 'विशेष दीक्षा' नाम से पुकारी जाती है। यह दीक्षा भक्ति के उच्च विचारों, प्रगाढ़ भावनाओं एवं विशेष भावों के उद्रेक में सहायक होती है। विशेष दीक्षा अर्थात् मन्त्रग्रहण, शिवलिङ्गार्चन अदि की पात्रता या अधिकार का उन्मेष। इसी दीक्षा-संस्कार से शिष्य वागीश्वरी के गर्भ से उत्पन्न होकर द्वितीय जन्म ग्रहण करता है। इस दीक्षा के द्वारा साधक के वागीश्वरी-पुत्र होने का सौभाग्य पाने के कारण साधक को 'पुत्रक' कहा जाता है।

'वागीश्वरी' कौन है? पृथ्वीतत्त्व से कलातत्त्वपर्यन्त प्रसृत 'मायाराज्य' (दृश्यमान जगत्) को अतिक्रान्त करके शुद्ध विद्याराज्य स्थित है। वही 'शुद्ध विद्या' ही वागीश्वरी है। इसी वागीश्वरी के गर्भ से जन्म ग्रहण करने से ही साधक शुद्ध धाम में अवस्थित होता है। यह अप्राकृत जन्म है। यह साधक का द्वितीय जन्म है। इसके जन्मदाता हैं— गुरु या आचार्य। 'स्वच्छन्दतन्त्र' के अनुसार यही द्वितीय जन्म 'बैन्दव देह' या 'मल देह' के नाम से प्रसिद्ध है।

भगवती ही यथार्थ 'दीक्षा' हैं। 'सकलजननीस्तव' में कहा गया है—

शिवस्त्वं शक्तिस्त्वं त्वमसि समया त्वं समयिनी।
त्वमात्मा त्वं दीक्षा त्वमयमणिमादिर्गुणगणः।।

परात्रिंशिका में दीक्षा की दृष्टि— परात्रिंशिका में कहा गया है कि तिल, घृत आहुति आदि बाह्योपकरणों से विवर्जित उस निर्वाणगामिनी तत्त्वज्ञानानुभूति को 'दीक्षा' कहते हैं, जिसका स्वरूप इस प्रकार है—

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्।।

एवं यो वेत्ति तत्त्वेन तस्य निर्वाणगामिनी।
दीक्षा भवत्यसन्दिग्धा तिलाज्याहुतिवर्जिता।।

(परात्रिंशिका, २४-२५)

अभिनवगुप्त (परात्रिंशिकाविवृत्ति) में कहते हैं कि 'ज्ञानदान' एवं 'मायाक्षपण'— ये दो तत्त्व दीक्षा के दो पक्ष हैं— 'ज्ञानदानमायाक्षपणलक्षणा च तस्यैव दीक्षा'।

निर्वाणदीक्षा— उपर्युक्त दीक्षा के अनन्तर मल का परिपाक और अधिक हो जाने

के परिणामस्वरूप साधक को और अधिक शक्तिपात (अतितीव्र शक्तिपात) प्राप्त होता है, भागवत शक्ति का और अधिक सञ्चार होता है। तदनन्तर निर्वाणदीक्षा प्राप्त होती है। निर्वाणदीक्षा षाड्गुण्य का उन्मेष कराता है। इसके द्वारा साधक ईश्वर के छ: गुणों को प्राप्त कर लेता है।

'कला' आदि षडध्वों की विशुद्धि से सभी पाशों का समूल उन्मूलन हो जाता है। इस प्रकार से दीक्षित जीव के पशुत्व की पूर्ण निवृत्ति के साथ साधक में शिवत्व की अभिव्यक्ति होती है। प्रथम एवं द्वितीय दीक्षा में जो पशुत्व दूर नहीं हो जाता, वह 'निर्वाण-दीक्षा' के द्वारा दूर हो जाता है।

विना दीक्षा के मुक्ति प्राप्त होना सम्भव नहीं है—

विना दीक्षां न मोक्ष: स्यात्प्राणिनां शिवशासने।।

(शा० त०-२.१)

दीक्षाप्राप्त प्राणी शिवत्व प्राप्त कर लेता है—

दीक्षाविद्धस्तथा ह्यात्मा शिवत्वं लभते ध्रुवम्। (शा० त०-२.५)

'वीरतन्त्र' में कहा गया है कि न्यास, ध्यान, पूजन आदि नियम नारी के लिये नहीं; बल्कि केवल पुरुषों के लिये बनाये गये हैं।

पारमार्थिकी दीक्षा का स्वरूप इस प्रकार है— इसमें प्रथमत: ३६ तत्त्वों का शोधन करना चाहिये। यहाँ शोधक स्वयं परभैरव होते हैं और त्रिक ही करण होता है—

षट्त्रिंशच्छोधनीयानि शोधको भैरव: पर:।
परं त्रिकं तु करणं दीक्षेयं पारमार्थिकी।।

निर्वाणदीक्षा का स्वरूप इस प्रकार है—

इयमेवामृतप्राप्तिरयमेवात्मनो ग्रह:।
इयं निर्वाणदीक्षा च शिवसद्भावदायिनी।।

निर्वाण दीक्षा = अमृत-प्राप्ति, आत्मग्रहण एवं शिवसद्भावप्रदायिनी अवस्था।

भौतिक दीक्षा एवं नैष्ठिक दीक्षा— साधक बुभुक्षु एवं मुमुक्षु के भेद से भी वर्गीकृत है। बुभुक्षओं की दीक्षा का नाम है— 'भौतिक दीक्षा'। भौतिक दीक्षा के प्रभाव-वश बुभुक्षु साधक शुद्ध विद्या के जगत् में विचित्र प्रकार के भुवनों एवं भोग्य पदार्थों को प्राप्त करते हैं।

'नैष्ठिक दीक्षा' ग्रहण करने वाले साधक तो विगतस्पृह होते हैं। उन्हें तो शिव-शक्तिमय परमेश्वर की साक्षात् प्राप्ति होती है। यह ईश्वर-प्राप्ति नैष्ठिक दीक्षा के कारण ही सम्भव हो पाती है। इन दीक्षाओं के अन्य भेद भी होते हैं; जैसे कि समय दीक्षा, विशेष दीक्षा, निर्वाण दीक्षा, भौतिक दीक्षा (बुभुक्षु), नैष्ठिक दीक्षा (मुमुक्षु)। पुन: भौतिक एवं नैष्ठिक दीक्षा भी शिवधर्मिणी एवं लोकधर्मणी के भेद से दो-दो प्रकार की होती है।

'शिवधर्मी साधक' इस दीक्षा के प्रभाव से मन्त्र-तन्त्रों का रहस्यवेत्ता हो जाता

है। यहाँ तक कि कतिपय साधक इस दीक्षा के प्रभाव से 'मन्त्र' एवं 'मन्त्रेश्वर' पद तक पहुँच जाते हैं।

'लोकधर्मिणी दीक्षा' में मन्त्राराधना की अनिवार्यता नहीं है। इसमें मन्त्रोपासना नहीं है। लोकधर्मी साधक फलाकांक्षासहित संसार में रहकर श्रुति-स्मृत्योपदिष्ट लोकोपयोगी इष्टापूर्त आदि शुभ कर्मों का सम्पादन करते हैं।

नैष्ठिक दीक्षा के तीन भेद होते हैं— सबीज दीक्षा, निर्बीज दीक्षा एवं सद्य:निर्वाणक दीक्षा।

'निर्बीज दीक्षा' बालक, मूर्ख, स्त्री एवं व्याधिग्रस्त व्यक्तियों के उद्देश्य से है। यह उन व्यक्तियों के लिये है, जिनमें शास्त्रविचार एवं ब्रह्मचर्य-पालन की क्षमता नहीं होती। इनको समयाचारानुपालन की भी आवश्यकता नहीं होती। इस दीक्षा से वे गुरु की सेवा से भी अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेते हैं।

'सद्योनिर्वाण दीक्षा' मुमुक्षु साधकों के लिये होती है। यह दीक्षा अत्यन्त दीप्त मन्त्रों के द्वारा अनुष्ठित होती है। अत: अतीत, अनागत एवं प्रारब्ध— इन दोनों प्रकार के पाशों का मूलोच्छेदन करने में सक्षम होती है। साधक दीक्षोपरान्त शुद्ध हो जाता है और देहा-वसानोपरान्त परमपद प्राप्त कर लेता है।

'सबीज दीक्षा' कष्टसहिष्णु एवं विद्वानों के लिये होती है। ऐसे साधकों को विधि-पूर्वक आचारों के पालन की अनिवार्यता होती है। नियमातिक्रम साधक को भ्रष्ट कर देता है।

तन्त्रसमाम्नाय में मुक्ति के भेद— मुक्ति के दो भेद हैं—अपरा एवं परा मुक्ति। पुन: अपरा मुक्ति सार्ष्टि, सालोक्य, सामीप्य एवं सारूप्य के भेद से चार प्रकार की होती है। परा (यथार्थ) मुक्ति को ही सायुज्य मुक्ति कहा जाता है।

सार्ष्टि मुक्ति = जगदम्बा के धाम के समीप कुटी बनाकर उनकी सतत् सेवा करना। यह मुक्ति मणिपूर चक्र के उपासकों को प्राप्त होती है।

सालोक्य मुक्ति = भगवती के मणिद्वीप आदि दिव्य लोकों में सतत् निवास करना। संवित् कमल के पूजकों को यही मुक्ति मिलती है।

सामीप्य मुक्ति = भगवती के समीप रहकर उनकी सेवा करना। विशुद्धि चक्र के उपासकों को यही मुक्ति प्राप्त होती है।

सारूप्य मुक्ति = भगवती के स्वस्वरूप की प्राप्ति।

सायुज्य मुक्ति = भगवती के साथ तादात्म्य प्राप्त करना। सहस्रदल पद्म में स्थित शिव एवं शक्ति की उपासना करने वालों को यही मुक्ति प्राप्त होती है। यह नैयायिकों के दु:खात्यन्ताभावरूप मुक्ति नहीं; प्रत्युत महासुखरूप विध्यात्मक मुक्ति है। शिव-शक्ति के साथ सामरस्य ही इसका पूजा-विधान है। तादात्म्यापत्ति ही इसका स्वस्वरूप है।

▼

द्वापञ्चाशत् अध्याय

प्राणतत्त्व, प्राण-साधना एवं त्रिपुरोपासना

'कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्' में कहा गया है कि यह प्राण ही ब्रह्म है। यह सम्राट् है। वाणी उसकी रानी है। कान उसके द्वारपाल हैं। नेत्र उसके अंगरक्षक हैं। मन उसका दूत है। इन्द्रियाँ उसकी दासियाँ हैं। देवों के द्वारा यह उपहार उस 'प्राणब्रह्म' को भेंट किये गये हैं—

'प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कोषीतकिस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनोदूतं वाक्परिवेष्ट्री चक्षुर्गात्रं श्रोत्रं संश्रावयितृ यो ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनोदूतं वेद दतवान्भवति यश्चक्षुगोप्तृमान्भवति यः श्रोतं संश्रावयितृ संश्रावयितृमान्भवति यो वाचं परिवेष्ट्री परिवेष्ट्रीमान्भवति।'

मैं ही प्राणरूप प्रज्ञा हूँ। मुझे ही आयु एवं अमृत जानकर उपासना करो। जब तक प्राण है तभी तक जीवन है। इस लोक में अमृत तत्त्व-प्राप्ति का आधार प्राण ही है—

'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। तं मायायुरमृतमित्युपास्स्वाऽयुः प्राणः प्राणो वा आयुः याव-दस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायुः प्राणेन हि एवमस्मिन् लोकेऽमृतत्वमाप्नोति।'

(शाखायन)

प्राण और मन का सम्बन्ध— जिस साधन के द्वारा प्राण बन्धनग्रस्त होता है, उसी से मन भी बन्धनग्रस्त होता है। जिस साधन से मन बद्ध होता है, उसी से मन भी बन्धनग्रस्त होता है। जिस साधन से मन बद्ध होता है, उसी से पवन भी परिबद्ध हो जाता है—

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते।।

(प्राण-नियन्त्रण → मनोनिग्रह (मन पर नियन्त्रण), मन पर नियन्त्रण → प्राण पर नियन्त्रण) 'प्राण' मनोनिग्रह का एक साधन है। भगवती स्वयं प्राणस्वरूप हैं—

मनस्त्वं व्योम त्वं मरुदसि। (सौन्दर्यलहरी)

योगवाशिष्ठ एवं हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि चित्त का कारण प्राण है। चित्त के आधारस्तम्भ हैं— वासना एवं वायु (प्राणतत्त्व)।

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः।।

वासना का नाश → वायु का नाश, वायु का नाश → मन का नाश। मनोनिग्रह का अन्यतम साधन प्राण है—

नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः।
तस्मात्तस्य जयः प्राणः प्राणस्य जय एव हि।। (योगबीज)

'मन' की डोरी 'प्राण' के हाथों में है— 'सोभ्यैतन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रा-यनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबन्धनं हि सौम्य मन इति।' (मन कहीं भी जाय; किन्तु अन्यत्र आश्रय न पाने पर घूम-घाम कर प्राण का ही आश्रय ग्रहण करता है; क्योंकि मन प्राण से बँधा हुआ है)।

योगरहस्य में कहा गया है कि विचार एवं चिन्तन से मन साध्य नहीं है। प्राणजय से मन भी विजित हो जाता है—

चित्तं न साध्यं विविधैर्विचारैर्वितर्कवादैरपि वेदवादिभिः।
तस्मात्तु तस्यैव हि केवलं जयःप्राणो हिं विद्येत न कश्चिदन्यः।।

हठयोग का मुख्य साधन प्राण ही है।

प्राण-साधना के परिणाम—

१. पापाग्नि को भस्मसात् करना (योगचूड़ामणि)।
२. संसारसागर से उद्धार (योगचूड़ामणि)।
३. धातु-मलों के नाश के समान इन्द्रियदोषों का नाश (मनु)।
४. इन्द्रियमलों का नाश (अमृतनादोपनिषद्)।
५. सर्व पापों से मुक्ति → ब्रह्मत्व की प्राप्ति (वायुपुराण)।

प्राणायाम की आवश्यकता क्या है? मलाकुल नाड़ियों में प्राण-प्रवाह (विना प्राणा-याम के) हो ही नहीं पाता; अतः उन्मनीभाव या मन का विच्छेद कैसे सम्भव है?

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः।
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिं कथं भवेत्?

इसीलिये सर्वप्रथम नाडीशोधन अपेक्षित है। एतदर्थ प्राणायाम करना अनिवार्य है—
तस्मादादौ नाड़ीशुद्धिः प्राणायामं ततोऽभ्यसेत्।

गोरक्षनाथ कहते हैं कि नाड़ी-शुद्धि के बाद ही योगी प्राण-संग्रहण में सक्षम हो पाता है—

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाड़ीचक्रमलाकुलम्।
तदैव जायते योगी प्राण-संग्रहणे क्षमः।। (गोरक्षपद्धति)

हठयोगप्रदीपिका में स्वात्माराम मुनीन्द्र इसीलिये कहते हैं—

प्राणयामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्त्विकया धिया।
यथा सुषुम्नानाड़ीस्था मलाः शुद्धिं प्रयान्ति च।।

(प्राणायाम → सुषुम्ना नाड़ी के मलों की शुद्धि।)

(नाड़ी शुद्ध हो जाने पर— शारीरिक कृशता एवं कान्तिवर्धन।)

प्राण के भेद— प्राण के दो भेद हैं— स्थूल प्राण एवं सूक्ष्म वर्धन। स्थूल प्राण → उच्चार-व्यापार। सूक्ष्म प्राण → वर्ण।

'आणवोपाय' में प्राणोच्चार भी एक उपाय माना गया है। प्राण, अपान आदि वायु का श्वास-प्रश्वास, छींक आदि वृत्तियाँ 'उच्चार' कहलाती हैं। प्राण के उच्चार के साथ उच्चारित वर्ण सकार-हकार हैं, जो कि वर्ण हैं। ये वर्णों एवं मन्त्रों का बोध कराते हैं।

'हं स:' मन्त्र श्वासोच्छ्वास के द्वारा (उन्हीं के रूप में) आविर्भूत होते हैं।

'प्राक् संवित्प्राणे परिणता' (कल्लट) के अनुसार संवित्तत्व सर्वप्रथम 'प्राण' के रूप में परिणत होता है (संवित् → प्राण)।

आगम कहता है कि संवित्स्वरूपा 'काली शक्ति' अपनी इच्छा से नाना रूपों में जब व्यक्त होने हेतु क्रियाशक्ति का रूप धारण करती है, तब क्रियाशक्ति का प्रथमोन्मेष 'प्राण-व्यापार' के रूप में ही होता है। यह प्राणशक्ति अपने पाँच रूपों (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान) में जीवों में व्याप्त है। इस क्रियाशक्ति के पूर्व भाग में 'कालाध्वा' एवं उत्तर भाग में 'देशाध्वा' स्थित है। कालाध्वा में पर, सूक्ष्म एवं स्थूलस्वरूप वर्ण, मन्त्र एवं पद की स्थिति है और देशाध्वा में कला, तत्त्व एवं भुवन स्थित है। समस्त षड-ध्वात्मक जगत् इस क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति है और इसमें सर्वत्र प्राणशक्ति का स्पन्दन गतिमान है। हृदय आदि स्थानों में स्पन्दमान प्राणशक्ति में चित्त को लय कर देना ही 'स्थानकल्पना' नामक आणवोपाय है।

प्राणशक्ति एवं प्राणकुण्डलिनी— प्राणशक्ति की भी आकृति कुण्डलिनी की भाँति कुटिल है; अत: इसे 'प्राणकुण्डलिनी' कहते हैं। जिस प्राणवायु का अपानवायु अनुगमन करती है, उसकी गति टेढ़ी-मेढ़ी है। प्राणशक्ति प्राण के अनुकूल घुमावदार (कुटिल) आकार धारण कर लेती है। प्राणशक्ति का एक घुमावदार आकार वाम नाड़ी इड़ा में एवं दूसरा पिङ्गला के नाम से दक्षिण नाड़ी में प्रवाहित होता है। इस तरह प्राण-शक्ति के दो वलय हुये। सुषुम्ना नाडी 'सार्ध' कहलाती है; अत: प्राणशक्ति भी सार्ध-वलया है। कुण्डलिनी में भी प्राणशक्ति है। हंस गायत्री (अजपा) का आधार भी यही प्राण-व्यापार है। प्राणशक्ति स्थूल एवं सूक्ष्मभेद से दो प्रकार की है। मूलाधार या हृदय में स्थित प्राणशक्ति यौगिक साधना द्वारा सुषुम्णापथ से द्वादशान्त तक जाते-जाते अत्यन्त सूक्ष्म होकर अन्त में 'प्रकाश' में विलीन हो जाती है। इसे ही 'पिपीलस्पर्श वेला' कहते हैं, जिसमें कि प्राण के ऊर्ध्वोत्थान के समय मूल कन्द आदि में चींटी चलने-जैसे संवेदना होती है। चिदाकाश में (साधक के) प्रवेश के समय प्राण एवं अपान सुषुम्णा में विलीन हो जाते हैं। इसका अनुभव आनन्दमय होता है।

प्राणस्पन्द का कारण— अभिनवगुप्त तन्त्रालोक (षष्ठाह्निक) में वामा, ज्येष्ठ

एवं रौद्री नामक शिव की शक्तियों में से एक आत्मा एवं प्राण की सम्मिलित शक्ति को प्राणस्पन्द का कारण मानते हैं—

प्रभुशक्तिरात्मा प्राणश्चेति त्रयः सम्मिलिताः प्राणस्पन्दं विदधीत्यर्थः।[१]
प्रभोः शिवस्य या शक्तिर्वामा ज्येष्ठा च रौद्रिका।
स तदन्यतमावात्मप्राणौ यत्नविधायिनौ।।[२]

प्राणसञ्चार का स्थान— प्राणसञ्चार कन्द से होता है या हृदय से? इस विषय में स्वच्छन्दतन्त्र कहता है कि प्राणसञ्चार कन्द से होता है; किन्तु उसकी संवेदना उस स्थान से नहीं होती—

नाभ्यधोमेढ्रकन्दे स्थिता वै नाभिमध्यतः।
तस्माद्विनिर्गता नाड्यस्तिर्यगूर्ध्वमधः प्रिये।।[३]

किन्तु स्वच्छन्दतन्त्र (७.२१) में ही इसे हृदय से भी माना गया है—

हृच्चक्रे तु समाख्याताः साधकानां हितावहाः।
प्राणो वै चरते तासु अहोरात्रविभागतः।।

निष्कर्ष— वस्तुतः कन्द से प्राण-व्यापार होता है। प्राणसञ्चार का मूल केन्द्र हृदय माना गया है; क्योंकि स्वेच्छाकृत प्रयत्न से इसकी संवेदना कन्द से नहीं; बल्कि हृदय से प्रतीत होती है—

वेद्ययत्नात्तु हृदयात्प्राणाचारो विभज्यते।।[४]

प्राणस्पन्द की उत्पत्ति

वामा-ज्येष्ठा-रौद्री शक्तियों में से एक (प्रभुशक्ति) आत्मा प्राण
↓
प्राणस्पन्द
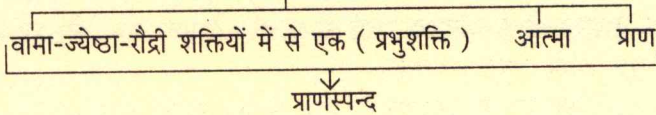
प्राण का महत्त्व—

● प्राणनावृत्ति का तादात्म्य संवित् तत्त्व से है। अभिनवगुप्तपाद तन्त्रालोक (६.१५) में कहते हैं—

प्राणनावृत्तितादात्म्यसंवित्खचितदेहजाम्।

● समस्त अध्वमण्डल प्राण में ही प्रतिष्ठित है—

यावान्समस्त एवायमध्वा प्राणे प्रतिष्ठितः।।[५]

● प्राण को 'परमेश्वरी' भी कहा गया है—

प्राणरूपायाः पारमेश्वर्याः क्रियाशक्तेः। (जयरथ)[६]

तन्त्रसार के अनुसार 'नाद नाड़ी' (क्रियाशक्तिप्रधान इडा नाड़ी), 'बिन्दु नाड़ी'

---

१. जयरथ : विवेक
२. तन्त्रालोक-६.५२
३. स्वच्छन्दतन्त्र-७.८
४. तन्त्रालोक-६.५१
५. तन्त्रालोक-६.२१
६. विवेक-६.२३

(ज्ञानप्रधान पिङ्गला नाड़ी) एवं 'उत्तम नाड़ी' (इच्छाशक्तिप्रधान सुषुम्णा नाड़ी) द्वारा प्राणाचार होता है।

● प्राण ही ब्रह्म है और इन्द्रियाँ उसकी दासी हैं। कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में कहा गया है कि—

१. प्राण ब्रह्म है	४. कान उसके द्वारपाल हैं
२. मन उसका दूत है	५. इन्द्रियाँ उसकी दासी हैं
३. नेत्र उसके अंगरक्षक हैं	६. वाणी उसकी राजमहिषी है आदि-आदि।

'प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कोषीतकिस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वाक्परिवेष्ट्री चक्षुर्गात्रं श्रोत्रं संश्रावयितृ यो ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वेद दत्तवान् भवति यश्चक्षुः गोप्तृमान् भवति यः श्रोत्रं संश्रावयितृ संश्रावयितृमान् भवति यो वाचं परिवेष्ट्री परिवेष्ट्रीमाभवति।'

● प्राण 'मृत्युञ्जय' है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि प्राण मृत्युञ्जय है और उसका उपासक भी मृत्युञ्जयी हो जाता है—

'सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरं ह्यस्या मृत्युर्दूर ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद।'

(ब्रा०-३.९)

प्राण ने देवताओं के पापरूपी मृत्यु को हटाया। (३.१०)

'सा वा एषा दैवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्याथैना मृत्युमत्यवहत्।'

(३.११)

प्राण ने देवताओं के अतिरिक्त वाणी को भी मृत्यु से मुक्त किया और यह वाग्देवता मृत्यु से मुक्त होकर अग्नि बन गया—

सोऽग्निरभवत्सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भवति।

प्राण ने प्राण का अतिवहन किया और जब उसे मृत्यु से मुक्त किया तो वह वायु बन गया।

प्राण ने चक्षु का अतिवहन किया और जब उसे मृत्यु से मुक्त किया तो वह आदित्य बन गया।

प्राण ने श्रोत्र का अतिवहन किया और मृत्यु से मुक्त होकर वह दिशा बन गया।

प्राण ने मन का अतिवहन किया और मृत्यु से मुक्त होकर वह चन्द्रमा बन गया।

● प्राण सभी इन्द्रियों की आत्मा या जीवन है। जो कुछ भी खाया जाता है, वह मात्र 'प्राण' से खाया जाता है—

'किञ्चान्नमद्यतेऽनेनैव।' (३.१७)

प्राण सर्वपोषक है। यहाँ तक कि देवताओं का भी पोषक है। (३.१२)

प्राण अङ्गों का रस है— 'प्राणो वा अङ्गानां रसः।' (३.१९)

प्राण ही बृहस्पति है। वाक् का पति होने से यह बृहस्पति है।

प्राण ब्रह्मणस्पति है; क्योंकि वह वाक् रूप ब्रह्म का पति है।

प्राण ही साम है; क्योंकि वाक् 'सा' है और प्राण 'अम्' है।

प्राण ही उद्गीथ है— 'एष उवा उद्गीथ प्राणो।' (३.२३)

बृहदारण्यकोपनिषद् के पाँचवें अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में कहा गया है कि 'प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है।' जो इस प्रकार उपासना करता है, वह अपने ज्ञातिजनों से एवं अभीष्ट जनों में ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ हो जाता है— 'ॐ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति।'

बृहदारण्यकोपनिषद् के छठे अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में कथा आती है कि समस्त देवों में अपनी श्रेष्ठता को लेकर विवाद छिड़ा। विवाद के समाधानार्थ ब्रह्मा जी ने कहा कि तुम देवों में से जिस देव द्वारा किसी का शरीर छोड़कर चले जाने पर वह शरीरी व्यक्ति अपने को अधिक पापी समझे, वही श्रेष्ठतम है।

बारी-बारी से वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन एवं रेतस् ने शरीर से उत्क्रमण किया, किन्तु शरीर जीवित रहा; लेकिन जैसे ही अन्त में प्राण ने उत्क्रमण करना चाहा तो सारी इन्द्रियाँ क्षुब्ध होकर निवेदन करने लगीं कि आप उत्क्रमण न करें; क्योंकि आपके विना हमलोग जीवित नहीं रह सकते।

● प्राण समस्त ज्ञानों की प्रतिष्ठा है। वेदों में एक उपाख्यान आता है, जिसमें ऋषि से प्रश्न किया जाता है कि किस एक के जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है— 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातो भवति।' उसके उत्तर में ऋषि 'प्राण' का नामोल्लेख करते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने इसे 'साइकिक कोर्स' कहा है, जो कि समष्टि प्राण है। 'प्राणमय कोश' का आधार यही प्राण है।

● प्राण प्रज्ञारूप है, आयु है, अमृत है, जीवन है और अमृतत्व का साधन है।

'शाङ्खायन' में इसी तथ्य की पुष्टि इन शब्दों द्वारा की गई है—

'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। तं मामायुरमृतमित्युपास्स्वाऽऽयुः प्राणः प्राणो वा आयुः यावदस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायुः प्राणेन हि एवमस्मिन् लोकेऽमृतत्वमाप्नोति।'

● प्राण मनोनिग्रह का साधन है—

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते।
मनसश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते।।

चित्त के जन्म के दो ही कारण हैं— वासना और प्राण। इनमें से एक के नष्ट होते ही दूसरा स्वयमेव नष्ट हो जाता है—

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरण:।
तयोर्विनष्टमेकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यत:।। (हठयोगप्रदीपिका)

● प्राण बिन्दु-साधना या बिन्दु-रक्षा का भी अप्रतिम साधन है।

चले वाते चले बिन्दु बिन्दु र्निश्चते निश्चलो भवेत।
योगी स्याणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोध्येत।।

● प्राण मन का स्वामी है। जिस प्रकार सूत्रबद्ध पक्षी घूम-घाम कर अपने मूलाश्रय पर ही आ जाता है, उसी प्रकार मन कहीं भी जाय, आश्रय न पाने पर अन्ततः प्राण का ही आश्रय ग्रहण करता है—

'सौम्यैतन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धन हि सौम्य मन इति।' (छान्दोग्योपनिषद्-६.८.२)

● प्राण ही मन पर विजय पाने का अस्त्र है—

नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मन:।
तस्मात्तस्य जय: प्राण: प्राणस्य जय एव हि।। (योगबीज)

चित्तं न साध्यं विविधैर्विचारैर्वितर्कवादैरपि वेदवादिभि:।
तस्मात्तु तस्यैव हि केवलं जय: प्राणो हि विद्येत न कश्चिदन्य:।।

(योगरहस्य)

● मन:स्थैर्य का भी एक ही साधन है और वह है प्राण-साधना—

हठिनामधिकस्त्वेक: प्राणायामपरिश्रम:।
प्राणायामे मन:स्थैर्यं स तु कस्य न सम्मत:।। (बोधसार)

● प्राणायाम पापों को भस्म कर देता है—

प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावक:।
भवोदधिमहासेतु: प्रोच्यते योगिभि: सदा।। (योगचूड़ामणि)

तस्माद्युक्त: सदा योगी प्राणायामपरो भवेत्।
सर्वपापविशुद्धात्मा परंब्रह्माधिगच्छति।। (वायुपुराण)

● प्राणायाम इन्द्रियों के समस्त दोषों को नष्ट कर देता है—

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मला:।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोष: प्राणस्य निग्रहात्।। (मनु०)

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धर्मनान्मला:।
तथेन्द्रियकृता दोष: दह्यन्ते प्राणधारणात्।।

(अमृतनादोपनिषद्)

● प्राणायाम (प्राणशोधन) ही उन्मनीभाव का उन्नायक है—

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यग:।
कथं स्यादुन्मनीभाव: कार्यसिद्धिर्कथं भवेत्।।

• प्राण-साधना से ही नादानुसन्धान में साफल्य प्राप्त होता है। इसीलिये आचार्य शंकर ने 'योगतारावली' में कहा है—

सरेचपूरैरनिलस्य कुम्भै: सर्वासु नाडीषु विशोधितासु।
अनाहताख्यो बहुभि: प्रकारैरन्त: प्रवर्तेत सदा निनाद।।

ऋषि घेरण्ड ने योगसाधना के सात साधनों का उल्लेख किया है, उसमें एक साधन है— लाघव। लाघव की प्राप्ति का साधन ही है— प्राणायाम : 'प्राणायामाल्लाघवञ्च।'

ऋषि घेरण्ड यह भी कहते हैं कि प्राणायाम वह साधना है, जिससे साधक देवतुल्य हो जाता है—

अथात: सम्प्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य यद्विधिम्।
यस्य साधनमात्रेण देवतुल्यो भवेन्नर:।।

• प्राणायाम से प्रकाशावरण क्षीण होता है और धारणा की सिद्धि होती है। महर्षि पतञ्जलि ने प्राणायाम के दो लाभ बताये हैं— प्रकाशावरण की क्षीणता एवं धारणाओं में मन की योग्यता में वृद्धि—

'तत: क्षीयते प्रकाशावरणम्।' (२.५२)
'धारणासु च योग्यता मनस:।' (२.५३)

योगभाष्यकार व्यास कहते हैं कि प्राणायाम करने से योगी के विवेकज्ञान के आवरक कर्म नष्ट हो जाते हैं। इससे मलों की शुद्धि हो जाती है और ज्ञान की वृद्धि होती है। इसलिए इससे बड़ा कोई तप भी नहीं है— 'तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति।'

• प्राण मन्त्रसिद्धि में सहायक है। योगिनीहृदय में मन्त्र-साधना के अङ्गभूत तत्त्वों में मन्त्राक्षर उच्चारण, अवस्था, शून्य, विषुव, नव चक्र एवं मन्त्रार्थ को परिगणित किया गया है।

प्राण और विषुव— उपर्युक्त सप्त विषुवों में 'प्राणविषुव' का भी उल्लेख है। 'प्राणविषुव' प्राण एवं मन इन दोनों के सामरस्य का विधान है—

योग: प्राणात्मनसा विषुवं प्राणासंज्ञितम्। (पूजासङ्केत)

अमृतानन्दनाथ दीपिका में कहते हैं— सप्तविषुवभावनां विवक्षन्नादौ प्राणविषुव-भावना.......... प्राणस्य हकारात्मनो वाय्वात्मनो यष्टुर्मनसश्च संयोग: प्राणविषुवमित्युच्यते।'

शैवतन्त्र में भी कहा गया है— 'शिष्यात्मप्राणमनसां संयोगं प्राणकं विदु:।'

भास्करराय सेतुबन्ध में कहते हैं कि 'मूलाधारे ब्रह्मेति' यह कथन तो प्रसिद्ध ही है।

वहाँ जो 'रव' विद्यमान है, वह वायु एवं कुण्डलिनी के संयोग से व्युत्पन्न होता है। वही 'रव' नाभिपर्यन्त आकर पवन एवं मन से जुड़ जाता है और वही 'रव' हृदय में आकर पवन एवं बुद्धि से जुड़ जाता है। यही स्थानत्रय में परा, पश्यन्ती, मध्यमा नाम से विख्यात है।[१] इसे ही 'प्राणविषुव' कहते हैं।

प्राण या मारुत तो सुषुम्ना के अध:प्रान्त में भी स्थित है—

नयित्वा तं सुषुम्नाध: कन्दमूले च मारुतम्।[२]

भगवती कुण्डलिनी प्राणवायु के साथ ऊपर आरोहण करती हैं।

● प्राण संवित् तत्त्व की प्रथम परिणति है। आत्मा सर्वप्रथम प्राण के रूप में अवतरित होती है और इसीलिये कहा गया है कि 'प्राक् संवित प्राणे परिणता' अर्थात् संवित तत्त्व सर्वप्रथम प्राण के रूप में ही परिणत हुआ।

इसी प्राणतत्त्व से समस्त जगत् का विकास एवं विस्तार हुआ।

● प्राण ब्रह्माण्ड का संघटक तत्त्व है। समस्त ब्रह्माण्ड मूलत: दो पदार्थों से निर्मित हुआ है। वे तत्त्व हैं— आकाश और प्राण।

'आकाश' एक सर्वव्यापी एवं सर्वानुस्यूत सत्ता है। जिस किसी भी वस्तु का आकार है, जो कोई भी वस्तु कतिपय वस्तुओं के मिश्रण से उत्पन्न हुई है, वह इस आकाश तत्त्व से ही निर्मित हुई है।

आकाश ही वायुतत्त्व के रूप में परिणत होता है। यही तरल तत्त्व के रूप में आकार धारण करता है। यही पुन: ठोस आकार धारण करता है। यह आकाश ही सूर्य, पृथ्वी, तारा, धूमकेतु आदि के रूप में परिणत हो जाता है। सारे उद्भिज, अण्डज, पिण्डज और जरायुज अर्थात् संसार में जो कुछ भी है, सभी आकाश से ही उत्पन्न हुआ है। सृष्टि के आरम्भ में मात्र यही आकाश था।

अन्त में सारे जागतिक पदार्थ— ठोस, तरल एवं वाष्पीय पदार्थ आकाश में लय हो जाते हैं और सृष्टि के आरम्भ में पुन: इसी आकाश से समस्त ब्रह्माण्ड का आविर्भाव होता है।

प्रश्न यह उठता है कि किस शक्ति के प्रभाव से आकाश जगत् के रूप में परिणत होता है? प्राणशक्ति के प्रभाव से ही आकाश जगत् के रूप में परिणत होता है।

आकाश की भाँति प्राण भी जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण है और सर्वव्यापी तथा विक्षेपकारी तत्त्व है।

आकाश → जगत्— कल्प के आदि एवं अन्त में नि:शेष सृष्टि आकाशरूप में

१. सौभाग्यभास्कर (वरिवस्यारहस्यम्)

२. स्वच्छन्दसंग्रह : षट्चक्र-वेधन में भी वायु की भूमिका है।

परिणत होती है और सृष्टि की समस्त शक्तियाँ प्राण में विलीन हो जाती हैं। नये कल्प में पुनः इसी प्राण से समस्त शक्तियों का विकास होता है।

इन्द्रियमार्गों (श्रोत्र, नासा, मुख आदि) या प्राणापान के मार्गों को रोक देने पर वायु ऊपर उठने लग जाता है। आधार से द्वादशान्त तक उठ रही यह प्राणशक्ति द्वादशान्त में प्रविष्ट होने पर स्वात्मस्वरूप की अनुभूति कराती है और 'पिपीलस्पर्शवेला' में आनन्दानुभूति कराती है—

सर्वस्रोतोनिबन्धेन प्राणाशक्त्योर्ध्वया शनैः।
पिपीलस्पर्शवेलायां प्रथते परमं सुखम्।।(विज्ञानभैरव-४३)

प्राणाध्वा (कालाध्वा)— प्राण सर्वव्यापी है; किन्तु वह स्फुट होता है मात्र हृदय में। शैवी शक्तियाँ— वामा, ज्येष्ठा एवं रौद्री प्राण से संयुक्त हो जाती हैं। प्राण में ही समस्त नक्षत्र है। प्राण विश्व का विस्तारक है। प्राण सूर्य है और अपान चन्द्रमा। प्राण के आक्रमण से चन्द्रमा एक-एक कला छोड़ता जाता है। अमावस्या को चन्द्रमा सूर्य में लय हो जाता है और तत्पश्चात् पुनः उदित होता है। चन्द्रमा की सोलह कलाओं में से पन्द्रह कलायें ही विलीन होती हैं; षोडशी कला विलीन नहीं होती। सूर्य जब चन्द्रमा को निगलता है तब चन्द्रमा अमृत छोड़ता है, जिसका पान कर राहु चन्द्रबिम्ब को छोड़ देता है।

प्राणोच्चार का विज्ञान एवं प्राण-प्रशमन

प्राण हृदय से प्रसूत होकर समना के स्थान ब्रह्मरन्ध्र तक यात्रा करता है। इसकी व्याप्ति ३६ अंगुल है। इस ३६ अंगुल सञ्चार में आना एवं जाना दोनों सम्मिलित है। इसी में प्राण का आरोह एवं अपान का अवरोह निहित है।

दिन— प्राणरूप सूर्य हृदय से उदित होकर ब्रह्मरन्ध्र में अस्त हो जाता है। यही 'दिन' है।

रात्रि— अपानरूप चन्द्रमा ब्रह्मरन्ध्र से उदित होकर हृदय में अस्त हो जाता है। यही 'रात्रि' है।

इस प्राणापानरूप रात-दिन में दो सन्ध्यायें होती हैं— प्रातःसन्ध्या (हृदय में अवस्थित) एवं सायंसन्ध्या (ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थित)।

प्रश्वास— ब्रह्मरन्ध्र से हृदयपर्यन्त आने में अपान को जो समय लगता है, उसे 'प्रश्वास' कहते हैं।

निःश्वास— हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक चलने में प्राणों को जितना समय लगता है, उसे 'सोलह त्रुटि' या 'एक निःश्वास' कहते हैं।

प्रत्येक सन्ध्या एक-एक त्रुटिकाल रहती है। उससे प्राण एवं अपान दोनों को मिलाकर सवा दो अंगुल का सञ्चार रहता है।

प्राणसञ्चार क्रिया का अभ्यास तब तक आवश्यक है, जब तक कि परम तत्त्व का

ज्ञान न हो जाय। ज्ञान-विकास के तारतम्य में ही प्राणरूपी मन्त्र हृदय से उठकर ऊपर तक जाता है। परम तत्त्व का ज्ञान न रहने के कारण यह ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त उठकर फिर नीचे लौट आता है और ब्रह्मरन्ध्र का भेदन नहीं कर पाता।

प्राण पहले अट्ठारह अंगुल तक उठकर तालुस्थान में पहुँचता है। यह रुद्र या माया-ग्रन्थि का स्थान है। इस ग्रन्थि का भेदन न कर सकने के कारण यह मध्य नाड़ी द्वारा भ्रूमध्य में ईश्वरस्थान में जाता है। प्रथमत: अट्ठारह अंगुल प्राण तालुस्थान में ही रह जाता है। फिर भ्रूग्रन्थि का भेदन न हो सकने के कारण आगे का छ: अंगुल वहीं रह जाता है। यहाँ से बगल में प्रवाहित दो नाड़ियों द्वारा शेष बारह अंगुल प्राण ब्रह्मरन्ध्र तक जाता है; किन्तु शाक्त बल न रहने के कारण वह ब्रह्मरन्ध्र का भेदन नहीं कर पाता; अत: वह शेष बारह अंगुल वहीं रह जाता है और यही है— प्राण का अस्त होना।

इसके उपरान्त अपान क्रिया के अनन्तर इसका हृदयदेश से पुन: उद्गमन होता है और यह क्रिया निरन्तर गतिमान रहती है।

शाक्त बल प्राप्त होने से प्राण में सभी ग्रन्थियों में सञ्चार करने की क्षमता आ जाती है। परतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर किसी भी ग्रन्थि में स्थित रहने पर भी प्राण बाधित नहीं होता, देहादि में प्रमातृभाव का उदय होकर वह उसके अधीन नहीं रह जाता। पर-ज्ञान → देहाभिमान का ध्वंस। प्राण के ऊर्ध्व सञ्चार की मात्रा जितनी होगी, उसी अनुपात में अज्ञान से ज्ञान का उदय और फिर ज्ञान-वृद्धि का एक निर्दिष्ट क्रम स्थापित हो जाता है।

'अबुध' = प्राणशक्ति के द्वारा प्रतिहत होकर नीचे की ओर (अज्ञान की अवस्था में) जाने वाला प्राणी 'अबुध' कहलाता है।

'बुध्यमान' = जिस समय हृदय में स्थित होकर प्राणी वहाँ से उठने लगता है, तब वह बुध्यमान अवस्था में स्थित माना जाता है। इस अवस्था में ज्ञानोदय होने लगता है।

'बुध' = जब प्राणी को उठते-उठते शक्ति प्राप्त हो जाती है तब उसे बुध (ज्ञानी) की अवस्था में अवस्थित माना जाता है।

'प्रबुद्ध' = शक्ति का बल हस्तगत करके तत्त्वारोहण की कुशलता प्राप्त कर लेने पर 'व्यापिनी' में पहुँचने पर 'प्रबुद्ध' की अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस समय साधक को परम तत्त्व का आभास प्राप्त होने लगता है। इस समय मन:संस्कार का भी क्षय हो जाने के कारण साधक उन्मनाभाव प्राप्त कर लेता है। यह अवस्था ब्रह्मरन्ध्रभेदनोपरान्त की है। यह अवस्था काल, निवृत्त्यादि कलाओं, प्राणापान-सञ्चार, ३६ तत्त्व, ब्रह्मा-विष्णु-महेश (त्रिदेव) सभी से शून्य एवं अतीत है; वहाँ इनमें से किसी की भी पहुँच नहीं है। यह पराद्वयी परम शुद्धावस्था है। इसकी अनुभूति से जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है।

शून्य-प्रशमन— 'परम शून्य पद' परमशिव ही है। अन्य शून्य का त्याग करना पड़ता है। सात शून्यों में छ: शून्य गतिशील होने के कारण शून्य ही नहीं हैं। अत:

उनका त्याग करके सप्तम शून्य में लय प्राप्त करना चाहिये। यही 'परमपद' है। यह अवस्था-तीत चिद्रूप दशा है। यह भेदहीन है। यह अभावात्मक ही नहीं है; प्रत्युत विश्व-मय भी है; किन्तु समस्त भेदों से अतीत होने के कारण परम स्थिर एवं विश्वातीत है।

जिन छः शून्यों का त्याग किया जाता है, वे निम्नांकित हैं—

१. 'अध:शून्य' (जिस हृदय में प्रपञ्च का उन्मेष नहीं हुआ है)।

२. 'मध्य शून्य' (कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट एवं ऊर्ध्व रन्ध्रस्थानों में अपने से अधोवर्ती प्रमेयों का उपशम हो जाने की दशा)।

३. 'ऊर्ध्वशून्य' (शक्तिस्थान। यहाँ नादान्तपर्यन्त सभी पाशों का क्षय हो जाता है)।

४-६. व्यापिनी, समना एवं उन्मना शून्य।

सप्तम शून्य के रूप को छोड़कर परमात्मा के छः स्थूल रूप हैं— भुवन, विग्रह ज्योति या बिन्दु, व्यापिनी या आकाश और नाद या शब्दमन्त्र।

उपर्युक्त ६ शून्य तो हेय हैं ही। परतत्त्व सप्तम शून्य है और अचल है। निम्नवर्ती शून्यों के अधिष्ठाता भी परमशिव हैं। वे ही परम शून्य हैं। सप्तम शून्य ही परम शून्य है। यहाँ प्रमेयादि प्रपञ्च से रहित होने के कारण इसे शून्य कहा जाता है।

शक्तिसूत्र में ऋषि अगस्त्य की दीक्षा-दृष्टि— शक्तिसूत्रकार कहते हैं कि दीक्षा एक दक्षिणा है और दीक्षा के द्वारा प्रत्येक प्राणी अपने कालुष्यों से मुक्त हो जाता है—

'दीक्षा दक्षिणा'।।३८।।

'दीक्षया कलुषान्मुच्यते'।।३९।।

प्राणायाम

अभिनवगुप्तपाद की दृष्टि— साधक को चाहिये कि वह भगवती त्रिपुरसुन्दरी की उपासना में श्रीक्रम के विधानानुसार भूतशुद्धि एवं प्राणप्रतिष्ठा व्यापारों को समाप्त करके 'सौ:' वर्ण के साथ मातृका वर्णों द्वारा (श्रीक्रमोक्त विधि द्वारा) बहिर्मातृका न्यास निष्पा-दित करके १६ बार पूरक, ६४ बार कुम्भक एवं ३२ बार रेचकसहित प्राणायाम करे। २० बार या १६ बार या १० बार या (इतना भी न हो सके तो कम से कम) ३ बार प्राणायाम करे। आचार्य जयरथ ने तन्त्रालोक की टीका 'विवेक' में यह कहा है कि प्राणा-याम की प्रक्रिया द्वारा साधित प्राणापान की एकता के द्वारा जीव शिव बन जाता है—

शशिभास्करसंयोगाज्जीवस्तन्मात्रतां व्रजेत्।
अत्र ब्रह्मादयो लीना मुक्तये मोक्षकाक्षिभि:।।

इसी प्राणापानैक्य की अवस्था में ब्रह्म आदि देवता लीन रहते हैं और इसके द्वारा मोक्षाप्ति की कामना करते हैं; किन्तु इसे मोक्ष का प्रधान कारण मानकर इसकी सिद्धि को ही सर्वोच्च उपलब्धि नहीं मान लेना चाहिये। तात्त्विक भूमि पर तो प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि भी व्यर्थ है—

तदेषा धारणाध्यानसमाधित्रितयी परम्।
संविदं प्रति नो कश्चिदुपयोगं समश्नुते।। (तन्त्रालोक)

स्वात्मपरामर्श एवं स्वात्मसाक्षात्कार के मार्ग में ये मात्र उपाय हैं; न कि उपेय। इसी दृष्टि से अभिनवगुप्त ने इनको साध्य मानने का निषेध किया है। ये सभी साधन स्वात्म-पशमर्श के साधनमात्र हैं; अत: स्वात्मपरामर्श की संसिद्धि में ही इनकी चरितार्थता है, इसके आगे नहीं।

इसका यह अर्थ नहीं है कि काश्मीरक अभिनवगुप्त प्राणायाम को व्यर्थ मानते हैं; क्योंकि उन्होंने तन्त्रालोक के छठे आह्निक में स्वयं कहा है कि प्रभुशक्ति, आत्मशक्ति एवं प्राणशक्ति में से सिद्ध योगी कभी दो को प्रमुखता देते हैं और कभी तीन को—

त्रयं द्वयं वा मुख्यं स्याद्योगिनामवधानिनाम्। (६.५४)

प्राणायाम की सार्थकता एवं उसकी लक्ष्मण रेखा— साधना के क्षेत्र में सर्वोच्च साधना तो मन की साधना है; किन्तु मन को विना प्राण-विशुद्धि के साधा कैसे जा सकता है? प्राण अशुद्ध है तो मन भी अशुद्ध रहेगा; अत: मन की विशुद्धि या मनो-मारण के लिये प्राणायाम का संबल आवश्यक है; किन्तु हठयोगियों की भाँति प्राण-साधना या प्राणायाम को ही मूल साधना नहीं मान लेना चाहिये। इसी दृष्टि से अभिनव-गुप्तपादाचार्य ने तन्त्रालोक (चतुर्थ आह्निक) में स्पष्टत: कहा है—

तर्कप्रभृतयो ये च नियमा यत्तथासनम्।
प्राणायामाश्च ये सर्वमेतद्बाह्यविजृम्भितम्।। (४.८८)

'श्रीमद्वीरावली' ग्रन्थ में भी इसी दृष्टि की पुष्टि की गई है—

प्राप्ते च द्वादशे भागे जीवादित्ये स्वबोधके।
मोक्ष: स एव कथित: प्राणायामो निरर्थक:।। (४.९०)

तन्त्रालोक में ही अभिनवगुप्त पुन: कहते हैं—

प्राणायामो न कर्तव्य: शरीरं येन पीड्यते।
रहस्य वेत्ति यो यत्र स मुक्त: स च मोचक:।। (४.९१)

सत्यमेतन्महाप्राज्ञ प्राणायामो न कारणम्।

'रेचकादिप्राणायामो निरर्थक: तेन न कश्चिन्मोक्षलक्षणोऽर्थ:।'[१]

प्राणायाम से मोक्षाप्ति नहीं हो सकती; यत: प्राणायाम मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है; अत: उसका सर्वोच्च महत्त्व भी नहीं है।

१. जयरथ : विवेक (तन्त्रालोक की टीका)

त्रय:पञ्चाशत् अध्याय

मन्त्रतत्त्व, मन्त्रसाधना और त्रिपुरोपासना

स्वात्मसंवित् का उल्लास : मन्त्र— महेश्वरानन्दनाथ 'परिमल' में कहते हैं कि मन्त्र अपने यथार्थ स्वरूप में स्वात्मसंवित् उल्लास के पर्यायमात्र हैं; क्योंकि आत्मा ही देवता है और देवता का उल्लास ही मन्त्र है। 'मन्त्राश्चिन्मरीचय:' कहकर आत्मा की किरणों को 'मन्त्र' कहने का भी यही अर्थ है।

मन्त्र और मन्त्री में अभेद मन्त्र-साधना की अनिवार्य शर्त है—

पृथङ्मन्त्र: पृथङ्मन्त्री न सिध्यति कदाचन।
ज्ञानमूलमिदं सर्वमन्यथा न प्रसिद्ध्यति।।

मन्त्र स्वात्मसंवित्स्वरूप है—

'स्वात्मसंवित्स्वरूपस्यैव मन्त्रशब्दार्थत्वम्।' (परिमल)

संवित् देवी : मन्त्र— स्वयं संवित् देवी ही मन्त्र हैं—

'सेयमेवंविधा भगवती संविद्देव्येव मन्त्र:।' (क्रमकेलि)

समस्त विश्व को क्रोडीकृत करके स्थित होने के कारण भी भगवती ही मन्त्र है—

'सर्वक्रोडीकारेण स्थितत्वाद्देव्येव मन्त्र:।'

वर्णों का समुदाय मन्त्र नहीं है; इसीलिये तो 'श्रीराजभट्टारक' में कहा भी गया है—

वर्णात्मको न मन्त्रो दशभुजदेहो न पञ्चवदनोऽपि।
सङ्कल्पपूर्वकोटौ नादोल्लासो भवेन्मन्त्र:।।

नाद का उल्लास : मन्त्र— विज्ञानभट्टारक में कहा गया है कि परभाव में जो भावना बार-बार की जाती है, उसमें निहित जप, स्तोत्र, जप्य, मन्त्र आदि सभी नादमात्र हैं—

भूयो भूय: परे भावे भावना भाव्यते हि या।
जपस्तोत्रं स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृश:।।

इसीलिये कहा गया है कि जिह्वा से उच्चार्यमाण विशिष्ट वर्णसमुदाय मन्त्र नहीं हैं—

उच्चार्यमाणा ये मन्त्रा न मन्त्राश्चापि तान् विदु:।

गोरक्षनाथ (महेश्वरानन्द) कहते हैं कि 'मन्त्र' शब्द का मुख्यार्थ मात्र 'स्वात्मसंवित् स्वरूप' है—

'स्वात्मसंवित्स्वरूपस्यैव मन्त्रशब्दार्थत्वं मुख्यम्।'

आचार्य महेश्वरानन्द की दृष्टि— आचार्य महेश्वरानन्द की व्याख्या के अनुसार मन्त्र के तीन लक्षण हैं—

१. मननमयी निजविभवे।

२. निजसङ्कोचे भये त्राणमयी।

३. कवलितविश्वविकल्पाऽनुभूति: कापि मन्त्रशब्दार्थ:।। (महार्थमञ्जरी-४९)

आम्नायोक्त विचार भी इसी प्रकार के हैं—

'मननत्राणधर्माणो मन्त्रा:।'

महेश्वरानन्द की व्याख्या के अनुसार मन्त्र के दो व्यापार या धर्म हैं— मनन और त्राण। वे कहते हैं कि मन्त्रानुसन्धाता की (स्वेच्छागृहीत उपाधि के कारण) दो अवस्थायें हैं—

'मन्त्रानुसन्धातु: स्वेच्छामात्रेणोपाधिना विभव: सङ्कोच: इत्यवस्थाद्वयमस्ति।'

मन्त्रानुसन्धायक की अवस्थायें एवं मन्त्र

विभव	सङ्कोच
विश्व एवं विश्वातीत में सामरस्य प्राप्त करके 'पूर्णाहम्भावना' के द्वारा आत्म-विकास की अवस्था प्राप्त करना या 'पारमैश्वर्य' प्राप्त कर लेना ही 'विभव' है— 'मननमयी निजविभवे।'	विभव से शून्य एवं उसके विपरीत अपूर्णत्वाभिमान पाशव स्वभाव : 'पशुपति' से 'पशु' बन जाना।
इस आत्मविकास की अवस्था में जो उत्तरोत्तर ऊर्ध्ववर्ती मनन समुल्लसित होता है तथा जो परामर्शानुस्यूत स्वभावचमत्कार है, उसका उल्लास ही मनन है।	**मन्त्र**— सङ्कोचावस्था में त्राणधर्मा है। विभव के सङ्कोच से जीव को जो भय उत्पन्न होते है, उससे 'मन्त्र' त्राण करता है।

जो सङ्कोचात्मक पश्वावस्था है, उसे नष्ट करके एवं वैश्वात्म्यप्रथा द्वारा वेद्यरूपी ग्रास को कवलीकृत करने के बाद साधक के हृदय में जो भगवतीमयी उल्लासस्वरूपा स्वहृदैयकसंवेद्या विमर्श शक्ति की अनुभूति होती है, वही 'मन्त्र' है—

'वेद्यविक्षोभसर्वस्वग्रासविशृङ्खलोल्लासा याऽनुभूति: स्वहृदयैकसंवेद्या विमर्शशक्ति: सैव मन्त्र:।' (परिमल)

'मननमयी निजविभवे निजसङ्कोचे भये त्राणमयी कवलितविश्वविकल्पाऽनुभूति: कापि मन्त्रशब्दार्थ:।' (महार्थमञ्जरी-४९)

'गुरु' को कभी भी मनुष्य नहीं मानना चाहिये और 'मन्त्र' को कभी भी शब्दसमूह या अक्षरमात्र नहीं मानना चाहिये। साथ ही 'मूर्ति' को मात्र पत्थर नहीं मानना चाहिये; अन्यथा नरक जाना पड़ता है—

गुरौ मनुष्यबुद्धिञ्च मन्त्रे चाक्षरबुद्धिकाम्।
प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं व्रजेत्।। (ज्ञानार्णवतन्त्र)

मन्त्र-ग्रहण के बाद उस मन्त्र का कभी त्याग नहीं करना चाहिये। यदि कोई ऐसा करता है तो उसकी मृत्यु निश्चित है—

मन्त्रत्यागाद्भवेन्मृत्युर्गुरुत्यागाद्दरिद्रता।

(तन्त्रासार : ज्ञानार्णवतन्त्र)

समस्त मन्त्र प्रारम्भिक अवस्था में पशुभाव में स्थित रहते हैं। सुषुम्णा में स्थापित करने पर ही उनमें यथार्थ मन्त्रात्मकता या स्वप्रभुत्व आ पाता है; अन्यथा वे मृत वर्णमात्र होते हैं—

पशुभावे स्थिता मन्त्राः केवलं वर्णरूपिणः।
सौषुम्ने ध्वन्युच्चरिताः प्रभुत्वं प्राप्नुवन्ति ते।। (गौतमीय)

गौतमीय में यह भी लिखा गया है कि मन्त्रार्थ ही मन्त्र की चेतनता है; अतः मन्त्रार्थ के विना मन्त्रजप व्यर्थ है—

मूलमन्त्रं जपेद्बुद्ध्या सुषुम्णामूलमध्यगाम्।
मन्त्रार्थस्तस्य चैतन्यं जीवं ध्यात्वा पुनः पुनः।। (गौतमीय)

मन्त्रजप कोई शारीरिक क्रिया नहीं है; प्रत्युत मानसिक एवं भावनात्मक साधना है। अतः मन्त्रोच्चारणमात्र ही नहीं; प्रत्युत उसके साथ-साथ भावयोग भी आवश्यक है; अन्यथा मन्त्र सिद्ध नहीं हो सकता—

मनोऽन्यत्र शिवोऽन्यत्र शक्तिरन्यत्र मारुतः।
न सिद्ध्यति वरारोहे ! कल्पकोटिशतैरपि।। (कुलार्णवतन्त्र)

मन्त्र के अपरिहार्य अंग हैं— मन्त्रचैतन्य, योनिमुद्रा और बीज। यदि इनका मन्त्र के साथ योग नहीं हो तो लाखों-करोड़ों वर्षों में भी सिद्धि सम्भव नहीं होती—

मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रा न वेत्ति यः।
शतकोटिजपेनापि तस्य सिद्धिर्न जायते।।

लुप्तबीजाश्च ये मन्त्रा न दास्यन्ति फलं प्रिये।
मन्त्राश्चैतन्यसहिताः सर्वसिद्धिकराः स्मृताः।।

चैतन्यरहिता मन्त्रा प्रोक्ता वर्णास्तु केवलम्।
फलं नैव प्रयच्छन्ति लक्षकोटिशतैरपि।। (कालसंहिता)

मन्त्रों का यथार्थ स्वरूप उनका चिच्छक्ति में ग्रथित स्वरूप है। वे परमव्योम में परमानन्द में निवास करते है; अतः मन्त्रों को इस स्वरूप में स्थापित करने पर ही सिद्धि हो पाती है—

जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः। (शिव)

उपर्युक्त के अभाव में मन्त्र की सिद्धि सम्भव ही नहीं होती। चिच्छक्ति में अवस्थान ही मन्त्र का मूल स्वरूप होता है—

मन्त्राक्षराणि चिच्छक्तौ ग्रथितानि विभावयेत्।
तामेव परमे व्योम्नि परमानन्दबृंहिते।।

मन्त्र अपने मौलिक स्वरूप में 'पूर्णाहन्तानुसन्ध्यात्मा' है, संसार का त्राणकर्ता है, मननधर्मा है—

पूर्णाहन्तानुसन्ध्यात्मा स्फूर्जन्मननधर्मत:।
संसारक्षयकृत्त्राणधर्मतो मन्त्र उच्यते।।

मन्त्र पर, सूक्ष्म एवं स्थूल तीन प्रकार के होते हैं। वर्णात्मक मन्त्रों में सतत् अनाहत नाद सञ्चरित होता रहता है। मन्त्रों में संवित् ही स्पन्दित है। मन्त्रजप के समय प्राणसाम्य आवश्यक है। चूँकि प्राण से स्पन्द एवं स्पन्द से भेद आविर्भूत होते हैं; अत: स्पन्द के अपर स्वरूप मन्त्र के लिये प्राणानुशासन आवश्यक है। मन्त्र के जप के लिये प्राणसाम्य आवश्यक है। प्राण में भी साम्यावस्था सुषुम्णा में होती है।

सम्पूर्ण वर्णों एवं मन्त्रों के पीछे एक अनाहत नाद ध्वनित है, जो अनवरत रूप से ध्वनित होता रहता है। प्राण जब सुषुम्णा में स्थिर हो जाता है, तब अन्य तत्त्व भी लयीभूत हो जाते हैं और केवल संवित् तत्त्व मात्र शेष रह जाता है। सभी वर्णों के पीछे एक अनाहत नाद ध्वनित है—

एको नादात्मको वर्ण: सर्ववर्णविभागवान्।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इहोदित:।। (तन्त्रालोक)

मन्त्रों में संवित् ही स्पन्दित होता है। प्राणसाम्य से ही मन्त्र सिद्ध होता है। सुषुम्णा में प्राणसञ्चार लय का कारण है। मानस जप में प्राणशक्ति के उदय, संगम एवं शान्ति में जप किया जाता है। प्राणशक्ति के उदयस्थान— कुण्डलिनी स्थान, हृदयदेश, प्राण-शक्ति के शान्त होने का स्थान में— जप होता है। मन्त्र-जप में 'प्राण' दो बार चक्कर काटता है; क्योंकि प्राण का विकास एवं आकुञ्चन दोनों ही होता है।

मन्त्र-जप के स्थान— मन्त्र-जप के सात स्थान हैं— उदय, संगम, शान्त, प्राणापान-प्रवाह, अक्षनाड़ीचक्र के सूत्र, हृदय का 'हंस' नामक स्थान एवं सहस्रार। यही है— 'मानस जप' या 'अजपा जप'।

चैतन्य ही 'मन्त्र' के रूप में परिणत होता है। इसका विमर्श ही शुद्ध ज्ञान एवं क्रिया है। संवित का स्फुरण दो रूपों में होता है— क्षुब्ध स्फुरण (प्रमाण) एवं अक्षुब्ध स्फुरण (मन्त्र)।

भगवती का वर्णात्मक एवं मन्त्रात्मक स्वरूप तथा सृष्टि-विधान— परा-भट्टारिका, राजराजेश्वरी भगवती महात्रिपुरसुन्दरी वर्णात्मिका एवं वर्णस्वरूपा हैं। उनके आत्मस्वरूप वर्णों से ही सृष्टि हुई है—

१. अकारादिविसर्गान्तं शिवतत्त्वम्।
२. कादिठान्तं धरादिनभोऽन्तं भूतपञ्चकम्।
३. चादिञान्तं गन्धादिशब्दान्तं तन्मात्रपञ्चकम्।

४. टादिणान्तं पादादिवागन्तं कर्माक्षपञ्चकम्।

५. तादिनान्तं घ्राणेन्द्रियश्रोत्रान्तं बुद्धिकरणपञ्चकम्।

६. पादिमान्तं मनोऽहङ्कारबुद्धिप्रकृतिपुरुषाख्यं पञ्चकम्।

७. वाय्वादिशब्दवाच्या यादयो वकारान्ता रागविद्या कलामायाख्यानि तत्त्वानि।[१]

वर्णों का मन्त्रों के साथ सम्बन्ध— वर्णों का मन्त्रों के साथ क्या सम्बन्ध है? इस विषय में अभिनवगुप्त कहते हैं कि वर्णों से ही 'मन्त्र' बनते हैं और मन्त्र परमेश्वर-रूपात्मक हैं। वे विकल्पसंविन्मय एवं मनन-त्राणरूप हैं—

मन्त्राः वर्णभट्टारकाः लौकिकपारमेश्वरादिरूपाः मननत्राणरूपाः विकल्पसंविन्मयाः।[२]

मन्त्रा वर्णात्मकाः सर्वे वर्णाः सर्वे शिवात्मकाः।

मन्त्र एवं जपसाधना का प्रयोजन— समस्त मन्त्र एवं जपसाधना का प्रयोजन शक्तिजगरण एवं आत्मसाक्षारात्मक मोक्ष है। मोक्ष तो स्वयं भगवती त्रिपुरा ही हैं; क्योंकि स्वरूप-प्रथन ही मोक्ष है और आत्मस्वरूप मात्र आत्मसंवित् है—

मोक्षश्च नाम नैवान्यः स्वरूप प्रथनं हि सः।
स्वरूपं चात्मनः संवित्.................................।।

भगवती ललिता सभी प्राणियों की आत्मसंवित् हैं।

१. अभिनवगुप्तपाद : परात्रिंशिका विवृत्ति

२. अभिनवगुप्तपाद : परात्रिंशिका विवृत्ति

चतुःपञ्चाशत् अध्याय

जपतत्त्व, जप-साधना और त्रिपुरोपासना

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि यज्ञों में मैं जपयज्ञ हूँ— 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'। 'जप' है क्या? मन्त्र, मन्त्रार्थ, अवस्था, विषुव, नव नाद आदि अंगों के साथ मन्त्राक्षरों को चिच्छक्ति से ग्रथित करते हुये सुषुम्ना में उनका नादश्रवण करना ही यथार्थ मन्त्रजप है।

अभिनवगुप्त की दृष्टि— अभिनवगुप्त 'तन्त्रालोक' (१.९०) में कहते हैं कि परम कारण शिव का आत्मरूप ही 'जप' है। भावाभाव (प्राणापान आदि गत्यात्मक) पद की सीमा को अतिक्रान्त कर जाने की वह दशा, जहाँ चिदैक्य परामर्श हो, वही 'जप' है—

तत्स्वरूपं जपः प्रोक्तो भावाभावपदच्युतः।

जयरथ कहते हैं कि 'तस्य शिवस्य स्वरूपं परावाक्स्वभावम्' अर्थात् 'भूयोभूयः परामृश्यमानं जपः; अतएव भावाभावपदच्युतः पूर्वोक्तनीत्या तन्मध्यस्फुरत्संवित्परामर्श-मात्रसार इत्यर्थः।' 'प्रभाकौल' में कहा गया है—

यावत्तत्परमं शान्तं न विजानन्ति सुन्दरि !।
तावत् पूजाजपध्यानहोमलिङ्गार्चनादिकम्।।

विदिते तु परे तत्त्वे सर्वाकारे निरामये।
क्व पूजा क्व जपो होमः क्व च लिङ्गपरिग्रहः।।

अभिनवगुप्त 'तन्त्रालोक' में कहते हैं कि भैरवसमावेश 'ध्यान' से ही नहीं, 'जप' से भी होता है—

परं शिवं तु व्रजति भैरवाख्यं जपादपि।

आगम में भी कहा गया है—

भूयो भूयः परे भावः भावना भाव्यते हि या।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः।।

अर्थात् बार-बार उस परम भाव में जो भावना भावित की जाती है, वही 'जप' है। विज्ञानभट्टारक में भी कहा गया है—

यैरेव पूज्यते द्रव्यैस्तर्प्यते वा परावरः।
यश्चैकः पूजकः सर्वः स एवैकः क्व पूजनम्।।

'श्रीपूर्वशास्त्र' में कहा गया है—

द्रवद्रव्यसमायोगात् स्नपनं तस्य जायते।
गन्धपुष्पादिगन्धस्य ग्रहणं यजनं स्मृतम्।।

षड्रसास्वादनं तस्य नैवेद्याय प्रजायते।
यमेवोच्चारयेद्वर्णा स जपः परिकीर्तितः।।

शिव का स्वात्मस्वरूप 'परा वाक्' है। परा वाक् का शाश्वत परामर्श ही 'जप' है। 'त्रिशरोभैरव' में कहा गया है—

परं शिवं तु व्रजति भैरवाख्यं जपादपि।
तत्स्वरूपं जपः प्रोक्तो भावाभावपदच्युतः।।

महेश्वरानन्द 'महार्थमञ्जरी' और 'परिमल' में भूपति का मत उल्लिखित करते हुये कहते हैं कि 'मन्त्र' तो साक्षात् भगवती है— 'सर्वक्रोडीकारेण स्थितत्वाद्देव्येव मन्त्रः' (भट्टश्रीभूपति) और 'जप' गुरु-देवता एवं मन्त्र में ऐक्यसन्धान करने की प्रक्रिया है— 'गुरुदेवतामनूनामैक्यं सम्भावयन् धिया शिष्यः इत्यभियुक्ता आचक्षते। एतेन जपो व्याख्यातः। जननपालनस्वभावतया हि 'जप' इत्युच्यते'। कहा भी गया है—

जनिपालनधर्मेण जपेनान्तर्मुखात्मना।

उपपादित मन्त्र-स्वरूप का परामर्श ही जप है— 'केवलमुपपादितमन्त्रस्वरूपपरामर्शो जप इत्युच्यते'। (परिमल)

जप के भेद— जप तीन प्रकार के होते हैं— अधम, मध्यम एवं उत्तम। उच्च वाणी में किया गया जप अर्थात् वैखरी जप : वाचिक जप 'अधम' जप कहलाता है। उपांशु जप को 'मध्यम' जप कहा जाता है और मानस जप को 'उत्तम' के नाम से जाना जाता है। कहा भी है—

उच्चैर्जपोऽधमः प्रोक्त उपांशुर्मध्यमः स्मृतः।
उत्तमो मानसो देवि ! त्रिविधः कथितो जपः।।

जप : एक दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण

अभिनवगुप्तपाद की दृष्टि— अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'तन्त्रालोक' में जप के निम्न लक्षण बताये हैं—

१. परम कारण शिव का आत्मरूप ही 'जप' है।

२. भावाभाव (प्राणापानादि गत्यात्मक) पद की सीमा को अतिक्रान्त कर जाने की वह दशा, जहाँ चिदैक्य परामर्श हो, वही 'जप' है। अभिनवगुप्त कहते हैं—

भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः।।[१]

अर्थात् बार-बार उस परम भाव में जो भावना भावित की जाती है, वही 'जप' है। यह एक प्रकार से स्वयं नाद है। यह मन्त्रात्मक होता है। ऐसा परामर्श ही (नाद ही) जपने योग्य है।

शिव का स्वात्म रूप वस्तुतः परा वाक् है। परा वाक् का शाश्वत परामर्श ही 'जप' है।

इस परामर्शदशा में भावाभावात्मक पद में स्थिति नहीं रहती; प्रत्युत मध्यावस्थान

१. तन्त्रालोक (१.९०)

की दशा प्राप्त हो जाती है। भाव एवं भावाभाव दोनों की स्थिति संकोचात्मक होती है। साधक इसका त्रोटन करता है और मध्य में विराजमान हो जाता है। वही परसंवित् का अमृतपरामर्श होता है। यही 'जप' है[१]—

१. तस्य शिवस्य स्वरूपं परावाक्स्वभावमात्मरूपमर्थात् भूयो भूय: परामृश्यमानं जप:। अतएव भावाभावपदच्युत: पूर्वोक्तनीत्या तन्मध्यस्फुरत्संवित्परामर्शमात्रता इत्यर्थ:।

२. तत्स्वरूपं जप: प्रोक्तो भावाभावपदच्युत:।।[२]

३. परं शिवं तु व्रजति भैरवाख्यं जपादपि।
तत्स्वरूपं जप: प्रोक्तो भावाभावपदच्युत:।।[३]

अर्थात् केवल ध्यान से ही नहीं, जप से भी भैरवरूप शिव में समावेश होता है और भावाभाव पद से ऊपर उठकर उसका परामर्श करना ही जप है।[४]

विज्ञानभैरव की दृष्टि— विज्ञानभैरव में भी उपर्युक्त दृष्टि की पुष्टि की गई है— 'जप: सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृश:'[५] किन्तु इसकी प्रक्रिया क्या है?— 'अहमेव परो हंस: शिव: परमकारणम्' (स्वच्छन्दतन्त्र-४.३९९)। इस प्रकार अहर्निश एवं स्वाभाविक रूप से प्रवर्तमान अपने प्राणमय अजपा स्वरूप का विमर्श 'सोऽहं हंस:' इस अनाहत नादस्वरूप शब्द की निरन्तर भावना ही 'जप' है। जो 'जप्य' (परमात्मा शिव) है, वह भी इस मन्त्र से पृथक् नहीं है— 'मन्त्रात्मा जप्य ईदृश:' (मन्त्र की आत्मा और जपनीय तत्त्व परमात्मा भी इसी जप के साथ (या मन्त्र के साथ) अभिन्न है); क्योंकि—

पृथङ्मन्त्र: पृथङ्मन्त्री न सिद्ध्यति कदाचन।

योगिनीहृदयदीपिका की दृष्टि— योगिनीहृदयदीपिका में कहा गया है कि इन्द्रियों की बहिर्मुख प्रवृत्ति को रोककर आन्तर अनाहत नाद की भावना करना ही 'जप' है; विकल्पात्मक नाना वर्णों के संघात से निर्मित मन्त्रों का बाह्य उच्चारण जप नहीं कहलाता—

संयमेन्द्रियसञ्चारं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम्।
एष एव जप: प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जप:।।[६]

शिवसूत्रकार एवं क्षेमराज की दृष्टि— शिवसूत्रकार का कथन है कि 'कथा ही जप है।' आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि 'अहमेव परो हंस: शिव: परमकारणम्' अर्थात् मैं ही परम हंस एवं आद्य कारणस्वरूप शिव हूँ। इस स्वच्छन्दतन्त्रोक्त अनुभूति की निरन्तरता के साथ— 'परहम्भावना' के साथ— 'महामन्त्रात्मकाकृतकाहंविमर्शारूढ़' जो भी आलाप होता है, उसमें स्वात्मदेवता के विमर्शन से युक्त जो अनवरत आवर्तनात्मा वाग्व्यवहार (आलाप) होता है, वह सब जप है[७]— 'स्वात्मदेवताविमर्शनवरतावर्तनात्मा

१. विवेक (जयरथ)
२. तन्त्रालोक (१.९०)
३. त्रिशिरोभैरव
४. त्रिशिरोभैरव
५. विज्ञानभैरव (श्रीकण्ठी संहिता, शिवसूत्रविमर्शिनी)
६. नित्याषोडशिकार्णव
७. शिवसूत्रविमर्शिनी।

जपो जायते'। इसी प्रसंग में आचार्य क्षेमराज ने विज्ञानभैरव के 'भूयो भूयः परे भावे.............जप्य ईदृशः' श्लोक को भी अपनी पुष्टि में उद्धृत किया है। आगे वे पुनः विज्ञान-भैरव के निम्न श्लोक को भी उद्धृत करते हैं—

सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत्पुनः।
हंसहंसेत्यतो मन्त्रं जीवो जपति नित्यशः।।

षट्शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।
जपो देव्याः विनिर्दिष्टः सुलभो दुर्लभो जडैः।।[1]

सारांश यह कि अहोरात्र में २१६०० बार जीवों द्वारा 'हंस' मन्त्र का अजपा जप किया जाता रहता है और यही अजपा जप एक स्वाभाविक जप है।

जयरथ (विवेक) ने कहा था कि शिव के परा वाक् स्वभाव, अनाहत नादमय स्वरूप का बार-बार परामर्श करना ही 'जप' कहलाता है और यह जप भाव एवं अभाव से निर्मुक्त तथा भावाभाव दशाओं के मध्य स्फुरित होने वाले संवित्स्वरूप का बोध है।[2]

अभिनवगुप्तपाद की दृष्टि— अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्ति-विमर्शिनी' में यह शंका उठाई है कि जप-सिद्धि तो शब्दों की आवृत्ति से ही होती है; किन्तु परा वाक् स्वभाव अनाहत नाद का जप कैसे किया जा सकता है?

वे इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार स्वात्मस्वरूप मात्र एक बार ही प्रकाशित होता है, बार-बार प्रकाशित नहीं होता, उसी प्रकार जप भी मात्र एक बार ही प्रत्यभिज्ञात होता है, बार-बार नहीं। अपनी प्राणशक्ति के इस स्वाभाविक एवं मन्त्रा-त्मक व्यापार की एक बार भी प्रत्यभिज्ञा कर ली जाय तो इस प्रत्यभिज्ञा हेतु बार-बार प्रयास नहीं करना पड़ता।[3]

नित्याषोडशिकार्णव की दृष्टि— नित्याषोडशिकार्णव (५.६) में कहा गया है कि श्रीचक्र का 'सकल' (सृष्टि-स्थिति-लयात्मक चक्र) या 'मध्य' (सनवयोनि चतुरस्रान्त सृष्टि-संहारात्मक चक्र) या 'बाह्य मध्य' (नवयोनि दशारद्वय चतुर्दशार चतुस्रान्त स्थिति चक्र) या इनमें से किसी एक चक्र को विधि-विधानपूर्वक अभ्यर्चित करके या हृदय में श्रीचक्र का ध्यान करके उसमें आसीन त्रिपुरसुन्दरी का ध्यान करके ध्यानयोग द्वारा मुद्राओं के साथ जप का आरम्भ करना चाहिये।[4]

चक्रमभ्यर्च्य विधिवत् सकलं परमेश्वरि !।
मध्यं वा केवलं देवि बाह्यमध्यगतञ्च वा।।

तदग्रसंस्थितो मन्त्री सहस्रं यदि वा जपेत्।
व्रतस्थः परमेशानि ततोऽनन्तफलं लभेत्।।

---

१. विज्ञानभैरव

२. जयरथ-विवेक

३. अभिनवगुप्तपाद : ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी

४. इस जप-विधान में श्रीचक्र, भगवती त्रिपुरा, ध्यान, मुद्रा आदि सभी को जप का अंग स्वीकार किया गया है।

ध्यात्वा वा हृद्गतं चक्रं तत्रस्थां परमेश्वरीम्।
पूर्वोक्तध्यानयोगेन सञ्चिन्त्य जपमारभेत्।।[१]

'पूर्वोक्तन्याससंयुक्तो, मुद्रासन्नद्धविग्रहः, मन्त्रविग्रहः, यन्त्रितः (चर्यापादोक्त क्रम द्वारा संयत) होकर जप करना चाहिये अर्थात् ये सभी मन्त्र के अङ्गभूत तत्त्व हैं।[२]

श्रीवैहायसी की दृष्टि— 'श्रीवैहायसी' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि सन्धि-स्थल में नादोर्ध्व ध्वनि से बोधित जप करना चाहिये। जिस प्रकार सूत्र में मणि ग्रथित होते हैं, उसी प्रकार शक्ति के ताने-बाने से निर्मित मन्त्राक्षरों का ध्यान करना चाहिये। वह शक्ति परमव्योम में निवास करती है और परमामृत से समृद्ध है। उक्त रीति से जप करने पर ही मन्त्र स्वस्वरूप को प्रकट करता है, अपने आपको आवृत नहीं रखता; अन्यथा आवृत्त ही रखता है—

विषुवत्कं जपं कुर्यान्नादोर्ध्वध्वनिबोधितम्।
मन्त्राक्षराणि मणिवच्छक्तौ प्रोतानि भावयेत्।।

तामेव च परे व्योम्नि परमामृतबृंहिताम्।
दर्शयत्यात्मसद्भावमेवं मन्त्रो हुतिं विना।।[३]

श्रीकालपरा की दृष्टि— 'श्रीकालपरा' नामक ग्रन्त्र में कहा गया है कि मन्त्र का जप वर्णों की पुनरावृत्ति नहीं है; क्योंकि मन्त्र वर्ण नहीं आन्तर नाद हैं। संवित् तत्त्व मन्त्र बोधस्वरूप ही हैं; अतः नादात्मक मन्त्रजप के साथ संवित् तत्त्व की संलग्नता भी आवश्यक है; क्योंकि वही जप के द्वारा आत्मबोध कराती है—

शब्दो नादात्मकस्तस्मात् प्रत्ययेनोपबृंहितः।
मन्त्रबोधस्वरूपस्थमभिन्नो बोधयत्यपि।।[४]

हंसपारमेश्वर की दृष्टि— 'हंसपारमेश्वर' नामक ग्रन्थ में भी यही कहा गया है कि जिसे सामान्यतया 'मन्त्र' कहकर उसका जप किया जाता है, वह न तो मन्त्र है और न ही उसका जप वास्तविक जप है। मन्त्र के दो रूप हैं—

१. मन्त्र का पशुरूप— मुखोच्चारित, वैखरी वाक्-ग्राह्य वर्णरूप मन्त्र पशु है।

२. मन्त्र का पशुपतिरूप— सुषुम्णा मार्ग से उच्चारित मन्त्र ही यथार्थ मन्त्र हैं; वे पशुपतिस्वरूप हैं और उनका स्वाभाविक जप ही यथार्थ जप है। हंसपारमेश्वरकार कहते हैं—

पशुभावे स्थिता मन्त्राः केवला वर्णरूपिणः।
सौषुम्णेऽध्वन्युच्चरिताः पतित्वं प्राप्नुवन्ति ते।।

स्पन्दप्रदीपिकाकार की दृष्टि— आचार्य उत्पल वैष्णव ने 'स्पन्दप्रदीपिका' में कहा है कि 'मन्त्र' अन्तर एवं बाह्य दोनों स्थानों में शुद्ध बोध के रूप में जब उदित होता

---

१. नित्याषोडशिकार्णव (५.४-६)
२. नित्याषोडशिकार्णव (५.७-१२)
३. श्रीवैहायसी
४. श्रीकालपरा

है, तभी वह यथार्थ मन्त्र है और उसका एक बार का भी जप लाख जप के समान होता है; क्योंकि वास्तविक जप यही है— 'एवं शुद्धबोधात्मकत्वेनान्तर्बाह्योदयादेकोऽपि जपो लक्षसङ्ख्याकः'।[१] इसीलिये कहा भी गया है—

एकस्य मन्त्रनाथस्याप्यन्तर्बाह्योदितस्य च।
यदैक्यं तं जपं विद्धि लक्षसङ्ख्याधिकं मुने।।

सङ्कर्षणसूत्रकार की दृष्टि— सङ्कर्षणसूत्र नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि मन्त्र प्रत्ययात्मक, स्वात्मैकनिष्ठ, चिद्रूप, भावाभाव-परिष्कृत, स्वसंवेदनसंवेद्य एवं प्रत्ययातीतगोचर हैं और यही उनकी योनि है—

स्वात्मैकनिष्ठं चिद्रूपं भावाभावपरिष्कृतम्।
स्वसंवेदनसंवेद्यं प्रकृत्यातीतगोचरम्।।
इयं योनिः स्मृता विप्र मन्त्राणां प्रत्ययात्मिका।[२]

सारांश यह है कि मन्त्र यथार्थतः चिद्रूप हैं, स्वात्मैकनिष्ठ हैं। 'मन्त्राश्चिन्मरीचयः' (मन्त्र आत्मा या चैतन्य की किरणें हैं) कहकर इसी तथ्य की पुष्टि भी की गई है; अतः जो अचिद्रूप बाह्य वर्ण हैं, वे न तो चैतन्याधिष्ठान हैं, न ही स्वात्मैकनष्ठ। वे न तो प्रकृत्यातीत हैं, न ही स्वसंवेदनसंवेद्य। अतः वे मन्त्र यथार्थ मन्त्र नहीं हैं और उनका जप भी यथार्थ जप नहीं है।

मन्त्र का स्वभाव, स्वरूप एवं तदनुरूप उनका जपक्रम— मन्त्र में चार तत्त्व मुख्य हैं— बीज, पिण्ड, पद और नाम। उनका धर्म है— मनन एवं त्राण। उनका बल है— निरावरण चित् तत्त्व का उल्लास (पराशक्ति का प्रत्यक्षीकरण)। उसी शक्ति को लेकर 'मन्त्र' सहज नादशक्ति से उद्बोधित होकर प्रदीप्त होते हैं। उनमें सर्वज्ञता आदि का बल आ जाता है। उनका प्रयोग करने पर मन्त्री अनुग्रह एवं निग्रह शक्तियों से युक्त हो जाते हैं और तब मन्त्र किङ्कर की भाँति मन्त्री की सभी आज्ञाओं का पालन भी करते हैं।

चिच्छक्ति के बल का स्पर्श न होने के कारण मन्त्र केवल जड़ वर्णमात्र (पशुमन्त्र) रह जाते हैं— 'अन्यथा तु प्रयत्नप्रयुक्ता अपि ते ये पूर्वोक्तसङ्कल्पत्वाद्या स्पन्दचिच्छक्तिबला स्पर्शात् केवलवर्णरूपमात्रारूपत्वान्मन्त्रपुत्रिकाकरणनिष्फचेष्टा भवन्ति। 'पशुभावे स्थिता मन्त्राः केवला वर्णरूपिणः।'[३]

स्पन्दकारिकाविवृत्तिकार की दृष्टि— इसीलिये स्पन्दकारिकाविवृत्ति में आचार्य रामकण्ठ कहते हैं कि जिन तथाकथित मन्त्रों (मन्त्राक्षरों) ने परमेश्वर के साथ अभेदावस्था (अभिन्नावस्था, सामरस्य) नहीं प्राप्त किया है, वे उत्पत्ति एवं विनाशदोष से त्रस्त हैं। वे मन्त्र वर्णात्मक मात्र होने के कारण अचिन्त्य शक्ति का प्रदर्शन करना तो दूर रहा, एक

---

१. स्पन्दप्रदीपिका (उत्पल वैष्णव) ३. स्पन्दप्रदीपिका (द्वि०-२६)
२. श्रीसङ्कर्षणसूत्र

तिनके को भी टेढ़ा नहीं कर सकते— 'एते ह्यनासादितपरमेश्वराभेददशा उत्पादविनाशधर्मकवर्णमात्रात्मका तृणमपि कुब्जयितमशक्ता।'[१]

किन्तु ये ही मन्त्र परमेश्वर के साथ सामरस्य प्राप्त कर लेने पर कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथाकर्तुं आदि समस्त अप्रतिहत शक्तियों से युक्त हो जाते हैं— 'अप्रतिहतशक्तयो भवन्ति।'[२]

इसीलिये स्पन्दप्रदीपिका (स्पन्दसूत्र) में कहा भी गया है—

तदाक्रम्य बलं मन्त्रा सर्वज्ञबलशालिनः।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम्।।[३]

चूँकि समस्त भावों का समुद्भव आत्मा से ही है, संविद के आरोहण से ही परा, पश्यन्ती आदि वाणियों का भी उदय होता है, सम्पूर्ण विश्व संवित्-समन्वित है और संवित् के विना विश्व की सत्ता भी सम्भव नहीं है; अतः यदि 'मन्त्र' संविन्मय नहीं रहा तो वह मन्त्र 'मन्त्र' नहीं रहा और उसका जप 'जप' भी नहीं रहा। एक ही मन्त्रनाथ अन्तर एवं बाह्य दोनों में उदित होकर एक हो जाता है, बाह्य जिह्वा का व्यापारमात्र नहीं रह जाता और ऐसी स्थिति में जपा गया एक मन्त्र भी लक्ष संख्या से भी अधिक शक्तिशाली हो जाता है—

एकस्य मन्त्रनाथस्याप्यन्तर्वाह्योदितस्य च।
यदैक्यं तं जपं विद्धि लक्षसङ्ख्याधिकं मुने।।[४]

मन्त्रों के उदय के विषय में पुष्कल प्रकाश डाला जा चुका; अतः अब इसके लय के विषय में भी जानना चाहिये।

मन्त्र का उदय— सुषुम्णागत नाद से, संविदुल्लास से, शिव के साथ अभेदप्रतिपत्ति से, मन्त्री एवं मन्त्रदेवता के अभेद से मन्त्र का उदय होता है।

मन्त्र का लय— साधक के चित्त में मन्त्र का लय होता है—

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनः।। (स्पन्दसूत्र-२.२६)

तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जना।
सह साधकचित्तेन तेनैते शिवधर्मिणः।। (स्पन्दसूत्र-२.२७)

जहाँ से मन्त्रों का उदय होता है, वहीं वे लीन हो जाते हैं। 'तत्रैव' (उसी परमकारण स्वस्वभाव शिव में)। वे लीन हो जाते हैं अर्थात परमशिव के साथ एकता प्राप्त कर लेते हैं— 'शिवे परमकारणे स्वस्वभावे सम्प्रलीयन्ते तदैक्यमुपगच्छन्ति'।[५]

---

१. स्पन्दकारिकाविवृत्ति (रामकण्ठाचार्य)
२. रामकण्ठाचार्य (स्पन्दकारिकाविवृत्ति)
३. स्पन्दसूत्र (२.२६)
४. जयाख्य संहिता
५. स्पन्दकारिकाविवृत्ति (रामकण्ठाचार्य)

मन्त्र सर्वज्ञ एवं सर्वकर्ता हैं— 'सर्वज्ञा: सर्वकर्तार:।' जो मन्त्रचेता होते हैं, उनके मन्त्रों का उदय एवं लय दोनों ही परमकारणस्वरूप शिव के साथ अभेदप्रतिपत्ति से ही होता है— 'मन्त्रचेतसो: उदयास्तमयदशयो: परमकारणाच्छिवाभेद:।'[१]

इस प्रकार तो शिव-शक्ति ही मन्त्रात्मक एवं साधक-चित्तात्मक होकर वर्णसङ्कल्प का रूप धारण करके उदित होती है और वही मन्त्र है— 'इति मन्त्रात्मकतया साधक-चित्तात्मकतया च शिवशक्तिरेव वर्णसङ्कल्पादिरूपधारिणी उदिता।'[२] जो अनासादित स्वस्व-भाव (आत्मबलस्पर्श से हीन) साधक हैं, उनमें यह शक्ति भेद (विभ्रम) उत्पन्न करके साधकों को नियतार्थ (मन्त्रसिद्धि) से वञ्चित कर देती है— 'अनासादितस्वस्वभावबल-स्पर्शप्रतिपत्तीनां साधकानां भेदविभ्रममुत्पादयन्ती नियतार्थसाधनाधिकाराय पर्यवस्यति।'[३] किन्तु यथार्थ मन्त्री तो विना नियत नियम-पालन एवं कर्तव्य-निष्पादन आदि के भी सर्वार्थसाधनाधिकारी हो जाते हैं— 'सर्वार्थसाधनाधिकारिणो भवन्ति तत्तदितिकर्तव्यता-साहित्यनियमाद्यपेक्षां विना।[४]' इसी से मन्त्रों को शिवधर्मी एवं स्वभावबलाक्रमणसिद्ध तथा वीर्यवान कहा गया है— 'स्वभावबलाक्रमणमेव सिद्धं स्वतो मन्त्राणां वीर्यं प्रत्यवभ्रष्टव्यं योगिना।'[५]

ये मन्त्र शक्तिमान स्वभाव में लीन हो जाते हैं; क्योंकि ये स्वस्वभाव के अनुगामी एवं शक्तिरूप हैं। 'तत्रैव' = स्वस्वभाव शक्ति में (लीन हो जाते हैं)।[६] मन्त्र भी सर्वज्ञ एवं सर्वकर्ता होते हैं।[७]

जप्य के साथ जापक की एकता, मन्त्रोपास्य के साथ मन्त्री का अभेद या मन्त्र एवं मन्त्री दोनों का अपने देवता के साथ अभेद-प्रतिपत्ति ही 'जप' का यथार्थ लक्षण है। 'श्रीकालपरा' नामक ग्रन्थ में कहा गया है—

१. पर अक्षर एक वृक्ष है और उसमें अनेक शक्तियाँ निहित हैं।

२. उनके विवर्त 'शक्ति' के रूप में वर्णाकार उद्भूत होते हैं।

३. ये ही शक्तियाँ वर्णविग्रह होकर प्राणियों के मुख से वर्णरूप में प्रकट होती हैं।

यदि वर्ण शक्तियाँ हैं तो मन्त्र का जप भी वर्णों का जप नहीं, शक्ति का जप (चिद्रूपा संवित् शक्ति से चेतन ध्वन्यात्मक वर्णों का जप) होना चाहिये, चैतन्योल्लासात्मक जप होना चाहिये, शक्त्यात्मक जप होना चाहिये; क्योंकि—

पराक्षरतरोर्धातुर्नानाशक्तेर्विवर्तगा: ।
शक्तयो वर्णदेहेषु वक्त्राद्वर्णत्वमागता: ।।[८]

शिवसूत्रकार एवं शिवसूत्रविमर्शिनीकार ने शिवसूत्र के द्वितीय उन्मेष में मन्त्र को

---

१. स्पन्दकारिकाविवृत्ति (रामकण्ठाचार्य)
२. स्पन्दकारिकाविवृत्ति (रामकण्ठाचार्य)
३. स्पन्दकारिकाविवृत्ति (रामकण्ठाचार्य)
४. स्पन्दकारिकाविवृत्ति (रामकण्ठाचार्य)
५. स्पन्दकारिकाविवृत्ति (रामकण्ठाचार्य)
६. उत्पलवैष्णव : स्पन्दप्रदीपिका
७. उत्पलवैष्णव : स्पन्दप्रदीपिका
८. श्रीकालपरा

'शाक्तोपाय' स्वीकार किया है और कहा है कि शाक्तोपाय तो वही हो सकता है, जो शक्तिप्राण या शक्त्यात्मक हो; अत: 'शक्ति' स्वयमेव मन्त्रवीर्यस्फाररूपा है— 'इदानीं शाक्तोपाय: प्रदर्श्यते; तत्र शक्ति: मन्त्रवीर्यस्फाररूपा।' 'मन्त्र' क्या है? 'चित्तं मन्त्र:' अर्थात् चित्त ही मन्त्र है।[1] 'चित्त' क्या है?—

१. चेत्यते विमृश्यते अनेन परं तत्त्वमिति चित्तम्।

२. पूर्णस्फुरत्तासतत्त्वप्रासादप्रणवादिविमर्शरूपं संवेदनम्, तदेव मन्त्र्यते गुप्तम्।

३. अभेदेन विमृश्यते परमेश्वरूपमनेन इति कृत्वा मन्त्र:।[2]

सारांश यह कि परस्फुरत्तात्मक मननधर्मात्मकता एवं भेदमयसंसारप्रशमनात्मक त्राण-धर्मता ही मन्त्र का लक्षण है। मन्त्र 'विचित्रवर्णसङ्घट्टनामात्रकम्' ही नहीं हैं; प्रत्युत ये 'मन्त्र-देवताविमर्शपरत्वेन प्राप्ततत्सामरस्यम्' भी हैं।[3] क्योंकि इन लक्षणों से रहित मन्त्र 'मन्त्र' ही नहीं हैं—

उच्चार्यमाणा ये मन्त्रा न मन्त्राश्चापि तान्विदु:।
मोहिता देवगन्धर्वा मिथ्याज्ञानेन गर्विता:।।[4]

शक्ति ही मन्त्रों की आत्मा है; अत: उससे रहित मन्त्र निष्फल हैं—

मन्त्राणां जीवभूता तु या स्मृता शक्तिरव्यया।
तया हीना वरारोहे निष्फला: शरदभ्रवत्।।[5]

जापक एवं जप, मन्त्री एवं मन्त्र में ऐक्य ही यथार्थ जप है; क्योंकि—

पृथङ्मन्त्र: पृथङ्मन्त्री न सिद्ध्यति कदाचन।
ज्ञानमूलमिदं सर्वमन्यथा नैव सिध्यति।।[6]

जप का स्वरूप— इन्हीं आत्मभूत तत्त्वों को ध्यान में रखकर आचार्य अभिनव गुप्तपाद ने तन्त्रालोक (आह्निक-१२) में कहा है—

सम्पूर्ण के अनुसन्धान को निष्कम्प करते हुये दृढ़ता के साथ अन्तर्जल्प करने वाले साधक की स्वात्म-विमर्श-प्रक्रिया ही 'जप' है।

अन्तर्जल्प (योगयुक्त विमर्श) ही 'जप' है।

सम्पूर्णत्वानुसन्धानमकम्पं दार्ढ्यमानयन्।
तथान्तर्जल्पयोगेन विमृषञ्जपभाजनम्।। (१२.१०)

अभिनवगुप्तपाद की दृष्टि— आचार्य अभिनवगुप्त 'तन्त्रालोक' (आ०-४.१९४) में जप को पारिभाषित करते हुये कहते हैं कि स्वाभाविक अहंपरामर्श में विश्रान्त योगी जो भी व्यवहार करता है, जो विमर्श या परामर्श करता है और प्रसार-प्रक्रिया पूर्ण करता है, वह सब उसका 'जप' ही है। एक प्रकार से वह स्वात्म देवता का अनवरत आवर्तन

१. शिवसूत्र
२. क्षेमराज : शिवसूत्रविमर्शिनी
३. क्षेमराज : शिवसूत्रविमर्शिनी
४. सर्वज्ञानोत्तर
५. श्रीतन्त्रसद्भाव
६. श्रीकण्ठी संहिता

करता है। उसका यह आवर्तन उसके लिये मन्त्रस्वरूप होता है। कोई श्लोक, कोई कविता, कोई गाथा या कथोपकथन 'सोऽहं' के विमर्श-परिवेश में करता है तथा उसे साक्षीभाव से देखता रहता है, वह सब कुछ मन्त्रात्मक हो जाता है। इसीलिये 'शिवसूत्र' में कहा गया है कि 'कथा ही जप है।' कोई बात भी करे तो वह भी 'जप' ही हो जाता है। निष्कर्ष यह कि इस आदिमान्त्य मन्त्रपरामर्श से पीछे कहे जप आदि के समान ही शक्ति का सञ्चार होता है।

स्वाभाविक अहंपरामर्श में विश्रान्त योगी का विमर्श या परामर्श जप ही है—

अकृत्रिमैतद्धृदयारूढो यत्किञ्चिदाचरेत्।
प्राण्याद्वा मृशते वाऽपि स सर्वोऽस्य जपो मतः।।[1]

श्लोकगाथादि यत्किञ्चिदादिमान्त्ययुतं यतः।
तस्माद्विदंस्तथा सर्वं मन्त्रत्वेनैव पश्यति।।[2]

अकृतमाहम्परामर्शविश्रान्तो हि योगी तदनुवेधेन यत्किञ्चिद्वाह्यव्यवहारयोग्यं व्याहरेत् सोऽस्य सर्वो जपः। सर्वमेवास्य स्वात्मदेवताविमर्शानवरतावर्तनात्मत्वेन मन्त्ररूपतया परिस्फुरेत्।[3]

मन्त्रजप वर्ण एवं भगवती का अन्तःसम्बन्ध

'सर्वे वर्णाः शिवात्मकाः' अर्थात् समस्त वर्ण भगवत्स्वरूप हैं; अतः मन्त्रों का सम्बन्ध भगवती के परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी रूपों से है; किन्तु इन मन्त्रों का साक्षात् सम्बन्ध भगवती के सूक्ष्मतम रूपों— परा एवं पश्यन्ती वाक् से है। परा वाक् एवं पश्यन्ती वाक् ज्योतिर्मय एवं नादात्मक है। पश्यन्ती भूमि के ऊपर परा भूमि है, जहाँ भगवती अभेदात्मक रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। इसी रूप में उनका विमर्शन होता है— 'पश्यन्त्युपरि परा भूमिः भगवती यत्र सर्वमभेदेनैव भाति च विमृश्यते च। एतच्छक्तिभेदत्रयोत्तीर्णा तच्छत्त्यविभागमयी संविद्भगवती भट्टारिका परा अभिधेयम्। पश्यन्ती च परापराभट्टारिकासतत्त्वापरशक्तेरेव स्वात्मशक्तिर्दर्पणकल्पा यत्र तत्पराभट्टारिकास्वरूपमेव चकास्ति प्रतिबिम्बवत्।'[5]

जप एवं अर्थभावन— 'तज्जपस्त्वर्थभावनम्' (पातञ्जलयोगसूत्र)। स्वामी विवेकानन्द 'राजयोग' में कहते हैं—

1. The repetition of this 'om' and meditating on its meaning is the way.

2.Why should there be repetition? We have not forgotten the theory of 'samskaras' that the sum total of impressions live in the

१. तन्त्रालोक (४.१९४)
२. तन्त्रालोक (अभिनवगुप्त) : विवेक में उद्धृत
३. जयरथ-'विवेक' (श्लोक-१९४)
४. अभिनवगुप्त : परात्रिंशिकाविवृत्ति
५. परात्रिंशिकाविवृत्ति

mind. They become more and more latent but remain there and as soon as they get the right stimulus, they come out.

3. Molecular vibration never ceases. When the universe is destroyed, all the massive vibrations disappear; the sun, the moon, the stars and the earth melt down but the vibrations remain in the atoms. Each atom performs the same function as the big world do.

व्यास मुनि की व्याख्या— 'प्रणवस्य जप: प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्। तदस्य योगिन: प्रणवं जपत: प्रणवार्थञ्च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते। तथा चोक्तम्—

स्वाध्यायाद्योगमासद्योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते।।'

अर्थात् प्रणवाभिधेय ईश्वर का भावन (ध्यान) करना चाहिये। योगी के द्वारा प्रणव का जप करते समय प्रणव के अर्थभूत ईश्वर का भी ध्यान करने से चित्त एकाग्र हो जाता है। ॐकार के जप एवं ईश्वर की भावना (ध्यान) से परमात्मा का साक्षात्कार होता है। ('स्वाध्यायमामनेत्' अर्थात् जप का अभ्यास करना चाहिये = ईश्वरार्थभावनापूर्वक ॐकार का जप करना चाहिये। विना अर्थ जाने जप करना उचित नहीं है।) पतञ्जलि कहते हैं कि भावनपूर्वक जप से जीवात्मा के स्वरूप का दर्शन एवं विघ्नों का अभाव होता है— 'तत: प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तराया भावश्च।' (योगसूत्र-१.२९)।

वाचस्पति मिश्र की व्याख्या— भावन = बार-बार चित्त में निवेशन (तत्त्ववैशारदी)। इसका फल क्या होगा?— 'तत ईश्वर: समाधिवत्फललाभेन तमनुगृह्णाति' (तत्त्ववैशारदी)।

विज्ञानभिक्षु की व्याख्या— 'योगवार्तिक' (विज्ञानभिक्षु) : प्रणवजपेन सह ब्रह्मध्यानं प्रणिधानम्, तच्च वाच्यवाचकभावं ज्ञात्वा कर्तव्यमिति।' 'प्रणवेन परंब्रह्म ध्यायीत नियतो यति:।'

गरुडपुराण में प्रणवार्थ के अनेक भेदों का वर्णन किया गया है—

व्यक्ताव्यक्ते च पुरुषस्तिस्रो मात्रा: प्रकीर्तिता:।
अर्धमात्रा परं ब्रह्म ज्ञेयमध्यात्मचिन्तकै:।।

प्रणवार्थ चिन्तन के दो प्रकार हैं। प्रथम प्रकार है— सर्वं खल्विदं ब्रह्म के रूप में और द्वितीय है— प्रकृति, उसके कार्य एवं उसके पुरुष के विवेचनपूर्वक प्रकृतिपुरुषविवेक के बाद ब्रह्मचिन्मात्र आत्मचिन्तन। प्रकृति एवं पुरुष दोनों का विलापन करके अवशिष्ट ब्रह्म में अहम्भावानुभूति।

प्रणिधान → एकाग्रता → परमात्मसाक्षात्कार → पर वैराग्य → असम्प्रज्ञात योग।

भोजराज की दृष्टि— भोजराज 'भोजवृत्ति' में कहते हैं— 'तस्य सार्धत्रिमात्रस्य प्रणवस्य जपो यथावदुच्चारणं तद्वाच्यस्य चेश्वरस्य भावनं पुन:पुनश्चेतसि विनिवेशनमेकाग्रताया

उपाया:। अत: समाधिसिद्धये योगिना प्रणवो जप्यस्तदर्थश्च भावनीय इत्युक्तं भवति' (राजमार्तण्ड)।

भावगणेश की दृष्टि— भावगणेश 'प्रदीपिका' में कहते हैं— 'प्रणवस्य जप: प्रणवार्थस्य ब्रह्मणश्चिन्तनं धारणाध्यानसमाधिरूपं प्रणिधानमिति शेष:।'

जपंश्च प्रणवं नित्यं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम्।
कोटिसूर्यसमं तेजो ध्यायेदात्मनि निर्मलम्।।

प्रणव का जप ध्यान का प्रथमाङ्ग है— 'प्रणवजपस्य प्राथमिकध्यानाङ्गत्वम्।'

नागोजी भट्ट की दृष्टि— नागोजी भट्ट 'योगवृत्ति' में कहते हैं— 'तस्य प्रणवस्य जप: तेन सहाचिन्त्यैश्वर्ययुक्तस्य तदर्थस्य परमात्मन: श्रद्धाद्यैर्भावनं ध्यानम्। वाच्यवाचकभावं ज्ञात्वा क्रियमाणं सर्वार्थदमुपासनम्। प्रणवे ब्रह्मविष्ण्वादिध्यानमपि तदन्तर्यामिचैतन्यम्।

वाचक = प्रणव। वाच्य = ईश्वर।

सदाशिवेन्द्रसरस्वती की दृष्टि— सदाशिवेन्द्र सरस्वती 'योगसुधाकर' में कहते हैं— 'तस्य प्रणवस्य यो जप: तस्मिन् दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारैस्तदर्थासङ्गचिद्रूपेश्वरभावना-पुर:सरं प्राधान्येन दृढमासेविते सति पश्चात् स्वत एवं वाग्व्यापाररूपे तस्मिन्प्रलीने वाचकस्य न्यग्भावात्तदर्थासङ्गचिद्रूपगोचरवृत्तिसन्तानरूपभावनायां दीर्घकालादिभिर्दृढ़मासेवितायाम्। तत: तत्प्रसादेन चित्तं निरोधाभिमुखं प्रत्यासत्त्यभावेनेश्वरं विश्रान्तिभूमितया लभमानं तत्तत्सा-दृश्यात्स्वस्वामिनमसङ्गं चिद्रूपमात्मानं स्मारयित्वा अविषयतया तमप्यलभमानं निरन्धि-नाग्निवत्स्वयं संस्कारावशेषं भवति। तत: प्रत्यक्चेतनाधिगम:।' (योगसुधाकर)

भास्करराय का मत— भास्करराय 'वरिवस्यारहस्यम्' में कहते हैं— 'नार्थज्ञान-विहीनं शब्दस्योच्चारणं फलति। भस्मनि वह्निविहीने न प्रक्षिप्तं हविर्ज्वलति। अर्थमजानानां नानाविधशब्दमात्रपाठवतामुपमेयश्चक्रीवान् मलयजभारस्य वो दैव।'

'यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य' अर्थात् जिस मन्त्र का जप किया जाता है, उसके अर्थ का ज्ञान न होने पर भी अर्थात् उसके अर्थ का चिन्तन किये विना ही यदि जप किया जाता है तो उसका यह शब्दोच्चारणमात्र ही होगा, न कि जप; अत: यह जप निष्फल रहेगा। विना अग्नि के ठण्ढ़ी पड़ी भस्म में हवि डालने पर यह कभी नहीं जलती। इसी प्रकार मन्त्र का अर्थ न जानने वाला जापक मन्त्र के अनेक शब्दों का पाठ करने पर भी उसी प्रकार का है जिस प्रकार कि चन्दन के भार को ढ़ोने वाला गधा भार को तो जानता है; किन्तु चन्दन के सुगन्धरूप गुण को नहीं जानता।

इसीलिये भास्करराय कहते हैं कि पुरुषार्थचतुष्टय की आकांक्षा रखने वालों को मन्त्रों का अर्थ अवश्य जानना चाहिये; अन्यथा उनकी समस्त आकांक्षायें नष्ट हो जाती हैं—

पुरुषार्थानिच्छद्भि: पुरुषैरर्था: परिज्ञेया:।
अर्थानादरभाजां नैवार्थ: प्रत्युतानर्थ:।। (१.५६)

ये अर्थ कौन हैं? भास्करराय निम्न अर्थों का उल्लेख करते हैं—

१. भावार्थ	८. शब्दरूपार्थ
२. सम्प्रदायार्थ	९. नामैकदेशार्थ
३. निगर्भार्थ	१०. शाक्तार्थ
४. कौलिकार्थ	११. सामरस्यार्थ
५. रहस्यार्थ	१२. समस्तार्थ
६. महातत्त्वार्थ	१३. सगुणार्थ
७. नामार्थ	१४. महावाक्यार्थ

'योगिनीहृदय' में भी अनेक अर्थों की विवेचना की गई है। 'स्थाणुरयं भारहार: किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्' (निरुक्त-१.५.२) कहकर अर्थज्ञानशून्य जप को निरर्थक घोषित किया गया है।

स्वामी विवेकानन्द 'राजयोग' में कहते हैं कि ब्रह्माण्डों में जो कार्य होता है, प्रत्येक परमाणु भी वही कार्य करता है। चित्त में होने वाले सभी कम्पन अदृश्य अवयव बन जाते हैं; फिर भी परमाणु के कम्पन के समान उनकी सूक्ष्म गति अक्षुण्ण बनी रहती है और ज्यों ही उन्हें कोई उत्प्रेरक (Stimulus) मिलता है; वे पुन: बाहर आ जाते हैं। 'जप' अर्थात् बारम्बार उच्चारण का तात्पर्य यही है। ॐकार का जप करना एवं उसके अर्थ का मनन करना ही आन्तरिक सत्सङ्गति है। जप करो और उसके साथ शब्द के अर्थ का ध्यान करो। ऐसा करने से देखोगे कि हृदय में ज्ञानालोक आयेगा और आत्मा प्रकाशित हो जायेगी। 'ॐ' शब्द पर मनन तो करोगे ही; पर साथ ही उसके अर्थ पर भी मनन करो। समस्त संस्कारों की समष्टि हमारे मन में है। ये संस्कार क्रमश: सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होकर अव्यक्तीभाव धारण करते हैं। ये लुप्त नहीं होते। ये मन के भीतर ही विद्यमान रहते हैं और उत्प्रेरक मिलते ही प्रकाश में आ जाते हैं। परमाणु कम्पन कभी बन्द नहीं करता। संसार के नष्ट हो जाने पर भी सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी सभी के लयीभूत हो जाने पर भी कम्पन का प्रवाह कभी लुप्त नहीं होता; परमाणुओं में कम्पन बचा ही रहता है।

जप के अङ्ग— योगिनीहृदय के 'पूजासंकेत' में जप के अनेक अंग बताये गये हैं; जैसे कि शून्य, अवस्था, विषुव आदि। कहा भी गया है—

शून्यषट्कं तथा देवि ! ह्यवस्थापञ्चकं पुन:।।

विषुवं सप्तरूपञ्च भावयन् मनसा जपेत्।
अग्न्यादिद्वादशान्तेषु त्रींस्त्रीन् त्यक्त्वा वरानने।।

शून्यत्रयं विजानीयादेकैकान्तरत: प्रिये।
शून्यत्रयात्परे स्थाने महाशून्यं विभावयेत्।
प्रबोधकरणस्याऽथ जागरत्वेन भावनम्।।

वह्नौ देवि ! महाजाग्रदवस्था त्विन्द्रियद्वयैः।
आन्तरैः करणैरेव स्वप्नमायावबोधकः।।

गलदेशे सुषुप्तिस्तु लीनपूर्वस्य वेदनम्।
अन्तःकरणवृत्तीनां लयतो विषयस्य तु।।

पूर्वर्णानां विलोमेन भ्रूमध्ये बिन्दुसंस्थिता।
तुर्यरूपं तथा चात्र वृत्तार्धादिस्तु संग्रहः।।

चैतन्यव्यक्तिहेतोस्तु नादरूपस्य वेदनम्।
तुर्यातीतं सुखस्थानं नादान्तादिस्थितं प्रिये।।

(योगिनीहृदय-१७६-१८२)

त्रिविधात्मक मन्त्र-जप— तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में मन्त्र-जप के तीन प्रकारों का उल्लेख किया गया है— वाचिक, उपांशु एवं मानस। पराख्य संहिता में वाचिक जप को भाष्य जप भी कहा गया है।

'भाष्य जप' (वाचिक जप) वह होता है, जो क्षुद्र सिद्धियों की प्राप्ति हेतु अन्य श्रवणात्मक जप किया जाता है।

'उपांशु जप' मध्यसिद्धियों के लिये किया जाता है। यह स्वसंवेद्य जप हुआ करता है और इसमें बहुत कम ध्वनि हुआ करती है।

'मानस जप' जप का वह प्रकार है, जिसमें किसी श्रेष्ठतम सिद्धि प्राप्त करने हेतु जप किया जाता है और इसमें मात्र हृदय से (मन से) जप किया जाता है तथा यह पराश्रव्य होता है। यह भी कहा गया है कि अधम मन्त्रों का जप 'वाचिक', मध्यम मन्त्रों का जप 'उपांशु' एवं उत्तम मन्त्रों का जप सदैव मानसिक होना चाहिये।[१]

'नित्याषोडशिकार्णव' में भी इस त्रिविध मन्त्रजप का उल्लेख किया गया है—

निगदेनोपांशुना वा मानसेनापि सुव्रते। (५.७)

विभिन्न प्रकार के जपों के विभिन्न फल—

१. उपांशु जप → लक्षगुणित अधिक फल।
२. मानस जप → कोटिगुणित अधिक फल।

निगदेन यदा जप्तं लक्षं चोपांशुना फलम्।
मानसेन महेशानि कोटिजापफलं लभेत्।। (पौष्करागम)

विधियज्ञाज्जपो यज्ञो विशिष्टा दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः।। (ऋजुविमर्शिनी)

तीनों जपों के लक्षण निम्नानुसार हैं—

१. मृगेन्द्रागम (चर्यापद) पराख्य संहिता

मानस जप— उच्चारो मनसा स्थानध्यानवर्णप्रकल्पनात्।
मानसो जप इत्युक्तो योगमार्गप्रवर्तकः।।

उपांशु जप— उपांशुर्निजकर्णैकगोचरः सिद्धिदायकः।

वाचिक जप— सुस्पष्टवचनोच्चारो वाचिकः सिद्धिदायकः।।

(सिद्धिनाथपाद)

यथार्थ मानस जप— संयमेन्द्रियसञ्चारं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम्।
एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जपः।।

(सङ्केतपद्धति)

वास्तविक जप नादानुसन्धानात्मक होता है और यह बाह्य नहीं; प्रत्युत आन्तर जप होता है।

'विज्ञानभट्टारक' में कहा गया है कि परम भाव में बार-बार जो भावना की जाती है और जो नादगर्भित होता है, वही मन्त्रात्मा जप 'जप' है—

भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि सा।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः।।

'अजपा जप' सर्वोच्च जप है। यह भी मानस जप ही है।

जपांग : 'विषुव'— सप्त विषुवों का स्वरूप निम्नांकित है—

योगः प्राणात्ममनसां विषुवं प्राणसंज्ञितम्।।

आधारोत्थितनादे तु लीनं बुद्ध्यात्मरूपकम्।
संयोगेन वियोगेन मन्त्रार्णानां महेश्वरि !।।

अनहताद्याधारान्तं नादात्मत्वविचिन्तनम्।
नादसंस्पर्शनात्तस्य नाडीविषुवमुच्यते।।

द्वादशग्रन्थिभेदेन वर्णानामन्तरे प्रिये।
नादयोगः प्रशान्तन्तु प्रशान्तेन्द्रियगोचरम्।।

त्रैपुर दर्शन में जप के लक्षण— त्रैपुर दर्शन में जप का जो स्वरूप है, वह अवस्था-पञ्चक शून्यषट्क विषुवत् सप्तक-चक्रनवक विभावना-संवलित है। अर्थात् जप निम्न अंगों से पूर्ण होने पर ही 'जप' कहलाता है; अन्यथा यथार्थ जप नहीं कहलायेगा—

पाँच अवस्थायें— जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, तुरीयातीत।

छः शून्य— स्वप्न, बिन्दु, रोधिनी, नादान्त, व्यापिनी, उन्मना।

सात विषुव— प्राणविषुव, मन्त्रविषुव, नाडीविषुव, प्रशान्तविषुव, शक्तिविषुव कालविषुव, तत्त्वविषुव।

नौ चक्र— सर्वानन्दमय, सर्वसिद्धिप्रद, सर्वरोगहर, सर्वरक्षाकर, सर्वार्थसाधक, सर्वाशापरिपूरक।

इसीलिये भास्करराय ने 'वरिवस्यारहस्यम्' में कहा भी है—

एवमवस्थाशून्यविषुवन्ति चक्राणि पञ्च षट् सप्त।
नव च मनोरर्थांश्च स्मरतोऽर्णोच्चारणं तु जपः।। (१.५२)

अर्थानुसन्धान एवं उत्तम अंगों से गर्भित जप ही यथार्थ जप है। वामकेश्वरतन्त्र में भी जप-काल में चक्रभावना, अवस्थापञ्चक आदि का विधान है।

प्राणविषुव = प्राण, आत्मा एवं मन का परस्पर योग ही 'प्राणविषुव' है।

मन्त्रविषुव = अभिव्यज्यमान नाद की जापक द्वारा अपनी आत्मा के रूप में भावना करना 'मन्त्रविषुव' है।

नाड़ीविषुव = मूल मन्त्र के द्वारा छः चक्रों एवं बारह ग्रन्थियों का क्रमशः भेद होने पर मध्य नाड़ी में नाद का स्पर्श होता है। मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त बीजशिखरवर्ती नाद के उच्चारित होने पर 'नाड़ीविषुव' होता है।

प्रशान्तविषुव = नादान्तपर्यन्त मन्त्रावयवों की शक्ति में लयभावना 'प्रशान्तविषुव' है।

शक्तिविषुव = शक्ति के मध्य स्थित नाद का समनापर्यन्त चिन्तन 'शक्तिविषुव' है।

कालविषव = कालातीत उन्मना तक नाद का चिन्तन ही 'कालविषुव' है।

तत्त्वविषुव = उन्मना के ऊपर जाने पर (नाद के लीन होने पर) स्वतः स्वात्मदर्शन होने लगना ही 'तत्त्वविषुव' है।

बीजमन्त्र (प्रणव) के अवयव (अवस्थाओं सहित)— बीजमन्त्र के बारह अवयव होते हैं— जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति— इन तीन अवस्थाओं के द्योतक होते हैं— अ, उ और म— ये तीन अवयव। शेष दो तुरीय एवं तुरीयातीत अवस्था के द्योतक होते हैं— बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना— ये नौ अवयव।

न्यासों के प्रकार और उनका परिचय

वैसे तो न्यासों की संख्या अपरिमेय है; किन्तु प्रमुख न्यास अट्ठाईस हैं, जो निम्नांकित हैं—

१. सृष्टि न्यास
२. स्थिति न्यास
३. ऋष्यादि न्यास
४. कामेश्वर्यादि न्यास
५. करन्यास
६. मूलविद्या न्यास
७. हृदयादि न्यास
८. षोडशाक्षरी न्यास
९. महाषोडशाक्षरी न्यास
१०. अक्षरन्यास
११. दिङ्न्यास
१२. संहार न्यास
१३. लघु षोढा न्यास
१४. सम्मोहन न्यास

१५. स्तोत्रन्यास (सप्तशती न्यास)
१६. मातृका न्यास
१७. अन्तर्मातृका न्यास
१८. बहिर्मातृका न्यास
१९. आत्मरक्षा न्यास
२०. वाग्देवता न्यास
२१. गणेश न्यास
२२. बहिश्चक्र न्यास
२३. अन्तश्चक्र न्यास
२४. ग्रहन्यास
२५. नक्षत्र न्यास
२६. राशि न्यास
२७. पीठ न्यास
२८. योगिनी न्यास

शरीरावयवों में जो अवयव क्रियाशक्ति की दृष्टि से सुषुप्त हैं, हृदयान्तराल में जो भावना शक्ति मूर्च्छित है, उनको जागृत करने हेतु प्रयुक्त इन न्यासों के अनेक प्रकार हैं; यथा—

मातृका न्यास : स्वर एवं व्यञ्जनों का होता है।

मन्त्र न्यास : पूर्ण मन्त्र, मन्त्र के समस्त पद एवं मन्त्र के प्रत्येक अक्षर का होता है।

देवता न्यास : साधक के शरीर के बाह्याभ्यन्तर के अवयवों में अपने इष्टदेवता एवं अन्य देवताओं को यथास्थान स्थापित करने का है।

तत्त्व न्यास : संसार के कार्य-कारण के रूप में परिणत एवं इनसे परे स्थित तत्त्वों का शरीर में यथास्थान न्यास किया जाता है।

ऋष्यादि न्यास : इसके छ: अंग होते हैं— शिर में ऋषि, मुख में छन्द, हृदय में देवता, गुह्यस्थान में बीज, पैरों में शक्ति एवं सर्वाङ्ग में कीलक।

पीठ न्यास : देवता के रहने योग्य स्थान को 'पीठ' कहते हैं; यथा— कामाख्या, श्रीशैल, उड्डीयान आदि। शास्त्रीय विधि द्वारा आसन-विशेष भी पीठ के रूप में परिणत हो जाते हैं। पीठन्यास के प्रयोग से साधक का शरीर और अन्त:करण शुद्ध होकर देवता के निवास के योग्य 'पीठ' बन जाते हैं। समन्त्रक एवं अमन्त्रक (पीठों के प्रकार) पीठों की अपेक्षा मन्त्रशक्ति, भावशक्ति, प्राणशक्ति एवं अचिन्त्य दैवी शक्ति के मिश्रण से निर्मित यह साधक का शरीररूप पीठ तथा पीठन्यास ही उत्तम है। यह बाह्यालम्बनापेक्षी नहीं है। इसमें जिन तत्त्वों का भी न्यास किया जाता है, वे सभी शरीर में ही स्थित हैं। मन्त्र के द्वारा इन्हें अव्यक्त से व्यक्त या सूक्ष्म से स्थूल धरातल पर अवतरित किया जाता है। यह साधक को देवता का (निवासयोग्य) पीठ बना देता है।

ग्रहन्यास, राशिन्यास, नक्षत्रन्यास, योगिनी न्यास, गणेशन्यास आदि न्यास के अन्य अनेक प्रकार हैं; विस्तारभय से यहाँ सबका परिचय देना सम्भव नहीं है।

शरीर के प्रत्येक अवयव में, शरीर के प्रत्येक चक्र में, शरीर के समस्त पीठों में, समस्त इन्द्रियों में एवं मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार अर्थात् सम्पूर्ण अन्त:करणचतुष्टय में देवता, मन्त्र, देवी, मन्त्राक्षर, ऋषि, छन्द, इष्टदेवता आदि सभी का निवास साधक को देवमय, चक्रमय, देवतामय एवं मन्त्रमय बना देता है।

सत्ता के दो स्तर

शब्दात्मक : शब्दब्रह्म — शब्दातीत : परब्रह्म

(शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति।)

शब्दात्मक : शब्दब्रह्म — परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी
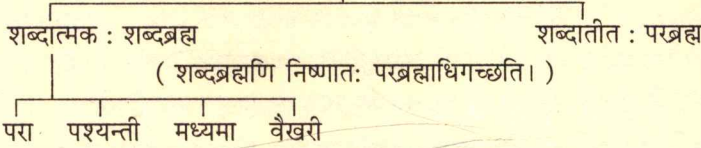
शब्दब्रह्म = परा वाक् → पश्यन्ती → मध्यमा → वैखरी = वैखरी विश्वविग्रहा।

परमात्मा की दो शक्तियाँ

समना (यह शक्तितत्त्व का आश्रय लेकर परमेश्वरेच्छावश सृष्टि करती है।), उन्मना (यह शिवतत्त्व का आश्रय लेकर परमात्मा की विमर्शहीन विश्वातीतावस्था की ओर उन्मुख रहती है।)

शब्द को पकड़कर ही मन्त्र के माध्यम से शब्दब्रह्म एवं उसके माध्यम से परब्रह्म की यात्रा करनी पड़ती है।

'जप' शब्दात्मक होता है, 'शब्द' ध्यन्यात्मक होता है, 'ध्वनि' नादात्मिका होती है और 'नाद' शब्दब्रह्मात्मक होता है।

जप के भेद— जप दो प्रकार के होते हैं— बाह्य और आन्तर। उनका विवरण इस प्रकार है—

जप

बाह्य जप	आन्तर जप : अप्रयत्नज जप
(जप में करने का भाव होना)	(स्वभाव का जप)
(कर्तारूप में अहम्भाव की विद्यमानता)	(जप अपने-आप होना, कर्तृभाव न होना)

बाह्य जप चार प्रकार का होता है— वाचिक, उपांशु, मानस एवं अजपा जप।

आन्तर जप तीन प्रकार से किये जाते हैं— हृदय में (मध्यमा मार्ग में प्रवेश का मार्ग या नाद का अपने-आप चलना। (मध्यमा भूमि में नादसहित मन्त्र स्वयं ध्वनित होता है।), नाभि में एवं मूलाधार में।

मानस जप में भी कर्तृत्वाभिमान, जप करने का भाव, जप करने की संवेदना, श्वास पर ध्यान देकर अजपा जप का अनुसन्धान भी कर्तृत्वाभिमान से शून्य नहीं है; किन्तु विना प्रयास के 'हंसः/सोऽहं' का जप आन्तर जप हो जायेगा।

मध्यमा में प्रवेश के पूर्व बाह्य जप में नादश्रवण असम्भव होता है। बाह्य जप में मन्त्राक्षरों का पृथक्-पृथक् उच्चारण होता है।

आन्तर जप (आभ्यन्तर मन्त्रोपासना)—

संयमेन्द्रियग्रामं प्रोचरेन्नादमान्तरम्।
एष एव जप: प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जप:।।

बाह्य जप प्रयत्नज जप है। इसमें मन्त्राक्षरों का पृथक्-पृथक् उच्चारण होता है। यह विकल्पमय है, यथार्थ मन्त्र नहीं। आन्तर जप नाद की प्रकटावस्था है।

नाद— हृदयकमल (हृदयाकाश) अर्थात् अनाहत प्रदेश में भगवती का आनन्दमय स्वरूप नादरूप में परिणत होकर चतुर्दिक संसर्पित होता रहता है। बहिर्मुखी मन इस नाद का सन्धान नहीं कर पाता।

नाद = 'भगवती शक्ति'।

विद्येश्वर गुरु के मुख से नि:सृत वाणी = 'मध्यमा वाक्'। इसका विस्तार हृदय से सहस्रार तक है। नौ नादों में यह प्रथम नाद है।

'बिन्दु' मात्रा से मात्राहीन की दिशा में जाने का द्वार है। यहाँ त्रिपुटी एकाकार है। यहाँ मात्राभंग के कारण अर्द्धमात्रा का भी उदय हो जाता है। यह भी मन्त्र का ही एक अंग है।

अर्द्धमात्रा आदि में प्रतिफलित चैतन्य ही 'मन्त्र' है।

प्रणवरूप मूल मन्त्र के अंग

बिन्दु अर्द्धचन्द्र रोधिनी नाद नादान्त शक्ति व्यापिनी समना उन्मना

- इनमें २, ४, ६, ८, १०, १२ 'शून्य' हैं।
- इनमें पाँच अवान्तर शून्य हैं और छठा 'महाशून्य' है।
- मन की मात्राओं में वृत्ति जड़ता बढ़ाती है।
- मन की जिस मात्रा से विश्व का अनुभव होता है, उसे एक मात्रा कहते हैं।
- मन प्राय: एक मात्रा में नहीं रहता।
- चिद्रश्मि सम्पात → मात्राओं का टूटना : चेतना की अधिक अभिव्यक्ति।

मन्त्रसाधना के अवयव

- ऋषि-छन्द-देवता-गुरु-न्यास-कवच-कीलक आदि अंग।
- मन्त्र।
- मन्त्रार्थभावना ('तज्जपस्तदर्थभावनम्'-पतञ्जलि)।
- ६ शून्य।
- ५ अवस्थायें— जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय एवं तुरीयातीत।
- ७ विषुव— प्राणविषुव, मन्त्रविषुव, नाडीविषुव, प्रशान्तविषुव, शक्तिविषुव, कालविषुव एवं तत्त्वविषुव।
- मन्त्रार्थ (वरिवस्यारहस्यम् में प्रोक्त अनेक मन्त्रार्थ) निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ, सम्प्रदायार्थ, भावार्थ महातत्त्वार्थ आदि।

● अन्तर्याग : महायाग।

मन्त्रसाधना— मात्रा से मात्राहीन की ओर यात्रा। मन की मात्रा को तोड़कर उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर मात्रा में अखण्ड एवं सतत् प्रयास → अमात्रक में स्थिति।

जपांग के रूप में जो प्रशान्तादि विषुव हैं, उनका स्वरूप इस प्रकार है—

नादयोगः प्रशान्तं तु प्रशान्तेन्द्रियगोचरम्।
वह्निमायां कलां चैव चेतनामर्धचन्द्रकम्।
रोधिनीनादनादान्तान् शक्तौ लीनान् विभावयेत्।।

विषुवं शक्तिसञ्ज्ञं तु तदूर्ध्वं नादचिन्तनम्।
तदूर्ध्वं कालविषुवमुन्मनान्तं महेश्वरि।।

मुनिचन्द्राऽष्टदशभिस्त्रुटिभिर्नादवेदनम्।
चैतन्यव्यक्तिहेतुश्च विषुवं तत्त्वसंज्ञितम्।।

परं स्थानं महादेवि! निसर्गानन्दसुन्दरम्।
एवं चिन्तयमानस्य जपकालेषु पार्वति।।

सिद्धयः सकलास्तूर्णं सिद्ध्यन्ति त्वत्प्रसादतः।
एवं कृत्वा जपं देव्या वामहस्ते निवेदयेत्।।

जप के साथ ध्यान का सम्बन्ध अपरिहार्य है।

'ध्यान तत्त्व' साधना का प्राण है। इसीलिये आचार्य अमृतानन्द ने 'योगिनीहृदय-दीपिका' में कहते हैं— 'मनसि स्थिरे सति धारणा स्थिरा, तस्यां स्थिरायां तत्र प्रत्ययैक-तानता ध्यानम्, विना ध्यानं पूजा निष्फला भवति।' इसलिये—

हुत्वा हुत्वा स्वयं चैवं सहजानन्दविग्रहः।
स्वप्रधा प्रसराकारं श्रीचक्रं पूजयेत् सुधीः।।

'श्रीपराक्रम' नामक ग्रन्थ में भी कहा गया है—

निवेद्य मस्तकस्थाय गुरवेऽर्घ्यं तदाज्ञया।
कल्पान्तहुतभुक्कल्पचिदग्नौ विश्वघस्मरे।।

मेदराशिमयं हव्यं वासनात्मोपदंशकम्।
व्यतिषङ्गेण स जुह्वञ्जपेदात्मानमामृशन्।।

अमृतानन्द योगी कहते हैं कि 'शिवादिभ्यो गुरुभ्यः शिवाभ्यश्च निवेद्य स्वात्माग्नौ हुत्वा ज्वलन् परमानन्दस्थिरधीर्भूयादित्यर्थः।' यहाँ ध्यान का स्वरूप निम्नानुसार है—

ध्यानं या निष्फला चिन्ता निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीरस्य मुखहस्तादिकल्पना।। (विज्ञानभैरव)

यहाँ का यज्ञ भी भावनाप्रधान है, जिसका स्वरूप भी ध्यानप्रधान है—

इन्द्रियद्वारसंग्राह्यैर्गन्धाद्यैरात्मदेवताम् ।
स्वभावेन समाराध्य ज्ञातुः सोऽयं महामखः।।

अर्थात् विज्ञानभैरव के निर्देशानुसार श्रोत्रेन्द्रिय आदि इन्द्रियों के विषय शब्दादि के अनुभव से जनित महानन्द द्वारा समरसीकरण करना ही परा पूजा है— 'विज्ञानभैरव-भट्टारकोक्तरीत्या श्रोत्रादीन्द्रियविषयशब्दाद्यानुभवजनितेन महानन्देन समरसीकरणं परा पूजा।'
(अमृतानन्द योगी : योगिनीहृदयदीपिका)

अमृतानन्द कहते हैं कि चैतन्य की रश्मियों का आधार होने के कारण श्रीचक्र ही देवी का परमासन है— 'षट्त्रिंशदिति षट्त्रिंशत्तत्त्वपर्यन्तं क्षित्यादिशिवान्तं तत्त्वसमुदाय-रूपमासनं परिकल्प्य चिन्मरीचीनामाधारत्वादासनं श्रीचक्रम्।'

---
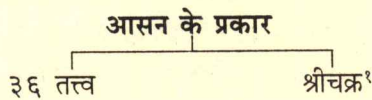
१. योगिनीहृदयदीपिका : अमृतानन्द।

पञ्चपञ्चाशत् अध्याय

ध्यानतत्त्व, ध्यान-साधना और त्रिपुरोपासना

ध्यान का स्वरूप— 'ध्यान' भगवती त्रिपुरसुन्दरी को प्राप्त करने का परम साधन है—

ध्यानगम्या परिच्छेद्या ज्ञानदा ज्ञानविग्रहा। (ललितासहस्रनाम)

'ध्यान' निश्चल बुद्धि है। इसमें आकारात्मक स्वरूप (संकोच) नहीं रहता। यह निराश्रित, स्वतन्त्र एवं पराश्रय-निरपेक्ष होता है। अनेकानेक इष्टों एवं उनके चित्रों में चित्रित मुखादिक शरीरावयवों की कल्पना ध्यान नहीं है। विज्ञानभैरव में कहा गया है—

ध्यानं या निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीरस्य मुखहस्तादिकल्पना।।[१]

आचार्य जयरथ 'विवेक' में कहते हैं कि इस प्रकार का ध्याता साधक गतिरूप (गत्यात्मक) एवं अगतिरूप (स्थित्यात्मक) पूर्वोक्त चौदह स्थानों में से एक प्रकार से व्याप्तसदृश रहने की स्थिति बना चुका होता है। वह 'भैरव'रूप शिवसमावेश में स्थिर हो जाता है। भैरवसमावेश केवल ध्यान से ही नहीं, जप से भी प्राप्त होता है। १४ स्थान हैं— गति, स्थान, विकल्परूप स्वप्न, ज्ञानरूप जाग्रत, उन्मेषण, निवेषण, धावन, प्लवन, आयास, शक्तिवेदन, बुद्धि एवं उसके भेद, भाव, समस्त संज्ञायें और समस्त कर्म। ये १४ राम ही हैं।[२]

'शक्ति' मध्य नाड़ी के बीच बिसतन्तु के समान शोभायमान है। ध्याता उसी का ध्यान करता है। अन्तर्व्योमस्वरूपा उस देवी के द्वारा ही वह परम देव (शिव) प्रकाशित होता है—

मध्यनाडी मध्यसंस्थबिससूत्राभरूपया।
ध्यातान्तर्व्योमया देव्या तथा देवः प्रकाशते।।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद 'तन्त्रालोक' (१२.९-११) में कहते हैं कि पूजा में अभेदानुभूति का ही महत्त्व होता है। अतः जब पदार्थ में सार्वरूप्य का अनुसन्धान हो जाता है तब वही ध्यान हो जाता है। तन्मयभाव से वस्तु का अर्पण एवं भेदाभाव ही पूजा है—

तत्रार्पणं हि वस्तूनामभेदेनार्चनं मतम्।
तथा सम्पूर्णरूपत्वानुसन्धिर्ध्यानमुच्यते।।

ध्यान के प्रकार— सामान्यतया ध्यान के दो प्रकार हैं : स्थूल और सूक्ष्म— 'स्थूलसूक्ष्मविभेदेन ध्यानं तु द्विविधं भवेत्।' 'सूक्ष्म ध्यान' में देवी को मन्त्रमय देह वाली माना जाता है— 'सूक्ष्मं मन्त्रमयं देहम्।' सूक्ष्मध्यान ज्ञानमय ध्यान है— सूक्ष्मं च प्रकृतं रूपं परं ज्ञानमयं स्मृतम्।[३]

---

१. तन्त्रालोक (प्रथम आह्निक) २. तन्त्रालोक (१.८९) ३. शाक्तानन्दतरङ्गिणी

'स्थूल ध्यान' का स्वरूप है— 'स्थूलं विग्रहचिन्तनम्।' अर्थात् शरीरावयवों से युक्त (सशरीर) देवता का ध्यान ही स्थूल ध्यान है।

भगवती— अरुणाभा भगवती के ध्यान का यह भी ध्यानविधान है—

अरुणाख्यां भगवतीमरुणाभां विचिन्तयेत्।
पाशाङ्कुशधरां देवीं धनुर्बाणधरां शिवाम्।।

वरदाभयहस्ताञ्च पुस्तकाक्षस्रगन्विताम्।
अष्टबाहुत्रिनयनां खेलन्तीममृताम्बुधौ।।

स करोत्येव शृङ्गाररसास्वादनलम्पटाम्।।[१]

'ध्यान' का स्वरूप क्या है? इस विषय में विज्ञानभैरव में इस प्रकार कहा गया है—

ध्यानं हि निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीराक्षिमुखहस्तादिकल्पना।।

'ध्यै' चिन्तायाम् धातु से ल्युट् प्रत्यय लगाने पर 'ध्यान' शब्द निष्पन्न होता है।

'अमरौघप्रबोध' में कहा गया है कि अशेष वस्तु-विषय-व्यापारहीन मन की स्थिति ही 'ध्यान' है— 'तद्ध्यानं यदशेषवस्तुविषयव्यापारहीनं मनः।'[२]

'योगमार्तण्ड' में कहा गया है कि 'ध्यान' वह यौगिक प्रक्रिया है, जिससे अद्भुत ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, जबकि 'धारणा' से मनोधैर्य एवं 'समाधि' से मोक्ष की प्राप्ति होती है—

धारणायां मनोधैर्यं ध्यानादैश्वर्यमद्भुतम्।
समाधेर्मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम्।। (१०२)

बारह धारणाओं से एक 'ध्यान' निर्मित होता है। 'योगमार्तण्ड' में ही कहा गया है कि तत्त्व में निश्चल चित्तस्थिति को ही 'ध्यान' कहते हैं—

यस्तत्त्वे निश्चलं चेतः तद्ध्यानं च प्रचक्षते।

योगमार्तण्डकार ध्यान को इतना महत्त्वपूर्ण मानते हैं कि वे कहते हैं कि सहस्रों अश्वमेध यज्ञों एवं सैकड़ों वाजपेय यज्ञों के अनुष्ठान एवं निष्पादन से भी जो फल अधिगत होता है, वह फल ध्यानयोग की षोडशी कला का भी स्पर्श नहीं कर सकता—

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्यानयोगेन कलां नार्हन्ति षोडशीम्।।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में गोरक्षनाथ कहते हैं कि परमाद्वैत का एक भाव है और वही 'आत्मा' कहलाता है। जो-जो वस्तु प्रतीत हो, उसमें आत्मस्वरूप की ही भावना करनी चाहिये। समस्त भूतमात्र में समदृष्टि, आत्मदृष्टि या आत्मस्वरूप की भावना ही 'ध्यान' है— 'अथ ध्यानमिति कश्चन परमाद्वैतस्य भावः स एवात्मेति यथा यद्यत्स्फुरति तत्तत्स्वरूप-

१. वामकेश्वरतन्त्र २. अमर प्रबोध (५५)

मेवेति भावयेत् सर्वभूतेषु समदृष्टिश्च इति ध्यानलक्षणम्।'

'योगसारसंग्रह' में विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि किसी देशविशेष में वृत्त्यन्तराव्यवहित ध्येयाकारवृत्तिप्रवाह ही 'ध्यान' है— 'तत्र देशे ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो वृत्त्यन्तराव्यवहितो ध्यानम्।'

'ध्यानं निर्विषयं मनः' कहकर मन की निर्विषयता को भी 'ध्यान' की संज्ञा दी गई है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र (३.२) में प्रत्यय (ज्ञान) की एकतानता को 'ध्यान' नाम दिया है— 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।'

'राजमार्तण्ड' में भोजराज कहते हैं कि उस विशिष्ट देश में जहाँ चित्त लगा हुआ है, वहाँ प्रत्यय (ज्ञान) की जो एकतानता (विसदृश परिणाम-परिहार के माध्यम से) धारणा में अवलम्बनीकृत है, उसका आलम्बन के रूप में निरन्तर प्रादुर्भाव (प्रकटीकरण) ही 'ध्यान' है— तत्र तस्मिन्देशे यत्र धृतं तत्र प्रत्ययस्य ज्ञानस्य यैकतानता विसदृशपरिणाम-परिहारेण यदेव धारणायामलम्बनीकृतं तदालम्बनतयैव निरन्तरमुत्पत्तिः स ध्यानमुच्यते।'

'योगप्रदीप' में भावगणेश कहते हैं कि 'तत्र देशे चतुर्भुजादिध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो ध्यानमित्यर्थः।' अर्थात् चतुर्भुज आदि का ध्येय आकारों में अपनी चित्तवृत्ति का जो प्रवाह है, वही 'ध्यान' है।

'योगवृत्ति' में नागोजी भट्ट कहते हैं कि 'तत्र देशे चतुर्भुजादिध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो वृत्त्यन्तराव्यवहितो ध्यानमित्यर्थः। बुद्धिवृत्तौ वा तद्विवेकतश्चैतन्यचिन्तनम्। कारणोपाधावी-श्वरचिन्तनमिति। द्वादशधारणाकालं च ध्यानम्।' वृत्त्यन्तराव्यवहित ध्येयाकार वृत्तिप्रवाह 'ध्यान' है तथा बारह धारणाओं का योग भी 'ध्यान' है।

'मणिप्रभा' में रामानन्द कहते हैं कि 'यत्र धारणाविजातीयवृत्तिपरिहारे यत्नापेक्षा भवति तत्रैव या प्रत्ययानां वृत्तीनामेकतानता यत्नमनसेक्ष्यैकविषयता तद्ध्यानमित्यर्थः।'

तद्रूपप्रत्ययैकाग्रसन्ततिश्चान्यनिस्पृहा ।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप।।

'योगसुधाकर' में सदाशिवेन्द्र सरस्वती कहते हैं कि 'तत्र यथोक्तदेशे प्रत्ययस्यैकतानता एकविषयप्रवाहः स च विच्छिद्य विच्छिद्य जायमानो ध्यानं भवति।'

व्यास जी ने 'योगभाष्य' में कहा है कि नाभिचक्र, हृदयपुण्डरीक, मूर्धा की ज्योति, नासिकाग्रभाग, जिह्वाग्र— इस प्रकार आन्तरिक देशों में ज्ञान की एकतानता ही 'ध्यान' है, उस धारणा वाले विषय में ध्येयरूप आलम्बन वाले (ध्येय पर ही केन्द्रित) एवं अन्य ज्ञानों से अस्पृष्ट ज्ञान की अविच्छिन्न तथा अभिन्न धारा ही ध्यान है— 'तस्मिन् देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानतासदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्।'[१]

---

१. ध्येय का स्वभाववेश ही समाधि है— 'योगवार्तिक'।

तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि 'धारणासाध्यं ध्यानम्, तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्, एकतानता एकाग्रता।'

'योगवार्तिक' में विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि चिन्तन ही ध्यान है। 'गरुडपुराण' कहता है कि 'तस्यैव ब्रह्मणि प्रोक्तं ध्यानं द्वादशधारणा।। द्वादशप्राणायामकालेन धारितचित्तस्य कालावच्छिन्नं चिन्तनं ध्यानं प्रोक्तम्। ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण भवति।'

'शिवपुराण' में कहा गया है कि प्रगाढ़ भगवच्चिन्तन ही 'ध्यान' है। विक्षेपशून्य चित्त से जो इष्टदेव का पुनः पुनः चिन्तन किया जाता है, उसका नाम है— 'ध्यान'।

शिवपुराण की 'वायवीय संहिता' में कहा गया है कि—

- ध्येय में स्थित चित्त की जो ध्येयाकार वृत्ति होती है और मध्य में अन्य वृत्ति भेद नहीं उत्पन्न करती, उस ध्येयाकार वृत्ति का प्रवाह बने रहना ही 'ध्यान' है।
- ध्येय में स्थित चित्त की जो ध्येयाकार वृत्ति होती है और दोनों के मध्य द्वितीय वृत्ति अन्तर नहीं डालती; प्रत्युत उस वृत्ति की ध्येयाकार वृत्ति की प्रवहमानता ही ध्यान है।

'व्यासभाष्य' (३.१.२) में कहा गया है कि 'तस्मिन् देशे ध्येयावलम्बनस्य प्रत्ययैकतानतासदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्।'

ध्यान के प्रकार

'योगमार्तण्ड' के अनुसार ध्यान के दो प्रकार हैं— सगुण एवं निर्गुण (द्विधा भवति तज्ज्ञानं सगुणं निर्गुणन्तथा)।

'सन्त सुन्दरदास' के अनुसार ध्यान के चार प्रकार हैं— पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत ध्यान।

ऋषि घेरण्ड का मत— जिस प्रकार 'नित्याषोडशिकार्णव' में ध्यान के तीन प्रकारों (विधाओं) का विवेचन किया गया है, उसी प्रकार घेरण्डसंहिता में भी किया गया है। 'घेरण्डसंहिता' के अनुसार ध्यान के तीन प्रकार हैं— स्थूल, ज्योति एवं सूक्ष्म (स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः)। घेरण्ड ऋषिप्रोक्त ध्यान के उपर्युक्त प्रकार तान्त्रिक ध्यान हैं और योगशास्त्र से सम्बद्ध हैं। ये तान्त्रिक दर्शन से सम्बद्ध ग्रन्थ के रूप में नही हैं।

स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं यथा।
सूक्ष्मं बिन्दुमयं ब्रह्म कुण्डली परदेवता।। (घेरण्डसंहिता)

मूर्ति, तेज एवं बिन्दु— ध्यानयोग के में ये ही आलम्बन ध्यान के विभिन्न प्रकार हैं।

'राजयोग' में स्वीकृत ध्यान तीन हैं— विराट् ध्यान, ईशध्यान एवं ब्रह्मध्यान।

ब्रह्मध्यानं विराड् ध्यानं चेशध्यानं यथाक्रमम्।

ऋषि घेरण्ड का ध्यानयोग—

स्थूल ध्यान— किसी चेतन मूर्ति के रूप में सगुण, सावयव, विशिष्ट स्वरूप-संवलित देवता का अविच्छिन्न तैलधारावत् ध्येयाकार चिन्तन ही 'ध्यान' है। यह स्थूल-प्रकृतिक ध्यान है— 'स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तम्'।

ज्योतिर्ध्यान— यह तेजोमय ध्यान है— 'ज्योतिस्तेजोमयन्तथा' (उपदेश-६.१)।

सूक्ष्म ध्यान— यह बिन्द्वात्मक ध्यान है। इसका सम्बन्ध भगवती कुण्डली पर देवता से है, जो कि ब्रह्मस्वरूपा है—

सूक्ष्मं बिन्दुमयं ब्रह्मकुण्डली परदेवता।

स्थूल ध्यान की प्रथम प्रक्रिया— साधक कल्पना करे कि उसके हृदय में अमृत का समुद्र है और उसके मध्य सुरत्नवालुकामय रत्नद्वीप है। उसकी चारो दिशाओं में बहुपुष्पित नीम के पेड़ों से निर्मित निम्बोपवन की खाई-जैसा दुर्गात्मक प्राचीर है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों निम्बोपवन ही दुर्ग की खाई है।

इसमें मल्लिका, मालती, चमेली, केशर, चम्पा, बकायन, स्थल कमल की सुगन्ध से दसों दिशायें सुगन्धित हो रही हैं। उसके मध्य यह ध्यान करना चाहिये कि एक मनोहारी कल्पतरु सुशोभित हो रहा है और उसकी चार शाखायें चार वेदों के रूप में सुशोभित हो रही हैं तथा भ्रमर एवं कोयल आदि गुञ्जार और सुमधुर कलरव कर रहे हैं। फिर वहाँ स्थिर होकर ध्यान करे कि कल्पतरु के नीचे महामाणिक्यों से निर्मित मण्डप स्थित है। फिर स्मरण करे कि उसके भीतर एक रत्नजटित एवं सुन्दर पर्यङ्क है और उस पर गुरुप्रोक्त विधि के अनुसार अपने इष्टदेवता के आसीन होने की कल्पना करे। उस देवताविशेष का जो रूप है, उसका जो भूषण है, उसका जैसा भूषण है, उन सभी से युक्त उस देवता के स्थूल स्वरूप का ध्यान करे।

स्थूल ध्यान की द्वितीय प्रक्रिया— ध्यानयोगी यह ध्यान करे कि ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रदल का एक कमल है और उस महापद्म की कर्णिका में द्वादश दलयुक्त एक पद्म स्थित है। यह द्वादशदल कमल श्वेतवर्णी, महातेजान्वित, द्वादश दलान्वित एवं यथाक्रम द्वादश बीजों से युक्त है। उसके द्वादश दल हैं— ह, स, क्ष, म, ल, य, र, यूं, ह, स, ख, फ्रें (ये इस क्रम से बीजमन्त्र हैं)।

यह भी ध्यान करे कि इस कर्णिका में अ, क, थ— ये तीन रेखायें हैं तथा इसके कोणों में ह, ल, क्ष अक्षर एवं उसके मध्य में ॐकार स्थित है।

योगी ध्यान करे कि वहाँ नादबिन्द्वात्मक एक मनोहर पर्यङ्क बिछा है, जिस पर एक हंसयुगल समासीन है तथा पादुका भी वर्तमान है। यहाँ यह ध्यान करे कि श्वेताम्बरी, शुक्ल गन्ध से सुगन्धित, त्रिलोचनी एवं द्विभुजी गुरु समासीन हैं। गुरुजी ने अपने गले में लाल रंग की माला धारण कर रक्खी है और लाल रंग की शक्ति से समन्वित हैं। ध्यानयोगी इसी स्वरूप के गुरु का ध्यान करे।

ज्योतिर्ध्यान की प्रथम प्रक्रिया— इस ध्यान से साधक आत्मा का साक्षात्कार करने लगता है— 'यद्ध्यानेन योगसिद्धिरात्मप्रत्यक्षमेव च।' इस ध्यान की प्रथम पद्धति इस प्रकार है—

मूलाधार चक्र में भुजङ्गाकाराकारित कुण्डलिनी शक्ति स्थित है। वहीं प्रदीपकलिका के आकार की आत्मा स्थित है। उसमें जो तेजोमय ब्रह्म स्थित है, उसका ध्यान करना चाहिये।

ज्योतिर्ध्यान की द्वितीय प्रक्रिया— भ्रुवद्वय के केन्द्र में तथा मन के ऊपर जो ॐकारमय तथा तेजावली-संवलित शिखा है, उसका ध्यान भी तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान कहलाता है।

सूक्ष्म ध्यान की प्रक्रिया— ऋषि घेरण्ड अपने शिष्य चण्डकापालि से कहते है कि जिस योगी की कुण्डलिनी जागृत हो जाय, वह अत्यन्त भाग्यवान प्राणी होता है— 'बहुभाग्यवशाद्यस्य कुण्डली जागृता भवेत्।' वह कुण्डलिनी उस प्राणी की आत्मा के साथ मिलकर और आँखों के छिद्रों से निकलकर राजमार्ग में विहार करती है; किन्तु चञ्चल होने के कारण चक्षुगोचर एवं मनोगोचर नहीं हो पाती।

शाम्भवी मुद्रा का साधन कर उसका सतत् ध्यान करने पर उसका दर्शन भी हो जाता है। यही सूक्ष्म ध्यान कहलाता है।

ध्यानयोग— घेरण्ड ऋषि ने इन तीनों ध्यानपद्धतियों को समष्टि रूप में ध्यानयोग कहा है— 'इति ते कथितं चण्ड ! ध्यानयोगं सुदुर्लभम्'।

ध्यानत्रय की उत्कृष्टता का क्रम— 'स्थूल ध्यान' साधना की उत्कृष्टतम पद्धति है; किन्तु स्थूल ध्यान से १०० गुना उत्कृष्टतर 'तेजोध्यान' है और तेजोध्यान से लाखगुना उत्कृष्टतर 'सूक्ष्म ध्यान' होता है—

स्थूलध्यानाच्छतगुणं तेजोध्यानं प्रचक्षते।
तेजोध्यानाल्लक्षगुणं सूक्ष्मध्यानं परात्परम्।।

इस ध्यानयोग से आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है—

इति ते कथितं चण्ड ! ध्यानयोगं सुदुर्लभम्।
आत्मा साक्षाद्भवेद्यस्मात्तस्माद्ध्यानं विशिष्यते।।

शिवसंहिता की यौगिक ध्यानप्रक्रिया या राजयोग— 'शिवसंहिता' में कहा गया है कि यदि ब्रह्मरन्ध्र में आधा क्षण भी मन ध्यानस्थ हो जाय तो प्राणी समस्त पापों से मुक्त होकर परम गति को प्राप्त कर लेता है।

जिस योगी का चित्त ब्रह्मरन्ध्र में लीन होने लगता है, वह अणिमा आदि समस्त सिद्धियों, गुणों का भोग कर शिव में लय प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मरन्ध्र का ध्यान करने से इसका जो ज्ञान प्राप्त होता है, उससे वह साधक भगवान् का प्रेष्ठ बन जाता है तथा मुक्तिमार्ग का अधिकारी बनकर इस ज्ञान से दूसरों

को लाभान्वित कराकर उसका भी उद्धार कर देता है। 'ब्रह्मरन्ध्र' योगियों को परम प्रिय तो है ही; साथ ही इसका ज्ञान ब्रह्मादिक को भी कृच्छ्रलभ्य है।

सहस्रदल कमल के केन्द्र में स्थित 'योनिमण्डल' अद्भुत है। उसके नीचे के भाग में 'चन्द्रमण्डल' है, जिसका ध्यान करना चाहिये। इस चन्द्रमण्डल का ध्यान करने से ध्याता पृथ्वी पर सर्वाभिनन्दनीय हो जाता है।

शिर:स्थित कपाल के विवर में 'दुग्ध-महोदधि' की कल्पना करनी चाहिये तथा वहाँ स्थित प्रत्येक सहस्रदल कमल में चन्द्रमा का ध्यान करना चाहिये।

शिर में स्थित कपाल-विवर में षोडश कलापूर्ण एवं अमृतात्मक रश्मियों से संयुक्त 'हंस' नामक निरञ्जन का ध्यान करना चाहिये। इससे तीन दिनों के भीतर ही निरञ्जन का साक्षात्कार होता है।

इस उपर्युक्त ध्यान से भविष्यत् का ज्ञान हो जाता है, चित्त शुद्ध हो जाता है तथा पञ्चविध समस्त महापातक शीघ्र ही भस्म हो जाते हैं।

शिर:स्थित चन्द्र का दर्शन एवं ध्यान दोनों से ग्रह अनुकूल हो जाते हैं, उपद्रव नष्ट हो जाते हैं, रोग शान्त हो जाते हैं, समर में विजय प्राप्त हो जाती है, खेचरी-भूचरी सिद्ध हो जाती है और साधक सिद्ध हो जाता है। ऐसा साधक शिव के समान हो जाता है।

सहस्रार पद्म या 'कैलास' में स्थित शिव 'नकुल' कहलाते हैं। यह परम स्थान एवं हंसनिवास 'कैलास' है, जो ध्यान किये जाने पर समस्त व्याधियों को नष्ट कर देता है तथा चिरायु प्रदान करते हुये ध्याता को मृत्युञ्जयी बना देता है।

कुलाख्य परमेश्वर में चित्तवृत्ति के लगने पर समाधिसाम्य के द्वारा योगी निश्चल हो जाता है और जगत् विस्मृत हो उठता है। इसके ध्यान से विचित्र शक्तियाँ हस्तगत हो जाती हैं।

सहस्रदल कमल से क्षरित सुधा का पान करने से अमृतत्व की प्राप्ति होती है तथा कुण्डलिनी सहस्रकमल में विलीन हो जाती है। फिर चतुर्विधा सृष्टि भी परमात्मा में लीन हो जाती है। ऐसा ज्ञानोदय होने पर विषयाग्रहण होने पर चित्तवृत्ति विलीन हो जाती है। इसके फलस्वरूप योगी 'अखण्ड ज्ञानरूपी निरञ्जन' को प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्माण्ड के बहिर्भाग में स्वप्रतीक के विषय का ध्यान करना चाहिये और उसमें 'महच्छून्य' का ध्यान करना चाहिये, जो कि अनादि, अनन्त, मध्यरहित, कोटिसूर्यवत् देदीप्यमान एवं चन्द्रकोटिप्रतीकाश है। इसके ध्यान से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इस शून्य का ध्यान करने से वर्ष भर के भीतर समस्त सिद्धियाँ हस्तगत हो जाती हैं। इस शून्य के ध्यान में क्षणपर्यन्त भी चित्त-स्थैर्य हो जाय तो वह यथार्थ योगी एवं भक्त बन जाता है। वह लोकत्रयपूजित तथा सर्वकल्मषसंघात से रहित हो जाता है,

उसका मृत्यु-संसारवर्त्म में परिभ्रमण नहीं होता। स्वाधिष्ठान मार्ग से उसका यत्नपूर्वक अभ्यास करना चाहिये।

शून्य का ध्यान करने से साधक अणिमादिक समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेता है। उसके ध्यान की महिमा शिव द्वारा भी अकथ्य है; केवल अनुभूतिगम्य है।[१]

देह में स्थित एवं चक्रों में समासीन देवता गरम वायु के ताड़न से काँपने लगते हैं और 'महामाया' कुण्डलिनी 'कैलास' नामक 'बिन्दु देश' में विलीन हो जाती है—

चक्रमध्ये स्थिता देवा: कम्पन्ते वायुताडनात्।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते।।[२]

चाहे पिण्ड-स्थित चक्र हो या देवी-देवता हों या बाह्य अथवा आभ्यन्तर कोई अन्य पदार्थ हों, सभी ध्यान का विषय बनने पर एकाग्रता में वृद्धि करते हैं, मन को स्थिरता प्रदान करते हैं, चित्त की वृत्तियों को अन्तरोन्मुखी करते हैं और अन्ततः परमात्मा का साक्षात्कार कराते हैं।

'ध्यानहेयास्तद्वृत्तय:' (२.२१), 'यथाभिभवध्यानाद्वा' (१.३९), 'तत्र ध्यानजमनाशयम्' (४.६) आदि योगसूत्र भी ध्यान को आध्यात्मिक साधना में अत्यन्तोपयोगी सिद्ध करते हैं।[३]

'मणिप्रभा' में कहा गया है कि 'इष्टं शिव-राम-कृष्णादिरूपं तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिं लभते।' 'योगचन्द्रिका' में भी कहा गया है कि 'यथाऽभिमते वस्तुनि बाह्ये आभ्यन्तरे नाडीचक्रादौ वा भाव्यमाने वेतस: स्थितिहेतुर्भवति।'

नागोजीभट्ट 'योगवृत्ति' में कहते हैं कि 'यदेवाऽभिमतं हरिहरमूर्त्यादि तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिपदमन्यत्रापि स्थिरं भवति।'

भावगणेश 'योगवृत्ति' (दीपिका) में कहते हैं कि 'किं बहुना यदेवाभिमतं हृदि हरिहरमूर्त्यादिकं तदेवादौ ध्यायेत्। तस्मादपि ध्यानान्नियतस्थितिकं भवति।'

'राजमार्तण्ड' में भोजराज ने कहा है कि 'नानारुचित्वात्प्राणिनां यस्मिन् कस्मिन् वस्तुनि योगिन: श्रद्धा भवति, तस्य ध्यानेनापीष्टसिद्धिर्भवति।'

सारांश यह कि जिस साधक की जिस देवता, पदार्थ, वस्तु (आभ्यन्तर एवं बाह्य ध्येय पदार्थ) में रुचि हो, वह उसी पर ध्यान आकृष्ट करे। उससे एकाग्रता सिद्ध होने पर इसका उपयोग किसी भी उच्चतर उपलब्धि या लक्ष्य के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है।

'सांख्यप्रवचनसूत्र' में आसक्ति के अत्यय को 'ध्यान' का अभिधान दिया गया है— 'रागोपहतिर्ध्यानम्' (सूत्र-१०)।

'भावनोपचयात् शुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत्' (सूत्र-२९) का आशय यह है कि गम्भीर

---

१. शिवसंहिता २. शिवसंहिता ३. योगसूत्र

ध्यान की शक्ति से शुद्ध स्वरूप पुरुष के पास प्रकृति की समस्त शक्तियाँ आ जाती हैं।

'ध्यान' मन की निर्विषयता है— 'ध्यानं निर्विषयं मनः।' 'ध्यान' चित्त की निश्चलता है, अखण्ड आनन्द एवं एकतान वृत्ति-प्रवाह है, तैलधारावत् नैरन्तर्य है, अविरत प्रवाहित एवं ध्येयाकारित चिन्तन है, मन की अविचल एकाग्रता है एवं प्रत्यय की एकतानता है— 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (योगसूत्र-३.२)।

देवी के ध्यान का विधान करते हुये शंकराचार्य 'सौन्दर्यलहरी' में कहते हैं—

मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो
हरार्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथफलाम्।
स: सद्य: संक्षोभं नयति वनिता इत्यतिलघु
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रवीन्दुस्तनयुगाम्।।

अर्थात् साधक को चाहिये कि वह त्रिकोण के मध्य स्थित बिन्दुस्थान में भगवती के मुख का ध्यान करे अर्थात् बिन्दु को मुखस्थानीय मानकर वहाँ भगवती के सर्वा-तिशायी सौन्दर्य से मण्डित दिव्य मुख का ध्यान करे। उसके नीचे दो बिन्दु दायें-बायें मानकर उनमें उनके स्तनद्वय का ध्यान करे। कुचद्वय के नीचे देवी की योनि होने की कल्पना करे। मुख, स्तनद्वय एवं योनिरूप देवी के प्रधान अंगों में मारबीज (कामबीज) की कल्पना करके देवी के साथ अपनी तदात्मकता का ध्यान करे— 'साधक: त्रिकोणे बिन्दु-स्थाने साध्याया: कान्ताया: वक्त्रं ध्यात्वा तदधस्तात्तस्या: कुचयुगं ध्यात्वा, तत्कुचद्वयस्या-धस्तात्तस्या: योनिं विचिन्त्य तत्र वक्त्रकुचद्वययोनिषु प्रधानाङ्गेषु मारबीजं सञ्चिन्त्य तया कान्तया आत्मनस्तादात्म्यं सम्पादयेत्।'[१] 'चतुश्शती' में भी कहा गया है—

बिन्दुं सङ्कल्प्य वक्त्रन्तु तदधस्तात्कुचद्वयम्।
तदधश्च हरार्धन्तु चिन्तयेत्तदधोमुखम्।।

तत्र कामकलारूपामरुणां चिन्तयेदिह।
ततस्तेनैव रूपेण निजरूपं विचिन्तयेत्।।

अन्यत्र यह भी कहा गया है कि—

बिन्दौ तद्वक्त्रमारोप्य तदधो बाहुयुग्मकम्।
तदध: कुचयुग्मं तु तदधो योनिमेव च।।

एतेषु पञ्चस्थानेषु पञ्चबाणान् विचिन्तयेत्।

पञ्चबाण बीज क्या हैं? मुख में, बाहुयुग्म में, कुच के मध्य एवं योनि के मध्य में यथाक्रम द्रां, द्रीं, क्लीं, ब्लूं— इस प्रकार ध्यान करना चाहिये। यही प्रयोग 'कामराज प्रयोग समय' भी कहा जाता है। अन्यत्र यह भी कहा गया है—

त्रिकोणे बैन्दवस्थाने अधोवक्त्रं विचिन्तयेत्।
बिन्दोरुपरिभागे तु वक्त्रं सञ्चिन्त्य साधक:।।

---

१. लक्ष्मीधरा-१९

तदुपर्येव वक्षोजद्वितयं संस्मरेद्बुधः।
तदुपर्येव योनिञ्च क्रमशो भुवनेश्वरीम्।
श्रीविद्यां कामराजञ्च विन्यस्याशु विमोहयेत्।।

'सनत्कुमारसंहिता' में मादनप्रयोग की दिशा में भी प्रयुक्त किया गया है।

ध्यान-पद्धति में देवी का ध्यान इस प्रकार भी बताया गया है कि हृत्कर्णिका के मध्य एक मनोहर सिंह स्थित है। सिंह के ऊपर एक रक्तकमल है, जिसके ऊपर शिव स्थित हैं तथा उनके ऊपर कामरूपिणी भगवती विराजमान हैं—

हृत्कर्णिकामध्ये ध्यायेत् सिंहं मनोहरम्।
सिंहोपरिस्थितं पद्मं रक्तं तस्योर्ध्वगः शिवः।
तस्योपरि महादेवी रमते कामरूपिणी।।[1]

श्वेत वर्ण के महादेव, रक्तकमलवत् ब्रह्मा, हरि एवं हर— ये महान् प्रकाशपुञ्ज ही उसके वाहन हैं।[2]

'वीरतन्त्र' में कहा गया है कि न्यास-ध्यान-पूजन आदि नियमों की बाध्यता से नारियाँ मुक्त हैं। उनको मात्र जप करने से ही मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं—

नियमः पुरुषे ज्ञेयो न योषित्सु कदाचन।
न न्यासो योषितां तत्र न ध्यानं न च पूजनम्।
केवलं जपमात्रेण मन्त्रः सिद्ध्यन्ति योषिताम्।।

हृत्पद्म में भगवती का ध्यान— 'परात्रिंशिका' में ध्यान का स्थान हृत्पद्म बताया गया है और कहा गया है—

आद्यन्तरहितं बीजं विकसत्तिथिमध्यगम्।
हृत्पद्मान्तर्गतं ध्यायेत्सोमांशं नित्यमभ्यसेत्।।

'सोमांश' अमृतांश है, जो कि हृत्कमल में स्थित है।

सुधासिन्धु में भगवती का ध्यान— भगवती के ध्यान का यह स्वरूप वरेण्य है। कल्पवृक्ष से परिवृत सुधासिन्धु में नीप (कदम्ब) वृक्षों से आच्छादित एक मणिमय मण्डप है। उस मण्डप में चिन्तामणिगृह है, जिसमें आनन्दभैरवी (ललिता) या त्रिपुर-सुन्दरी ईशानी निवास करती हैं। शिव, सदाशिव और महेशान उनके मञ्च, पर्यङ्क एवं उपबर्हण हैं तथा ब्रह्मदेव, हरि, रुद्र और ईश्वर उस मञ्च के पैर हैं—

बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्चयोन्यः सुरद्रुमाः।
तत्रैव नीपश्रेणी च तन्मध्ये मणिमण्डपम्।।

तत्र चिन्तामणिकृतं देव्या मन्दिरमुत्तमम्।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हणे।।

---

१. शाक्तानन्दतरङ्गिणी २. शाक्तानन्दतरङ्गिणी

अतिरम्यतरे तत्र कशिपुश्च सदाशिवः।
भृतकाश्च चतुष्पादा महेन्द्रश्च पतद् ग्रहः।।

तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी।
शिवार्कमण्डलं भित्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम्।।

तदुद्भूताऽमृतस्यन्दिपरमानन्दनन्दिता ।
कुलयोषित्कुलं त्यक्त्वा परं वर्षणमेत्य सा।।

* * * * *

सुधाब्धौ नन्दनोद्याने रत्नमण्डपमध्यगाम्।
बालार्कमण्डलाभासां चतुर्वाहां त्रिलोचनाम्।।

पाशाङ्कुशशरांश्चापं धारयन्तीं शिवां श्रियम्।
ध्यात्वा च हृद्गतं चक्रं व्रतस्थः परमेश्वरीम्।
पूर्वोक्तध्यानयोगेन चिन्तयन् जपमाचरेत्।।

सुभगोदय के अनुसार भगवती का ध्यान— भगवती त्रिपुरसुन्दरी का ध्यान सूर्यमण्डल के मध्य में करना चाहिये—

सूर्यमण्डलमध्यस्थां देवीं त्रिपुरसुन्दरीम्।
पाशाङ्कुशधनुर्बाणहस्तां ध्यायेत्सुसाधकः।।

सूर्यमण्डल में भगवती का ध्यान— कालिदास 'चर्चास्तोत्र' में भगवती का ध्यान सूर्यमण्डल के मध्य करने का प्रतिपादन करते हैं—

ये चिन्तयन्त्यरुणमण्डलमध्यवर्ति रूपं तवाम्ब नवयावकपङ्करम्यम्।
तेषां सदैव कुसुमायुधबाणभिन्नवक्षस्थला मृगदृशो वशगा भवन्ति।।

'चन्द्रज्ञानविद्या' में भी भगवती का ध्यान सूर्यमण्डल के मध्य करने का निर्देश दिया गया है—

सूर्यमण्डलमध्यस्थां देवीं त्रिपुरसुन्दरीम्।
पाशाङ्कुशधनुर्बाणान् धारयन्तीं प्रपूजयेत्।।

चन्द्रमण्डल में भगवती का ध्यान— 'ललितासहस्रनाम' में भगवती का ध्यान (मुख्यतः पौर्णमासी की तिथि पर) चन्द्रबिम्ब में करने का विधान किया गया है—

पौर्णमास्यां चन्द्रबिम्बे ध्यात्वा श्रीललिताम्बिकाम्।।

'महातन्त्रा महामन्त्रा महायन्त्रा महासना।
श्रीचक्रे मां समभ्यर्च्य जप्त्वा पञ्चदशाक्षरीम्।।'

कहकर भगवती का ध्यान श्रीचक्र में भी करने का निर्देश दिया गया है। भगवती का ध्यान सुधासिन्धु में भी करने का निर्देश दिया गया है—

चिन्तामणिगृहान्तस्था पञ्चब्रह्मासनस्थिता।
महापद्माटवीं संस्था कदम्बवनवासिनी।
सुधासागरमध्यस्था कामाक्षी कामदायिनी।।

भगवती का ध्यान समस्त मन्त्रों एवं मन्त्राक्षरों में भी करने का निर्देश दिया गया है—

सर्वेश्वरी सर्वमयी सर्वमन्त्रस्वरूपिणी।
सर्वयन्त्रात्मिका सर्वतन्त्ररूपा मनोन्मनी।।

पिण्डस्थ चक्रों में भगवती का ध्यान— भगवती का ध्यान मूलाधारादिक धामों में भी करने का निर्देश दिया गया है—

मूलाधारैकनिलया ब्रह्मग्रन्थिविभेदिनी।
मणिपूरान्तरुदिता विष्णुग्रन्थिविभेदिनी।।

आज्ञाचक्रान्तरालस्था रुद्रग्रन्थिविभेदिनी।
तटिल्लतासमरुचिः षट्चक्रोपरि संस्थिता।।

कुण्डलिनीस्वरूप में भगवती का ध्यान— भगवती मन्त्रात्मिका, वर्णात्मिका, नादात्मिका एवं ज्योतिःस्वरूपा हैं और कुण्डलिनीस्वरूपा भी हैं; अतः उनका ध्यान कुण्डलिनी के रूप में भी करने का उपदेश दिया गया है; क्योंकि भगवती कुण्डलिनी शक्ति हैं—

महाशक्तिः कुण्डलिनी बिसतन्तुतनीयसी।।

पञ्चदशी के मन्त्र एवं उसके समस्त कूट भी भगवती ही हैं; अतः उस स्वरूप में ही उनके ध्यान का विधान है; क्योंकि वे मूल मन्त्र हैं—

मूलमन्त्रात्मिका मूलकूटत्रयकलेवरा।

अवतारोत्पादिका के रूप में भगवती का ध्यान— भगवती के विराट् स्वरूप में उनका विश्वमय, विश्वातीत स्वरूप तो है ही; साथ ही अवतारोत्पादिका स्वरूप भी है। इस स्वरूप का भी ध्यान करणीय है—

कराङ्गुलिनखोत्पन्ननारायणदशाकृतिः ।
महापाशुपतास्त्राग्निनिर्दग्धासुरसैनिकाः।।

कूटत्रय एवं कामकला के रूप में भगवती का ध्यान— पञ्चदशी मन्त्र का कूटत्रय भगवती का स्वयं का शरीर है; अतः उस रूप में ही भगवती के कूटस्वरूप का ध्यान भी वरेण्य है—

श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूपमुखपङ्कजा ।
कण्ठाधः कटिपर्यन्तमध्यकूटस्वरूपिणी।
शक्तिकूटैकतापन्नकट्यधोभागधारिणी ।।

भगवती 'कामकला' भी हैं; अतः उस रूप में भगवती वरेण्य हैं। वे कामकलारूपा कही गई हैं— काम्या कामकलारूपा कदम्बकुसुमप्रिया।

▼

षट्पञ्चाशत् अध्याय

न्यासविद्या और त्रिपुरोपासना

न्यास : 'सोऽहमस्मि' की साधना— 'न्यास' अपने तन-मन में मन्त्र, ऋषि, मातृका एवं देवता की स्थापना का विधान है। 'न्यास' अपने शरीर में देवत्व का आधान है। यह उपासक का उपास्य के साथ तादात्म्यभाव, तद्रूपता, तत्स्वरूपता प्राप्त करने की एक पद्धति है। ध्याता की सर्वोच्च उपलब्धि प्रगाढ़ ध्यान नहीं है; अपितु ध्येयाकार बन जाना है। द्रष्टा की चरितार्थता दृश्याकार हो जाना है। ज्ञाता की साधना का सर्वोच्च फल ज्ञेयाकारता ग्रहण कर लेना है। देवता के उपासक की सर्वोच्च उपलब्धि देवता का अविरत ध्यान नहीं; अपितु देवता बन जाना है। जो देवता नहीं बन सका, वह देवता की उपासना का अधिकारी भी नहीं बन सकता। 'न्यास' इसी अधिकारवाद का विधायक है। यह इसी तद्रूपता की शैली है। यह देवोपासक को देवता बनाने की तान्त्रिक विधि है। यह 'सोऽहमस्मि' की अनुभूति की साधना है। इसीलिये 'गन्धर्वतन्त्र' में कहा गया है कि—

जो देवता हो, वही देवता की पूजा करे। जो देवता न बन पाया हो, वह देवता की पूजा न करे— 'देव एव यजेद्देवं नादेवो देवमर्चयेत्।'

जो विष्णु न बन सका हो, यदि वह विष्णु की पूजा करता है तो उसकी समस्त पूजा व्यर्थ होती है— 'अविष्णुः पूजयेद्विष्णुः न पूजाफलभाग्भवेत्।' (वशिष्ठरामायण)

जो विष्णु बन कर विष्णु की पूजा करता है, वह साक्षात् महाविष्णु कहलाता है— 'विष्णुर्भूत्वाऽर्चयेद्विष्णुं महाविष्णुरिति स्मृतः।' (वशिष्ठरामायण)

भारत में भी यही कहा गया है—

नाविष्णुः कीर्तयेद्विष्णुं नाविष्णुर्विष्णुमर्चयेत्।
नाविष्णुः संस्मरेद्विष्णुं नाविष्णुर्विष्णुमाप्नुयात्।।

भविष्यपुराण में भी कहा गया है—

- नारुद्रः संस्मरेद्रुद्रं नारुद्रो रुद्रमर्चयेत्।
- नारुद्रः कीर्ययेद्रुद्रं नारुद्रो रुद्रमाप्नुयात्।
- नादेवी कीर्तयेद्देवीं नादेवी तां समर्चयेत्।

न्यास : देवतादात्म्य की साधना— 'न्यास' के द्वारा देवतात्मक बनकर ही देवता की पूजा करनी चाहिये—

न्यासात्तदात्मको भूत्वा देवो भूत्वा तु तं यजेत्।

न्यास की पद्धति साधक को देवतात्व प्रदान करती है; जैसा कि 'अग्निपुराण' एवं 'शाक्तानन्दतरङ्गिणी' में कहा भी गया है—

येनैव न्यासमात्रेण देववज्जायते नरः।

प्राणायाम, ध्यान एवं न्यासों द्वारा प्रथमतः साधक को देवशरीर प्राप्त करना चाहिये और तभी देवपूजा करनी चाहिये; जैसा कि कहा भी गया है—

प्राणायामैस्तथा ध्यानैर्न्यासैर्देवशरीरभृत्। (आग्नेयपुराण)
न्यासत्तदात्मको भूत्वा देवो भूत्वा तु यं यजेत्।। (भविष्यपुराण)

हम सर्वप्रथम ऋषिन्यास को लेते हैं, उसके अंगों का विवरण निम्नवत् है—

ऋषि— 'ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः स्मारका न तु कारकाः।' अर्थात् जो किसी मन्त्र के द्रष्टा हैं, स्मारक हैं, वे ही 'ऋषि' हैं। वे मन्त्रों के कारक नहीं, मात्र स्मारक हैं। ऋषियों ने ही तपोबल से मन्त्र की साधन-प्रणाली का आविष्कार किया।

छन्द— जिस प्रणाली द्वारा, जिस छन्द से, जिस भाव का कम्पन उत्पन्न करके अपने उद्देश्य की सिद्धि की, वही उस साधन-प्रणाली या मन्त्र का 'छन्द' है।

देवता— प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों में, विभिन्न स्तरों में चैतन्य परमात्मा किस प्रकार प्रकाशित एवं लीलारत है, यह 'देवता' तत्त्व के अन्तर्गत है। भगवच्चैतन्य के विभिन्न प्रतिबिम्ब (विभूति), विभिन्न लीलाभाव का ही नाम है— 'देवता'।

विनियोग— कौन-सी भावना किस भाव या उद्देश्य से अनुष्ठित हुई और उससे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ, इसी का सूचक मन्त्रावयव 'विनियोग' होता है।

प्रथमतः साधक को निश्चित करना है कि उसका लक्ष्य क्या है? वह चाहता क्या है? फिर निश्चय करना होगा कि वह अभीष्ट लक्ष्य किसके जीवन में चरितार्थ हुआ? जिन्होंने अपने लक्ष्य में सर्वप्रथम सिद्धि प्राप्त की, वे ही इस साधनापद्धति के 'ऋषि' कहलाते हैं। जिस स्नायुकेन्द्र में वह शक्ति है, उस स्नायुकेन्द्र में उस शक्ति के प्रकाश एवं कार्यपद्धति को (उस स्नायुकेन्द्र में प्राणवायु एवं मनन शक्ति को एकाग्र करके तथा उस शक्ति को जागृत करके) प्राप्त करना ही उस साधनप्रणाली का 'देवतातत्त्व' है। फिर उस जाग्रत शक्ति को अपने लक्ष्यसिद्धि में नियुक्त करके अपने लक्ष्य को सिद्ध करना ही 'विनियोगतत्त्व' है। मन्त्र को उत्कीलित करके उसे जागृत करना ही 'उत्कीलन' है।

शरीर के विभिन्न स्थानों पर मातृका या मालिनी के वर्णों की स्थापना करना ही 'न्यास' है। वर्णस्थापना से आवेश उत्पन्न होता है—

इत्येषा मालिनी देवी शक्तिमत्क्षोभिता यतः।
कृत्यावेशात्ततः शाक्ती तनुः सा परमार्थतः।।

जो वर्णमाला शिवशक्ति-सघट्ट से आविर्भूत हुई है और जिसमें क्षुभित शक्ति विद्यमान है, वह प्रत्येक प्रकार की सिद्धि प्रदान कर सकती है।

देवता के अंग से निकली हुई चिद्रश्मियों का अपनी देह में सन्निवेश करना ही न्यासप्रक्रिया का उद्देश्य है। न्यास के द्वारा ही देवभाव प्राप्त होने से उपासना में अधिकार प्राप्त होता है। यह न्यासतत्त्व अत्यन्त जटिल एवं दुर्ज्ञेय है। तान्त्रिक साधना में न्यास

का कितना उच्च स्थान है, इस बात को प्रत्येक तान्त्रिक साधक जानता है।[१]

योगिनीहृदय (पूजासङ्केत) में कहा गया है—

न्यासं निर्वर्तयेद्देहे षोढा न्यासपुरःसरम्।
गणेशैः प्रथमो न्यासो द्वितीयस्तु ग्रहैर्मतः।।

नक्षत्रैश्च तृतीयः स्याद्योगिनीभिश्चतुर्थकः।
राशिभिः पञ्चमो न्यासः षष्ठः पीठैर्निगद्यते।।

षोढा न्यासस्त्वयं प्रोक्तं सर्वत्रैवापराजितः।
एवं यो न्यस्तगात्रस्तु स पूज्यः सर्वयोगिभिः।।

नास्त्यस्य पूज्यो लोकेषु पितृमातृमुखो जनः।
स एव पूज्यः सर्वेषां स स्वयं परमेश्वरः।।

षोढा न्यासविहीनं यं प्रममेदेष पार्वति।
सोऽचिरान्मृत्युमाप्नोति नरकं च प्रपच्यते।।

'षोढा न्यास' का तन्त्रशास्त्र में अत्यन्त महत्त्व है।

न्यास : अद्वैतभाव की भावना— 'न्यास' पिण्ड के ब्रह्माण्डीकरण की साधना है। यह मन्त्र एवं देवता के साथ तादात्म्य की साधना है। इसी कारण तान्त्रिकोपासना में न्यास एक आवश्यक अवयव है। इसके प्रयोग से साधना में साफल्य शीघ्र प्राप्त होता है। न्यास के प्रयोग से मन्त्रसिद्धि एवं देवसाक्षात्कार भी शीघ्र होता है। देवत्व की प्राप्ति भी न्यास-साधना द्वारा शीघ्र होती है।

न्यास का अर्थ है— स्थापन, उचित स्थान पर रखना, धरोहर-निक्षेप, अर्पण, पूजा की तान्त्रिक पद्धति के अनुसार देवता के भिन्न-भिन्न अंगों का ध्यान करते हुये मन्त्र पढ़कर उन पर विशेष वर्णों का स्थापन, किसी रोग या बाधा की शान्ति हेतु रोगी या बाधाग्रस्त मनुष्य के एक-एक अंग पर हाथ ले जाकर मन्त्र पढ़ने का विधान।

न्यास की आवश्यकता— 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' विधान के अनुसार साधक को भी देवता की भाँति अपने शरीर को देवमय, दिव्य एवं पुनीत बनाने की आवश्यकता है। शरीर अपवित्रता का साम्राज्य है; अतः 'पवित्रतम' (नामी और उसके नाम : देवता और उसके मन्त्र) को शरीर में बैठाने के लिये शरीर को भी पवित्र करना ही पड़ेगा। पवित्रीकरण की विधियों में से एक विधि 'न्यास' भी है। यह तन-मन की दिव्यीकरण-प्रक्रिया भी है।

न्यास : अद्वैतभाव की साधना— साधना का चरम लक्ष्य है— अद्वैतावस्थान। 'न्यास' अद्वैताप्ति की साधना की पृष्ठभूमि है। यह वर्ण, बीज, मन्त्र, ऋषि, छन्द, देवता, शक्ति, कीलक, दिशा, स्तोत्र, पिण्डस्थ चक्र, पीठ, गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी

---

१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि।

राशि आदि के साथ अपनी अभेद-स्थापना का विधान है। यह देवता बनकर देवता की पूजा करने की पद्धति है।

न्यास : 'देवोऽहं' एवं 'विश्वतोऽहं' की अनुभूत्यात्मक साधना— न्यास के द्वारा साधक अपने शरीर में दिव्य शक्तियों की स्थापना करता है। इसके द्वारा वह अपने शरीराङ्गों में ऋषि, छन्द, देवता, बीज, शक्ति, कीलक, मन्त्राक्षर, मातृका (वर्णमाला), आसन (देव्यात्मासन, चक्रासन, सर्वमन्त्रासन, साध्य-सिद्धासन), वाग्देवता, चक्र (त्रैलोक्य-मोहन, सर्वाशापरिपूरक आदि) को; मूलाधार आदि में त्रिपुरा, त्रिपुरेश्वरी, त्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुरवासिनी, त्रिपुरासिद्धा, त्रिपुराम्बा, महात्रिपुरसुन्दरी देवी तथा मन्त्रों को; बिन्दु, अर्द्ध-चन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना, उन्मना एवं ब्रह्मरन्ध्र में मन्त्रों को तथा शरीरस्थ पीठों एवं अग्निचक्र, सूर्यचक्र, सोमचक्र तथा परब्रह्मचक्र में आत्म-तत्त्व, विद्यातत्त्व, शिवतत्त्व तथा श्रीपादुका एवं कामेश्वरी, महावज्रेश्वरी, भगमालिनी, एवं महा-त्रिपुरसुन्दरी को स्थापित करके अपने को सर्वदेवतामय, सर्वचक्रमय, सर्वमन्त्रमय, सर्व-शक्तिमय, सर्वविद्यामय, सर्वपीठमय, सर्वनादमय एवं सर्वविश्वमय बनाते हुये 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' की अनुभूति करने का प्रयास करता है। चूँकि भगवती कुण्डलिनी वर्ण-मयी, मन्त्रमयी, नादमयी एवं ज्योतिर्मयी हैं; अत: साधक वर्णों के साथ अपनी एकता स्थापित करके भगवती कुण्डलिनी के वर्ण, मन्त्र, नाद एवं ज्योतिस्वरूप के साथ ही स्वयं भी उनके साथ तादात्म्य-स्थापन की साधना करता है। साधक 'गणेशन्यास' द्वारा शरीर के अन्दर एवं बाहर के सभी शरीरावयवों में गणेश की स्थापना करके शरीर को गणेशमय बना लेता है तथा इसी प्रकार अपने शरीराङ्गों में चन्द्रमा, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु एवं केतु (ग्रहों); भरणी, कृत्तिका आदि नक्षत्रों; डाकिनी, राकिणी, लाकिनी आदि योगिनियों तथा पीठों (कामरूप, नेपाल, पूर्णशैल, केदार, बद्री, ॐकार आदि पीठों) को अपने शरीराङ्गों में स्थित मानकर (या उनकी स्थापना करके) अपने को सर्वग्रहमय, सर्वराशिमय, सर्वनक्षत्रमय एवं सर्वपीठमय बनाता हुआ पिण्ड से ऊपर उठकर ब्रह्माण्ड या समग्र विश्व बना लेता है या पिण्ड से ब्रह्माण्ड बन जाता है।

यही न्यासविद्या या न्याससाधना का लक्ष्य भी है।

कतिपय न्यासों के उदाहरण

मातृका न्यास

'ॐ अस्य मातृकामन्त्रस्य ब्रह्मऋषिर्गायत्री छन्दो मातृका सरस्वती देवता हलो बीजानि स्वरा: शक्तय: क्लीं कीलकं मातृकान्यासे विनियोग:।'

इस विनियोग के अनन्तर जल छोड़ दे तथा ऋष्यादि का न्यास करे—

१. शिर में 'ॐ ब्रह्मणे ऋषये नम:।'

२. मुख में 'ॐ गायत्रीच्छन्दसे नम:।'

३. हृदय में 'ॐ मातृकासरस्वत्यै देवतायै नमः।'

४. गुह्यस्थान में 'ॐ हल्भ्यो बीजेभ्यो नमः।'

५. पैरों में 'ॐ स्वरेभ्यः शक्तिभ्यो नमः।'

६. सर्वांग में 'ॐ क्लीं कीलकाय नमः।'

इसके अनन्तर करन्यास करे—

ॐ अं कं खं गं घं ङं आं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।

ॐ इं चं छं जं झं ञं ईं तर्जनीभ्यां नमः।

ॐ उं टं ठं डं ढं णं ऊं मध्यमाभ्यां वषट्।

ॐ एं तं थं दं धं नं ऐं अनामिकाभ्यां हुम्।

ॐ ओं पं फं बं भं मं औं कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्।

ॐ अं य रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं ञः अः करतलकरपृष्ठाभ्यामस्त्राय फट्।

इसके अनन्तर अङ्गन्यास करे—

ॐ अं कं खं गं घं ङं आं हृदयाय नमः।

ॐ इं चं छं जं झं ञं ईं शिरसे स्वाहा।

ॐ उं टं ठं डं ढं णं ऊं शिखायै वषट्।

ॐ एं तं थं दं धं नं ऐं कवचाय हुम्।

ॐ ओं पं फं बं भं मं औं नेत्रत्रयाय वौषट्।

ॐ अं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं अः अस्त्राय फट्।

इसके अनन्तर अन्तर्मातृकान्यास करे—

हमारे शरीर में 'मूलाधार' आदि छः चक्र हैं। उनमें जितने कमलदल हैं, उतने ही अक्षरों का न्यास किया जाता है। एक प्रकार से यह षट् चक्रन्यास है। सम्प्रदायानुसार इसकी भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हैं।

वैष्णवपद्धति के अनुसार अन्तर्मातृका न्यास

मूलाधार चक्र (स्वर्णाभ एवं चतुर्दलात्मक चक्र)— इसके चारो दलों पर निम्न अक्षरों का न्यास करना चाहिये—

१. ॐ वं नमः, २. ॐ शं नमः, ३. ॐ षं नमः, ४. ॐ सं नमः।

स्वाधिष्ठान चक्र (विद्युदाभ षड्दलात्मक चक्र)— इसके छः दलों पर निम्न अक्षरों का न्यास करना चाहिये—

१. ॐ बं नमः, २. ॐ भं नमः, ३. ॐ मं नमः, ४. ॐ यं नमः, ५. ॐ रं नमः, ६. ॐ लं नमः।

मणिपूरक चक्र (नाभिमूलस्थ नीलमेघाभ दशदलात्मक चक्र)— इसके दसों दलों पर निम्न अक्षरों का न्यास करना चाहिये—

१. ॐ डं नमः, २. ॐ ढं नमः, ३. ॐ णं नमः, ४. ॐ तं नमः, ५. ॐ थं नमः, ६. ॐ दं नमः, ७. ॐ धं नमः, ८. ॐ नं नमः, ९. ॐ पं नमः, १०. ॐ फं नमः।

अनाहत चक्र (हृदयस्थ, प्रवालाथ द्वादशदलात्मक चक्र)— इसके बारह दलों पर निम्न अक्षरों का न्यास करना चाहिये—

१. ॐ कं नमः, २. ॐ खं नमः, ३. ॐ गं नमः, ४. ॐ घं नमः, ५. ॐ ङं नमः, ६. ॐ चं नमः, ७. ॐ छं नमः, ८. ॐ जं नमः, ९. ॐ झं नमः, १०. ॐ ञं नमः, ११. ॐ टं नमः, १२. ॐ ठं नमः।

विशुद्ध चक्र (कण्ठस्थ, धूम्रवर्णाभ, षोडशदलात्मक चक्र)— इसके सोलह दलों पर निम्न अक्षरों का न्यास करना चाहिये—

१. ॐ अं नमः, २. ॐ आं नमः, ३. ॐ इं नमः, ४. ॐ ईं नमः, ५. ॐ उं नमः, ६. ॐ ऊं नमः, ७. ॐ ऋं नमः, ८. ॐ ॠं नमः, ९. ॐ ऌं नमः, १०. ॐ ॡं नमः, ११. ॐ एं नमः, १२. ॐ ऐं नमः, १३. ॐ ओं नमः, १४. ॐ औं नमः, १५. ॐ अं नमः, १६. ॐ अः नमः।

आज्ञा चक्र (भ्रूमध्यस्थ, चन्द्रवर्णाभ, द्विदलात्मक चक्र)— इसके दोनों दलों पर निम्न वर्णों का ध्यान करना चाहिये—

१. ॐ हं नमः, २. ॐ क्षं नमः।

सहस्रार (सहस्रदल पद्म, स्वर्णाभ, त्रिकोणमय चक्र)— इस चक्र में त्रिकोण का ध्यान करना चाहिये। इसके कोण पर ह, ल एवं क्ष अक्षर लिखे हुये हैं। इस त्रिकोण की तीनों रेखायें क्रमशः अ, क एवं थ से प्रारम्भ होती हैं। इसी त्रिकोण के मध्य में सृष्टि-स्थिति-लयसमन्वित बिन्दुरूप परमात्मा विराजमान है। इस प्रकार के ध्यान को अन्तर्मातृका न्यास कहते हैं।

बहिर्मातृका न्यास

इस न्यास से पूर्व मातृका सरस्वती का ध्यान किया जाता है, जो निम्नांकित है—

पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्तमुखदोः यन्मध्यवक्षःस्थलाम्
भास्वन्मौलिनिबद्धचन्द्रशकलामापीनतुङ्गस्तनीम् ।
मुद्रामक्षगुणं सुधाढ्यकलशं विद्याञ्च हस्ताम्बुजै-
र्बिभ्राणां विशदप्रभां त्रिनयनां वाग्देवतामाश्रये।।

अर्थात् पचास वर्णों के द्वारा जिनके मुख, बाहु, चरण, कटि और वक्षःस्थल पृथक्-पृथक् दृष्टिगत हो रहे हैं, सूर्य के समान द्योतित जिसके किरीट पर चन्द्रखण्ड शोभायमान है, जिसका वक्षःस्थल बहुत ऊँचा है, जो अपने करकमलों में मुद्रा, रुद्राक्ष-माला, सुधापूर्ण कलश एवं पुस्तक धारण किये हुये हैं, जिनके अंग से दिव्य ज्योति

विकीर्ण हो रही है; उन त्रिनेत्री वाग्देवता मातृका सरस्वती की मैं शरण ग्रहण करता हूँ। इस प्रकार सरस्वती देवी का ध्यान करने के पश्चात् न्यास करना चाहिये।

इस न्यास में उँगलियों एवं अँगूठों का प्रयोग किया जाता है। न्यास में जहाँ जितनी उँगलियों को मिलाना चाहिये, उसकी संख्या है— १. अंगुष्ठ, २. तर्जनी, ३. मध्यमा, ४. अनामिका, ५. कनिष्ठा।

ललाट में— ॐ अं नमः ३, ४; २. मुख पर— ॐ आं नमः २, ३, ४; ३. आँखों में— ॐ इं नमः, ॐ ईं नमः— १, ४। इसी प्रकार 'ॐ' एवं 'नमः' लगाकर अगले अंगों भी न्यास करना चाहिये।

४. कानों में— उं, ऊं १; ५. नासिका में— ऋं, ॠं १, ५; ६. कपोलों पर— ऌं, ॡं २, ३; ७. ओष्ठ में— एं ३; ८. अधर में— ऐं ३; ९. ऊपर के दाँतों में— ओं ४; १०. नीचे के दाँतों में— औं ४; ११. ब्रह्मरन्ध्र में— अं ३; १२. मुख में— अः ४; १३. दक्षिण हस्त के मूल में— अं ३, ४, ५ १४. केहुनी में— खं ३, ४, ५ १५ मणिबन्ध में— गं; १६. उँगलियों की जड में— चं; १७. उँगलियों के अग्रभाग में— ङं; १८. इसी प्रकार वाम पाणि के मूल, केहुनी, मणिबन्ध, अँगुली के मूल एवं अङ्गुल्यग्र में— चं, छं, जं, झं, ञं; १९. दक्षिण पैर के मूल में, दोनों सन्धियों में, उँगलियों के मूल में, उनके अग्रभाग में— टं, ठं, डं, ढं, णं; २०. वाम पाद के उन्हीं पाँचों स्थानों में— तं, थं, दं, धं, नं; २१. दक्षिण पार्श्व में— पं; वाम में— फं; पृष्ठ में— बं (यहाँ उँगलियों की संख्या केहुनी वाली ही मान्य है); २२. नाभि में— १, ३, ४, ५; २३. पेट में— मं १ से ५; २४. हृदय में— यं; २५. दक्षिण स्कन्ध पर— रं; २६. गले के ऊपर— लं; २७. वाम स्कन्ध पर— वं; २८. हृदय से दाहिने हाथ तक— शं; २८. हृदय से बायें हाथ तक— षं; २९. हृदय से दाहिने पैर तक— सं; ३०. हृदय से बायें पैर तक— हं; ३१. हृदय से पेट तक— लं; ३२. हृदय से मुख तक— क्षं; ३३. हृदय से अन्त तक— हथेली से न्यास करना चाहिये।

संहारमातृकान्यास

बाह्य मातृकान्यास की समाप्ति के बाद संहारमातृकान्यास आरम्भ होता है। सर्व-प्रथम ध्यान करणीय होता है, जो निम्नांकित है—

अक्षस्त्रजं हरिणपोतमुदग्रटङ्कं विद्यां करैरविरतं दधतीं त्रिनेत्राम्।
अर्द्धेन्दुमौलिमरुणामरविन्दरामां वर्णेश्वरीं प्रणमतस्तनभारनम्राम्।।

अर्थात् जो चार कई कमलों में रुद्राक्षमाला, हरिणशावक, पत्थर फोड़ने की टांकी एवं पुस्तक धारण किये रहती हैं, जिनके तीन नेत्र हैं, जिनके मुकुट पर अर्द्धचन्द्र स्थित है, जिनके शरीर का रंग लाल है, जो कमल पर आसीन हैं, जो स्तनों के भार से झुकी हुई हैं; उन वर्णेश्वरी को नमस्कार कीजिये।

बाह्य मातृकान्यास में अक्षरोच्चारण चार प्रकार से किया जा सकता है— १. केवल अक्षर, २. सबिन्दु अक्षर, ३. सविसर्ग अक्षर एवं ४. बिन्दु-विसर्गयुक्त अक्षर।

इन अक्षरों के पूर्व बीजाक्षर भी जोड़े जाते हैं। कामना-वैभिन्य के अनुसार बीजाक्षर भी बदल जाते हैं; यथा— वाक्सिद्ध्यर्थ 'ऐं', श्रीवृद्ध्यर्थ 'श्रीं', सर्वसिद्ध्यर्थ 'नमः', वशीकरणार्थ 'क्लीं' एवं मन्त्रप्रसादानार्थ 'अः' जोड़ा जाता है।

मन्त्रशास्त्र की मान्यता है कि मातृकान्यास के विना मन्त्रसिद्धि अत्यन्त दुष्कर है।

न्यास-पद्धति— बाह्य मातृकान्यास का अन्त होता है— 'ॐ लं नमः, ॐ क्षं नमः।' संहारमातृका न्यास की पद्धति में (बाह्य मातृकान्यास की जहाँ समाप्ति होती है— 'ॐ क्षं नमः' से) विपरीत क्रम से न्यास किया जाता है अर्थात् बाह्य मातृका न्यास जहाँ समाप्त होता है, वहीं से संहारमातृका न्यास प्रारम्भ होता है।

न्यासों में 'अन्तर्न्यास' केवल मन से किया जाता है। 'बहिर्न्यास' भी केवल मन से किया जाता है। बहिर्न्यास में तत्तत् स्थानों का स्पर्श किया जाता है। स्पर्श भी दो प्रकार के होते हैं— किसी पुष्प से या अँगुलियों से। उँगलियों द्वारा स्पर्श भी द्विविध है— अंगुष्ठ एवं अनामिका को मिलाकर एवं भिन्न-भिन्न अंगों के स्पर्शहेतु भिन्न-भिन्न उँगलियों के प्रयोग द्वारा। विभिन्न उँगलियों द्वारा किया गया न्यास इस पद्धति से करणीय होता है—

मध्यमा + अनामिका + तर्जनी से 'हृदय', मध्यमा + तर्जनी से 'सिर', अँगूठे से 'शिखा', दस उँगलियों से 'कवच', तर्जनी + मध्यमा + अनामिका से 'नेत्र' एवं तर्जनी + मध्यमा से करतलपृष्ठ का न्यास करणीय होता है। यदि देवता त्रिनेत्री हो तो तर्जनी + मध्यमा + अनामिका से एवं यदि देवता द्विनेत्री हो तो मध्यमा + तर्जनी से नेत्र में न्यास करना चाहिये।

'पञ्चाङ्गन्यास' में नेत्र को छोड़ दिया जाता है। वैष्णवों के लिये इसका क्रम भिन्न है। अंगुष्ठ छोड़कर सीधी उँगलियों से हृदय + मस्तक में न्यास करना होता है। अंगुष्ठ को अन्दर करके मुष्टि बाँधकर शिखा का स्पर्श किया जाता है। समस्त उँगलियों से कवच, तर्जनी + मध्यमा से नेत्र, नाराचमुद्रा से दोनों हाथों को ऊपर उठाकर अंगुष्ठ + तर्जनी द्वारा मस्तक के चतुर्दिक करतल ध्वनि करनी चाहिये। जहाँ अङ्गन्यास का मन्त्र प्राप्त नहीं होता, वहाँ देवता के नाम के प्रथमाक्षर से अङ्गन्यास करना चाहिये।

हमारे शरीर के प्रत्येक अवयव में, प्रत्येक इन्द्रिय में एवं अन्तःकरण आदि में देवता निवास करते हैं। हमें यह ध्यान रखते हुये अपने अन्तस्थल एवं बाह्य शरीर दोनों को दिव्य बनाना चाहिये। दिव्यतम परमात्मा का आसन भी दिव्य होना चाहिये। पवित्रतम इष्टदेव के लिये साधक का शरीररूपी घर भी पवित्र होना चाहिये। शक्तिमान शिव या शक्ति के आसीन होने हेतु साधक का शरीररूपी सिंहासन भी जागृत शक्ति, मान्त्रिक शक्ति, आत्मतेज, संविदुल्लास, प्रेम एवं भक्ति की आह्लादिनी शक्ति से देदीप्यमान होना

चाहिये; अन्यथा देवता अशुद्ध, अपवित्र, अचेतन, शक्तिशून्य तथा निस्तेज सिंहासन पर बैठेगा ही नहीं। शक्ति के इसी आयत्तीकरण, मानस के दिव्यीकरण, शरीराङ्गों के चैतन्यीकरण एवं सर्वाङ्गपूर्ण समस्त शरीर के पवित्रीकरण तथा देव-तादात्म्यीकरण के लिये ही तो यह समस्त न्यास-विद्या का विधान किया गया है।

अभिनवगुप्तपाद की दृष्टि— अभिनवगुप्तपादाचार्य ने तन्त्रालोक (आह्निक-१५) में तत्त्वोदया न्यासविधि का उल्लेख करते हुये कहा है कि 'न्यासपञ्चक' सर्वातिशायी महत्त्व के हैं, जो अङ्गवक्त्रन्यास, मातृकान्यास, त्रितत्त्वन्यास, अघोराष्टकन्यास एवं शिवसद्भाव न्यास के नाम से जाना जाता है।

अङ्गवक्त्रन्यास— नवात्मदेव (अघोर, घोर, घोर, घोरतर, सर्व, शर्व, रुद्र, तत्पुरुष, महादेव— इन आठ रूपों में स्थित शिव) के भेद से ही यह न्यास करना चाहिये। इसे 'तत्त्वोदय न्यास' कहते हैं।

१. शिष्य के अंगों में सर्वप्रथम पञ्चवक्त्रन्यास (ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, अघोर एवं वामदेव) करने से शिष्य में सदाशिव की विलक्षण शक्ति का उदय होता है। इस पद्धति में अंगों में तत्त्वों का ध्यान करना चाहिये। यथा— 'अघोर'– अग्नितत्त्व (रूप) का नेत्र में, 'वामदेव'– जलतत्त्व (रस) का रसना में, 'ईशान'– आकाशतत्त्व (शब्द) का कानों में, 'सद्योजात'– पृथ्वीतत्त्व (गन्ध) का सर्वांग में तथा 'तत्पुरुष'– वायु तत्त्व (स्पर्श) का शरीरांग त्वक् में न्यास करना चाहिये। इच्छाशक्ति में 'उन्मना' की प्रतिष्ठा होती है।

२. शक्ति-दृष्टि से न्यास का द्वितीय प्रकार— समना, नाद और बिन्दु शक्तियों का शाश्वत परामर्श होता है। शरीर के उत्तमांग में इनकी प्रतिष्ठा होती है।

३. शक्ति-दृष्टि के अन्तर्गत अनुग्रह, तिरोधान, संहार, स्थिति और सृष्टि की प्रथा प्रथित होती है।

४. ईश्वरतत्त्व की दृष्टि से महत्, रूपातीत, रूप, पद एवं पिण्ड का ध्यान करके पूर्वोक्त अंगों में न्यास करना चाहिये।

५. विद्यातत्त्व की दृष्टि से तुर्यातीत, तुर्य, सुषुप्ति, स्वप्न एवं जागृति का ध्यान करके न्यास करना चाहिये।

६. विद्यातत्त्व की दृष्टि से ही शाम्भवी शक्ति की बोधिनी, शोधिनी और आणवी शक्तियों का न्यास होता है। इसी से दीक्षा दीप्त होती है।

७. पुमर्थोपाय दृष्टि से ज्ञान, योग, क्रिया एवं चर्या का ध्यान मानसिक न्यास का विधान है।

८. हाकिनी, डाकिनी, शाकिनी, लाकिनी, राकिनी और काकिनी शक्तियों का चक्रों में ध्यान और न्यास होता है।

९. इन सभी के मध्य केन्द्रस्थ हृदय में आसीन परमेश्वर का न्यास अनिवार्यत: आवश्यक है।[1]

न्यासपञ्चक का द्वितीय न्यास— मातृकान्यास ही न्यासपञ्चक का द्वितीय न्यास है। 'तन्त्रालोक' के पञ्चदश आह्निक के श्लोकसंख्या ११६ से १२० तक मातृकान्यास का विवेचन किया गया है। इस सन्दर्भ में यह नियम द्रष्टव्य है—

मातृकां मालिनीं वाथ द्वितयं वा क्रमाक्रमात्।
सृष्ट्यप्ययद्वयै: कुर्यादिकैकं सङ्घशो द्विश:।। (१५.११६)

इससे तत्त्वों में स्फुटता आती है।

त्रितत्त्वनयास— शिव, विद्या (शक्ति) और आत्मा (नर) यही विश्व का नर शक्ति शिवात्मक मुख्य तत्त्वविभाग है। हृदय, शिखा और पद ही तीन कक्ष्यायें हैं। 'कक्ष्या' उत्तरीय, समानता एवं कक्षगत अंग या उत्तम स्थान को भी कहते हैं। शिखा में शिव का, हृदय में शक्ति का और पद में आत्मा अर्थात् नृतत्त्व का न्यास किया जाता है। यही है— त्रितत्त्वन्यास।[2]

अघोराष्टक न्यास— अघोर, ईशान, विद्या, माया, काल, नियति, पुरुष एवं प्रकृति को 'अघोराष्टक' कहते हैं। इसमें 'व्यापी' नामक नवात्मदेव का प्रकल्पन करने से यही 'नवात्मदेव न्यास' होता है (तन्त्रालोक, खण्ड प्रथम, आह्निक-१.११.१११)

शिवसद्भाव न्यास— अघोराष्टक न्यास में भी शिर, मुख, कण्ठ, हृदय, नाभि, गुह्य, जानु और चरण— ये क्रमश: आठ अंग ही गृहीत हैं। इन्हीं अंगों में शिवसद्भाव का न्यास शिष्य को शिवमय बनाने में समर्थ होता है।

इस न्यासपञ्चक में प्रथमस्थानीय न्यास अङ्गवक्त्रन्यास होता है।[3]

जीवन्यास— 'कौलावलीनिर्णय' में 'जीवन्यास' का भी विधान प्रस्तुत किया गया है, जिसके अनुसार साधक देवता के जीव को निम्न मन्त्र से अपनी देह में स्थापित करता है। वह इसका स्थापन पुष्प या अनामा उँगली या मन से करता है। मन्त्र है— 'आं सोऽहं अमुष्या: प्राणा: इह प्राणा: अमुष्या: जीव इह स्थित: अमुष्या: सर्वेन्द्रियाणि अमुष्या: वाङ्मनश्चक्षुश्रोत्रघ्राणप्राणपदानि इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा।' अथवा 'आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हं हंस: सोऽहं अमुकदेवताया: प्राणा: इह प्राणा: अमुकदेवताया: जीव इह स्थित:। अमुकदेवताया: सर्वेन्द्रियाणि इह स्थितानि। अमुकदेवताया: वाङ्मनोचक्षु-श्रोत्रघ्राणपदानि इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा।'

न्यास की चरितार्थता को जो देवमयता, देवसायुज्य, देवता के साथ तादात्म्य-प्राप्ति

---

१. अभिनवगुप्तपादाचार्य : 'तन्त्रालोक' आह्निक-१५

२. तन्त्रालोक

३ तन्त्रालोक

के रूप में निरूपित किया गया, वह उसका चरम आदर्श है और ठीक भी है क्योंकि—

उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यम:।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बाह्यपूजाऽधमाधम:।।

ऋषिन्यास— ऋषिन्यास के छ: अंग हैं— ऋषि, छन्द, देवता, बीज, शक्ति एवं कीलक।

'यामल' में कहा गया है कि ऋषि, छन्द, देवता, बीज, शक्ति एवं कीलक पूजा तथा जप के अपरिहार्य अंग हैं और इनके विना की गई पूजा निष्फल होती है—

ऋषिच्छन्दो देवतानां विन्यासेन विना यदा।
जप्यते साधकोऽप्येष तत्र तन्न फलं लभेत्।। (७.१०१)

इन पूजांगों का स्थान भी निर्दिष्ट है; यथा— 'ऋषि' मूर्द्धा, 'छन्द' मुख, 'देवता' हृदय, 'बीज' गुह्यदेश, 'शक्ति' पैर और 'कीलक' सर्वांग—

ऋषिन्यासं मूर्ध्नि देशे छन्दं तु मुखपङ्कजे।
देवता हृदये चैव बीजं तु गुह्यदेशके।। आदि।

न्यासक्रिया का फल— न्यास करने से धन, यश, आयुष्य एवं कलि-कल्मष-नाश— इन चारों का लाभ प्राप्त होता है; यथा—

धनं यशस्यमायुष्यं कलकल्मषनाशनम्।
य: कुर्यान्मातृकान्यासं स एव श्रीसदाशिव:।।
(शाक्तानन्दतरङ्गिणी-७.८८)

जो न्यास करता है, उसे साक्षात् 'सदाशिव' कहा गया है। विद्या-न्यास के फल के विषय में कहा गया है कि ऐसा साधक पशु होकर भी 'पशुपति' बन जाता है—

एवं न्यासकृत: साक्षात् पशु: पशुपति: स्वयम्।

न्यास में जो वर्ण-स्थापना की जाती है, उससे आवेश उत्पन्न होता है—

इत्येषा मालिनी देवी शक्तिमत्क्षोभिता यत:।
कृत्यावेशात्तत: शाक्ती तनु: सा परमार्थत:।। (तन्त्रालोक)

मालिनीन्यास की मालिनी में संहारशक्ति भी निहित है— 'संहारस्य मालिनी विमर्शिका।' (तन्त्रालोक)

▼

सप्तपञ्चाशत् अध्याय

पीठतत्त्व और त्रिपुरोपासना

तन्त्रशास्त्र में कहा गया है कि पीठ-स्थान में जो जप, पूजा आदि साधनायें की जाती हैं, उनकी अत्यधिक महिमा है। पीठों में अनुष्ठित साधना आशु फलप्रदा एवं महासिद्धिप्रदा होती हैं। चूँकि प्रत्येक 'पीठ' चितिशक्ति के जागृत केन्द्र हैं, शक्ति के शरीराङ्ग हैं और प्रत्येक पीठ में भगवती संवित् शक्ति और साक्षात् भैरव विद्यमान हैं; अत: प्रत्येक पीठ भगवती का अपना स्वरूप ही है। आन्तर जगत् में स्थित सूक्ष्म पीठों (सूक्ष्म आत्मिक केन्द्रों) को जागृत करने के लिये बाह्य पीठों की साधना अत्यधिक सहायक होती है। साधना के लिये भगवान् (भगवती) के छ: रूप माने गये हैं— भुवन, विग्रह, ज्योति, रव, शब्द एवं मन्त्र।

जिन-जिन तीर्थों या स्थानों में भगवती निवास करती हैं, वे सभी स्थान देवीपीठ कहलाते हैं। सती के शरीराङ्गों से ५१ देवीपीठ निर्मित हुये। पीठों के दो प्रकार हैं— बाह्य एवं आन्तर पीठ। पीठोपासना भगवत्योपासना ही है; चाहे वह आन्तर पीठ हो या बाह्य पीठ।

विष्णु के चक्र से 'सती' के कटे अङ्ग जिस-जिस स्थान पर गिरे, उन सभी स्थानों पर 'पीठ' उत्पन्न हो गये, उन-उन पीठों में जगद्धात्री एवं ब्रह्मज्योतिस्वरूपिणी देवी ने 'पाषाण'-रूप ग्रहण कर लिया। साधकों की सिद्धि एवं मुक्ति के लिये वे प्रस्तरविग्रह बन कर वहीं नित्य विराजमान रहती हैं—

यत्र यत्र महादेव्या अङ्गप्रत्यङ्गपातनम्।
महाविष्णुश्चक्रपाणिश्चकार धरणीतले।।

तत्र तत्र जगद्धात्री भक्तानां मुक्तिहेतवे।
साधकानाञ्च सिद्ध्यर्थं नित्यं विहरति क्षितौ।।[1]

इन-इन पीठों में भगवान् शभु भी भैरवरूप धारण करके आसीन हो गये। वे साधकों के कल्याणार्थ एवं विश्वहितार्थ उन-उन पीठों में स्वयं भी भगवती की उपासना करते हैं—

तत्रैव भैरव: शम्भुर्नानारूपधर: स्थित:।
रथार्थं साधकानाञ्च हिताय जगतामपि।
उपासते स्वयं देवी करुणानिधिरीश्वर:।।

इस प्रकार प्रत्येक पीठ में उस पीठ की पीठाधीश्वरी एवं भैरव दोनों निवास करते है। अत: पीठ में पूजा करते समय उस पीठ की अधिष्ठात्री देवी के साथ ही साथ तत्रस्थ भैरव की भी पूजा करनी चाहिये; अन्यथा पीठस्थ पूजा भी निरर्थक हो जाती है—

---

१. योगिनीतन्त्र

अज्ञात्वा भैरवं पीठं शक्तिपीठञ्च शङ्कर।
प्राणनाथ ! न सिद्ध्येत्तु कल्पकोटिजपादिभिः।।

क्षेत्राधिपं विना देव ! पूजयेत् पीठदेवताम्।
भैरवैर्हीयते सर्वं जपपूजादिसाधनम्।।[१]

बाह्य एवं आन्तर पीठों में तादात्म्य— तान्त्रिक आचार्यों ने पीठों को स्थूल एवं भौतिक रूपों में बाहर स्थित मानकर भी सूक्ष्म धरातल पर उनका जब सन्धान किया तो आन्तर जगत् में भी उन्हें स्थित पाया तथा उन दोनों में अन्तःसम्बन्ध भी देखा और उसी अनुभव के आधार पर कहा कि कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर, उड्डीयान, वाराणसी मायावती, अयोध्या एवं काञ्ची आदि बाह्यवर्ती पीठ शरीर के अन्दर भी सूक्ष्म रूप में स्थित हैं—

मूलाधारे कामरूपं हृदि जालन्धरं तथा।
ललाटे पूर्णगिर्याख्यमुड्डियानं तदूर्ध्वके।।

वाराणसीं भ्रुवोर्मध्ये ज्वलन्तीं लोचनत्रये।
मायावतीं मुखवृत्ते कण्ठे मधुपुरीं ततः।।[२]

मूलाधार में 'कामरूप पीठ', हृदय में 'जलन्धर पीठ', ललाट के ऊपर 'उड्डियान पीठ', भ्रुवद्वय में 'वाराणसी पीठ', मुखविवर में 'मायावती पीठ' कटि में 'काञ्ची पीठ' एवं नाभि में 'अयोध्यापीठ' स्थित है।

पीठ, शरीर एवं श्रीचक्र में तादात्म्यभाव

आचार्य महेश्वरानन्द की दृष्टि— महार्थमञ्जरी में आचार्य महेश्वरानन्द ने कहा है कि 'पीठ' ही स्वशरीर है। इसी शरीररूपी पीठ में परमशिव का निवास है। इस पीठ में नौ कलायें या नौ शक्तियाँ हैं। इसमें पञ्चवाह शक्तियाँ हैं। भाल-नेत्र में सत्रह कलायें हैं। दाहिने नेत्र में बारह एवं बायें नेत्र में सोलह कलायें या शक्तियाँ हैं—

पीठे कला नव पञ्चैव पञ्चवाहपदव्याम्।
सप्तदश कालनेत्रे द्वादश षोडश चान्यनेत्रयोः।।

शरीर ही 'महापीठ' है। इसीलिये महेश्वरानन्द कहते हैं कि श्रीपीठ, पञ्चवाह, नेत्र-त्रय एवं वृन्दचक्र— इन सभी चक्रों का चिन्तन करना चाहिये— 'श्रीपीठपञ्चवाहनेत्रत्रय-वृन्दचक्राणि स्मरत' (३६)। महेश्वरानन्दनाथ चौतीसवीं गाथा में कहते हैं—

अण्डमये निजपिण्डे पीठे स्फुरन्ति करणदेव्यः।
प्रस्फुरति च परमशिवो ज्ञाननिधिस्तासां मध्ये।।

अर्थात् अण्डमय स्वशरीररूप पीठ में इन्द्रियों की शक्तियाँ स्फुरित होती हैं और उनके मध्य में शक्तिमान ज्ञाननिधि (प्रमाता) परमशिव ही अभिव्यक्त या इन्द्रियों के

१. तन्त्रचूड़ामणि   २. बृहत्तन्त्रसार

प्रति अपनी शक्तिमत्ता प्रकट करते हुये प्रकाशित रहता है। व्यष्टिपिण्ड पृथिवी आदि पञ्चभूत विश्ववैचित्र्य ही 'अण्ड' है। अण्ड एवं पिण्ड में एकता है। ३६ तत्त्वों वाले अण्ड-रूप विश्व-वैचित्र्य में परमशिव अपनी शक्तिमत्ता प्रकाशित करता है। स्वशरीर उसका स्थान है और स्वात्मरूप परमेश्वर ही 'अन्तश्चक्रदेवता' है; किन्तु करण शक्तियाँ 'आवरणदेवता' हैं।

महेश्वरानन्द परिमल में कहते हैं कि 'पीठं हि नाम स्वशरीरभट्टारकमित्युक्तम्, तत्रैव परमेश्वरस्य पञ्चधा वहनात्।'

परमेश्वर की स्फुरण-धारायें (पाँच महाशक्तियाँ) ही पञ्चवाह हैं। परमेश्वर की पञ्च कलायें ही 'पञ्चवाह' हैं। ये ही हैं— व्योमवामेश्वरी, खेचरी, दिक्चरी, गोचरी और भूचरी। ये ही शक्तियाँ चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया हैं। ये ही सूक्ष्मा, परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी भी हैं।

व्योम = व्योमवामेश्वरी, चिच्छक्ति।
खेचरी = बोधरूपा, नादात्मिका।
दिक्चरी = अन्त:करणरूपी दिशाओं में सञ्चरणकारिणी, इच्छामयी, आनन्दशक्ति।
गोचरी = मन्त्रमयी शक्ति, बाह्येन्द्रियों में सञ्चरण करने वाली। यह ज्ञानमयी है।
भूचरी = विषयभूमि में सञ्चार करने वाली और क्रियामयी है।

'श्रीमहानयप्रकाश' में कहा गया है—

शिवशक्त्युभयोन्मेषसामरस्योद्भवं महत्।
वीर्यं तस्माद्देह एव महापीठ: समुद्गत:।।

'षट्कोणं यच्छरीरं संवित्पीठं त्रिकोणसाम्यं तत्' कहकर शरीर को ही 'पीठ' के रूप में स्वीकार किया गया है— 'स्वशरीरस्यैव पीठतयोपासनं प्राक्कर्तव्यम्' (परिमल)।

पीठ— शिव एवं शक्ति दोनों के उन्मेष-सामरस्य से 'पीठ' आविर्भूत होता है। देह ही महापीठ है। पीठोपासना भगवती की ही उपासना है।

पीठन्यास तत्त्व— शरीर के समस्त अंगों को देवी का पीठ मानकर (या आसन के रूप में कल्पित करके) साधक अपनी सम्पूर्ण सत्ता को (अपने को) देवीमय मानकर 'साऽहम्' (मैं वही देवी हूँ, जिसकी मैं आराधना करता हूँ) की भावना के साथ देवी के साथ पूर्ण तादात्म्यभाव स्थापित करे। यही पीठन्यास का निहितार्थ है—

ज्ञानात्मानं प्रविन्यस्य न्यसेत्पीठमनुत्तमम्।
एवं देहमये पीठे चिन्तयेदिष्टदेवताम्।।

अपने स्थूल देह को चिन्मय रूप में कल्पित करके पीठन्यास एवं मन्त्रविन्यास करना चाहिये। इस प्रकार के देहमय पीठ में ही अपने इष्टदेव का ध्यान करना चाहिये। इसी प्रकार मूलाधार चक्र को कामरूप पीठ मानकर वहाँ देवी कामाख्या एवं उमानन्द भैरव की पूजा करनी चाहिये। इसी प्रकार सभी चक्रों में देवी एवं भैरव उपास्य होते हैं।

पीठ की उत्त्पत्ति— महर्षि अङ्गिरा 'दैवी मीमांसादर्शन' के स्थितिपाद में कहते हैं कि पीठ का उदय प्राणमय कोष में होता है—

'पीठस्याविर्भाव: प्राणमये।' (स्थितिपाद-१.१६)

सूक्ष्म दैवीराज्य → स्थूल मृत्युलोक का सञ्चालन।

दैवी शक्तियों का स्थूल जगत् में प्राकट्य कैसे हो? पञ्च कोषों में से अन्तमय कोष ही 'स्थूल प्रपञ्च' है। अन्य कोषों का सम्बन्ध दैवी राज्य से भी है। मृत्यूपरान्त प्राणमय कोष मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष एवं आनन्दमय कोष को लेकर लोकान्तर में चला जाता है और अन्नमय कोषस्वरूप मृत देह यहीं पड़ा रह जाता है। प्राणमय कोष ही स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों देहों में सम्बन्ध स्थापित करता है। प्राणमय कोष ही स्थूल मृत्युलोक एवं सूक्ष्म दैवी लोक के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। समष्टि ब्रह्माण्ड और व्यष्टि पिण्ड— इन दोनों में परिव्याप्त प्राण में पीठ का आविर्भाव होता है।

प्राणमय कोष की सहायता से ही दैवी शक्ति के विकासक या देवों के आसन के लिये उपयोगी जो आवर्त बनता है, उसे ही 'पीठ' कहते हैं—

देव्या: शक्तेर्विकासस्य देवानामासनस्य वा।
उपयोगी जायतेऽसावावर्त्त: पीठ उच्यते।।

भगवान् सूर्य कहते हैं कि सूक्ष्म दिव्यलोक के साथ स्थूललोक का सम्बन्धस्थापन करने वाला प्राणमय कोष है। यदि कोई प्राणमय कोष में पीठस्थापन कर सके तो मेरी दैवी शक्ति का अनुभव कर सकता है—

सूक्ष्मेण दिव्यलोकेन स्थूललोकस्य देहिन:।
सम्बन्धकारको ज्ञेय: कोश: प्राणमयश्चर:।।

यदि प्राणमये कोशे पीठं स्थापयितुं क्षम:।
कथञ्चित् स हि मे शक्तिं दैवीमनुभवत्यसौ।।

पीठ : देवयोनियों का अधिष्ठान— प्राणमय कोष में पीठोत्पत्ति हो जाने पर वही पीठ देवयोनियों का अधिष्ठान बन जाता है। पीठ पर सभी प्रकार की देवयोनियाँ आकर अधिष्ठित होती हैं। देवयोनि में वसु, रुद्र, इन्द्र, ऋषि, पितृगण, प्रेत आदि सभी आते हैं। श्राद्धादि पीठ की सहायता से ही किये जाते हैं। उपासनाकाण्ड का भी पीठ से उतना ही सघन सम्बन्ध है। 'तदधिष्ठानं देवयोने:' (१.१७) कहकर अंगिरा ऋषि ने 'पीठ देवयोनि का अधिष्ठान स्थान है' इसी तथ्य की पुष्टि की है।

पीठ के आविर्भाव की पद्धति— महर्षि अंगिरा कहते हैं कि दोनों शक्तियों के समन्वय से पीठ का आविर्भाव होता है (तदाविर्भाव: शक्तयो: साम्यात्-१.१८)। संसार में दो शक्तियों का प्राधान्य है और उनका परस्पर संघर्ष भी है। वे हैं— आकर्षण शक्ति एवं विकर्षण शक्ति। अन्तर्जगत् में भी राग एवं द्वेष— इन्हीं के प्रतिनिधि हैं।

आकर्षण रजोमूलक है और राग भी रजोमूलक है। विकर्षण तमोमूलक है और द्वेष भी तमोमूलक है। राग एवं द्वेष का समन्वय → सत्त्वगुणमूलक तत्त्वज्ञान का उदय। प्राणमय जगत् में आकर्षण एवं विकर्षण का समन्वय → सत्त्वगुणमूलक एवं देवाधिष्ठानरूपी पीठ का आविर्भाव।

पीठों के प्रकार— 'स्मृतिशास्त्र' के अनुसार पीठोत्पादन की स्वाभाविक या अस्वाभाविक कौशलपूर्ण क्रिया का नाम ही 'चक्र' है। पीठ चार प्रकार के होते हैं— स्थावर पीठ; यथा— तीर्थादिक, सहज पीठ; यथा— नर-नारी के संगम में उत्पन्न, दैवी पीठ; यथा— इन्द्रलोक आदि एवं यौगिक पीठ; यथा— भगवद्विग्रह एवं यन्त्रादि में उत्पन्न।

पीठ शुद्धि और उसके उपाय— पवित्र तत्त्वज्ञान के यथाक्रम विकास से पीठ की आध्यात्मिक शुद्धि सम्पादित होती है। पीठ शुद्धि → सायुज्य। पीठशुद्धि के कारक हैं— तत्त्वज्ञान, देशशुद्धि, कालशुद्धि, मनःशुद्धि, क्रियाशुद्धि एवं द्रव्यशुद्धि।

जहाँ कहीं भी आकर्षण एवं विकर्षण शक्तिरूपिणी परस्पर द्वन्द्व शक्तियों का समन्वय या तो अपने-आप होता है या सुकौशलपूर्ण क्रिया से उत्पन्न किया जाता है, वहीं पीठ उत्पन्न हो जाता है।

पृथिवी चाहे सूर्यादि ग्रहों का पीठ हो, चाहे तीर्थादि का पीठ हो, चाहे स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का पीठ हो, चाहे मूर्ति-यन्त्र-चित्र आदि में उपासनापीठ हो; इन सबमें ही उन्हीं आकर्षण एवं विकर्षण शक्तियों के समन्वय से ही अलौकिक पीठ का आविर्भाव होता है। आकर्षण-विकर्षणरूपी द्वन्द्व शक्तियों के समन्वय से प्राणकोष में पीठ का आविर्भाव होता है।

जिस पीठ में प्रेत, तामसिक असुर आदि दैवी शक्तियों का आविर्भाव होता है, उस पीठ में देवताओं का आविर्भाव नहीं हुआ करता। प्रेत, पितृ, ऋषि, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, पिशाच आदि सभी देवयोनियाँ हैं।

आकर्षण अपनी ओर खींचता है। विकर्षण अपने से दूसरी ओर धक्का देकर उसे दूर करती है; यथा— प्राण एवं अपान वायु। परमाणु भी आकृष्ट होकर सृष्टि करते हैं; किन्तु विकर्षित होकर प्रलय करते हैं। इसीलिये आकर्षण एवं विकर्षण शक्तियों को रजस्तमोमूलक कहा गया है— 'ते नु रजस्तमोमूले' (१.१९)।

पीठ सत्त्वमूलक होने पर ही आनन्दप्रद होते हैं— 'पीठमानन्दप्रदं सत्त्वप्राधान्यात्' (१.१०)।

पञ्चधा पीठ— सृष्टि के पञ्चधा होने से पीठ भी पाँच प्रकार के होते हैं— 'तत् पञ्चविधं सृष्टेः पञ्चविधत्वात् (१.२१)। ये पाँच भेद हैं— उपासना पीठ, पार्थिव पीठ, जीवयान्त्रिक पीठ, स्थूल यान्त्रिक पीठ एवं, सहज पीठ। इनमें से उपासना पीठ के सोलह भेद होते हैं। पार्थिव पीठ के देवमन्दिर, तीर्थ, उपास्य नदी, पर्वत, उपासना

मन्दिर आदि भेद होते हैं। जीवयान्त्रिक पीठ के तीन भेद होते हैं— कुमारीपूजा, बटुकपूजा एवं शवसाधन। सहजपीठ के दो भेद होते हैं— नर-नारी-संगम के समय पीठोत्पत्ति एवं सूर्य-चन्द्र-पृथिवी आदि ग्रहों का ग्रहपीठ। कहा भी गया है—

पीठमुत्पद्यते तस्मिन् कोशे तत्र प्रतिष्ठिते।
आविर्भवन्ति ये सर्वा शक्तयस्तत्र निश्चितम्।।

पीठतत्त्व का रहस्य

सामान्यत: जाग्रत एवं शक्ति-सम्पन्न स्थानों को 'पीठ' कहते हैं। सारे भारत में इक्यावन प्रसिद्ध देवीपीठ हैं। तन्त्रपीठ, विद्यापीठ एवं मन्त्रपीठ आदि का भी शास्त्रों में उल्लेख है। कामरूप, जालन्धर, पूर्णगिरि एवं उड्डीयान— ये चार पीठ प्रख्यात हैं। कामरूप पीठ से मत्स्येन्द्रनाथ एवं जालन्धर पीठ से शम्भुनाथ (अभिनवगुप्त के गुरु) सम्बद्ध थे।

कामरूप पीठ— जब परा शक्ति आत्मगर्भस्थ एवं अपने साथ एकीभूत विश्व को (प्रकाश को) देखने हेतु उन्मुख होती है, तब मात्रावच्छिन्न शक्ति एवं शिव साम्य-भावापन्न होकर एक बिन्दु के रूप में परिणत हो जाते हैं और इसके परिणामस्वरूप चैतन्य प्रतिफलित होकर ज्योतिर्लिङ्गरूप में व्यक्त हो उठता है। इसे ही तान्त्रिक शब्दा-वली में 'कामरूप पीठ' कहा जाता है और इस पीठ में अभिव्यक्त चैतन्य को ही 'स्वयम्भू लिङ्ग' कहा जाता है। यह शक्तिपीठ एक मात्रा शक्त्यंश एवं एक मात्रा शिवांश को सम-भाव में लेकर संघटित हुआ है। शक्ति एवं शिव के इस अंशद्वय को 'शान्ता शक्ति' एवं 'अम्बिका शक्ति' कहा जाता है।

इस 'कामरूप' नामक पीठ में महाशक्ति की अभिव्यक्ति 'परा वाक्' के नाम से है। शब्दराज्य का प्रारम्भ यहीं से होता है। यही ॐकार का चरम रूप या वेद का यथार्थ (तात्त्विक) स्वरूप है।

पूर्णगिरि पीठ— इसके अनन्तर ही 'शान्ता शक्ति' इच्छा के रूप में, शिवांश अम्बिका शक्ति 'वामा शक्ति' के रूप में आविर्भूत होती है। इन दोनों शक्तियों की पारस्परिक विषमता का निवारण होने पर जिस अद्वैत सामरस्य बिन्दु का आविर्भाव होता है, उससे उसके अनुरूप चैतन्य का स्फुरण होता है। इस बिन्दु को 'पूर्णगिरि पीठ' कहते हैं। यही 'पश्यन्ती वाक्' की अवस्था है।

परा शक्ति आत्मगर्भ में स्थित विश्वशिशु को कामरूप पीठ (या शब्द की प्रथम भूमि) में नित्य वर्तमान रूप में देखती है। इस स्तर पर अतीत एवं अनागत, निकट एवं विप्रकृष्ट का भेद नहीं है। यहाँ कार्य-कारणभाव भी नहीं है। यह नित्य मण्डल विक्षोभ, चाञ्चल्य एवं आवरण से शून्य है। यह शान्तिमय अवस्था है।

इसके अनन्तर इच्छाशक्ति के उन्मेष के साथ ही साथ शब्द के द्वितीय स्तर में सृष्टि का विकास होता है। इसे 'नित्यमण्डल' कहते हैं, जो कि शक्ति के गर्भ में स्थित बीज-

स्वरूप विश्व है। इस बीजभूत विश्व की इच्छाशक्ति के प्रभाव से जब शक्ति के गर्भ में एकदेश से सृष्टि होती है, तभी उसे 'सृष्टि' कहा जाता है। यहीं से काल का प्रभाव प्रारम्भ हो जाता है। यहीं से कार्य-कारणभाव भी प्रारम्भ हो जाता है।

जालन्धर पीठ— इसकी परावस्था में इच्छाशक्ति के उपराम होने पर 'ज्ञानशक्ति' का उन्मेष होता है। वहीं शिवांश ज्येष्ठा शक्ति के साथ अद्वैतभावापन्न होकर एक नव्य सामरस्य बिन्दु की सृष्टि करता है, जिसे 'जालन्धर पीठ' कहते हैं। इस सामरस्य बिन्दु से अभिव्यक्त चैतन्य 'इतर लिङ्ग' कहलाता है। शक्ति के इसी स्तर पर 'मध्यमा वाक्' का आविर्भाव होता है।

इसका प्रभाव यह है कि इस स्तर पर संसृष्ट जगत् तत्तद्भाव में स्थित है। स्थिति शक्ति के क्षीण होने पर आन्तर आकर्षण की तीव्रतावश संहार शक्ति की क्रिया आरम्भ होती है।

सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् की दृष्टि— चक्र एवं पीठ— 'कामरूप पीठ'।

आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिरावृत्तं भङ्गिमण्डलाकारं तत्र मूलकन्दे शक्तिः पावकाकारं ध्यायेत्, तत्रैव कामरूपपीठं सर्वकामप्रदं भवति इत्याधारचक्रम्।

'उड्यान पीठ'—

द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रं षड्दलं तन्मध्ये पश्चिमाभिमुख्यं लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसदृशं ध्यायेत्, तत्रैवोड्याणपीठं जगदाकर्षणसिद्धिदं भवति।

'पूर्णगिरि पीठ'—

नवममाकाशचक्रं तत्र षोडशदलपद्ममूर्ध्वमुखं तन्मध्यकर्णिकात्रिकूटाकारं तन्मध्ये ऊर्ध्वशक्तितां परशून्यं ध्यायेत्, तत्रैव पूर्णगिरिपीठं सर्वेच्छासिद्धिसाधनं भवति।

चक्र	**पीठ**	
१. आधार चक्र	कामरूप पीठ।	पीठत्रय (सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्)
२. स्वाधिष्ठान चक्र	उड्याण पीठ।	
३. आकाश चक्र	पूर्णगिरि पीठ।	

योगमार्तण्ड की दृष्टि— योगमार्तण्ड में गोरक्षनाथ कहते हैं कि आधारचक्र एवं स्वाधिष्ठान चक्र के मध्य जो योनिस्थान है, उसमें ही कामरूप है। उसके मध्य में योनि (त्रिकोणाकार सुषुम्नामुखी योनि) है। इसे ही सिद्धों ने वन्दनीय 'कामाक्षा पीठ' कहा है—

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्।
योनिस्थाने तयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते।।

आधाराख्ये गुदास्थाने पङ्कजे यच्चतुर्दलम्।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दितः।। (गोरक्षशतक)

'कामाख्या योनि' के मध्य में पश्चिमाभिमुख महालिङ्ग स्थित है। उसके मस्तक में मणिवत् प्रदीप्त बिम्ब है—

योनिमध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम्।

सिद्धसिद्धान्तपद्धति की दृष्टि— सिद्धसिद्धान्तपद्धति में कहा गया है कि मूलाधार में तीन बार गोल आकार में चारो ओर लिपटा हुआ त्रिकोण भगमण्डल के समान 'ब्रह्मचक्र' है। वहीं मूलकन्द है। वहीं अग्नि के आकार वाली शक्ति का ध्यान करना चाहिये। वहीं 'कामरूप पीठ' है, जिसके ध्यानमात्र से समस्त कामनाओं की सिद्धि होती है— 'तत्रैव कामरूपपीठं सर्वसर्वकामप्रदं भवति।'

द्वितीय 'स्वाधिष्ठान चक्र' है। उसके मध्य में पीछे की ओर मुख वाला (पश्चिमाभिमुख) प्रवालाङ्कुर के अग्र भाग के सदृश शिवलिङ्ग है। उसका ध्यान करना चाहिये। यहीं 'उड्डीयान पीठ' भी है। इस लिङ्ग का ध्यान करने से समस्त जगत् साधक की ओर खिंचकर चला आता है— 'तत्रैवोड्डीयानपीठं जगदाकर्षणं भवति।'

नवम आकाशचक्र है। (सहस्रार के ऊर्ध्व भाग में) एक ऊर्ध्वमुख सोलह दलों का पद्म है। उसकी कर्णिका में त्रिकूटाकार (त्रिकोणाकार) ऊर्ध्वमुखी शक्ति है। वह सच्चिदानन्दस्वरूपा निराकार शक्ति है और 'परम शून्य' है। इसका ध्यान करना चाहिये। यहीं 'पूर्णगिरि पीठ' है। यह समस्त पदार्थों से परिपूर्ण है। यहाँ समस्त सङ्कल्पों की सिद्धि होती है। इस पूर्णगिरि पीठ वाले आकाशचक्र का ध्यान करने से संसारजन्य भय की निवृत्ति हो जाती है और समस्त प्राणी वशीभूत हो जाते हैं— 'पूर्णगिरिपीठे सर्वेच्छासिद्धिर्भवति।'

१. चतुरस्र कामरूप पीठ	: भूतत्त्व	: भूमण्डल।	दीपिका
२. षड्बिन्दुयुक्त पूर्णगिरिपीठ	: वायुतत्त्व	: वायुमण्डल।	
३. अर्धचन्द्ररूप जालन्धर पीठ	: जलतत्त्व	: जलमण्डल।	
४. त्रिकोण ओड्याण पीठ	: तेजस् तत्त्व	: अग्निमण्डल।	

उड्डीयान पीठ— संहारशक्ति की क्रिया के आरम्भ होने की ही अवस्था में ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति के रूप में परिणत हो जाती है और शिवांश 'रौद्री शक्ति' के साथ साम्यभाव प्राप्त करती है। इसी को 'उड्डीयान पीठ' कहते हैं। इस बिन्दु से चित् शक्ति महातेजसम्पन्न 'परलिङ्ग' के रूप में अभिव्यक्त होती है। यही स्तर शब्द की 'वैखरी' नामक चतुर्थ भूमिका है। इसी वैखरी भूमि में क्षयिष्णु एवं नश्वर जगत् विद्यमान है।

वाक्तत्त्व और महात्रिकोण (शब्दत्रय)— प्रणव के अकार, उकार एवं मकार पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी वाक् हैं। परा वाक् → १. पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी। २. ब्रह्मा-विष्णु-महेश। ३. भूलोक-पाताललोक-स्वर्गलोक (लोकत्रय)। ४. भूत-वर्तमान-भविष्य (त्रिकाल)। 'परा वाक्' (तुरीय वाक्) ही सृष्टि का मूल है।

बिन्दुगर्भित 'महात्रिकोण' (विश्व-ब्रह्माण्ड का मूल उत्स) की तीन रेखायें पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी ही हैं।

महात्रिकोण की तीन रेखायें— १. पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी, २. सृष्टि-स्थिति-संहार (व्यापारत्रय), ३. वामा-ज्येष्ठा-रौद्री क्रिया, ४. ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र (शिवांशत्रय), ५. इच्छा-ज्ञान-क्रिया (शक्त्यंश)। इस 'महात्रिकोण' का मध्य बिन्दु 'परा वाक्' है। यह 'अम्बिका' एवं 'शान्ता'— इन दो शिवांश-शक्त्यंश का साम्याभावापन्न स्वरूप है। बिन्दु में शिव-शक्ति दोनों अंश है और त्रिकोण में भी दोनों है; फिर भी 'बिन्दु' प्रधानतया 'शिव' रूप में परिणत हो जाता है।

उड्डीयान, जालन्धर, पूर्णगिरि एवं कामरूप में परमात्मा अपने चरम कर्तव्यों की अभिव्यक्ति करता है; इसीलिये ये 'पीठ' कहलाते हैं।

प्राचीन काल में ये पीठ विद्याकेन्द्र माने जाते थे। 'श्रीशैल' या 'श्रीपर्वत' भी प्रधान पीठ था। नागार्जुन अन्तिम काल में यहीं से तिरोहित हुये थे। इन पीठों में तान्त्रिक साधना, प्रत्यक्षानुभव की शिक्षा दी जाती थी। नालन्दा, विक्रमशिला, उदन्तपुरी आदि शिक्षण केन्द्रों में भी इन पीठों का अनुकरण किया गया था।

अम्बिका और शान्ता शक्तियों की जहाँ समरसता है, वह 'प्रधान पीठ' है, वहाँ अलिङ्ग-अव्यक्त महाप्रकाश परम ज्योतिरूप में अभिव्यक्त होता है। इस पीठ का नाम है— 'परा वाक्'। जहाँ इच्छा, ज्ञान और क्रिया तथा वामा, ज्येष्ठा एवं रौद्री का सामरस्य हुआ है। वे स्थान भी 'पीठों' के रूप में परिणत हुये हैं।

तन्त्राम्नाय-सम्बद्ध पीठचतुष्टय— डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने Studies in Tantras नामक अपने ग्रन्थ में 'ब्रह्मयामल' के 'श्रोतोनिर्णय' नामक उन्तालीसवें पटल के आधार पर निम्न चार पीठों को प्रस्तुत किया है—

१. विद्यापीठ— भैरवाष्टक, यामलाष्टक विद्यापीठ से उद्भूत हुये।[1] 'जयद्रथयामल' भी इसी पीठ से सम्बद्ध था। योगिनीजाल, योगिनीहृदय, मन्त्रमालिनी, अघोरेशी, क्रीडाघोरेश्वरी, अघोरेश्वरी, लाकिनीकल्प, मारीचि, महामारी उग्रविद्या, गणतन्त्र भी विद्यापीठ से सम्बद्ध थे।

२. मन्त्रपीठ[2]— स्वच्छन्दभैरवश्चण्ड: क्रोध: उन्मत्तभैरव:।
ग्रन्थान्तराणि चत्वारि मन्त्रपीठं वरानने।।

३. मुद्रापीठ— वीरभैरव, चण्डभैरव, गुडकाभैरव, महाभैरव, महावीरेशा मुद्रापीठ से सम्बद्ध थे।

४. मण्डल पीठ।

'स्वच्छन्दतन्त्र' में भी चार पीठों का उल्लेख किया गया है—

चतुष्पीठं महातन्त्रं चतुष्टयकलोदयम्।

'स्वच्छन्दोद्योत' आचार्य क्षेमराज ने 'सर्ववीरवचन' का एक उद्धरण दिया है,

---

१. ब्रह्मयामल २. स्वच्छन्दतन्त्र

जिसके अनुसार भी मुद्रा, मण्डल, मन्त्र एवं विद्यापीठ है—

मुद्रामण्डलपीठं तु मन्त्रपीठं तथैव च।
विद्यापीठं तथैवेह चतुष्पीठा तु संहिता।।

'अर्थरत्नावली' में सङ्केतपद्धति का एक उद्धरण दिया गया है। उसके अनुसार तो ये पीठ इस प्रकार हैं— ओड्याण = आज्ञापीठ, पूर्णगिरि = मन्त्रपीठ, जालन्धर = विद्यापीठ, कामरूप पीठ = मुद्रापीठ।

इसमें ओड्याणादिक को आज्ञा, मन्त्रादिक पीठ कहा गया है। विभिन्न तान्त्रिक ग्रन्थों को अनेक विभागों में विभाजित करके उन उन विभागों या तन्त्रसमूहों के विशिष्ट वर्गों को किसी एक विशिष्ट पीठ से उत्पन्न बताया गया है और ये पीठ ही तन्त्रों के उस विशिष्ट समुदाय के उद्भावक स्वीकार किये गये हैं। यहाँ 'पीठ' का अर्थ हुआ— तन्त्रग्रन्थों के विशिष्ट समूहों के उद्भावक। इसके अनुसार तो समस्त तन्त्र-संहिता ही 'चतुष्पीठात्मक' है। महार्थमञ्जरी की 'परिमल' नामक व्याख्या में कहा गया है—

विद्येति मातृकापीठं तत्पार्थिवमुदाहृतम्।
मण्डलं कुण्डलीपीठन्तदाप्यं परिकीर्तितम्।।

मन्त्रसंज्ञं क्रियापीठन्तैजसं तत्प्रकीर्तितम्।
ज्ञानपीठं तु मुद्राख्यं तद्वायव्यं सुरेश्वरि।

परेच्छामुखतो व्योमपीठत्वेनेह नादृतम्।।

विद्या, मन्त्र, ज्ञानादिक पीठ—

विद्यापीठ— मातृका पीठ एवं पार्थिव पीठ।
मण्डलपीठ— कुण्डली पीठ एवं जलीय पीठ।
मन्त्रपीठ— क्रियापीठ एवं तैजस पीठ।
ज्ञानपीठ— मुद्रापीठ एवं वायव्य पीठ।

तन्त्रालोक की टीका 'विवेक' में जयरथ कहते हैं— 'इह विद्यामन्त्रमुद्रामण्डलात्मतया चतुष्पीठं तावच्छास्त्रम्। तस्य मन्त्रमुद्रात्मनः पीठद्वयस्य सम्प्रदाय उक्तः। इदानीमत्रैवावशिष्टस्य विद्यामण्डलात्मनोऽप्यस्य सम्प्रदायं निरूपयति।'

ज्ञान, क्रिया, चर्या एवं प्रयोग तथा दक्ष, वाम, कौल आदि आगम विद्या, मन्त्र, मुद्रा, मण्डल के वाचक तो नहीं है? पीठचतुष्टयात्मकता की पुष्टि इस श्लोक से भी होती है—

विद्यापीठप्रधानं च सिद्धयोगीश्वरीमतम्।
तस्यापि परमं सारं मालिनीविजयोत्तरम्।। (३७.२४-२५)

आगमशास्त्र के स्रोतोविभाग एवं पीठविभाग दोनों हैं।

नित्याषोडशिकार्णव की दृष्टि— नित्याषोडशिकार्णव के प्रथम पटल के बारहवें

श्लोक में कहा गया है— 'कामपूर्णजकाराख्यश्रीपीठान्तर्निवासिनीम्।' कामरूपपीठ, पूर्णगिरिपीठ, जालन्धरपीठ एवं ओड्याणपीठ। शिवानन्द 'ऋजुविमर्शिनी' में कहते हैं कि ये पीठ जगत् के आधारभूत महाभूत चतुष्टयात्मक हैं अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु से सम्बद्ध हैं— 'तच्च पीठचतुष्टयमनिलानलसलिलपृथ्वीमयं समस्तजगदाधारभूतम्।' ये पीठ हैं क्या? शिवानन्द कहते हैं— 'पीठानि महासंविदुपलब्धिस्थानानि, तेषामन्तर्वासिनीं तत्तत्पीठनायिकां महासंविदं त्रिपुरानामधेयां ताम्।'

शिवानन्द के अनुसार 'पीठ' महासंविद् की उपलब्धि के स्थान हैं। इन पीठों में सम्बद्ध पीठनायिकायें रहती हैं; जो कि 'त्रिपुरा' कहलाती हैं। शास्त्रों में यागयोग्य स्थानों को 'पीठ' कहा गया है। इनके दो भेद हैं— बाह्य और आभ्यन्तर।

भगवान् शिव की इच्छाशक्ति भी पीठ कही गई है। समस्त जगत् का आधार होने के कारण उनका 'पीठ' कहा जाना उचित भी है। शक्तिपीठ से बिन्दुपीठ एवं नादपीठ आविर्भूत हुये।

सारांश यह कि मुख्य पीठ तीन हैं— शक्तिपीठ, बिन्दुपीठ एवं नादपीठ। इनमें से शक्तिपीठ कामरूप प्रथम पीठ है, जिसे 'कामरूपपीठ' कहा जाता है। बिन्दुपीठ वाम भाग (उत्तर भाग) में स्थित है और इसे 'उड्डीयानपीठ' कहा जाता है। नादपीठ दक्षिण भाग में स्थित है और इसे ही 'पूर्णगिरिपीठ' कहते हैं।

क. शक्तिपीठ से कौण्डलीपद के मध्य में शाक्त।

ख. बिन्दुपीठ से चतुष्कलमगोलकं बैन्दव।

ग. नादज = व्याप्ति से नीचे द्विरन्ध्र से ऊर्ध्व।

शाक्त = देवीकोट्ट, बैन्दव = उज्जयिनी, नादज = कुलगिरि (उपपीठ), ललनागर्तवर्ती = शाक्त, पुरमध्य में बैन्दव, व्याप्ति के मध्य में नादज, ललना में पुण्ड्रवर्धन।

देह के बाहर स्थित पीठ— पुटमध्य में वारेन्द्र, व्याप्ति-मध्य में चैकाम्रसन्दोह, हृदम्भोज में दलाष्टक = क्षेत्राष्टक— प्रयाग, वरणा, अट्टहास, जयन्तिका, वाराणसी, कालिङ्ग, कुलूता एवं लाहुला।

हृत्कमल के अष्टदलों के अग्राष्टक = उपक्षेत्राष्टक— विरजा, ऐरुडिका, हाला, एलापूः, क्षीरिका, राजपुरी, मायापुरी, मरुदेश।

हृत्पद्मदल की सन्धियों में स्थित उपसन्दोहाष्टक— जालन्धर, नैपाल, कश्मीर, गर्गिका, हरम्लेच्छद्विग्वारवृत्ति कुरुक्षेत्र एवं खेटक।

देह के भीतर स्थित पीठ— देह में द्विपथ, त्रिपथ, चतुष्पथ के भेद से इनकी संख्या परिगणित की गई है।

१. वाम एवं दक्षिण भागों में स्थित नाडियों का वाह प्रथम।

२. परा शक्ति के साथ मेलन करने से द्वितीय।

३. शक्तिमान के लय से तृतीय।

चतुष्पथ = स्थानचतुष्टय, व्याप्ति के नीचे पिण्डस्थान में प्रथम, तालुमध्य में— द्वितीय, चूलिकाग्र में तृतीय और भ्रूमध्य में चतुर्थ। इनमें आणव, शाक्त एवं शाम्भव भेद भी हैं। यथा—

१. शाम्भव धाम : नासान्त-तालु-चूलिकाग्र : ३ स्थान।

२. शाक्त धाम : नाभि-कन्द-महानन्दा : ३ स्थान।

३. आणव धाम : भ्रूमध्य-कण्ठ-हृदय : ३ स्थान। ९ धाम

संवित्ति = सारे धामों का केन्द्र, सारे पीठों का केन्द्र। संविद → संविद् का परिणमन प्राण के रूप में होता है और इस रूप में वह समस्त शरीर में प्रतिष्ठित है।

योगी लोग शरीर से बाहर उन-उन विशिष्ट स्थानों में (अनुग्रह की आकांक्षा से) संविद् देवी की अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं और वे-वे स्थान 'बाह्य पीठ' कहलाते हैं।

पीठ-उपपीठ-सन्दोह के रूप में त्रिक। क्षेत्र-उपक्षेत्र-सन्दोह के रूप में पीठों के अतिरिक्त भी पीठ हैं, जो तैंतीस की संख्या में हैं। अर्धपीठ भी हैं।

तन्त्रालोक में पीठों के नाम एवं उनके स्थान शरीर के भीतर ही बताये गये हैं; यथा— शिखास्थान में अट्टहास, ब्रह्मविल में चरित्र, कानों में कौलगिरि, नासारन्ध्रों में जयन्तिका, भ्रुवद्वय में उज्जयिनी, मुख में प्रयाग, स्कन्धों में वाराणसी, ग्रीवा में विरजश्री पीठ, कन्द में गोश्रुति, उपस्थ में मरुकोश आदि।[1]

'माधवकुलग्रन्थ' में भी पीठों का विवेचन किया गया है। बौद्धों के 'हेवज्रतन्त्र' में जालन्धर, ओड्डियान, पौर्णगिरि, कामरूप पीठों के अलावा मालव, सिन्धुनगर, देवि-कोट, कर्मारपाटक, कुलटा, अर्बुद, गोदावरी, हिमाद्रि, हरिकेल, लवणसागर आदि उप-पीठों, क्षेत्रों एवं उपक्षेत्रों का भी वर्णन किया है।

तन्त्रालोक में भी पीठ, उपपीठ, क्षेत्र, उपक्षेत्र, सन्दोह, उपसन्दोह आदि का वर्णन किया गया है। 'क्षेत्र' क्या है? 'क्षेत्र मेलापस्थानम्' (जयरथ—तन्त्रालोक : आह्निक-४)। मेला-पक एवं उपमेलापकों का भी वर्णन किया गया है।

तन्त्रालोक एवं कौलज्ञाननिर्णय में पीठत्रय का वर्णन तो है, किन्तु उसमें जालन्धर पीठ को गणना में नहीं लिया गया है। हेवज्रतन्त्र के पीठचतुष्टय में इसको परिगणित किया गया है। सम्भवत: जालन्धर पीठ पश्चाद्वर्ती पीठ रहा होगा।

'साधनमाला' नामक बौद्ध तान्त्रिक ग्रन्थ में उड्डीयान, जालन्धर, कामरूप एवं श्रीहट्ट को परिगणित किया गया है। यहाँ 'उड्डीयान' को छोड़ दिया गया है।

---

१. तन्त्रालोक, आह्निक-२९

कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और उड्डीयान— ये चारों पीठ सार्वत्रिक हैं। योगिनी हृदय एवं षोडशिकार्णव में भी इनका उल्लेख है। अर्थरत्नावली में 'ओजापूकास्पर्शपीठ' नामक पाँचवें पीठ का भी उल्लेख किया गया है। अर्थरत्नावली में उद्धृत 'उत्तरषट्कशास्त्र' में इन आठ पीठों का उल्लेख है— कामरूप, कोल्लगिरि, सोपार, उड्डियान, मलयगिरि, कुलान्तक, जालन्धर और देवीकोट्टा।

योगिनीहृदय (३.३७-४३) के पीठन्यासप्रसङ्ग में तथा 'प्रपञ्चसारप्रयोगक्रमदीपिका' में योगिनीन्यासविधि के प्रसङ्ग में इक्यावन पीठों को परिगणित किया गया है। इन्हीं इक्यावन पीठों को ज्ञानार्णवतन्त्र में भी गृहीत किया गया है; किन्तु यहाँ संख्या पचास बतलाई गई है।

राघवभट्ट द्वारा शारदातिलक की टीका में आठ पीठों को उल्लिखित किया गया है और उद्धृत श्लोक में चौंसठ पीठों का उल्लेख किया गया है।

सिद्धान्तागमों में २२४ भुवनों में अट्टहास, गोकर्ण, कुरुक्षेत्र, आम्रातकेश्वर, श्रीशैल आदि पीठों का भी उल्लेख है। सम्भवतः विभिन्न तान्त्रिक सम्प्रदायों के आचार्यों के आविर्भावस्थानों को भी पीठ के रूप में परिगणित कर लिया गया हो तथा बाद में उनका माहात्म्य होते जाने से उनको विस्मृत कर दिया गया हो और उनके स्थान में शैवों, शाक्तों के अन्य तीर्थ जोड़ दिये गये हों। इस समय तो ग्रन्थोल्लिखित पीठों की सम्पूर्ण संख्या ५०० से भी अधिक दृष्टिगत होती है।

पीठचतुष्टय और उनका स्वरूप— योगिनीहृदय के चक्रसंकेत में कहा गया है कि जो मूल शक्तियाँ शिवादि भूम्यन्त नामरूपात्मक विश्व की उनके अनभिव्यक्त रूप में बीजात्मना एवं अभिव्यक्त रूप में बाह्यावभासन के रूप में प्रकाशित (व्यक्त) करती हैं, वे अम्बिकाद्य शान्ताद्य चार हैं और परस्पर सामरस्यापन्न होने पर 'का, पू, जा, ओ' (कामरूप पीठ, पूर्णगिरि पीठ, जालन्धर पीठ एवं ओड्डियाण पीठ) कहलाती हैं—

भासनाद्विश्वरूपस्य स्वरूपे बाह्यतोऽपि च।
एताश्चतस्रः शक्त्यस्तु का-पू-जा-ओ इति क्रमात्।। (१.४१)

भास्करराय सेतुबन्ध में कहते हैं कि उपर्युक्त श्लोक में 'चतस्रः' शब्द इच्छा-ज्ञान-क्रिया-शान्ता, वामा-ज्येष्ठा-रौद्री-अम्बिका, पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी-परा— इन सभी शक्तियों का बोधक है।

निष्कर्ष यह कि कामरूप पीठ, पूर्णगिरि पीठ, जालन्धर पीठ एवं उड्डीयाण पीठ उक्त समस्त शक्तियों की अभिव्यक्तियाँ हैं, मूल शक्तियों के अवतार हैं, मूल शक्तियों की रहस्यमयी अभिव्यक्तियाँ हैं।

अमृतानन्द योगी 'दीपिका' में कहते हैं कि प्रकाश एवं विमर्श से एकीभूत एवं समरसीभूत चार शक्तियाँ ही कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर एवं ओड्याण पीठ के रूप

में परिणत हो गई हैं— 'प्रकाशविमर्शात्मतया समरसीभूताः पूर्वोक्ताश्चतस्रः शक्तयः कामरूप-पूर्णगिरि-जालन्धर-ओड्याणपीठरूपेण परिणता इत्यर्थः।'

ये 'पीठ' कन्द, पद, रूप एवं रूपातीत में क्रमशः स्थित हैं। अतः 'पीठ' कन्द, पद, रूप एवं रूपातीत के भी अवतार हैं, अभिव्यक्तियाँ हैं, उनके स्वरूप हैं। योगिनी-हृदय में कहा गया है—

पीठाः कन्दे पदे रूपे रूपातीते क्रमात् स्थिताः।

कन्द = सुषुम्णा का मूल। कन्द = कन्दस्थ पिण्डाख्या कुण्डली। स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है—

नयित्वा तं सुषुम्नाधः कन्दमूले च मारुतम्।
इच्छाज्ञानक्रियारूपां कुण्डलीं परमेश्वरीम्।
प्रसुप्तभुजगाकारां मातृकारूपिणीं शिवाम्।।

'पद' = हंस, 'रूप' = बिन्दु, 'रूपातीत' = निरञ्जनतत्त्व।

पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः।
रूपं बिन्दुरिति ख्यातं रूपातीतं तु चिन्मयम्।। (स्वच्छन्दतन्त्र)

अतः अमृतानन्दनाथ स्वमत प्रकट करते हुये कहते हैं कि पीठ चार हैं— पिण्ड, पद, रूप एवं रूपातीत— 'पीठाश्चत्वारः पिण्डपदरूपरूपातीतशब्देन...........।' ये पीठ— आधार, हृदय, भ्रूमध्य एवं ब्रह्मरन्ध्र को भी लक्षित करते हैं— 'तत्स्थानान्याधारहृदयभ्रूमध्य-ब्रह्मरन्ध्राणि लक्ष्यन्ते।'

भास्करराय 'सेतुबन्ध' में इन पीठों का महाभूतों एवं चक्रों से भी सम्बन्ध जोड़कर उनका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

पीठ	पञ्चभूत	चक्र	वर्ण
१. कामरूप	पृथ्वीतत्त्व	चतुरस्र	पीत
२. पूर्णगिरि	वायुतत्त्व	षड्विन्दु-लाञ्छित (वर्तुल धूम्रवर्ण)	धूम्र
३. ओड्याण	अग्नितत्त्व	त्रिकोण (रक्तवर्ण)	रक्त
४. जालन्धर	जलतत्त्व	अर्द्धचन्द्रमय	श्वेत

'पीठाः क्षितिपवनजलाग्निमण्डलरूपाः'। (भास्करराय-सेतुबन्ध)

'पृथिवीवायुसलिलतेजसां क्रमेण पीतधूम्रश्वेतरक्तवर्णत्वात्पीठानामपि त एव वर्णाः।'
(अमृतानन्द-दीपिका)

इस प्रकार यह विवरण सेतुबन्ध एवं दीपिका में समान ही है। योगिनीहृदय के अनुसार भी इन पीठों का यही स्वरूप है—

चतुरस्रं तथा बिन्दुषट्कयुक्तं च वृत्तकम्।
अर्धचन्द्रं त्रिकोणं च रूपाण्येषां क्रमेण तु।
पीतो धूम्रस्तथा श्वेतो रक्तो रूपं च कीर्तितम्।।

इन विभिन्न पीठों में निम्न लिङ्ग प्रतिष्ठित हैं—

स्वयम्भुर्बाणलिङ्गञ्च इतरं च परं पुन:।
पीठेष्वेतानि लिङ्गानि संस्थितानि वरानने।। (योगिनीहृदय)

स्वयम्भूलिङ्ग का स्वरूप—

हेमबन्धूककुसुमशरश्चन्द्रनिभानि तु।
स्वरावृत्तं त्रिकूटञ्च महालिङ्गं स्वयम्भुवम्।।

(योगिनीहृदय-१.४५)

बाणलिङ्ग का स्वरूप—

कादितान्ताक्षरोपेतं बाणलिङ्गं त्रिकोणकम्।
कदम्बगोलकाकारं थादिशान्ताक्षरावृतम्।।

(योगिनीहृदय-१.४६)

परलिङ्ग का स्वरूप—

सूक्ष्मरूपं समस्तार्णवृत्तं परमलिङ्गकम्।
बिन्दुरूपं परानन्दकन्दं नित्यपदोदितम्।।

(योगिनीहृदय-१.४७)

'सौभाग्यसुभगोदय' में इनका स्वरूप इस प्रकार विवेचित है—

पुनरेव कामपीठे तदग्रकोणे स्थिते मनोरूपे।
प्रतिफलितं तज्ज्योति: स्वयम्भुलिङ्गं समाहितं सद्भि: ।।

दक्षिणकोणेऽहंकृतिरूपे जालन्धरे तु संक्रान्तम्।
परधामबाणलिङ्गं जातं संक्रान्त्युपाधिभेदवशात्।।

मध्यत्रिकोणकोणे वामे श्रीपूर्णपीठमेतस्मिन्।
बुद्धिमये परतेज: प्रतिफलितं त्वितरलिङ्गतां यातम्।।

चित्तमये श्रीपीठे ज्योतिर्बिन्दौ यदस्य संक्रान्तम्।
प्रतिफलितं परधाम्न: परलिङ्गं तत्प्रकीर्त्यते प्राज्ञै: ।।

योगिनीहृदय (चक्रसङ्केत) के अनुसार लिङ्गों का स्वरूप निम्नानुसार है—

स्वयम्भुर्बाणलिङ्गञ्च इतरं च परं पुन: ।
पीठेष्वेतानि लिङ्गानि संस्थितानि वरानने ।।

हेमबन्धूककुसुमशरच्चन्द्रनिभानि तु ।
स्वरावृतं त्रिकूटञ्च महालिङ्गं स्वयम्भुवम् ।।

कादितान्ताक्षरोपेतं बाणलिङ्गं त्रिकोणकम्।
कदम्बगोलकाकारं थादिशान्ताक्षरावृतम्।।

सूक्ष्मरूपं समस्तार्णवृतं परमलिङ्गकम्।
बिन्दुरूपं परानन्दकन्दं नित्यपदोदितम्।।

(योगिनीहृदय-१.४४-४७)

पीठस्थ एवं पिण्डस्थ ज्योतिर्लिङ्गों का स्वस्वरूप—

वर्ण	आकार : रूप	मातृका	लिङ्ग
हेमनिभ पीतवर्ण	बिन्दुत्रय कूटरूप (त्रिकूट)	अकारादि षोडशस्वरावृत	स्वयम्भूलिङ्ग
बन्धूक-कुसुम-सन्निभ रक्तवर्ण	त्रिकोण	कादि तान्ता-क्षरावृत	बाणलिङ्ग
शरच्चन्द्रनिभ श्वेतवर्ण	कदम्बगोलकाकार (कदम्बकुसुमगोलकरूप)	थादि शान्ता-क्षरावृत	इतरलिङ्ग
परतेजोरूप होने के कारण अवर्ण सूक्ष्म रूप अतीन्द्रियगोचर	बिन्दुरूप	समस्तार्णावृत	परलिङ्ग[१]

लिङ्ग का अर्थ क्या है? 'लीनं बाह्येन्द्रियागोचरं चिद्रूपमर्थं गमयन्तीति लिङ्गानि।' हमारी बाह्यमुखी इन्द्रियों से अगम्य एवं अतीत, चिद्रूप रहस्यात्मक अर्थों तक जो ले जाते हैं, वे गुप्त शक्तिकेन्द्र ही 'लिङ्ग' हैं। पीठों का स्वरूप क्या है? मन-बुद्धि-अहंकार-चित्त (अन्तःकरणचतुष्टय) रूप वाले कामरूप आदि गुप्त केन्द्र, जो कि चित्तस्फुरण के आधार हैं, 'पीठ' कहे जाते हैं— 'मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तात्मकानि कामरूपादीनि चित्स्फुरत्ताधारत्वात्पीठानि।'

(अमृतानन्द : दीपिका)

परलिङ्ग— जहाँ तक परलिङ्ग के स्वरूप का प्रश्न है तो उसका स्वरूप निम्न प्रकार का है—

१. यह आदि क्षान्त (क्षान्तैकपञ्चाशत्) पञ्चाशत् अक्षरों से युक्त है (५० वर्णों से आवृत्त है)।

२. यह परानन्द कन्द है (अक्षरादिरूपा पश्यन्ती आदि शाखाओं से युक्त लता का आनन्दमय कन्द है)।

३. यह नित्य पदोदित है (चूँकि मातृकायें उत्पत्ति-विनाश से रहित हैं; अतः नित्य

---

१. दीपिका (अमृतानन्द)

हैं और पदोदित हैं। विश्वमुमुक्षु मन से प्राप्य होने के कारण तथा प्रथम स्पन्द रूप वाला होने से इसे पदोदित कहा गया है। यह प्रथम स्पन्द के रूप में उदित होता है)।[१]

'लिङ्ग' का अर्थ है— चिह्न। पीठों में स्थित कामरूप, पूर्णगिरि आदि जो पीठ हैं, वे 'लिङ्ग' इसलिये कहलाते हैं; क्योंकि ये लीन अर्थों को द्योतित करते हैं और मन-बुद्धि-अहंकार-चित्त के भी द्योतक हैं। साथ ही चित्स्फुरणा के मूलाधार भी हैं— 'लिङ्गानीतिपदेन लीनमर्थं गमयतीति व्युत्पत्त्या मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तानि चित्स्फुरणाधारत्वादुच्यन्ते।'[२]

४. यह लिङ्गरूप है।

५. यह सूक्ष्मरूप है। यह लिङ्गत्रय-समष्टिरूप है।

६. यह बिन्दुरूप है, बैन्दव चक्रवासनात्मक है। यह परानन्दकन्द है, परा मातृका का सारभूत है। यह पदोदित है अर्थात् मुमुक्षुओं के चित्त से उदित होता है।

७. वस्तुत: यह 'परलिङ्ग' रूपातीत है, तथापि स्वयम्भू आदि लिङ्गों के समष्टि रूप को द्योतित करने हेतु उन लिङ्गों के साधारण आधारों में, कन्द-पद-बिन्दुओं में भी असाध्योदय है— यही कहने हेतु बिन्दु-रूपादि विशेषणत्रय का इस प्रसंग में उपयोग किया गया है।[३]

ये चारो लिङ्ग बीजत्रययुक्त तुरीय विद्या के वाच्य रूप हैं। ये शक्तिचतुष्टय, मातृका-चतुष्टय, मध्यकोणचतुष्टय एवं पीठचतुष्टय से युक्त हैं। ये (सारे) बीजत्रययुक्त सकल मन्त्र के वाग्भव, कामराज एवं शक्तिबीजसमेत समष्टि रूप वाली तुरीय विद्या के वाच्य-रूप हैं। 'विद्या' तो वाचिका है, किन्तु ये सभी वाचक हैं। अत: विद्या चतुर्मयी (चतुष्टय-रूपिणी) है; क्योंकि वाच्य एवं वाचक तो अभिन्न हैं। ये 'कुलकौलमय' हैं। 'कुल' = मेयमातृ, 'कौल' = उनकी समष्टि के रूप में स्थित।[४]

भास्करराय कहते हैं कि त्रिकोण के अग्र, दक्ष एवं वाम कोणों के मध्य में इन चारो लिङ्गों की भावना करनी चाहिये। यहीं हेमवर्ण, पीतवर्ण, बन्धुजीवपुष्पवर्ण एवं रक्त वर्ण भावनीय है। (स्वरावृत = १६ स्वरों से युक्त, त्रिकूट = शिखरत्रय की भाँति बिन्दु-त्रयात्मक कूटवत्)।

ये चारों लिङ्ग बीजत्रय, कूटत्रय से युक्त 'सकल' (त्रयोदशाक्षरयुक्त तुर्य) मन्त्र के वाच्यरूप हैं और वाच्य तथा वाचक में अभेद होने के कारण दोनों अभिन्न हैं।[५] 'सकल' शब्द का अर्थ है— पञ्चदशाक्षरी मन्त्र। प्रत्येक साधना की प्रातिस्विक तीन वासनायें होती हैं; किन्तु पञ्चदशाक्षरी-साधक की तो तीनों की समष्टिरूप एक पृथक् इकाई होने से चतुर्थी वासना भी है— ऐसा समझना चाहिये।

---

१. अमृतानन्द : दीपिका-१.४
२. सेतुबन्ध-१.४७
३. सेतुबन्ध (भास्करराय मखिन)
४. दीपिका
५. भास्करराय : सेतुबन्ध-१.४४-४८

(कुल = सजातीय— 'सजातीयैः कुलं यूथम्'–अमरकोश)। साजात्य का अर्थ (इस प्रसंग में) एकज्ञानविषयत्व है। उसके द्वारा मातृ-मान-मेय, कौल, उनकी समष्टि अर्थात् तन्मय या तदभिन्न। इसी प्रकार जाग्रदादि अवस्थायें भी उनसे अभिन्न हैं। योगिनी-दीपिका (१.४८) में कहा गया है—

बीजत्रययुक्तस्य सकलस्य मनोः पुनः।
एतानि वाच्यरूपाणि कुलकौलमयानि तु।।

किन्तु पूर्वोक्त चक्रों की 'चतुरात्मता' का प्रतिपादन करके ग्रन्थकार उनमें निवास करने वाली अधिष्ठात्री देवी (बैन्दव गृहनिवासिनी देवी) के विषय में कहता है कि वह संवित् स्वरूप शक्ति अवस्थातीत है, विश्वोत्तीर्ण है, अनुत्तर प्रकाश है, सभी प्राणियों में आत्मा बन कर स्थित है—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यतुर्यरूपाण्यमूनि तु।
अतीतं तु परं तेजः स्वसंविदुदयात्मकम्।। (१.४९)

लेकिन वह विश्वातीत के साथ-साथ विश्वमय भी है। उसकी आत्मभित्ति पर स्वेच्छा-तूलिका द्वारा विश्वरूप उल्लेख (चित्र) उसी के द्वारा अङ्कित किया गया है। यह देवी प्रकाशात्मा परशिव की निसर्गानन्दसुन्दर चैतन्य (चिद्विमर्शशक्ति) है—

स्वेच्छाविश्वमयोल्लेखखचितं विश्वरूपकम्।
चैतन्यमात्मनो रूपं निसर्गानन्दसुन्दरम्।।

कहा भी गया है—

जगच्चित्रं समालिख्य स्वेच्छातूलिकयात्मनि।
स्वयमेव समालोक्य प्रीणाति भगवान् शिवः।।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में भी इसी तथ्य को सम्पुष्ट करते हुये कहा गया है—

१. 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः।'
२. 'स्वेच्छया विश्वमुन्मीलयति।'

इसे ही निम्न श्लोक द्वारा भी सम्पुष्ट किया गया है—

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने।।

परिणामवाद— जगत् भगवती ललिता देवी का 'परिणाम' है। यह न तो विवर्त या अध्यास है और न ही सांख्य का सत्कार्यवाद-व्युत्पन्न 'परिणाम' है; प्रत्युत 'अविकृत परिणाम' है। भगवती शिव से क्षितिपर्यन्त समस्त ३६ तत्त्वों से युक्त जगत् के रूप में परिणत हो जाती है; अतः षट्त्रिंशज्जगदात्म जगत् भगवती का एक परिणाम है; क्योंकि वह इसी रूप में परिणमित होती है— 'शिवादिक्षित्यन्तरूपेण परिणमत इत्यर्थः।'[1] जिस

१. अमृतानन्द योगी : दीपिका

प्रकार दूध दही के रूप में परिणमित होता है, उसी प्रकार चिच्छक्ति समस्त वैश्व आकारों के रूप में परिणमित हो जाती है।[1] विश्व उसी का चित्र है।[2]

पीठों का शरीर में इस प्रकार होता है— मूलाधारचक्र में = कामरूप पीठ, अनाहत-चक्र (हृदयस्थान) में = जालन्धरपीठ, ललाट प्रदेश में = पूर्णगिरिपीठ, ललाट के ऊर्ध्वदेश में = उड्डीयानपीठ, भ्रूमध्यप्रदेश में = वाराणसी पीठ, नयनत्रय में = ज्वालामुखी पीठ, मुखविवर में = मायावती पीठ, कण्ठ में = मधुपुर पीठ, नाभि = अयोध्यापीठ, कटिदेश में = काञ्ची पीठ।

मूलाधारे कामरूपं हृदि जालन्धरं तथा।
ललाटे पूर्णगिर्याख्यमुड्डियानं तदूर्द्ध्वके।।

वाराणसीं भ्रुवोर्मध्ये ज्वलन्तीं लोचनत्रये।
मायावती मुखवृत्ते कण्ठे मधुपुरीं ततः।
अयोध्यां नाभिदेशे च कट्यां काञ्चीं विनिर्दिशेत्।।

दशैतानि प्रधानानि पीठानि क्रमतो विदुः।
ह्रस्वदीर्घस्वरैर्वर्गैर्नमोऽन्तैः क्रमतो न्यसेत्।। (बृहत्तन्त्रसार)

षट्चक्रों में शिव-शक्तियोग (शाक्तदर्शनम्)

पीठ-नाम	शिव	शक्ति	पीठ-दल
मूलाधार	स्वयम्भू	ब्रह्मशक्ति डाकिनी	०४
स्वाधिष्ठान	विष्णु-द्वितीय शिव	शाकिणी	०६
मणिपुर	रुद्र-तृतीय शिवरुद्र	लाकिनी	१०
अनाहत	ईशान-चतुर्थ शिव	काकिनी	१२
विशुद्ध	पञ्चम पीठ-सदाशिव	शाकिनी	१६
आज्ञा	षष्ठ शिव-परशिव 'ॐ'	हाकिनी	०२

'तन्त्रचूड़ामणि' के अनुसार दश महाविद्यापीठ निम्नवत् हैं—

१. भैरवी महाविद्या पीठ
२. षोडशी महाविद्यापीठ
३. छिन्नमस्ता महाविद्यापीठ
४. मातङ्गी महाविद्यापीठ
५. अम्बिका-महाकाली महाविद्यापीठ
६. बगला महाविद्यापीठ
७. कमला महाविद्यापीठ
८. भुवनेश्वरी महाविद्यापीठ
९. धूमावती महाविद्यापीठ
१०. इन नवों पीठों के भैरव हैं— उमानन्द।

१. यथा क्षीरं दध्याकारेण परिणमते तथा चिच्छक्तिरेव सर्वाकारेण परिणमते। (दीपिका-१.५०)

२. विश्वमयोल्लेखो जगदात्मकं चित्रं तेन खचितम् (भास्कर)।

इक्यावन पीठों का इतिहास

छाया सती और इक्यावन पीठ— दक्ष के यज्ञ में अपने पति का अपमान देखकर सती ने 'छाया सती' को जन्म देकर उन्हें आज्ञा दी कि 'आप दक्ष के सहित पूरे यज्ञ का विध्वंस कीजिये। एतदर्थ आप यज्ञाग्नि में प्रवेश करें'— इतना कहकर सती अन्तरिक्ष में लुप्त हो गईं। छाया सती दक्ष को फटकार कर चित्कला रूप से यज्ञाग्नि में प्रवेश कर गईं। छाया सीता की क्रोधाग्नि से भद्रकाली उत्पन्न हो गईं। शिव ने इस समाचार को सुनकर वीरभद्र को भेजा। सती-मोह में शिव रोने लगे। आकाश से देवी ने कहा कि 'हे महेश्वर ! यज्ञ-ज्वलित मेरा रूप छाया सती का था। आप उनके शरीर को लेकर पूरी पृथ्वी पर भ्रमण करें। वह सती-देह टुकड़े-टुकड़े होकर स्थान-स्थान पर गिर जायगा। जहाँ-जहाँ ये शरीराङ्ग गिरेंगे, वे-वे स्थान पापनाशकारी 'महापीठ' बन जायेंगे— 'तत्र तद्धि महापीठं भवष्यित्यघनाशनम्।' जहाँ मेरी योनि गिरे, वहाँ यदि आप तपस्या करेंगे तो मुझे प्राप्त कर लेंगे।'

शिव ने दक्ष के भवन आकर रोते हुये छाया सती का शरीर उठाकर अपने शिर पर रख लिया और पृथ्वी पर नाचने लगे। वे ताण्डवनृत्य करते हुये पागल हो उठे। भगवान् विष्णु ने शिर पर धृत सती के शरीर को सुदर्शन से काटकर पृथ्वी पर गिराना प्रारम्भ किया। उन्हीं छाया सती के कटे हुये अङ्ग पृथ्वी पर जहाँ-जहाँ गिरे, वे-वे स्थान इक्यावन 'महापीठ' बन गये। कामाक्षा में 'योनि' गिरी थी; इसीलिये कामाक्षा को श्रेष्ठतम महापीठ माना गया। वहाँ भगवती प्रत्यक्षत: साक्षात् रूप में निवास करती हैं—

यत्र साक्षाद्भगवती स्वयमेव व्यवस्थिता।

पीठ-संख्या— पीठसंख्या के विषय में नाना पुराणों के नाना मत हैं अर्थात् मतवैभिन्य है। मत्स्यपुराण (अध्याय-१३), स्कन्दपुराण (अवन्तिखण्ड-रेवाखण्ड) आदि में पीठों का उल्लेख मिलता है। देवीभागवतपुराण में १०८ पीठों का उल्लेख प्राप्त होता है। कालिकापुराण (१८.४२-५१) में पीठों का विवरण मिलता है, जिसके अनुसार पीठों की स्थिति निम्नवत् है—

स्थान	देवी का छिन्न शरीराङ्ग	अधिष्ठात्री देवी
देवीकूट	पादयुग्म	योगनिद्रा 'महाभागा'
उड्डीयान	उरुयुग्म	कात्यायनी
कामरूप (कामगिरि)	योनिमण्डल	कामाख्या
कामरूप (कामगिरि)	नाभिमण्डल (गौहाटी में)	कामाख्या
जालन्धर	स्तनयुग्म स्वर्णहार	चण्डी
पूर्णगिरि	स्कन्ध	पूर्णेश्वरी

स्थान	देवी का छिन्न शरीराङ्ग	अधिष्ठात्री देवी
कामरूप के पूर्व सीमाप्रान्त	मस्तक	दिक्करवासिनी
याज्ञिक देश	पूर्व दिशा में शिव जहाँ-जहाँ गये	
आकाशगंगा	शरीर के छोटे टुकड़े	
जिन-जिन देशों में पैर आदि अंग गिरे	शिव का लिङ्गरूप धारण करके अवस्थान	

'रुद्रयामल तन्त्र' के अनुसार पीठों की संख्या दस है; वे हैं— कामरूप पीठ, जालन्धर पीठ, पूर्णगिरि पीठ, उड्डियान पीठ, वाराणसी पीठ, ज्वालामुखी पीठ, मायावती पीठ, मथुरा पीठ, अयोध्या पीठ एवं काञ्ची पीठ। 'कुब्जिकातन्त्र' बयालीस पीठ स्वीकार करता है— 'द्विचत्वारिंशत् पीठानि।' 'ज्ञानार्णवतन्त्र' पचास पीठ स्वीकार करता है। 'तन्त्रचूड़ामणि' में इक्यावन पीठों का उल्लेख किया गया है और यही मत सर्वमान्य है। इन्हीं का उल्लेख 'योगिनीतन्त्र' में भी किया गया है।

योगिनी तन्त्र— चक्रपाणि के सुदर्शनचक्र से छिन्न होकर सती का जो अङ्ग जहाँ गिरा, वहाँ वे ब्रह्मज्योतिस्वरूपिणी देवी भक्तों के कल्याणार्थ एवं मन्त्रसिद्ध्यर्थ प्रस्तरमयी होकर महापीठरूप से नित्य निवास करती हैं; साथ ही भगवान् शिव भी उन-उन महापीठों में भैरवमूर्ति धारण करके देवी की उपासना किया करते हैं—

उपासते स्वयं देवीं करुणानिधिरीश्वर।

तन्त्रचूड़ामणि के अनुसार विष्णुचक्र से छिन्न छाया सती के शरीर के इक्यावन टुकड़े इक्यावन महापीठों के रूप में आज भी विद्यमान हैं। इन पीठों में इक्यावन पीठाधिष्ठात्रियों को इक्यावन विद्या कहा जाता है।

पीठ : स्थान	सती का अंग	पीठ	देवी	भैरव	प्रचारक
हिङ्गुल : हिङ्गलाज	ब्रह्मरन्ध्र	कोट्टरी पीठ	दिगम्बरी कालीरूपी देवी कोट्टरा	भीमलोचन	ब्रह्मानन्द, ज्ञानानन्द
करवीर	नेत्रत्रय	महिष मर्दिनी पीठ	—	क्रोधीश भैरव	
सुगन्धा	नासिका	सुनन्द महापीठ	—	त्र्यम्बकभैरव	

पीठ : स्थान	सती का अंग	पीठ	देवी	भैरव	प्रचारक
काश्मीर	कण्ठ	महामाया पीठ	—	त्रिसन्ध्येश्वरी भैरव	क्षीरभवानी
काण्डा	जिह्वा	ज्वालामुखी	अम्बिका	उन्मत्तभैरव	
हिमालय	स्तन	जालन्धर महापीठ	त्रिपुरमाली	भीषणभैरव	
बिहार (वैद्यनाथ)	हृदय	हार्दपीठ	जय दुर्गा	वैद्यनाथभैरव	
उत्कल	नाभि	विरजा क्षेत्र	विमला	जगन्नाथभैरव	
त्रिपुरा	दक्षिण पाद	त्रिपुरसुन्दरी	त्रिपुरसुन्दरी	त्रिपुरेशी	इत्यादि

'योगिनीहृदय' नामक श्रीसम्प्रदाय के ग्रन्थ में पीठों का विवेचन इस प्रकार किया गया है— का, पू, जा, ओ।

एताश्चतस्रः शक्त्यस्तु कापूजाओ इति क्रमात्।
पीठाः कन्दे पदे रूपे रूपातीते क्रमात् स्थिताः।।

चतुरस्रं तथा बिन्दुषट्कयुक्तं च वृत्तकम्।
अर्धचन्द्रं त्रिकोणञ्च रूपाण्येषां क्रमेण तु।।

का = कामरूप पीठ, पू = पूर्णगिरि पीठ, जा = जालन्धर एवं ओ = ओड्याण।

अम्बिका, शान्ता आदि शक्तियाँ क्रम से परस्पर सामरस्यापन्न होकर कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर एवं ओड्याण पीठ का निर्माण करती हैं। ये प्रकाश एवं विमर्श से समरसीभूत होती हैं। अमृतानन्द 'दीपिका' में कहते हैं— 'अम्बिकाद्याः शान्ताद्याश्चतस्रः क्रमेण परस्परं सामरस्यमापन्नाः का-पू-जा-ओ इति क्रमादासन्। प्रकाशविमर्शात्मतया समरसीभूताः पूर्वोक्ताश्चतस्रः शक्तयः कामरूप-पूर्णगिरि-जालन्धर-औडयाणपीठरूपेण परिणताः।'

सौभाग्यसुभगोदय में कहा गया है—

पुनरेव कामपीठे तदग्रकोणे स्थिते मनोरूपे।
प्रतिफलितं तज्ज्योतिः स्वायम्भुलिङ्गं समाहितं सद्भिः।।

दक्षिणकोणेऽहंकृतिरूपे जालन्धरे तु संक्रान्तम्।
परधामबाणलिङ्गं जातं संक्रान्त्युपाधिभेदवशात्।।

मध्यत्रिकोणकोणे वामे श्रीपूर्णपीठमेतस्मिन्।
बुद्धिमये परतेजः प्रतिफलितं त्वितरलिङ्गतां यातम्।।

चित्तमये श्रीपीठे ज्योतिर्बिन्दौ यदस्य संक्रान्तम्।
प्रतिफलितं परधाम्नः परलिङ्गं तत्प्रकीर्त्यते प्राज्ञैः।।

पीठ पञ्चभूतात्मक हैं। 'सेतुबन्ध' में भास्कर कहते हैं कि 'पीठाः क्रमेण क्षिति-पवन-जलाग्निरूपाः।'—

१. भूतत्त्व : पीतवर्ण : कामरूप पीठ।
२. वायुतत्त्व : धूम्रवर्ण वर्तुल, षड्विन्दुलाञ्छित : पूर्णगिरिपीठ।
३. जलतत्त्व : अर्धचन्द्राकार, श्वेतवर्ण, जालन्धर पीठ।
४. अग्नितत्त्व : त्रिकोण, रक्त वर्ण : उड्डीयान पीठ।।

'स्वच्छन्दतन्त्र' में इसे इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः।
रूपं बिन्दुरिति ख्यातं रूपातीतं तु चिन्मयम्।।

कन्दः कुण्डलिनी शक्ति पदं हंसः प्रकीर्तितः।
रूपं बिन्दुरिति ख्यातं रूपातीतं तु निष्कलम्।।

कन्द = मूलाधार चक्र। पदं हंस = हृदय। रूपं = भ्रूमध्य। रूपातीत = ब्रह्मरन्ध्र।

पीठों का देवी से सम्बन्ध— सेतुबन्ध में कहा गया है कि पीठ तो देवी के अपने रूप हैं— 'बाह्यसृष्टौ कामरूपं, पूर्णगिरिर्जालरन्ध्रमौड्याणमिति पीठा, एतद्देवीरूपाः।' कालिका-पुराण आदि में भी यही कहा गया है।

'ललितासहस्रनाम' में कहा गया है कि भगवती त्रिपुरसुन्दरी पीठों में निवास करती है—

शृङ्गाररससम्पूर्णा जया जालन्धरस्थिता।
ओड्याणपीठनिलया बिन्दुमण्डलवासिनी।।

'वरिवस्यारहस्यम्' में कहा गया है कि मातृका वर्णों की जितनी संख्या है, उतने ही पीठ हैं। इस प्रकार कुल पचपन पीठ हैं—

यावन्मातृकमुदितान्येकसमेतानि पञ्चाशत्।
पीठानि पुनर्गणितान्योजापूकानि चत्वारि।।

गणपग्रहभादीनां शशिनिधितारर्तुसूर्यङ्कयानाम्।
मेलनतः पीठानि ज्ञेयान्येतेषु पञ्चपञ्चाशत्।।

'कामकलाविलास' में कहा गया है गुरु शिव ने, जो कि उड्डीयान पीठ में निवास करते हैं, उन्होंने सत्ययुग के काल में अपनी शक्ति विमर्शरूपिणी कामेश्वरी को आत्म-विद्या प्रदान किया—

आसीनः श्रीपीठे कृतयुगकाले गुरुश्शिवो विद्याम्।
तस्यै ददौ स्वशक्त्यै कामेश्वर्यं विमर्शरूपिण्यै।।

श्रीपीठ क्या है? श्रीपीठ मध्यत्र्यस्रान्तर्गत उड्डीयान पीठ है।

भगवती की उपासना के जितने भी साधन एवं मार्ग हैं, उन्हें परा, परापरा, अपरा (योगिनीहृदय : पूजासङ्केत) में वर्गीकृत करके उनके यथार्थ स्वरूप को समझना चाहिये। 'परापूजा' जो सर्वोच्च एकता या सामरस्य को अपना लक्ष्य बनाती है, यह सामरस्य— उपासक एवं परमशिव के मध्य स्थापित होता है। 'परापरापूजा' कर्म एवं ज्ञान दोनों की पृष्ठभूमि पर आधृत है और 'भावना' के द्वारा बाह्यवर्ती चक्रों को अपने अन्त:स्थ प्रकाश में लय करने अर्थात् उनके साथ तादात्म्य प्राप्त करने की पद्धति है। इसके माध्यम से उपासक कर्मों का त्याग करके ज्ञान के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है। 'अपरापूजा' बाह्य चक्रों एवं आवरणादि की पूजा है, जो कि निम्नतमा पूजा मानी जाती है।

भास्करराय ने 'सौभाग्यभास्कर' में देवी के तीन रूप बताये हैं— करचरणादिविशिष्ट स्थूल रूप, पञ्चदशाक्षरीमय सूक्ष्मरूप एवं वासनामय पररूप।

भगवती का सूक्ष्म रूप भी त्रिविधात्मक है और वे तीन रूप हैं— सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम रूप। इन्हीं को क्रमश: पञ्चदशाक्षरीमय, कामकला एवं कुण्डलिनी रूप कहा जाता है। इन्ही स्वरूपों के अनुसार भगवती की उपासना भी निष्पाद्य है।

'योगिनीहृदय' (पूजासङ्केत) में कहा गया है कि महासारविमर्शैकशरीरिणी संविदग्नि में भेदाभास का हवन करने पर सारे संसरण— आवागमन का मार्ग बन्द हो जाता है। अर्थात् यही यथार्थ उपासना होने के कारण यही मुक्ति का यथार्थ साधन है—

संविदग्नौ महासारे विमर्शैकशरीरिणि।
भेदाभासमिदं हव्यं जुहोम्य पुनरुद्भवम्।।

अष्टापञ्चाशत् अध्याय

भावतत्त्व और पुरोपासना

भावतत्त्व एव भावना— 'भावनोपनिषद्' (अथर्ववेद) में भगवती की पूजा का मुख्य तत्त्व 'भावना' माना गया है। भावनोपनिषद् में प्रयुक्त 'भावना' शब्द इसी अर्थ का द्योतक है। तन्त्र-साधना में भावतत्त्व अन्यतम तत्त्व है। 'भाव' क्या है? 'कौलावलीतन्त्र' में भाव तत्त्व की व्याख्या करते हुये कहा गया है—

भावस्तु मानसो धर्मः स हि शब्दः कथं भवेत्।
तस्माद्भावो न वक्तव्यो दिङ्मात्रं समुदाहृतम्।।

यथेक्षुगुड़माधुर्यं जिह्वया ज्ञायते सदा।
तथा भावो विभावश्च मनसा परिभाव्यते।।

भावों का विभाव जिह्वा-कथ्य नहीं है; केवल मानसग्राह्य है।

महाभाव एवं भावतत्त्व— एक ही 'महाभाव' तत्त्व अनेक भागों में विभाजित हो गया है। महाभाव के एकत्व ने भावों का नानात्व प्राप्त कर लिया है। 'महाभाव' तो एक दिव्य रस है और 'रस' तो परमात्मा है— 'रसो वै सः।' एक महाभाव ही उपाधि या विषय के भेदों से भक्ति, प्रेम एवं वात्सल्य आदि नाना रूपों में विभक्त हो गया है।

भाव जब प्रगाढ़ हो जाता है तब भावगत सारे भेदोपभेद महाभाव में ही विलीन हो जाते हैं। यह 'भाव' ही आनन्दघनसन्दोह परमात्मा है, भाव ही रसरूपात्मिका आत्मा है तथा भाव ही 'परम महान्' है—

एक एव महाभावो नानात्वं भजते यतः।
उपाधिभेदभावेन भावदेहो लयिष्यति।।

आनन्दघनसन्दोहः प्रभुः प्रकृतिरूपधृक्।
रसरूपः स एवात्मा स प्रभुः परमो महान्।।

इसीलिये 'कौलावलीतन्त्र' में कहा गया है कि यदि बहुत जप भी कर लिया जाय और बहुत हवन भी कर लिया जाय तो क्या? यह केवल शरीर को कष्ट देना मात्र ही होगा; क्योंकि विना भाव के तन्त्र-मन्त्र आदि कभी फलप्रद नहीं हो पाते। कौलावलीतन्त्र में इसी भाव की पुष्टि करते हुये कहा गया है—

बहुजापात्तथा होमात्कार्यक्लेशात्तु विस्तरात्।
न भावेन विना चैव तन्त्रमन्त्राः फलप्रदाः।।

भावों के भेद— 'रुद्रयामलतन्त्र' में कहा गया है कि जिस प्रकार शरीर के उत्तम, मध्यम एवं अधम— ये तीन भेद होते हैं; ठीक उसी प्रकार भावों के भी तीन भेद होते हैं—

दिव्यभाव (उत्तम), वीरभाव (मध्यम) एवं पशुभाव (अधम)। कहा भी गया है—

शरीरं त्रिविधं प्रोक्तमुत्तमाधममध्यमम्।
तत्रैव त्रिविधं प्रोक्तमुत्तमाधममध्यमम्।। (रुद्रयामलतन्त्र)

साधना में अधिकारभेद— ये तीनों भाव वस्तुत ज्ञान एवं निष्ठा के तीन स्तर हैं। सत्त्व-रज-तम से अनुविद्ध अवस्थायें ही दिव्य-वीर-पशु या उत्तम-मध्यम-अधम ज्ञानावस्थायें हैं। मानव-प्रकृति भी इसी प्रकार त्रिविधात्मक है। इसीलिये साधना-प्रणालियाँ भी त्रिविधात्मिका हैं। जिसकी जैसी प्रकृति होती है, उसी प्रकार की उसकी साधना भी होनी चाहिये; क्योंकि यदि साधक तामसिक प्रकृति का होने पर भी दिव्य भाव की साधना करता है तो उसका आगे विकास नहीं होगा इसी दृष्टि से तामसिक प्रकृति के साधकों के लिये 'पशुभाव', राजसिक प्रकृति के साधकों के लिये 'वीरभाव' एवं सात्त्विक प्रकृति के साधकों के लिये 'दिव्यभाव' प्रशस्त माने गये हैं; किन्तु साधना में उन्नति करने से साधक क्रमशः पशुभाव से वीरभाव एवं वीरभाव से दिव्यभाव की उपासक बन जाता है। इसके उपरान्त दिव्यभाव का साधक साधनोत्कर्ष के शृङ्ग पर आरूढ़ होने पर भावातीतावस्था में अवस्थित हो जाता है।

साधकों का साधना-सामर्थ्यबल उनका भावत्रय में आरूढ़ होने की अपनी क्षमतायें मात्र हैं। रुद्रयामलतन्त्र में ठीक ही कहा गया है—

शक्तिः प्रधानं भावानां त्रयाणां साधकस्य च।
दिव्यवीरपशूनाञ्च भावत्रयमुदाहृतम्।।

भावों में पौर्वापर्यक्रम-विधान— रुद्रयामलतन्त्र में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

आदौ भावं पशोः कृत्वा पश्चात्कुर्यादवश्यकम्।
वीरभावं महाभावं सर्वभावोत्तमोत्तमम्।
तत्पश्चादतिसुन्दरं दिव्यभावं महाफलम्।।

साधकोचित भावों का क्रम इस प्रकार है—

१. प्रथमतः तमोगुणात्मक पशुभाव ग्रहण करना चाहिये।

२. पशुभाव सिद्ध होने पर रजोगुणात्मक वीरभाव ग्रहण करना चाहिये।

३. वीरभाव के भी सिद्ध हो जाने पर अन्त में साधक को भावों में अन्तिम भाव सतोगुणात्मक दिव्यभाव ग्रहण करना चाहिये।

'रुद्रयामलतन्त्र' में कहा गया है कि जन्मना सभी 'पशु' ही हैं; उन्हें ज्ञानाप्ति हेतु वीरभाव की साधना करनी चाहिये—

सर्वे च पशवः सन्ति तलवद्भूतले नराः।
तेषां ज्ञानप्रकाशाय वीरभावः प्रकाशितः।।

वीरभाव के सिद्ध हो जाने पर साधक देवता बन जाता है—

वीरभावं सदा प्राप्य क्रमेण देवता भवेत्।

पशुभाव

जिन मनुष्यों के हृदय में अविद्या की घनतम छाया होने के कारण अद्वैतात्मक ज्ञान का स्वल्पावभास कभी नहीं होता, उनकी मानसिक अवस्था तामसिक मानी जाती है और यही अवस्था पशुभाव है। ये पशु भी द्विविध होते हैं— उत्तम एवं मध्यम। द्वैतबुद्धि होने से ये दो दोनों ही 'पशु' होते हैं; फिर भी अज्ञानाधकार में डूबे हुये पूर्ण अज्ञानी मनुष्य 'अधम पशु' एवं सत्कर्मपरायण भगवद्विश्वासी साधक उत्तम पशु होता है। तीन भावों में प्रथम भाव पशुभाव ही है—

पशुनां प्रथमं भावं वीरस्य वीरभावनम्।
दिव्यानां दिव्यभावस्तु तिस्रो भावास्त्रयः स्मृताः।।

(रुद्रयामल-२.६)

प्रातःकाल (अरुणोदयकाल) से रात्रि के आठ दण्ड तक 'पशुभाव' माना गया है (रुद्रयामल-२.१०)।

२. पशु-साधकों को प्रातःकाल उठकर सहस्रदल कमल में गुरु का ध्यान करना चाहिये। गुरु को अरुणोदय के सूर्य के समान महाप्रकाशवान भावित करना चाहिये। गुरु को महामहिमामण्डित, तेजोबिम्ब-समर्चित, महाशुभ्र एवं शुक्ल परिधानधारी, द्विनेत्री एवं आत्मज्ञावी रूप में सोचना चाहिये।

अन्तर्याग-विधि से उनकी पूजा करनी चाहिये।

'महानिर्वाणतन्त्र' के चतुर्थ अध्याय में कहा गया है कि कलियुग में तो पशुभाव एवं दिव्यभाव रह ही नहीं गये हैं; अतः कौलिक पूजा मात्र वीरभाव से करनी चाहिये। वीर-भाव ही कलियुग में सिद्धिप्रद है; क्योंकि 'पशुभावदिव्यभावौ स्वयमेव निवृत्तौ।'

पशुसाधकों के कर्तव्य हैं— पत्तियाँ एकत्रित करना, फूल-फल एवं जल लाकर रखना, शूद्रों को कभी न देखना एवं मन से भी कभी नारी का स्मरण न करना।

दिव्य साधक हृदय से पूर्ण शुद्ध, द्वन्द्वातीत (अपने प्रतिकूल या विरुद्ध व्यक्ति, वस्तुस्थिति से अप्रभावित अर्थात् सर्वत्र समदृष्टि भाव से युक्त), वीतराग, समस्त प्राणियों में समत्व बुद्धि रखने वाला एवं क्षमावान होता है। अतः ये दोनों कलियुग में मिलना सम्भव नहीं है; इसलिये कलियुग में वामाचारानुष्ठित, पञ्च मकारनिष्ठ वीरसाधना (वीरभाव) ही प्रशस्त है।

कौलावली निर्णय की दृष्टि— 'पशुभाव'—

- 'पशु'मन से भी कभी मत्स्य-भोजन एवं स्त्री का स्मरण न करे और परद्रव्य को लोष्ठवत् समझकर उसका स्पर्श भी न करे।
- पशुसाधक किसी नदी के तट, पर्वत, वन, मन्दिर, बिल्वमूल एवं विविक्त पुण्य क्षेत्र में ही निवास करे।

● कौटिल्य का सर्वथा त्याग करे। समाहितचित्त होकर शुभ्र वस्त्र वाले देवता का ध्यान करे। तीनों सन्ध्यायों में ध्यान, पूजन एवं जप करे।

● रात्रि के समय माला एवं यन्त्र का कभी भी स्पर्श न करे और भोजनोपरान्त मन्त्रोच्चारण न करे।

● सभी कार्यों के समय सदा मौन रहे।

● पर्वकाल में नारी-सम्भोग न करे।

● मैथुन, मैथुनप्रसङ्ग एवं उसकी गोष्ठी का त्याग करे।

● विना ऋतुकाल के अपनी स्त्री के साथ भी सहवास न करे।

● रात्रि में भोजन करे, कभी ताम्बूल न खाये।

● पुराणों, वेद-वेदाङ्गों का श्रवण करे।

● गुर्वादेश का अक्षरशः पालन करे।

● देवीभक्त रक्त वस्त्र न पहने। विष्णुतन्त्र में उपदिष्ट कल्पादि, अनुष्ठानादि करे।

● श्राद्ध, गोग्रास, सन्ध्यावन्दन, तीर्थस्नान, पीठस्थान, पीठस्थान-यात्रा एवं धर्माचरण में तत्पर रहे।

● अदीक्षित पशु को पूजास्थान में जाने का भी अधिकार नहीं होता। दीक्षित पशुओं को पूजा में तो जाने का अधिकार होता है; किन्तु गुरुत्व में अधिकार नहीं होता।

● तीन जन्म तक पशुभावना में दृढ़ रहने पर वह पशु 'वीर' बनता है और वीर बनने पर देवता बन जाता है। वीरभाव प्राप्त होने पर पशु को देवत्व प्राप्त हो जाता है।

भाव मन का एक धर्म है, वह शब्द नहीं है। भाव को कभी भी प्रकाशित नहीं करना चाहिये।

वीरभाव

साधना-क्रम में पशुभाव-सिद्धि होने पर साधक वीरभाव की भूमि पर पदार्पण करता है।

● वीरसाधक निर्द्वन्द्व हृदय होकर हृदय में 'कामकला शरीर' को धारण करके रात्रि में निरन्तर पूजा करे।

● वह अपने कुल को लेकर स्वयं भैरव का रूप धारण करके तथा कुलभैरवीरूप होकर उसके शरीर में न्यासविस्तार एवं नवयोन्यात्मक न्यास करे।

● प्रसूनतूलिका से, पुष्पान्वित एवं सौरभित कुलद्रव्य से यन्त्रनिर्माण करके कलश-स्थापनपूर्वक शक्ति की पूजा करे। मण्डल बनाकर एक घट की स्थापना करे, उस पर मन्त्र लिखकर और उसमें इष्टदेवता का ध्यान करके १०८ बार जप करे। उसे धेनुमुद्रा दिखाकर उसमें अमृत की कल्पना करे। अर्घ्यपात्र को तीन भागों में विभाजित करके एक से गुरु, दूसरे से कुल एवं तीसरे से देवता का तर्पण करे।

● साधक कुलरस का पान करके नानालङ्काराभूषित होकर आनन्दस्वरूप बनकर परमेश्वरी का पूजन करे। फिर विसर्जन करके कुल में योजना करे।

● लतालिङ्गन से साधक का शरीर अमृत से प्रक्षालित हो जाता है। मूलयोग करने पर उसमें आठ सहस्र करना चाहिये।

● जपान्त में हविर्द्रव्य से देवता का तर्पण करना चाहिये।

● तर्पणोपरान्त प्रदक्षिणा करता हुआ साधक कल्पोक्त विधि से देवी को प्रणाम करके स्तोत्र-पाठों से उन्हें सन्तुष्ट करे।

दिव्यभाव

● जिस साधक का देवता जिस वर्ण का हो, वह तद्वर्णमय, तत्तेज:पुञ्जपूरित स्वरूप में ही जगत को देखे। वह तत्तेजमय मूर्ति की कल्पना करे और फिर तत्तत् मूर्तिमय मन्त्रों से अपने को भी तन्मय समझे और सारे सांसारिक भावों, वस्तुओं को नारीमय माने।

● आठ से सोलह वर्ष की अवस्था को 'युवती' कहते हैं; अत: उसी में भाव प्रकाशित होता है और वही भाव परम श्रेष्ठ भाव है। इस कल्पित तेजोमयी मूर्ति को चरणों से सिरपर्यन्त दिव्य दृष्टि से बार-बार पान करे।

● साधक स्निग्ध अन्त:करण बन कर निर्विकार-स्वरूप रहे।

● साधक अपने सौन्दर्यपरिपूर्ण देवता के प्रत्येक अङ्ग (जानु, जघन, नाभि, वक्ष:-स्थल, पीन पयोधर, नयन, मुख, केशाग्र) एवं स्मिति का दिव्य भाव से अवलोकन करे और तत्पश्चात् स्थिर मन से कामकला का ध्यान करे।

● ध्यान-विरत होने पर साधक उस देवता के भावपूर्ण अमृत से अपने मुखादि को देवतामय कामकलास्वरूपवत् ध्यान करे अर्थात् कामकला के स्वरूप 'ईं' के बिन्दु को मुख, उसके नीचे के भाग को स्तनद्वय और उससे भी नीचे के भाग को नाभि से नीचे के शरीर का भाग समझे। यह कामकलास्वरूप सर्वार्थसाधक है। साधक अपने को सदैव कामकलास्वरूप ही माने।

● इसके अनन्तर साधक आधारचक्र में कनकाभ, मेढ़्र (लिङ्ग)-स्थान में शिवाकार, नाभि में तरुणदित्यबिम्बाभ, हृदय में वह्निशिखाकार, उसके ऊर्ध्व सूर्यप्रभ, कण्ठ स्थान में घण्टा-वैडूर्यसन्निभ दीपशिखाकार, श्वासनलिका में चन्द्रबिम्बाभ, भ्रूमध्य में रत्नाभ और नेत्रों में विश्वतेजवत् रूप का ध्यान करे। साधक 'कामकला' के शरीर को धारण करके (स्पर्श करके या देखकर) कुलाकुल दोनों में 'कामकला' के रूप का चिन्तन करे।

● साधक अपने वाम भाग में किसी कामरूपिणी सुवेशी सुन्दरी को बैठाकर उसके शरीर में बिन्दु आदि से युक्त कामकला के रूप का ध्यान करके गन्ध, माला आदि के द्वारा उसकी पूजा करे और उसे कुलद्रव्य प्रदान करे। फिर उसे ताम्बूल देकर तथा स्वयं भी खाकर कौलिक एवं लौकिक कुलीन वृत्तान्त पूछे।

यदि साधक में भाव नहीं हुआ तो न्यासविस्तार, भूतशुद्धिप्रस्तार एवं पूजनादिक

सभी व्यर्थ हैं। विद्या की पूजा, मन्त्र-जप कौन नहीं करता? किन्तु कोई भी फल नहीं प्राप्त हो पाता; क्योंकि उन साधनाओं में भाव का अभाव रहता है।

जो साधक वीरभाव के परिपुष्ट हो जाने पर द्वैतभाव का त्याग करके अपने इष्ट-देवता में स्वास्तित्व को निमज्जित करके अद्वैतानन्दामृत का पान करके ब्रह्ममय बन जाता है, वही दिव्य कहलाता है और उसकी मानसिक अवस्था सात्त्विक होने के कारण 'दिव्यभाव' कहलाती है।

दिव्यभाव-साधक ब्रह्मज्ञ परमहंस होता है। 'कौलावलीतन्त्र' में कहा भी गया है—

प्रथमं दिव्यभावस्तु कथ्यते तन्त्रवर्त्मना।
यद्वर्णा देवता यत्र तत्तेजःपुञ्जपूरितम्।।

तेजोमयं जगत्सर्वं विभाव्य मूर्तिकल्पनम्।
तन्मूर्तिमयैर्मन्त्रैः स्वेन स्वेनैव वा पुनः।
आत्मानं तन्मयं दृष्ट्वा सर्वं भावं तथैव च।।

महेश्वरानन्द की दृष्टि— आचार्य महेश्वरानन्द ने 'महार्थमञ्जरी' में कहा है कि साधना में सर्वोच्च तत्त्व तो 'भावयोग' है; क्योंकि जिसका जैसा भाव होता है, उसी प्रकार का उसका देवता होता है—

यो यस्य भावयोगस्तस्य खलु स एव देवता भवति।

जैसा जिसका भावभावित देवता होता है, उसी स्वभाव एवं प्रकृति के अनुकूल ही वह फल प्रदान करता है—

तब्भावभाविआओ अहिलसिहं तह फलन्ति पडिमाओ।

शाक्त परम्परा में पूजा के परा, परापरा एवं अपरा भेद बताये गये हैं, उन सभी का भावों से सम्बन्ध है।

योगिनीहृदय की पूजाविधायिनी दृष्टि— नित्योदिता पूजा के तीन भेद हैं— परा, परापरा एवं अपरा।

तव नित्योदिता पूजा त्रिभिर्भेदैर्व्यवस्थिता।
परा चाप्यपरा गौरि तृतीया च परापरा।। (३.२)

प्रथम पूजा : प्रथमाद्वैतभावस्था सर्वप्रसरगोचरा।
द्वितीया पूजा : द्वितीया चक्रपूजा च सदा निष्पाद्यते मया।
तृतीया पूजा : एवं ज्ञानमये देवि ! तृतीया तु परापरा।
उत्तमा (परा पूजा) : उत्तमा सा परा ज्ञेया विधानं शृणु साम्प्रतम्।

परावस्था : यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाऽभ्यनतरे प्रिये।
तत्र तत्र परावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति?

तत्र तत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते प्रभो !।
तस्य तन्मात्रधर्मित्वाच्चिलयाद्भरिता स्थिता।।

चिल्लयलक्षणाद्वैत प्रथा ही परा पूजा है।

द्वितीया पूजा चक्रपूजा है। यह चक्रपूजा ही अपरा पूजा है— 'चतुरस्त्रादिबैन्दवान्तश्री-चक्रसदनावरणदेवतार्चनमपरा पूजा' (अमृतानन्द)। अपरा पूजा = भेदप्रथामात्रसारा, बाह्यचक्रावरणार्चनारूपा अधमा पूजा।

तृतीया पूजा परापरापूजा है। 'बाह्याभ्यन्तरे धाम्नि द्वये चिल्लयभावनामयी मध्यमा, परापरात्मकत्वात्। अपरा द्वितीया पूजा भेदप्रथामात्रसारा, बाह्यचक्रावरणार्चनरूपा, अधमा तृतीया पूजा परापरा।'

दास्यभक्ति का प्राधान्य

भक्ति-भावना की दृष्टि से शाक्तों ने भक्ति रस, शान्त रस एवं शृङ्गार रस का प्रयोग करते हुये भगवती को माता एवं अपने को पुत्र के रूप में प्रस्तुत किया है। दास्यभक्ति भी प्रचुर मात्रा में है।

त्रिकदर्शन, शैवदर्शन एवं शाक्तदर्शन आदि सभी आगमिक दर्शनों में मुख्यत: दास्य भक्ति को प्रामुख्य दिया गया है। भगवान् को प्रभु, पिता एवं गुरु के रूप में तथा भक्त को दास, पुत्र या शिष्य के रूप में ग्रहण किया गया है।

शाक्तदर्शन की विशेषता यह है कि यहाँ पितृभाव के स्थान पर मातृभाव को स्वीकार किया गया है— 'यन्मातापितरौ' (शक्तिसूत्र-१.८९), 'मातरं नारद:' (शक्तिसूत्र-१.१०३), 'स्त्रीसामान्ये मातृभाव:' (शाक्तदर्शनम्-४.३४), 'शक्तिस्त्रिजननी' (शाक्त-दर्शनम्-४.१), 'शक्तिरेव सर्वकारणमिति हयग्रीव:' (शाक्तदर्शनम्-३.४.२२)। भावत्रयी में दास्यभाव ही मूल है। अत: इसी का प्राधान्य है। 'शान्त रस' भक्ति की एक स्फुरणा-मात्र या स्फुरत्ता की अवस्था-मात्र है। शान्त रस का विकास होने पर वह दास्यभक्ति में परिणत हो जाता है। नारद ने मातृभाव का प्रतिपादन किया है।

त्रिकदर्शन में भी यह मातृ-पितृभाव का सम्बन्ध मान्य है। अभिनवगुप्तपाद 'श्री-परात्रिंशिकाविवृत्ति' के मङ्गलाचरण में कहते हैं—

विमलकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहाजननी भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्तरुचिर्जनक:।
तदुभययामलस्फुरितभावविसर्गमयं हृदयमनुत्तरामृतकुलं मम संस्फुरतात्।।

जो सृष्टि-स्थिति-संहार का कारण है, जिसके भीतर ही यह विश्व स्थित है और जगत् का संहार हो जाने पर यह जहाँ जाकर विश्राम करता है, उस स्वात्मसंवित्तिस्वरूपा देवी की ही अभिनवगुप्त वन्दना करते हैं—

यस्यामन्तर्विश्वमेतद्विभाति बाह्याभासं भासमानं विसृष्टौ।
क्षीणे क्षीणेऽनुत्तरायां स्थितौ तां वन्दे देवीं स्वात्मसंवित्तिमेकाम्।।

शिवानन्द मुनि 'सौभाग्यहृदयस्तोत्र' में जगदम्बिका को 'माता' शब्द से सम्बोधित करते हुये कहते हैं—

अनाश्रितादिकालाग्निरुद्रान्तं चिरमद्भुतम्।
उन्मीलयसि मातस्त्वं प्रकाशवपुषि त्वयि।।

दुर्वासा-सम्प्रदाय के सूत्रधार ऋषि दुर्वासा 'त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र' के प्रथम श्लोक का प्रारम्भ ही भगवती के मातृरूप की वन्दना से करते हैं—

श्रीमातस्त्रिपुरे परात्परपरे देवि! त्रिलोकीमहा-
सौन्दर्यार्णवमन्थनोद्भवसुधाप्राचुर्यवर्णोज्वलाम् ।
उद्यद्भानुसहस्रनूतनजपापुष्पप्रभं ते वपुः
स्वान्तं मे स्फुरतु त्रिलोकनिलयं ज्योतिर्मयं वाङ्मयम्।।

और आगे फिर कहते हैं—

- तद्बीजं पदवाक्यमानजनकं श्रीमातृके ते परम्।
- भस्मीकृत्य विकल्पजालमखिलं मातःपदन्तद् व्रजेत्।
- दूरादेव निवर्तते परतरं मातःपदं निर्मलम्।
- विश्वं व्याप्य चिदात्मनाहमहमित्युजृम्भसे मातृके।
- श्रीमातस्त्रिपुरारिसुन्दरि कुरु स्वान्ते निवासं मम।
- रादीप्तं सुनितम्बबिम्बमरुणं ते पूजयाम्यम्बिके।
- श्रीमातः श्रयतां मदीयहृदयाम्भोजं सरोजालये।
- माल्यैरम्ब विलम्बितं सुशिखरं बिभ्रच्छिरस्ते भजे।
- भालं नन्दनचन्दनेन जननि! ध्यायामि ते मङ्गलम्।
- मातस्ते विजयमहाङ्कुशसयोषान.......................।
- सौन्दर्यं वपुषि प्रदेहि जगतामम्बेश्वरि श्रीशिवे।

एकोनषष्टि अध्याय

भक्तितत्त्व और त्रिपुरोपासना

'अनिवर्चनीयं प्रेमस्वरूपम्' कहकर भक्तिसूत्रकार ने भक्ति को प्रेमस्वरूप घोषित किया है। भगवती ललिता भी प्रेमस्वरूपा हैं— 'चित्कलानन्दकलिका प्रेमरूपा प्रियङ्करी' (ललितासहस्रनाम)। भगवती को भक्त साधक अत्यन्त प्रिय हैं। ललितासहस्रनाम में उन्हें भक्तों की कल्पलता कहा गया है— 'भक्तिमत्कल्पलतिका पशुपाशविमोचिनी।' भगवती ने स्वयं ही कहा है— 'मद्भक्तानां वाग्विभूतिप्रदाने विनियोजिता:; येन भक्तै: स्तु-ताया: मे सद्य: प्रीति:परा भवेत्।' उत्पलदेवाचार्य भी भक्ति को सर्वोच्च साधना मानते हैं—

न योगो न तपो नार्चाक्रम: कोऽपि प्रणीयते।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते।।

भगवती को यदि सर्वाधिक प्रसन्न करना हो तो वे उनके भक्त बनकर उनकी स्तुति करें—

येन भक्तै: स्तुताया मे सद्य: प्रीति:परा भवेत्।

'ललितासहस्रनाम' में हयग्रीव अगस्त्य ऋषि से कहते हैं कि जो भक्तिशून्य है, वह भगवती के सहस्रनाम सुनने का भी अधिकारी नहीं है; अत: ऐसे भक्तिहीनों को इसे सुनाया न जाय—

ब्रूयाच्छिष्याय भक्ताय रहस्यमपि देशिक:।
भवता न प्रदेयं स्यादभक्ताय कदाचन।।

'गीतानिष्यन्द' में कहा गया है भक्ति का स्वरूप एकीभाव है—

न पादपतनं भक्तिर्व्यापिन: परमात्मन:।
भक्तिर्भावस्वभावानां तदेकीभावभावनम्।।

यह भी कहा गया है कि जो भक्तिभाव से (भक्त बनकर) भगवती का स्तवन करता है, वह भगवती के लिए प्रियतम साधक है। भगवती स्वयं कहती हैं—

इदं नामसहस्रं मे यो भक्त: पठते सकृत्।
स मे प्रियतमो ज्ञेयस्तस्मै कामान् ददाम्यहम्।।

जिनमें भाव या भक्ति नहीं है, उनकी साधना व्यर्थ है—

पूजा होम: क्रमश्चर्या व्रतं शास्त्रनिषेवणम्।
तपो ध्यानं जप: शौचं तत्त्वहीनस्य निष्फलम्।। (महार्थमञ्जरी)

इसीलिये तो महार्थमञ्जरी में किसी के मत का उल्लेख करते हुये कहा गया है—

देवान् यजन्ते कतिचिद्वयं तु स्वानन्दमुद्रैकमहासपर्या:।

भगवती की उपासना परा भक्ति के साथ की जानी चाहिये—

पूजयेत् परया भक्त्या आत्मानं च निवेदयेत्।
एवं यजनमाख्यातमग्निकार्येऽप्ययं विधिः।।

देवी के समक्ष अपने को समर्पित करते हुये ही साधक को पूजा करनी चाहिये। यही यजन का स्वरूप है—

यजेद्देवीं महेशानीं सप्तविंशतिमन्त्रिताम्।
ततः सुगन्धिपैष्पैस्तु यथाशक्त्या समर्चयेत्।।

मूर्धा, वक्त्र, हृदय, गुह्य आदि प्रदेशों का न्यास करके भगवती की पूजा सुगन्धित पुष्पादिपूर्वक भक्ति से करनी चाहिये।[१]

भगवती के नामश्रवण का भी अधिकार उसी को है, जो मातृभक्तिपरायण हो—

श्रीमातृभक्तियुक्ताय श्रीविद्याराजवेदिने। (ललितासहस्रनाम)

भगवती ने केवल भक्तों के हित के लिये ही ललितासहस्रनाम को मुक्त्यर्थ प्रदान किया है—

पुरा श्रीललिता देवी भक्तानां हितकाम्यया।

इसीलिये भक्तों के लिये सहस्रनाम को आवश्यक कहा गया है—

भक्तस्यावश्यकमिदं नामसाहस्रकीर्तनम्।

भक्ति-साधना— शाक्त आचार्य हयग्रीव अपने 'शाक्तदर्शन' में भक्तितत्त्व को भी साधना का अपरिहार्य अङ्ग मानते हुये कहते हैं कि— 'देवीमाहात्म्यग्रहणं भक्तिसंस्कारः; वर्णसंस्कारभूतो भक्तिसंस्कारार्हः' (१५.३.२.१)। गुरु-भक्ति के विना कुछ भी साध्य नहीं है। देवी की महिमा का श्रवण करके ही (भक्ति-संस्कृत होकर) गणपति-सिद्धि-बुद्धि नामक मन्त्ररूप मूलमन्त्र को ग्रहण कर पाना सम्भव हो पाता है। इस मूलमन्त्रग्रहण को 'समय' कहते हैं— 'मूलमन्त्रग्रहणं समयः' (१५.३)। मूलमन्त्र के ग्रहणानन्तर देवी का अर्चन 'विशेष' कहा जाता है। यहाँ भी जो विशिष्ट अर्चन (यन्त्रार्चन) निष्पादित किया जाता है, उसे ही 'महाविशेष' कहते हैं। इसमें मूर्तिपूजा का भी ग्रहण है— 'मुक्ताप्रवालगज-दन्तश्वेतार्केष्वेकमूर्तिपूजाग्रहणं महाविशेषः।' निरीक्षण-संस्कार द्वारा पञ्चम वेद (इतिहास-पुराण) को ग्रहण करना 'सामान्यज्ञानदीक्षा' है। इससे भी श्रेष्ठतर है— औशनस पुराण। इससे भी उत्तम है— देवीरहस्य। पुराणों में औशनस पुराण के बाद भागवत पुराण का ग्रहण श्रेष्ठतर है— 'भागवतपुराणम्' (१५.३.१३), 'तरमौशनसम्' (१५.३.१४) 'तमं रहस्यम्' (१५.३.१५)। वेदानुमोद ही विशेषज्ञानदीक्षा है (१५.३.१६)। महावाक्य-सिद्धान्त-ग्रहण ही वेदानुमोद है (२८)।

शाक्त-सिद्धान्तानुसार भृगु-याज्ञवल्क्य-गौतम-शक्तिज-बादर-हयग्रीव-प्रोक्त सिद्धान्तों में गणेश-सौर-शैव-वैष्णव-ब्राह्म एवं शाक्तदर्शन वेदानुमोदित है; किन्तु इनमें भी हय-

१. परात्रिंशिका

ग्रीवोक्त शाक्तदर्शन श्रेष्ठतम है। यही 'हयग्रीवविद्या' शाक्तसिद्धान्तदर्शन है— 'हयग्रीवविद्या शाक्तसिद्धान्तदर्शनम्' (१५.३.२६), 'हयग्रीवेण शाक्तम्' (१५.३.२५)।

शक्तिसूत्रकार अगस्त्य ने 'मातरं नारदः' (१.१०३) तथा 'यन्मातापितरौ' (१.८९) सूत्रों द्वारा भगवती की मातृभावना से उपासना करने का भी विधान किया है।

सौभाग्यहृदयस्तोत्र में मुनि शिवानन्द महात्रिपुरसुन्दरी को नमन करते हुये कहते हैं— 'सकलदुरितरोगध्वंसनानन्यकार्यं प्रतियजनविधानं सेव्यतां भक्तियुक्तैः।'

मूलादिबिलपर्यन्तं महात्रिपुरसुन्दरीम्।
या तनुस्ते तडित्प्रख्या तां भजे भवशातनीम्।।

क्रोधभट्टारक सम्प्रदाय के सूत्रधार ने त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र में भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की भक्तिभावित उद्गारों द्वारा गलदश्रु प्रार्थनायें की हैं—

श्रीमातस्त्रिपुरे ! परात्परतरे देवि ! त्रिलोकीमहा
सौन्दर्यार्णवमन्थनोद्भवसुधाप्राचुर्यवर्णोज्वलम् ।
उद्यद्भानुसहस्रनूतनजपापुष्पप्रभं ते वपुः
स्वान्ते मे स्फुरतु त्रिलोकनिलयं ज्योतिर्मयं वाङ्मयम्।।

आताम्रार्कसहस्रदीप्तिपरमा सौन्दर्यसारैरलं
लोकातीतमहोदयैरुपयुता सर्वोपमागोचरैः।
नानानर्घ्यविभूषणैरगणितैर्जाज्वल्यमानाभितः
श्रीमातस्त्रिपुरारिसुन्दरि ! कुरु स्वान्ते निवासं मम।।

आचार्य शंकर 'ललितापञ्चकम्' में कहते हैं—

प्रातर्वदामि ललिते तव पुण्यनाम कामेश्वरीति कमलेति महेश्वरीति।
श्रीशाम्भवीति जगतां जननी परेति वाग्देवतेति वचसा त्रिपुरेश्वरीति।।

प्रातर्नमामि ललिताचरणारविन्दं भक्तेष्टदाननिरतं भवसिन्धुपोतम्।
पद्मासनादिसुरनायकपूजनीयं पद्माङ्कुशध्वजसुदर्शनलाञ्छनाढ्यम्।।

भक्ति का स्वरूप और त्रिपुरासिद्धान्त

'भक्ति' शब्द सेवा अर्थ में पठित 'भज्' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'गीतानिष्यन्द' में कहा गया है कि भक्ति न तो साष्टाङ्ग दण्डवत है और न ही अन्य बाह्य क्रियायें है; प्रत्युत सर्वव्यापी भगवान् के साथ भावस्वभाव वाले भक्तों का एकीकरण ही भक्ति है—

न पादपतनं भक्तिर्व्यापिनः परमात्मनः।
भक्तिर्भावस्वभावानां तदेकीभावभावनम्।।

भक्ति-स्वरूप के विषय में भक्तिशास्त्र के आचार्यों के विविध मत इस प्रकार हैं—

पाराशर्य— पूजादिक में अनुराग ही भक्ति है— 'पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः।'

गर्गाचार्य— भगवत्कथा आदि में अनुराग ही भक्ति है— 'कथादिष्विति गर्ग:।'

शाण्डिल्य— आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग ही भक्ति है और वह परमात्मा में अनुरक्ति का होना हैं— 'आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्य:; सा परानुरक्तिरीश्वरे।'

नारद— समस्त कर्मों को भगवान् को अर्पित करना एवं भगवान् का थोड़ा-सा भी विस्मरण होने पर व्याकुलता का अनुभव होने लगना ही भक्ति है— 'नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।'

नारदपाञ्चरात्र— भक्तिभाव से परे अन्य कामनाओं का परिहार करके निर्मल चित्त से समग्र इन्द्रियों द्वारा भगवान् की सेवा करना ही भक्ति है—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्ततत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेश हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते।।

रूपगोस्वामी— भगवान् और उसकी सेवा तथा उसके ध्यान से परे अन्य आकांक्षाओं से मुक्त होकर ज्ञान एवं कर्म आदि से अनवच्छिन्न रहकर भगवान् श्रीकृष्ण का आनुकूल्य दृष्टि सततानुशीलन करना ही भक्ति है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।। (भक्तिरसामृतसिन्धु)

मधुसूदन सरस्वती— तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से द्रवित चित्त की सर्वेश्वर के विषय में धारावाहिकता-प्राप्त (तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से भगवदाकार) वृत्ति ही भक्ति है—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।।

सारांश यह कि भगवदाकारा वृत्ति ही भक्ति है। भगवद्धर्म अर्थात् भगवद्गुण-श्रवणादि से द्रवीभूत चित्त की सर्वेश्वर के विषय में धारावाहिकता-प्राप्त वृत्ति तो भक्ति है ही; साथ ही इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से द्रवित चित्त में स्थिर रूप से प्रविष्ट भगवदाकारता ही भक्ति है—

द्रुते चित्ते प्रविष्टा या गोविन्दाकारता स्थिरा।
सा भक्तिरित्यभिहिता विशेषस्त्वधुनोच्यते।। (भक्तिरसायन)

चित्तवृत्ति का अविच्छिन्न रूप से इष्टदेव में लगे रहना या भगवान् में निष्काम अनन्य प्रीति होना ही भक्ति है।

भक्तिरसामृतसिन्धु में आचार्य रूपगोस्वामी कहते हैं कि 'द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकाररूपा सविकल्पवृत्तिर्भक्तिरिति।'

भक्ति के सन्दर्भ में यह दृष्टि बहुत समीचीन नहीं है। इसकी सार्थकता केवल इतनी ही है कि भाव या भक्ति अपनी अभिव्यञ्जना चित्त को आधार बनाकर ही करती है। इसे

मन की वृत्ति कहना तो दूर रहा; महामाया की वृत्ति भी नहीं कहा जा सकता। यह तो अन्तरङ्गा, स्वरूपभूता आह्लादिनी शक्ति की ही एक वृत्तिविशेष है। इसी रूप में तान्त्रिकों के साथ-साथ सन्तों ने भी भक्ति को स्वीकार किया है।

भक्ति के इस तात्त्विक एवं आगम-सम्मत विवेचन के आलोक में 'अद्वैतभक्ति' या 'निर्गुण भक्ति' का समन्वय और सङ्गत व्याख्यान हो जाता है। कबीर कहते हैं—

मेरा मन सुमिरै राम कूँ मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि।।

इससे अद्वैत भक्ति (अभेदोपासना) की व्यञ्जना होती है। इस स्तर पर उपासक एवं उपास्य का भेद समाप्त हो जाता है; क्योंकि—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परं पदम्।
तत्र तत्र परं ब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम्।।

(सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत्- १९)

ज्ञान-भक्तिसामञ्जस्य— 'त्रिकदर्शन' एवं 'त्रिपुरासिद्धान्त' दोनों में अद्वैत दृष्टि के साथ मनोरम भक्तितत्त्व का सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में ज्ञान एवं भक्ति को पृथक्-पृथक् उपासना-पद्धतियाँ मानकर उनमें से एक की उपेक्षा एवं एक का आत्मीकरण नहीं किया गया है; प्रत्युत ज्ञान एवं भक्ति में समन्वय स्थापित करके दोनों को ही स्वीकार किया गया है। त्रिकदर्शन एवं त्रिपुरासिद्धान्त दोनों के अद्वैतवाद की यह विशेषता रही है कि यह न तो शुष्क ज्ञानमार्ग है और न ही ज्ञानहीन भक्तिमार्ग; प्रत्युत यह ज्ञान एवं भक्ति दोनों का समन्वयात्मक मार्ग है।

अद्वैतवादी (वेदान्ती) शङ्कराचार्य के केवलाद्वैतवाद की चरमावस्था में भक्ति के लिये कोई स्थान नहीं है; क्योंकि वेदान्ती शङ्कराचार्य की दृष्टि में भक्ति द्वैतमूलक है। अत: अद्वैतभाव में द्वैतात्मिका भक्ति के लिये कोई स्थान कैसे हो सकता है? ज्ञान की अद्वैता-वस्था में दो के लिये स्थान है ही कहाँ? जबकि भक्ति द्वैत (भक्त एवं भगवान्) को स्वीकार किये विना अस्तित्व में रह ही नहीं सकती। ज्ञानमार्ग में तो जीव एवं ईश्वर दोनों को 'मायारूपी कामधेनु का बछड़ा' कहा गया है— 'मायाया: कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ' (विद्यारण्य : पञ्चदशी)। अत: ईश्वर एवं भगवान् की भक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

भक्ति के दो रूप होते हैं— साधन भक्ति और साध्य भक्ति। इसमें जो साधन भक्ति (गौणी भक्ति) है, वह अज्ञानमूलक है। साध्य भक्ति में अद्वैत भक्ति को ग्रहण किया जाता है, जो कि नित्य तत्त्व है। नित्य सिद्ध ज्ञानभक्ति का आवरणभङ्गाविर्भूत समुन्मेष ही तो 'मोक्ष' है, जिसे कि त्रिकदर्शन (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्) में चिदानन्दलाभ या पूर्णाहन्ता-चमत्कार कहा गया है—

१. मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभ:। (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्- १७)

२. चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः।
(प्रत्यभिज्ञाहृदयम्-१६)

३. मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः; स एव च परमयोगिनः समावेशसमापत्यादिपर्यायः समाधिः।

४. तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात्सदा सर्वसर्गसंहारकारि-निजसंविद्देवताचक्रेश्वरत्वाप्राप्तिर्भवतीति शिवम्। (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्-२०)

अहन्ता अकृत्रिमः स्वात्मचमत्कारः।
(प्रत्यभिज्ञाहृदयम्-क्षेमराज)

(चमत्कार = गीतादिक के रस एवं आत्मानन्द के निरापद आस्वादनजनित उत्साह को 'चमत्कार' कहा जाता है। निरपेक्ष स्वात्मा में विश्रान्ति को भी 'चमत्कार' कहा जाता है। रसनात्मक आस्वाद या 'चर्वणा' ही 'चमत्कार' है।)

चरम तत्त्व सच्चिदानन्द है। उसमें जो चिदंश है, वह ज्ञानभाव है; क्योंकि चित् तत्त्व (आत्मा, संवित्, प्रत्यक् चैतन्य) ज्ञानस्वरूप है और जो आनन्दांश है, वही भक्ति है। चिदंश 'शिवभाव' है और आनन्दांश 'शक्तिभाव' है। ये दोनों परस्पर मिश्रित या समवेत हैं, अपृथक् हैं। शक्तिभाव में भी शिवभाव एवं शिवभाव में भी शक्तिभाव विद्यमान रहता है; क्योंकि प्रकाशमय शिवभाव में ही विमर्शस्वरूपा शक्ति का विकासरूपात्मक विश्व प्रतिबिम्बित होता है। अतः शक्तिप्रधान अवस्था में भी शिवभाव रहता है तथा शिव-प्रधान अवस्था में भी शक्तिभाव रहता है; क्योंकि उस समय विश्व का बीजरूप जो शक्ति है, वह प्रकाश में निलीन रहती है। इन दोनों तत्त्वों की सामरस्यावस्था (जहाँ शिव एवं शक्ति दोनों साम्यावस्था में विद्यमान रहते हैं) को न तो 'शिव' कहा जा सकता है और न ही 'शक्ति' कहा जा सकता है। शिव, शक्ति एवं उनका सामरस्य— ये तीनों नित्य हैं। ये एक ही तत्त्व की विभिन्न दिशायें हैं। चूँकि चिदंश 'ज्ञानभाव' है और आनन्दांश 'भक्तिभाव' है; अत ज्ञान भक्ति की सामञ्जस्यावस्था है और 'भक्ति' एक शक्ति है।

केवलाद्वैतवादी आचार्य शङ्कर, जिन्होंने केवलाद्वैतवाद के प्रतिपादन में भक्ति को केवल प्रारम्भिक साधन के रूप में स्वीकार किया था और इसे अज्ञान का विजृम्भणमात्र स्वीकार किया था, उन्हीं शङ्कराचार्य ने शक्ति की उपासना के समय कहा था—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो ही तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः।।

समुद्र की तरङ्गें होती हैं, तरङ्गों का समुद्र नहीं होता। सारे भक्ति मिलकर भी भग-वान् नही बन सकते; अतः भगवान् से भक्त होते हैं, भक्तों से भगवान् नहीं बना करते।

आचार्य शङ्कर कहते हैं कि 'शिवोऽहं' एवं 'अहं ब्रह्मास्मि' की अद्वैतात्मिका अनु-भूति होने पर भी 'मैं तुम्हारा हूँ' (तवाहं) की अनुभति अर्थात् अभेदावस्था में भी तवाहं

का भाव बना रह सकता है। यद्यपि ज्ञानोन्मेष की अवस्था में 'अहं-त्वं' का भाव तिरोहित हो जाता है, तथापि परा भक्ति की अवस्था में अद्वैत के पयोधि में कल्पित द्वैतभाव की तरङ्गें उच्छलित रहती ही हैं। इस दशा में भक्ति का जो स्वरूप समुन्मिषित होता है, वह 'अद्वैतभक्ति' कहलाता है। 'बोधसार' नामक ग्रन्थ में नरहरि कहते हैं—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्।।

जाते समरसानन्दे द्वैतप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः।।

यह भक्ति दास्यभाव की भक्ति है। यह अभेदावस्था में भी रसानन्दानुभूति हेतु कल्पित है।

आचार्य नारायणतीर्थ ने 'शाण्डिल्य भक्तिसूत्र' के भाष्य (भक्तिचन्द्रिका) में अद्वैत-भक्ति का सविस्तार विवेचन किया है।

'त्रिपुरारहस्य' के ज्ञानखण्ड (अध्याय-२० : श्लोक-३३-३४) में भी इसी अद्वैत भक्ति की पुष्टि करते हुये कहा गया है कि— प्रकाशात्मा परम तत्त्व को अपरोक्ष रूप में अपनी आत्मा से अभिन्न मानकर भी कतिपय भक्त उन भगवान् की प्रेमपूर्वक सेवा किया करते हैं। सेवा करने के लिये सेव्य-सेवकभाव आवश्यक है; किन्तु अद्वयावस्था में इस सेव्य-सेवकभाव की भेदप्रथा का इस अभेदानुभूति के साथ सामञ्जस्य कैसे स्थापित किया जा सकता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि इस स्तर पर भेदभाव को स्वेच्छया गृहीत किया जाता है और उसके अवलम्बन से ही भक्तिसाधना की जाती है। यह भेद या द्वैत-कल्पना वास्तविक नहीं; प्रत्युत आहार्य है। जिस सामरस्यावस्था में परम तत्त्व साम्यस्वरूप है, वहाँ भला भेद कहाँ है?

अद्वैतभावनिष्ठ साधक को इस भेद-कल्पना का अवलम्बन लेने की आवश्यकता क्या है? क्योंकि कहा भी गया है—

अद्वैतं भावयेन्नित्यं द्वैतभावं न भावयेत्।
द्वैतभावनया नित्यं संसारो न निवर्तते।।

अद्वैतभावनिष्णातः संसारं नैव पश्यति।
तस्माददद्वैतभावेन यः पश्यति स पश्यति।।[१]

इसका उत्तर केवल यह है कि शुष्क ब्रह्मज्ञान से आत्मा को रसानन्द एवं 'रसो वै सः' के रसात्मक स्वरूप का बोध नहीं हो सकता और परम तत्त्व मात्र 'सत्' एवं 'चित्' ही नहीं है, प्रत्युत आनन्द भी है; अतः सच्चिदानन्द के पूर्ण स्वरूप की अनुभूति करने हेतु साधक को ज्ञान (चित्) के अतिरिक्त आनन्द की भी अनुभूति करनी चाहिये। चूँकि

१. माहेश्वरतन्त्र (नारदपञ्चरात्र) : ज्ञानखण्ड

परमतत्त्व का आनन्द— परमात्मा की आह्लादिनी शक्ति ही 'भक्ति' है; अत: उसके बोध एवं उसकी अनुभूति के लिए अद्वैतावस्थान के बाद भी साधक को रसात्मक द्वैत की कल्पना करके अद्वैत से भी अधिक सुन्दर एवं अमृतोपम द्वैतभावात्मिका भक्ति का आश्रय ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि—

भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्।
जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपम्।।[१]

इस भेदाहरणस्वरूप भक्तिभाव का आश्रय लेने का प्रयोजन है— स्वभाव के स्वरस की प्राप्ति। कहा भी गया है—

स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वाद्वयं पदम्।
विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः।।

ज्ञान के अनन्तर भी भक्ति रह सकती है। यह कैतवहीन (छद्मशून्य) होने के कारण भक्ति नहीं; अपितु 'सुभक्ति' है— 'यत्सुभक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात्।' यह अज्ञान-मूलक साधनभक्ति नहीं है, यह अद्वैतभावशून्य द्वैत नहीं है; प्रत्युत यह स्वार्थानु-सन्धान से अतीत (साधनभक्ति से परे) अद्वैतभक्ति है। अद्वैतभक्ति में जिस भेद की कल्पना की जाती है, वह कल्पित होती है और ज्ञान से परिपूर्ण रहती है। जो मात्र ज्ञाना-कांक्षी हैं, उनमें इसका उदय सम्भव भी नहीं है। इसका उदय स्वभावत: भक्तिप्रवण साधकों में ही सम्भव है; अत: समस्त अद्वैतवादियों को इसकी अनुभूति होती हो— यह सम्भव नहीं है।

भक्ति और ज्ञान पृथक्-पृथक् दो साधनोपाय एवं भिन्न-भिन्न मार्ग (ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग) होते हुये भी अन्तत: अभिन्न ही हैं। साधना की चरमावस्था में ज्ञान एवं भक्ति दोनों एकाकार हो जाते हैं। ज्ञानी तो प्रारम्भ से ही 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'शिवोऽहं शिवोऽहं' की साधना करते हुये ब्रह्म एवं शिव से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है; किन्तु भक्त भी भगवान् के ध्यान में अपनी गम्भीर भावुकता (प्रगाढ़ भक्ति) के कारण भगवान् के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है और इसीलिये भक्ति में भी 'सारूप्य' एवं 'सायुज्य' मुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। ज्ञान एवं भक्ति की इसी एकाकारता की अवस्था को 'पूर्णाहन्ता' या 'स्वात्मचमत्कार' कहा जाता है। जो ज्ञान की चरम सीमा है, वही भक्ति की भी पराकाष्ठा है। यही वह मूल केन्द्र है, जहाँ से ज्ञान एवं भक्ति दोनों की स्रोतस्विनियाँ प्रवाहित होती हैं। यह वह हिमालय है, जहाँ से एक ओर ज्ञान की गंगा प्रवाहित होती है तो दूसरी ओर भक्ति की पयस्विनी कालिन्दी प्रवाहित होती है; किन्तु दोनों अपने मूल केन्द्र हिमालय में जाकर एकाकार हो जाती हैं। यह समन्वय की भूमि है और द्वय का एकाकार मूल केन्द्र है— भक्ति और ज्ञान की, दो भिन्न-भिन्न सरिताओं का एकाकार मूलोद्गम है। चूँकि यह चरमस्थानीय भक्ति जिस द्वैत पर आश्रित है, वह यथार्थत: द्वैत है ही नहीं; अत: इसे 'अद्वैतभक्ति' का अभिधान प्राप्त है। यह जीवात्मा एवं परमात्मा का अद्वैतात्मक द्वैत है—

---

१. बोधसार (नरहरि)

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनो:।।

यहाँ पहुँचकर विषात्मक द्वैत भी अमृत बन जाता है— 'द्वैतमप्यमृतोपमम्।'

'निष्कर्ष' यह कि अद्वैतज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर जो निर्व्याजा, अहेतुकी प्रेमस्वरूपा अद्वैतभावाश्रिता भक्ति उदित होती है, वही है— पराभक्ति या अद्वैतभक्ति। इसी भक्ति को लक्ष्य में रखकर व्यास जी ने श्रीमद्भागवत में कहा है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्थाऽप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरि:।। (१.७.१०)

अर्थात् ब्रह्मभूत एवं इस प्रकार अविद्या ग्रन्थि से शून्य मुनि भी भगवान् की अहेतुकी भक्ति करते हैं।

इसी बात को नरहरि ने 'बोधसार' में कहा है कि ज्ञानाविर्भाव के पूर्व द्वैत केवल मोहोत्पत्ति के लिये हुआ करता है; किन्तु ज्ञान का समुन्मेष होने पर भक्ति के उद्देश्य से जिस द्वैतभाव की कल्पना की जाती है, वह तो अद्वैत से भी अधिक मनोहर हुआ करता है। जिस प्रकार पति एवं पत्नी का पृथकत्व प्रेमातिशय के कारण अद्वैतभावापन्न करने के परिणामस्वरूप आनन्द का स्रोत बन जाता है, उसी प्रकार भक्ति के उद्देश्य से जो जीवात्मा एवं परमात्मा में भेद-भावना को कल्पित किया जाता है, वह जीव-ब्रह्म के एकरससुखाविर्भाव के समय मुक्तिसुख प्रदान करता है।

अनुभवसूत्र में अद्वैतभक्ति की दृष्टि— भक्ति के दो रूप हैं— द्वैत एवं अद्वैत। द्वैतभक्ति सांसारिकता एवं संसरण का प्रवर्धन करती है। यह 'प्रपञ्च नाम वाली' मिथ्या कल्पना है और क्लेशों को जन्म देती है—

द्वैतभक्त्या हि संसारवर्धनं भिन्नरूपत:। (४७)
द्वैतभक्ति: प्रपञ्चाख्या केनचित्कल्पिता मृषा। (४८)
न च द्वैतात्मिकां भक्तिं क्लेशहेतुप्रदायिनीम्। (४४)

अद्वैतभक्ति का स्वरूप इस प्रकार है—

१. यह मात्र भगवत्प्रसाद से प्राप्त होती है।
२. यह ज्ञानोत्तरा भक्ति है।
३. यह सर्वसिद्धिप्रदायिका है।
४. यह आत्मकल्पिता है; न कि आत्मसम्भवा या स्वयम्भू।
५. यह अद्वैतभावापन्न है, अद्वैतलक्षणा है।
६. यह संसार का विनाश करती है।
७. यह अचला, निर्विकल्पा एवं निरञ्जना है।
८. इसका प्रयोजन द्वैतभक्ति की निवृत्ति भी है।
९. यह निजनिर्वाणरूपिणी है।

१०. भक्ति सच्चिदानन्दरूपिणी, भुक्ति-मुक्तिफलप्रदायिनी शक्ति है।

११. भक्ति एवं शक्ति में कोई भेद है नहीं।

१२. शक्ति से प्रपञ्च की सृष्टि होती है और भक्ति से उसका विलय होता है।

१३. भक्ति के वैचित्र्य से शक्ति द्वारा आविर्भूत नामरूप नीरूप हो जाते हैं।

१४. भक्ति का स्वाभाविक गुण प्रपञ्च का संक्षय है। शक्ति अधोमुखी है, जबकि भक्ति ऊर्ध्वमुखी होती है।

१५. शक्ति मायोपहिता होती है; किन्तु भक्ति निर्माया होती है।

१६. समस्त तर्कों एवं प्रमाणों से सिद्ध है कि भक्ति शक्ति से अधिक गुणवती है।

१७. शक्ति से उपास्यत्व की एवं भक्ति से उपासकता की प्राप्ति होती है।

१८. शक्ति महेश्वरी है। यही विभक्त होकर भक्तिरूपिणी बन जाती है।

१९. शक्ति सवासना होती है; जबकि भक्ति निर्वासना होती है।

२०. शिव की सहधर्मिणी शक्ति स्वस्वातन्त्र्य-बल से दो रूपों में विभक्त है—माहेश्वरी शक्ति एवं भक्ति।

२१. आत्मारूपी क्षेत्र में बीजी महेश्वर द्वारा वपित भक्ति ही परा भक्ति है।

२२. यह अवधानात्मिका एवं अनुभवात्मिका होती है। यह स्वानुभवाकारा भक्ति आनन्दात्मिका होती है। यह आनन्दरूपिणी है। सामरस्य के प्रभाव से यह समरसात्मिका भी है।

इस भक्ति में जो द्वैतभाव निहित है, वह द्वैत है ही नहीं; क्योंकि यह भक्ति यथार्थत: अद्वैतपदारूढ़ा तथा अद्वैतलक्षणा है। अन्य प्रकार की भक्ति तो केवल कल्पित भक्ति है, यथार्थ भक्ति नहीं है—

अद्वैतपदारूढा या भक्तिरद्वैतलक्षणा।
सैवाद्वैताभिधा भक्तिरन्या केवलकल्पिता।। (८.४६)

यह भक्ति द्वैतभक्ति के निवृत्ति का लक्ष्य रखती है और गरीयसी तथा निर्वाणरूपा है—

द्वैतभक्तिनिवृत्तौ हि साक्षादद्वैतलक्षणा।
भक्तिर्गरीयसी भाति निजनिर्वाणरूपिणी।।

शिवमार्ग में योग, तप, अर्चा आदि किसी का भी उतना महत्त्व नहीं है, जितना कि भक्ति का—

न योगो न तपो नार्चाक्रम: काऽपि हि विद्यते।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते।।

द्वैतभक्ति क्लेशप्रदायिनी है; अत: हेय है। अद्वैतात्मिका भक्ति ही सर्वसिद्धिप्रदा होने के कारण ग्राह्य है—

तस्माद‌द्वैतगां भक्तिमाश्रयेत् सर्वसिद्धिदाम्।
न च द्वैतात्मिकां भक्तिं क्लेशहेतुप्रदायिनीम्।। (८.४४)

भक्ति ही परमार्थदायिनी, परतत्त्ववेदिनी, भवदोषहारिणी एवं शिवभावकारिणी है—

भक्तिरेव परमार्थदायिनी भक्तिरेव परतत्त्ववेदिनी।
भक्तिरेव भवदोषहारिणी भक्तिरेव शिवभावकारिणी।। (८.८३)

भक्ति में जो दास्यभाव है, वही वरेण्य है—

नाहमनात्मा पश्चात्कोऽहं योऽहं पदस्थ आत्मा साक्षी।
सोऽहं तत्पतिशिवदासोऽहं दासोऽहमिति चरेदुपरि।। (८.८५)

ज्ञान से मोक्ष होता है— यह भी सत्य है; किन्तु भक्ति मोक्ष से भी ऊपर है—

ज्ञानादेव हि मोक्षः स्यान्मोक्षादुपरि शाम्भवी।
भक्तिर्गुरुतरा भाति स्वतन्त्रा निजलीलया।। (८.७७)

पुरुषार्थ तो चार ही हैं— धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष; किन्तु यदि कोई पञ्चम पुरुषार्थ है तो वह मात्र भक्ति ही है, अन्य नहीं—

पञ्चमः पुरुषार्थो हि भक्तिः शैवी सनातनी। (८.७८)

भक्ति शक्ति है। शक्ति एवं भक्ति में कोई अन्तर नहीं है।

भक्ति हो चाहे ज्ञान, कर्म हो चाहे योग; किन्तु साधना की परिणति इसी अनुभूति में होनी चाहिये कि—

यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाऽभ्यन्तरे प्रिये।
तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात्प्रकाश्यते।। (योगिनीहृदय)

योगिनीहृदय में साधना की कृतार्थता (पूजासङ्केत के अन्त में) अहन्ता-इदन्ता के एकीकरण में बताई गयी है—

अहन्तेदन्तयोरैक्यं भावयन् विहरेत् सुखम्।
एतत्ते कथितं सर्वं सङ्केतत्रयमुत्तमम्।।

इसे तीनों सङ्केतों (मन्त्रसङ्केत, पाँच चक्रसङ्केत एवं पूजासङ्केत) का सार बताया गया है।

भक्ति : शक्ति की साधना— परमात्मा की शक्तियों में चित् शक्ति, आनन्दशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति मुख्य शक्तियाँ हैं। इनमें आनन्दशक्ति भक्ति का केन्द्र है। भक्ति परमात्मा की आह्लादिनी शक्ति है; अतः भक्ति-साधना शक्ति-साधना का साधना है।

भक्ति के लिये शक्ति का स्वीकरण अनिवार्य है। शाङ्कर अद्वैतवाद में शक्ति की स्वीकृति नहीं है; किन्तु तान्त्रिक समाम्नाय में स्वीकृति है। इसमें भक्ति का जो रूप प्राप्त होता है, उसके आलोक में सन्तों की भक्ति की तात्त्विक मीमांसा की जा सकती है। आगमविदों ने परमतत्त्व को द्वयात्मक अद्वय के रूप में स्वीकार किया है। इस अद्वय स्वरूप में दो तत्त्व अनुस्यूत हैं— स्वरूप एवं स्वरूप की शक्ति।

यह 'स्वरूप की शक्ति' ही चित् शक्ति है, जो कि स्वरूप के साथ अभिन्नतया

समवेत है। यही अन्तरङ्गा शक्ति है, आह्लादिनी शक्ति है, आनन्दात्मिका शक्ति है, सच्चिदानन्दमयी परा शक्ति है। 'भक्ति' वह अन्तरङ्गा आह्लादिनी शक्ति है, जो कि स्वरूप के आनन्द का आस्वाद ग्रहण करने के लिये अपने से पृथक् हो गई है।

महाभाव एवं भक्ति— 'भक्ति' ह्लादिनी शक्ति की एक विशेष वृत्ति है। ह्लादिनी शक्ति महाभावस्वरूपा है। अत: शुद्ध भक्ति स्वरूपत: महाभाव का अंश है। भावरूपा भक्ति महाभाव से ही स्फुरित होती है। इसीलिये भावोदय को साधन-दुष्प्राप्य माना गया है। जीव कृत्रिम साधना के मूल में रहता है। 'भक्ति' जीव का स्वभावसिद्ध धर्म नहीं है; क्योंकि महाभाव या ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति होने के कारण 'भक्ति' स्वरूप-शक्ति के विलास एवं भगवत्स्वरूप के साथ संश्लिष्ट है। जीव कर्म कर सकता है; किन्तु भाव प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि वह स्वरूपत: भावमय नहीं है। कर्म करते-करते भाव-जगत् से उसमें भाव का अनुप्रवेश हुआ करता है।

आगमों में परमतत्त्व को अद्वयात्मक मानकर उसकी निजा शक्ति के रूप में चिन्मयी शक्ति की परिकल्पना की गई है। सम्पूर्ण मध्यकाल इसी चिन्मयी निजा शक्ति की साधना में निरत है।

अद्वैत परमतत्त्व अपने लीलात्मक सृजन-विधान में अपने को सन्दंश, चिदंश एवं आनन्दांश में विभाजित-सा कर लेता है। उसमें अनुस्यूत उसकी अन्तरङ्गा शक्ति सन्दंश के साथ निरतिशय रूप में; चिदंश के साथ उससे कम, किन्तु घनतर रूप में एवं आनन्दांश के साथ उससे भी कम, किन्तु घनतम रूप में व्याप्त रहती है।

माया एवं मायिक जगत् में सन्दंश, जीव एवं जीवजगत् में चिदंश एवं भगव-द्धाम में आनन्दांश अभिव्यक्त एवं सक्रिय रहता है। इस घनतम आनन्दांश का प्रतिबिम्ब ही राग, प्रीति या भक्ति है।

इस प्रकार भक्ति आह्लादिनी शक्ति की ही एक वृत्तिविशेष है।

रागात्मिका एवं रागानुगा भक्ति— भाव और प्रेम में आन्तर सम्बन्ध है। भाव ही परिपक्व होकर प्रेम या भक्ति के रूप में परिणत हो जाता है। भाव ह्लादिनी शक्ति के वृत्तिविशेष का नामान्तर है और यही भक्ति का स्वरूप है। भाव का अवतरण प्रथमावस्था में अन्त:करण की वृत्ति के रूप में प्रतिफलित होता है; किन्तु यह अन्त:करण की वृत्ति नहीं है। अन्त:करण में प्रतिफलित होकर वह समस्त देह को अनुप्राणित करता है। भक्ति या भाव ही स्वरूपशक्ति है; किन्तु इस भक्ति का आश्रय स्वरूपशक्ति की वृत्ति नहीं; प्रत्युत तटस्थ शक्ति का कार्य है अर्थात् जीव है। अत: 'रागात्मिका' भक्ति जीव की नहीं होती; बल्कि जीव को तो 'रागानुगा' भक्ति की ही प्राप्ति होती है।

भक्ति : अन्त:करण की विशेष वृत्ति— भक्तिशास्त्रों में लिखा है कि भक्ति अन्त:-करण की एक वृत्तिविशेष है; किन्तु यह पूर्णत: सत्य नहीं है। भक्तिशास्त्रों में भक्ति की

निम्न स्थूल परिभाषा दी अवश्य गई है—

आचार्य रूपगोस्वामी 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में कहते हैं कि 'द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकाररूपा सविकल्पवृत्तिर्भक्तिरिति।'

मधुसूदन सरस्वती 'भक्तिरसायन' में कहते हैं कि—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।।

किन्तु यह बात पूर्णत सत्य नहीं है। इसकी सार्थकता केवल इतनी है कि भाव या भक्ति अपनी अभिव्यञ्जना चित्त को आधार बना कर किया करती है। इसे मन की वृत्ति कहना तो दूर, इसे महामाया की वृत्ति भी नहीं का जा सकता। यह तो अन्तरङ्गा, स्वरूप-भूता आह्लादिनी शक्ति की वृत्तिविशेष है। इसी रूप में इसे तान्त्रिकों एवं निर्गुणपन्थी सन्तों ने 'निर्गुण भक्ति' का नाम देकर स्वीकार किया था।

भक्ति के इस तात्त्विक एवं आगमसम्मत विवेचना के प्रकाश में अद्वैत भक्ति या निर्गुण भक्ति (निर्गुणपन्थी सन्तों की भक्ति : कबीरादिक की भक्ति) का समन्वय और सङ्गत व्याख्यान सहज हो जाता है। कबीर कहते हैं—

मेरा मन सुमिरै राम कूँ मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामुहि ह्वै रह्या सीस नवावौं काहि।।

यह अद्वैतभक्ति का निदर्शन है।

साध्य भक्ति एवं साधन भक्ति— भक्ति तत्त्वत: शक्ति है, न कि भक्तिसूत्रकारों की व्याख्या के अनुकूल वह 'पूजादिक में अनुराग' है, न 'कथादिक में प्रेम' है, न 'आत्मरति के अविरोधी विषय में आसक्ति' है, न 'भगवद्विरह' है और न ही 'हृषीकेश का अनु-शीलन' है। यद्यपि कहा यही गया है; यथा—

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।। (रूपगोस्वामी)

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेश हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते।। (नारदपाञ्चरात्र)

'नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणो परमव्याकुलतेति' (नारद) आदि।

भक्ति तो चिन्मयी निजा शक्ति है। साध्य भक्ति आगम-प्रतिपादित निजा शक्ति से अभिन्न है; अत: भक्ति तत्त्वत: 'शक्ति' ही है। इसीलिये सन्त नाभादास ने 'भक्तमाल' में कहा भी है—

भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुर नाम वपु एक।

निरुपाधिक स्वरूप में जिस प्रकार ये तीनों चिन्मय हैं, तद्वत् 'भक्ति' को भी चिन्मयी एवं भगवत्स्वरूपा मानना पड़ेगा। चरम भूमि पर यह भक्ति 'साध्य भक्ति' है, आह्लादिनी

शक्ति है और अन्त:करण या चित्त की भूमि पर वह रागात्मक मनोदशा के रूप में 'साधन भक्ति' है।

पार्थिव काया में रागवृत्ति उसी चिन्मयी महाशक्ति की प्रतिच्छाया है, उसका प्रति-बिम्ब है या प्रतिरूप या प्रतिकृति है। उस रागात्मक वृत्ति का ऊर्ध्वमुखी परिस्फुट स्वरूप 'साध्य भक्ति' चिन्मयी शक्ति ही है। 'चिदेव चित्त' कहकर आगम चित्त को भी चित् शक्ति का परिणमन मानता है। इसी चित्त में आह्लादिनी शक्ति का आनन्दांश अस्फुट रूप से व्यक्त होने पर 'साधन भक्ति' बन जाता है।

मध्ययुगीन भक्तों की सामान्य आस्था 'प्रेम पुमर्थो महान्' रही है। किसी-किसी ने आत्मतत्त्व या निजस्वरूप को 'परम प्रेमास्पद' स्वीकार किया है और किसी-किसी ने 'परमप्रेमात्मक' कहा है।

इन सन्तों ने प्रेम को पञ्चम पुरुषार्थ एवं साध्यरूप में स्वीकार किया है। यह 'प्रेम' है क्या? यह है— 'ह्लादिनीरसार प्रेम।' आह्लादिनी शक्ति के आनन्दरस का जो निर्यास या घनीभूत सार है, वही 'प्रेम' है।

चिद्वस्तु (परमात्मा) के अतिरिक्त किसी के प्रति अनुराग (प्रेम) नहीं होता। कहा भी है—

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारे कहि काम?
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम।।

साधन भक्ति एवं साध्य भक्ति— यथार्थ भक्ति 'साध्य भक्ति' ही है। 'साधनभक्ति' भक्ति-पद-वाच्य नहीं है। साधनभक्ति भक्ति का साधन होने के कारण ही 'भक्ति' संज्ञा पा जाती है; अन्यथा वह 'भक्ति' है ही नहीं। साधनभक्ति कर्तृत्वाभिमानलक्षणा है; जबकि साध्य भक्ति कर्तृत्व एवं कर्म से अतीत है। यह कर्मातीता है। 'भक्ति' प्रेम एवं भाव से सम्बद्ध है, न कि कर्म से। अत: यह कर्म-दुष्प्राप्या, तर्कातीता और प्रेमस्वरूपा है।

भजन का लक्ष्य है— भाव से प्रेम की ओर अग्रसर होना। भाव एवं प्रेम— दोनों आह्लादिनी शक्ति के नामान्तर हैं। आह्लादिनी शक्ति ही स्वरूपभूत आनन्द का आस्वादन करा पाने में समर्थ है। 'भक्ति' यथार्थ अर्थ में 'परा भक्ति' या 'साध्य भक्ति' ही है। यही आह्लादिनी शक्ति का स्वस्वरूप है। 'वैधी भक्ति' से 'रागानुगा भक्ति' इसीलिये श्रेष्ठ है कि वह स्वभाव-प्रेरित है और 'परा भक्ति' स्वभाव है। रागात्मिका भक्ति मूलरागानुविद्ध है। साधना के धरातल पर राग-भक्ति 'मूलराग' की छायामात्र है और रागात्मिका भक्ति मूलरागभक्ति है। प्रेमाभिव्यक्ति (भक्ति का उन्मेष) ही चरमोद्देश्य है।

प्रेम या भक्ति भगवान् की आह्लादिनी शक्ति होने के कारण तत्त्वत: 'शक्ति' ही है। प्रेम के आविर्भाव-काल में भाव शान्त हो जाता है और भक्त महाप्रेम में, स्वस्वरूप में प्रतिष्ठत हो जाता है। भाव या भक्ति की चरम परिणति रस एवं महाभाव के रूप में होती

है। रस एवं महाभाव परमात्मा की ह्लादिनी शक्ति का नामान्तरमात्र है।

त्रिपुरा, प्रत्यभिज्ञा, गौड़ीय वैष्णव, सूफी एवं मध्ययुगीन निर्गुण भक्ति के अनु-यायी सन्तों की भक्ति यही रसस्वरूपा भक्ति है।

ह्लादिनी शक्ति और भक्ति

विष्णुपुराण की दृष्टि— विष्णुपुराण में कहा गया है कि परमात्मा की अनन्त शक्तियों में उनकी 'परा' नाम्नी स्वाभाविकी शक्ति 'स्वरूप शक्ति' है। यह ज्ञान, बल एवं क्रिया के नाम से प्रख्यात है। पुराणों में इन्हें ही संविद्, सन्धिनी एवं ह्लादिनी शक्ति के नाम से पुकारा गया है; यथा—

ह्लादिनी सन्धिनी संवित्त्वय्येषा सर्वसंस्थितौ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते।।

(विष्णुपुराण-१.१२.६८)

अर्थात् सर्वाधिष्ठानस्वरूप आपमें एक ही स्वरूपभूता शक्ति ह्लादिनी, संवित् एवं संधिनी— इन तीनों रूपों में वर्तमान है; किन्तु आप (परमात्मा) गुणवर्जित हैं अर्थात् माया के तीनों गुणों से परे हैं; अत: (मायिक जगत् के समान) ह्लादकारी, मिश्रित एवं तापकारी मायिक शक्ति आपमें स्थित नहीं है।

श्रीधरस्वामी कहते है कि ह्लादिनी (आह्लादकारिणी) स्वरूपभूता शक्ति, जो कि सर्वसंस्थितिरूपा (जिससे सबकी सम्यक् स्थिति है) है, आपमें स्थित है; किन्तु जीव में नहीं है। जीवों में जो त्रिविधा गुणमयी शक्ति है, वह आपमें नहीं है तथा वह आह्लादक-तापकरी मिश्रा है। 'सच्चिदानन्द' ह्लादिनी एवं संवित् शक्तियों से समाश्लिष्ट हैं; किन्तु जीव स्वारोपित अविद्या से आच्छादित होने के कारण क्लेशाकर है।

सर्वज्ञसूक्त की दृष्टि— विष्णुस्वामी 'सर्वज्ञसूक्त' में कहते हैं कि—

ह्लादिन्या संविदाऽऽश्लिष्ट: सच्चिदानन्द ईश्वर:।
स्वाविद्यासंवृत्तो जीव: सङ्क्लेशनिकराकर:।।

स्वरूपशक्ति की छायारूपा इस मायाशक्ति के बन्धन से मुक्ति-प्राप्त्यर्थ भक्तियोग के द्वारा स्वरूपशक्ति का आश्रय प्राप्त करना आवश्यक है।

प्रीतिसन्दर्भ की दृष्टि— श्रीजीवगोस्वामी 'प्रीतिसन्दर्भ' (अध्याय-९५) में कहते हैं कि भगवान् में ही ह्लादिनी, सन्धिनी एवं संवित्— ये तीन शक्तियाँ अवस्थित हैं। विष्णुपुराण में कहा गया है कि 'हे भगवन् ! आप निर्गुण हैं। आपमें आह्लाद, क्लेश एवं मिश्रभाव नहीं है।' इस वाक्य में भगवान् की ह्लादिनी नामक स्वरूपा शक्ति आनन्द-रूपा है। इसी के द्वारा भगवान् जीवों को आनन्द देते हैं। यह शक्ति नित्या है। इसी की सर्वा-नन्दातिशायिनी नित्य वृत्ति भक्तवृन्द को प्रदत्त होने पर वह 'भगवत्प्रीति' कही जाती है। भगवान् भी इस प्रीति को भक्त में अनुभव करके उसे ग्रहण करते हैं। यह आनन्द सांख्य

एवं न्याय का जड़ आनन्द नहीं है और न तो निर्विशेषवादी के शक्ति-शक्तिमान की अभिन्नता से अनभिज्ञ लोगों का चिदेकानन्द ही है। ह्लादिनी शक्ति के द्वारा भगवान् जीव को अपना प्रीतिधर्म प्रदान करता है। यह शक्ति भगवान् को भी आनन्द प्रदान करती है। भगवान् इसके द्वारा आह्लादास्वादन करते हैं। इसी के द्वारा भगवान् जीवों को अपना प्रीतिधर्म प्रदान करते हैं।

श्रीजीवगोस्वामी 'भागवतसन्दर्भ' (१०३) में कहते हैं कि भगवान् जिस शक्ति के द्वारा सत्ता धारण करते एवं कराते हैं, वह देश-काल-द्रव्यादि की प्रकाशिका शक्ति 'सन्धिनी' शक्ति है।

जिस शक्ति के द्वारा भगवान् जानते एवं दूसरों को जानने की शक्ति प्रदान करते हैं, वह 'संवित्' शक्ति है, जो चित्प्रधान है।

जिस शक्ति के द्वारा भगवान् स्वत: आनन्द लेते हैं और दूसरों को आनन्द प्रदान करते हैं, वही शक्ति है— 'ह्लादिनी' शक्ति।

सारांश यह है की मूल परा शक्ति त्रिरूपात्मिका है। अंशत्रयस्वरूप शक्ति में अन्त-र्निहित है।

भक्त विनोद ठाकुर की दृष्टि— भक्त विनोद ठाकुर 'गौराङ्गलीलास्मरणमङ्गलस्तोत्रम्' में कहते हैं कि— श्रीकृष्ण ह्लादिनी के प्रणय में सदा अनुरक्त रहते हैं। 'स्वरूपशक्ति'स्वरूपा ह्लादिनी शक्ति (राधा) श्रीकृष्ण को सम्पूर्ण चिदाह्लाद प्रदान करती है। ह्लादिनी एवं राधा महाभावस्वरूपा हैं। वे निज कायव्यूह में अष्टभावों को अष्ट सखियों के रूप में व्यक्त करती हैं। ये चिन्मया एवं जगद्रूप व्रज की नित्य सिद्धा सखियाँ हैं। कृष्ण ह्लादिनी के प्रणय-विकार में सदा परमानन्दमय रहते हैं। ह्लादिनी शक्ति के बल से मधुर रस का भावोदय होता है।

'भाव' है क्या? शुद्ध सत्त्वविशेषस्वरूप तत्त्व ही भाव है। भाव का द्वितीय नाम 'रति' है। इसे ही 'प्रेमाङ्कुर' कहते हैं। सर्वप्रकाशिका स्वरूप शक्ति की संवित् वृत्ति के साथ ह्लादिनी वृत्ति के मिलन का सार अंश ही है— भाव। ह्लादिनी वृत्ति के द्वारा वस्तु का आस्वादन होता है। इसकी वृत्ति में उस पारस्परिक सम्बन्धविषयक प्रीतिस्वरूपा ह्लाद की स्फुरणा होती है।

इसके सहयोग से भगवान् आह्लादित रहते हैं। वे इसके द्वारा जीवों को भी आह्लाद प्रदान करते हैं— 'रसो वै स:। रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।' वे स्वत: रस या आनन्द हैं। वेदों में भी भगवान् की स्वाभाविकी परा या स्वरूप शक्ति की तीन वृत्तियाँ कही गई हैं जो ज्ञान (संवित्), बल (सन्धिनी) एवं क्रिया (ह्लादिनी) हैं। अत: भगवान् की स्वरूपा शक्ति एवं उसकी तीनों वृत्तियाँ वैदिक ही हैं।

ज्ञानदेव की अकृत्रिमा भक्ति (अमृतानुभव)— योगिराज ज्ञानेश्वर ने अपने ग्रन्थ

'अमृतानुभव' में साङ्ख्य के द्वैतवाद, चार्वाकों के जड़वाद, बौद्धों के विज्ञानवाद एवं शून्यवाद तथा अज्ञानवाद का खण्डन करके अपने 'चिद्विलास' नामक मत का प्रतिपादन किया है। शाङ्कर अद्वैतवाद में प्रतिपादित अज्ञान का सिद्धान्त ज्ञानेश्वर को मान्य नहीं है और न तो उनकी भक्तिसम्बन्धिनी उपेक्षामयी दृष्टि ही।

ज्ञानेश्वर ने शाङ्कर अज्ञानवाद का खण्डन करके तथा यह प्रदर्शित करके कि संसार अज्ञान या अविद्या का कार्य नहीं है; प्रत्युत वह प्रभु के प्रेम एवं शक्ति की अभि-व्यक्ति है, आत्मक्रीडा है, चिद्वलास है, अकृत्रिमा भक्ति या स्वभावसिद्धा भक्ति के सिद्धान्त का मार्ग प्रशस्त किया।

ज्ञानेश्वर की दृष्टि में परमात्मा प्रेमस्वरूप है। यही सिद्धान्त ज्ञानेश्वर के तत्त्वज्ञान का मूल मन्त्र है। ज्ञानेश्वर के मतानुसार चरम प्रेम स्वयं ही द्रष्टा एवं दृश्यरूप में अभिव्यक्त होता है। परमात्मा का स्वगत प्रेम ही चरम सत्य है।

जगत् के रूप में जो कुछ भी भासमान हो रहा है, वह केवल आभासमात्र नहीं है; प्रत्युत परमात्मा के प्रेम की यथार्थ अभिव्यक्ति है। भक्ति या परमात्मा का स्वगत प्रेम अज्ञानी जीव अज्ञानजन्मा भावना नहीं है; प्रत्युत वह चरम तत्त्व की प्रकृति एवं हृदय है। यही मानवजीवन एवं जगत् का मूल उत्स है। परमात्मा अपने से प्रेम करते हैं अर्थात् परमात्मा मानव जाति एवं जगत् से प्रेम करते हैं, जो कि अपनी अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। परमात्म-प्रेम को हृदयङ्गम करना, उसकी अनुभूति करना एवं उसका आस्वादन करना ही जीवन का लक्ष्य है। यह अनुभूति ही अकृत्रिमा (स्वाभाविक) भक्ति है। ज्ञानेश्वर की दृष्टि में इसके समक्ष ज्ञान एवं योग की समाधि का आनन्द तुच्छ है। इस भक्ति का आस्वादन मुक्ति के आनन्द से भी अधिक मधुर है। इसीलिये इसे 'पञ्चम पुरुषार्थ' कहा जाता है। परमात्मा का मनुष्य के प्रति प्रेम ही परम पुरुषार्थ है।[१]

भावनोपनिषद् में भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की उपासना में भावना को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है और कहा गया है कि 'एवं मुहूर्तत्रयं भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति। तस्य देवताऽऽत्मैक्यसिद्धिः। चिन्तितकार्याण्ययत्नेन सिध्यन्ति। स एव शिवयोगीति कथ्यते।'[२]

मधुसूदन सरस्वती भक्ति को 'परम पुरुषार्थ' भी मानते हैं— 'नवरसमिलितं वा कवलं वा पुमर्थं परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति।' (भक्तिरसायन, उल्लास-१)

'भक्ति' पुरुषार्थचतुष्टय में अन्तर्भुक्त नहीं है; प्रत्युत यह स्वतन्त्र एवं परम पुरुषार्थ है।

मधुसूदन सरस्वती 'भक्तिरसायन' में कहते हैं कि विशुद्ध, वत्सल एवं प्रेयान्— ये तीन भक्तिरस हैं, जो रसान्तर से मिश्रित न होकर सर्वाङ्गपूर्ण हैं—

विशुद्धो वत्सलः प्रेयानिति भक्तिरसायनः।
रसान्तरामिश्रितास्ते भवन्ति परिपुष्कलाः।।

---

१. भक्ति अङ्क २. भावनोपनिषद्

शुद्धा, वत्सल एवं प्रेयोरति स्थायीभाव हैं; उन्हीं के ये तीनों रस हैं। विशुद्ध भक्ति का उदाहरण देखिये—

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पय:
स्वर्यातेन सुधाप्यधायि कतिधा रम्भाधर: खण्डित:।
सत्यं ब्रूहि मदीय जीव ! भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गार: क्वचिल्लक्षित:।। (जगन्नाथ)

अन्य रस रसान्तर-मिश्रित होने के कारण सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है; सर्वाङ्गपूर्ण रस तो विशुद्ध, वत्सल एवं प्रेयान्— ये तीन भक्तिरस ही हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रस दो प्रकार के होते हैं— मिश्रित एवं असर्वाङ्गपूर्ण रस तथा अमिश्रित एवं सर्वांगपूर्ण रस। प्रथम मिश्रित रस के निम्न नौ भेद होते हैं—

१. शृंगार	४. वीर	७. वीभत्स
२. हास्य	५. रौद्र	८. अद्भुत
३. करुण	६. भयानक	९. शान्त

अमिश्रित एवं सर्वाङ्गपूर्ण रस तीन प्रकार के होते हैं— विशुद्ध, वत्सल एवं प्रेयान्।

अमिश्रित रति भी तीन प्रकार की होती है— शुद्धा रति, वत्सल रति एवं प्रेयो रति। कहा भी गया है—

शुद्धा च वत्सलरति: प्रेयोरतिरिति त्रयी।

ये तीनों अन्य स्थायीभावों से मिश्रित न होने के कारण 'अमिश्रित रति' कहलाते हैं—

भावान्तरामिश्रितत्वादमिश्रा रतिरुच्यते।

भक्ति रस तीन प्रकार का होता है— विशुद्ध, वत्सल एवं प्रेयान्। 'भक्तिरसायन' में कहा भी गया है—

विशुद्धो वत्सल: प्रेयानिति भक्तिरसास्त्रय:।
रसान्तरामिश्रितास्ते भवन्ति परिपुष्कला:।।

रसों के भेद— सङ्कीर्ण, सङ्कीर्णमिश्रित, केवल मिश्रित एवं शुद्ध।

शुद्ध रस— शुद्ध भक्ति, वत्सल भक्ति एवं प्रेयोभक्ति।

प्रश्न एवं समाधान— (प्रश्न) रसशास्त्र के आचार्य भरतमुनि आदि ने देवादि-विषया रति एवं निर्वेदादि सञ्चारियों को भाव माना है, रस नहीं माना है; फिर कृष्णविषया रति या भक्ति रस कैसे हो सकती है?

(समाधान) अन्य देवताओं से सम्बन्धित रति 'भाव' कही जा सकती है; क्योंकि वे मलिनसत्त्वप्रधान जीव अविद्या के कार्य होने से पूर्ण आनन्द के प्रकाशक नहीं हैं; किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण तो परमानन्दस्वरूप परमात्मा हैं; अत: उनके ऊपर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता।

सामान्य देव रति की अपेक्षा भगवद्विषयिणी रति विलक्षण होती है। अत: उसे भाव न कह कर रस ही कहना चाहिये। मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट होकर सुखरूप से व्यक्त होने वाला स्थायीभाव ही रस है।

मधुसूदन सरस्वती 'भक्तिरसायन' में कहते हैं कि ज्ञानयोग की अवधि भक्तियोग है— 'अस्य च ज्ञानयोगस्य भक्तियोगोऽवधि:।'

'भक्ति' की व्याख्या— 'भजनमन्त:करणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति' अर्थात् अन्त:करण का भगवादाकार होना ही 'भक्ति' है।

'भज्यते सेव्यते भगवदाकारमन्त:करणं क्रियतेऽनयेति भक्ति:' अर्थात् अन्त:करण को जिसके द्वारा भगवदाकाररूप किया जाता है, वही भक्ति है। यह साधनभक्ति है, न कि साध्य भक्ति।

भक्ति के दो रूप हैं— फलरूपा एवं साधनरूपा। फलरूपा भक्ति के दो भेद हैं— दृष्ट एवं अदृष्ट फल।

भक्ति और ब्रह्मविद्या में भेद— मधुसूदन सरस्वती के अनुसार चित्त का द्रवीभाव हो जाने पर सविकल्पक वृत्ति के रूप से मन का भगवदाकार होना 'भक्ति' है और चित्त का द्रवीभाव हुये विना ही अद्वितीय आत्ममात्र का साक्षात्कार होकर निर्विकल्पक मनोवृत्ति का उदय 'ब्रह्मविद्या' है। इन दोनों के फलों में भी भेद है। भगवद्विषयक प्रेम का प्रकर्ष भक्ति का फल है और सम्पूर्ण अनर्थों के मूल अज्ञान की निवृत्ति हो जाना मात्र ब्रह्मविद्या का फल है— 'भगवंद्विषकप्रेमप्रकर्षो भक्तिफलम्; सर्वानर्थमूलाज्ञाननिवृत्तिर्ब्रह्मविद्याफलम्।'

भक्ति की परिभाषा— मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भगवद्धर्म (भगवद्गुणश्रवणदि) से द्रवीभूत हुये चित्त की सर्वेश्वर भगवान् में धारावाहिकता को प्राप्त अर्थात् तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से भगवदाकार वृत्ति ही भक्ति है—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।।

वैसे तो काम-क्रोध आदि उद्दीपनों द्वारा द्रवावस्थानुगत चित्त की धारावाहिकी सर्वेश-विषयिणी वृत्ति (यथा— शिशुपाल की कृष्ण के प्रति क्रोध-द्वेषवृत्ति) भी भक्ति ही है; किन्तु भक्तिरसायन में उसी को वृत्ति माना गया है, जो भगवत्स्वरूपा, भगवदाकारा हो— 'भगवदाकारतेत्यर्थ:। तदाकारता एव सर्वत्र वृत्तिशब्दार्थोऽस्माकं दर्शने। सा भक्तिरित्यभिधीयते।'

द्रवीभाव के दो रूप— चित्त लाक्षा की भाँति ठोस है; किन्तु काम, क्रोध, लोभ, मोह, दया, प्रेम आदि द्रवीभूत हो जाता है। द्रवीभूत करने वाले तापक तत्त्व हैं— हर्ष, शोक, क्रोध, प्रेम आदि। भगवद्विषयक आसक्ति से चित्त पूर्ण रूप से द्रवित हो जाता है;

किन्तु सांसारिक विषयों से द्रवाभूत नहीं होता, केवल शिथिल होता है; यथा—

१. लोहा आग पर रखने पर द्रवीभूत हो उठता है।

२. लोहा धूप में रखने पर मात्र शिथिल होता है, द्रवीभूत नहीं होता।

भावना— भक्ति कर्माश्रित नहीं भावनाश्रित होती है। फिर यह 'भावना' है क्या? द्रवीभूत चित्त में वस्तु द्वारा ढाला गया जो उसका स्वस्वरूप है, वही संस्कार, वासना भाव या भावना कहा जाता है—

द्रुते चित्ते विनिक्षिप्तस्वाकारो यस्तु वस्तुना।
संस्कार-वासना-भाव-भावना-शब्दभागसौ ।।[१]

पूर्ण चित्तद्रुति होने पर वासना होती है (यथा— लाक्षा को पिघलाने पर जो रंग डाला जाएगा, वही लाक्षा का रंग हो जाएगा। यह वासना रूपात्मकता है) और शिथिल-भाव वासनावभास है, चित्तद्रुति या वासना नहीं है। 'वासना' को चित्त नहीं छोड़ता; बल्कि वासनाभास को छोड़ देता है। चित्तरूपी लाक्षा की द्रवावस्था में प्रविष्ट भगवदाकारता, भगवद्भाव का संस्कार स्थिर होता है। चित्त की द्रवावस्था 'प्रणय, अनुराग, स्नेह' आदि शब्दों से व्यक्त की जाती है।

द्रवीभाव के अन्य रूप— द्रवावस्था में प्रविष्ट भगवत्स्वरूप की प्रतीति तीन प्रकार से होती है—

१. प्रपञ्च को सत्य (भगवत्स्वरूप) समझना। आकाश, पृथ्वी, वृक्ष, समुद्र सभी को भगवान् का विग्रह मानकर उसे आनन्दभाव से प्रणाम करना। यह उत्तम प्रकार है।

२. प्रपञ्च को असत्य एवं मात्र भगवान् को सत्य मानना। यह मध्यम प्रकार होता है।

३. प्रपञ्च की असत् या सत् दोनों प्रकारों में से किसी भी प्रकार की अनुभूति न होना। यह निकृष्ट प्रकार होता है।[२]

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या भक्ति को चित्त-द्रुति कहा जा सकता है? 'भक्ति' शब्द से सभी प्रकार की परमेश्वरविषयिणी हृदय की द्रुतिवृत्ति का ग्रहण किया जाता है। प्रत्येक प्राणी की स्वेष्ट या प्रेष्ठ विषयों में चित्त-द्रुति तो होती ही है। जैसे कि बच्चे को देखकर पशुओं के स्तनों से दूध चूने लगता है। भागते हुये मृग को देखकर सिंह आदि की चित्त-वृत्ति क्रोधाविष्ट हो जाती है। पत्नी को देखकर पति की कामविषयिणी वृत्ति का जाग्रत होना भी चित्त-द्रुति ही है। रसशास्त्र की दृष्टि से इन द्रुत चित्तवृत्तियों को 'रस' नहीं कहा जा सकता। इन चित्त-द्रुतियों को 'भक्ति' भी नहीं कहा जा सकता; यत: चित्त-द्रुति तो प्राणिमात्र का स्वभाव है। मधुसूदन सरस्वती (भक्तिरसायन के प्रणेता) ने काम, क्रोध, भय, स्नेह, शोक, दया आदि को चित्त-द्रुति का साधन माना है—

काम-क्रोध-भय-स्नेह-हर्ष-शोक-दयादय: ।
तापकाश्चित्तजतुनस्तच्छान्तौ कठिनन्तु तत्।।

---

१. भक्तिरसायन २. भक्तिरसायन

केवल चित्त की द्रुति होना ही 'भक्ति' नही है। भक्ति है— अखण्डाह्लादप्रदायक, जगत्कारण, नित्य एवं कालातीत परमेश्वर के साथ चित्त का अखण्ड रूप से तादात्म्य, उसमें चित्त का लय, उसमें चित्त का तैलधारावत् अखण्ड प्रवाह।

श्रीमद्भागवतपुराण में कहा गया है कि जिस प्रकार गंगा अखण्ड रूप से समुद्र में प्रवाहित होती रहती है, उसी प्रकार मेरे गुणों के श्रवणमात्र से मन की वृत्ति का अविच्छिन्न रूप में मुझ अन्तर्यामी के प्रति प्रवाहित होते रहना 'निर्गुण भक्ति' है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।।(३.२९.११-१२)

निष्कर्ष यह कि चित्तरूपी गंगा का परमात्मारूपी समुद्र में अखण्ड रूप से प्रवा-हित होते रहना ही 'भक्ति' है। मधुसूदन सरस्वती ने इस श्लोक को उद्धृत भी किया है। चित्त की परमात्मा में अखण्ड प्रवाहमयता ही भक्ति है।

चित्त की द्रुति न तो भक्ति है और न ही रस; क्योंकि रस की निष्पत्ति विभाव-अनुभाव-व्यभिचारीभाव के संयोग से होती है— 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'

भक्ति और रस का अन्तःसम्बन्ध— भक्ति का आधार है— भाव और विना रस के भाव है ही नहीं। रस के विना भाव एवं भाव के विना रस रह ही नहीं सकते। यदि भक्ति भाव है तो वह रस भी है; क्योंकि—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः।।

साहित्यशास्त्र में नौ रस गिनाये गये हैं— शृङ्गार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। भक्ति को देवादिविषयक रति मानकर इसे भाव माना गया है, न कि स्वतन्त्र रस। साहित्यशास्त्र के आचार्यों का कथन है कि वात्सल्य एवं भक्ति स्वतन्त्र रस नहीं हैं; क्योंकि इनके आधारभूत स्थायीभाव मौलिक नहीं हैं; प्रत्युत स्नेह के ही रूपान्तर हैं और स्नेह शृङ्गार रस का स्थायीभाव है। 'भक्ति' देवताविषयक रतिभाव है, न कि रस।

मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि यदि भक्ति स्वतन्त्र रस नहीं है, केवल भाव है तब भी यह नौ रसों से मिला हुआ है; क्योंकि विना भाव के रस एवं विना रस के भाव रह ही नहीं सकते। अतः भक्ति नौ रसों से मिलित है—

नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं।
परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति।।

आचार्य रूपगोस्वामी का मत— आचार्य रूपगोस्वामी ने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' एवं 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रन्थ में भक्ति को एक स्वतन्त्र रस स्वीकार किया है। इनका

कथन है कि देवता-विषयक रति तो 'भाव' है; किन्तु श्रीकृष्णविषयक भक्ति 'रस' है; क्योंकि कृष्ण मात्र देवता नहीं, बल्कि साक्षात् ब्रह्म हैं। वे रसस्वरूप हैं— 'रसो वै सः।'

'प्रेमा भक्ति' एवं 'भाव भक्ति'— देवर्षि नारद ने प्रेमा भक्ति को भक्ति का आदर्श स्वीकार किया है और इसे परम प्रेमरूपा, अमृतस्वरूपा, निष्कामा, निरोधरूपा, अनन्या, कर्म-ज्ञान-योग-श्रेष्ठतरा, दैन्यरूपा, अभिमानशून्या, मोक्षदा, कृपाप्राप्या, भक्तभगवाना-भेदरूपा, वेदसन्यासरूपा, अनिर्वचनीया, असामान्यलभ्या, शान्तिरूपा एवं आनन्दरूपा कहा है।

नारदीया भक्ति 'स्वप्रमाणा' (सूत्र-५९), 'शान्तिरूपा' एवं 'आनन्दरूपा' (सूत्र-६०), 'सर्वसमर्पणपरा' (सूत्र-६५), 'भेदभावशून्या' (सूत्र-७२), 'एकनिष्ठा' (सूत्र-७९), 'अनन्यरूपा' (सूत्र-१०), 'परमव्याकुलतारूपा' (सूत्र-१९) एवं 'अखण्ड-भजनात्मिका' (सूत्र-३६) है।

यद्यपि भक्तिसूत्रकार नारद ने भक्ति के परा, गौणी और अन्य ग्यारह रूपों का उल्लेख किया है; किन्तु उन्होंने 'दास्य' एवं 'कान्ताभजनात्मक' भक्ति को ही प्रमुख स्थान देते हुये कहा है— 'त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ताभजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यम्' (६६)। यहाँ प्रेम ही साधन है और प्रेम ही साध्य है।

भक्तिसूत्रकार नारद ने भक्ति के दो भेद किये है— परा भक्ति एवं गौणी भक्ति। परा भक्ति परमप्रेमरूपा, अमृतस्वरूपा एवं निरोधस्वरूपा (लौकिक-वैदिक समस्त कर्मों का त्याग कराने वाली) है— 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' (सूत्र-२) एवं 'अमृतस्वरूपा' (सूत्र-३)। इसे प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध, अमर एवं तृप्त हो जाता है, निष्काम अचिन्तक, अद्वेष्टा, अनासक्त, विषयवर्जित हो जाता है— 'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति' (सूत्र-४), 'यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।'

प्रेमा भक्ति के प्रेम की विशेषतायें[1]— नारद भक्तिसूत्र के अनुसार अनिर्वचनीयता, मूकस्वादनवत् अवाच्यता, गुणरहितता, कामनारहितता, प्रतिक्षण वर्द्धमानता, विच्छेद-शून्यता (अविच्छिन्नता), सूक्ष्मतरात्मकता, अनुभवरूपात्मकता, प्रेमास्पद को ही देखने, सुनने, अनवरत वर्णन करने, उसी के विषय में सतत बात करने एवं उसी का अखण्ड चिन्तन इत्यादि प्रेमा भक्ति के प्रेम की विशेषतायें हैं। यह प्रेम कर्म, ज्ञान एवं योग से भी श्रेष्ठतर है, फलरूपा है (साध्यभक्ति है, न कि साधनभक्ति)। यह वैधी और गौणी नहीं;

---

१. अनिर्वचनीयप्रेमस्वरूपम् (सूत्र-५१), मूकस्वादनवत् (सूत्र-५२), गुणरहितं कामना-रहितंप्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् (सूत्र-५४), तत्प्राप्य तदेवावलोक-यति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति (सूत्र-५५), सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्यो-ऽप्यधिकतरा (सूत्र-२५), फलरूपत्वात् (सूत्र-२६), सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा (सूत्र-२), सा न कामायमाना निरोधरूपत्वात् (सूत्र-७)। (नारदभक्तिसूत्र)

प्रत्युत प्रेमरूपा है, निष्काम प्रेम है, निरोधस्वरूपा है, अमृतस्वरूपा है, अनिर्वचनीया है, स्वप्रमाणा है, असामान्य-प्राप्या है।[१]

प्रेमरूपा भक्ति के भेद— 'नारदभक्तिसूत्र' में प्रेमा भक्ति को इन रूपों में विभक्त किया गया है— गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्ति। यह प्रेमरूपा भक्ति एक होकर भी ग्यारह प्रकार की होती है।[२] इसे प्राप्त करके व्यक्ति उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध (शान्त) हो जाता है और आत्माराम बन जाता है— 'यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति' (सूत्र-६)। भक्ति का साधन ज्ञान है।[३]

साधन भक्ति एवं साध्य भक्ति— आगमिक साधनायें 'राग' को साधन बनाकर शक्ति-साधना की ओर प्रवृत्त हुई हैं तो श्रमण संस्कृति 'रागोन्मन' (राग-निवृत्ति) को साधन बनाकर साधना में प्रवृत्त हुई हैं। जिन्होंने 'रागदमन' को आदर्श माना, उन्होंने रागात्मिका वृत्ति को अन्त:करण की एक वृत्ति स्वीकार किया और उसका दमन किया।

जिन्होंने 'राग' को भक्ति मान कर भी उसे अन्त:करण की वृत्ति स्वीकार किया, उनकी दृष्टि में इसका 'परम पुरुषार्थ' होना सम्भव नहीं था; अत: उन्होंने इस रागमूलक आसक्ति को मात्र 'साधनभक्ति' के रूप में ही स्वीकार किया।

भक्ति के दो रूप हैं। पाञ्चभौतिक शरीर में अन्त:करण की वृत्ति के रूप में जो रागात्मिका वृत्ति या भक्ति है, वह भक्ति का एक रूप है।

भक्ति का द्वितीय एवं तात्त्विक रूप तो चिन्मय परा सत्ता की आगमिक स्वस्वरूपभूता शक्ति ही भक्ति है। यह 'साध्यभक्ति' है।

प्रथम भक्ति इसी चिन्मयी आह्लादिनी शक्ति की प्रतिच्छायामात्र है; अत: यह प्रथम भक्ति साधनभक्ति है। इसके द्वारा (प्रतिबिम्ब = प्रतिच्छाया के द्वारा) बिम्बस्वरूपा एवं मूलशक्त्यात्मिका भक्ति का सन्धान पाया जा सकता है।

क्या भक्ति आत्मतत्त्व से पृथक् है? यदि इसे पृथक् माना जाता है तो उसके द्वारा आत्मतत्त्व का ज्ञान होने पर आत्मतत्त्व तो स्वप्रकाश न होकर परप्रकाश हो जायेगा;

१. गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाऽप्येकादशधा भवति। (नारदभक्तिसूत्र-८२)

२. नारद ने गौणी भक्ति का भी उल्लेख किया है और उसके तीन भेद बतलाये हैं— सात्त्विकी, राजसी एवं तामसी अथवा आर्त, जिज्ञासु एवं अर्थार्थी— 'गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा' (नारदभक्तिसूत्र-५३)।

३. 'तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके' (नारदभक्तिसूत्र-२८)। कतिपय आचार्यों का कथन है कि भक्ति और ज्ञान परस्पराश्रित हैं— 'अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये' (नारदभक्तिसूत्र-२९)।

किन्तु यदि भक्ति को भी आत्मशक्ति मान लें तो यह आपत्ति दूर हो जायेगी; क्योंकि तब तो आत्मशक्ति द्वारा परमात्मशक्ति की प्रकाश्यता भी स्वप्रकाश्यता ही होगी, परप्रकाश्यता नहीं होगी। 'भक्त्या मामभिजानाति' कहकर श्रीकृष्ण ने भक्ति के इसी साध्यरूप (शक्तिरूप) भक्ति की ओर इङ्गित किया था।

'ब्रह्मविद्यामार्ग' विद्यात्मिका वृत्ति → अविद्योन्मूलन → आत्मसाक्षात्कार।

'भक्तिमार्ग' स्वरूपशक्तिरूपा भक्ति (विमर्श) → प्रकाशस्वरूप की अनुभूति।

शक्ति → शक्तिमान का साक्षात्कार।

'ब्रह्मविद्यामार्ग' (ज्ञानमार्ग)— आत्मसाक्षात्कार के बाद सम्पूर्ण यात्रा समाप्त (आत्मानन्दानुभूति नहीं)।

'भक्तिमार्ग' शक्तिभक्ति → आत्मसाक्षात्कार (ज्ञानभूमि— अद्वैतभूमि) → कल्पित द्वैतभूमि → साध्यभक्ति = आत्मशक्तिरूपा भक्ति (अद्वैत की भूमि पर कल्पित द्वैत द्वारा भक्ति = शक्तिस्वरूपा भक्ति = परमात्मस्वरूपा चिन्मयी भक्ति)।

यह अद्वैत भक्ति (निर्गुण भक्ति) न तो अन्तःकरण की वृत्ति है और न ही माया या महामाया की वृत्ति है। शाक्त भक्ति को आत्मशक्ति के रूप में ही स्वीकार करके साध्य भक्ति के अनुयायी थे। त्रिपुरा एवं त्रिकमत की भक्ति भी यही है।

रामाश्रयी शाखा की रसिक धारा के अनुसार भगवती सीता राम की आत्मशक्ति होने के कारण उनके रसास्वाद का माध्यम है। सीता के विना ('रसो वै सः' के रूप में प्रतिष्ठित) रसस्वरूप राम की प्राप्ति ही सम्भव नहीं है। कृष्णाश्रयी शाखा में भक्ति के सोपान 'भाव' की परिणति 'महाभाव' में मानी गई है। यह महाभाव ही ह्लादिनी शक्तिरूपा राधा (आत्मशक्ति) है। भक्ति अपने वास्तविक रूप में आगम-प्रतिपादित शक्ति है, परमात्मा की स्वस्वरूपा चिन्मयी शक्ति है।

आगमिकों ने भक्ति को शक्ति के रूप में स्वीकार करते हुये यह स्वीकार किया था कि भक्ति आत्मा की आत्मभूता स्वशक्ति है। भक्ति की उपासना शक्ति की उपासना है। शक्ति एवं शक्तिमान में सामरस्य होने के कारण शक्ति की साधना भी शक्तिमान की ही साधना है।

वेदान्त, मीमांसा, योग, साङ्ख्य, वैशेषिक न्याय आदि नैगमिक दर्शन शक्ति मानते ही नहीं और मानते भी हैं तो जड़ रूप में। आगमिक दर्शन शक्ति को चित्स्वरूपा एवं चिन्मयी मानते हैं। यही शक्ति अभेद, भेदाभेद एवं भेद— तीनों स्तरों पर अवरोहण करती है। यह चिन्मयी शक्ति नादस्वरूपा है, मातृकात्मिका है, सृष्टि के रूप में उसी का विस्तार-प्रसार है। यही शक्ति अवरोहण के अन्त में परिच्छिन्न जड़ पदार्थ की भाँति स्थित होकर प्रसुप्त कुण्डलिनी के रूप में मानवपिण्ड में स्थित है। इसका स्वाप, इसकी निद्रा ही मानव का आत्मविस्मरण है। यही भोग्य, अभोग्य, भोग एवं भोगायतन सभी रूपों में विभक्त है। यह विश्वबीज है। यही अपने स्वातन्त्र्य द्वारा निग्रह एवं अनुग्रह दोनों की

सम्पादिका है। अनुग्रह → आत्मस्मृति → आत्मप्रत्यभिज्ञा = शिवत्वभाव = स्वरूप का साक्षात्कार। शक्ति की सुषुप्ति → जीवात्मा की आत्मविस्मृति → अज्ञान (बन्धन)— परमेश्वरानुग्रह + गुरुकृपा + उपाय → प्रसुप्त शक्ति का जागरण। शक्ति → सृष्टि-स्थिति-प्रलय, बन्धन, मुक्ति। शक्ति नादात्मा स्वरूप में 'अ' से 'ह' तक सृष्टि में प्रसृत है। यही संहृत होकर अनुस्वार में प्रविष्ट होकर 'अहं' प्रत्याहार का निर्माण करती है। 'अहं' का तात्त्विक विमर्श ही 'पूर्णाहन्ता' है, चैतन्य शक्ति का स्फार है। इसकी प्रत्यभिज्ञा ही तान्त्रिकों का परम लक्ष्य है। यह विश्वात्मक भी है और विश्वातीत भी।

सृष्टि का ढाँचा नाद एवं वर्ण से निर्मित है। कुण्डलिनी प्रसुप्त नाद है। कुण्डलिनी शक्ति सर्ववर्णमयी, सर्वचक्रमयी एवं अर्थमयी है। कुण्डलिनी की वर्णात्मिका अभिव्यक्तियाँ पिण्डस्थ विभिन्न चक्रों के शक्तिकेन्द्र हैं। सृष्टि का मूल नाद जो ॐकार या प्रणव है, वह अनाहत नाद भी शक्ति ही है।

परम तत्त्व विश्वातीत एवं निःशब्द तथा निःस्पन्द है। उसकी शक्ति 'स्पन्द' है। 'स्पन्दता' शब्द का पर्याय है। स्पन्द गत्यात्मक तो है ही, नादात्मक एवं शब्दात्मक भी है। निस्पन्द → सामान्य स्पन्द, विशेष स्पन्द। 'सृष्टि' → सामान्य + विशेष स्पन्द की समष्टि। चरम तत्त्व में तो गति एवं विश्रान्ति का सामरस्य है। इसी निःस्पन्द चरम तत्त्व से अपने भीतर ही स्फोट, शब्द एवं गति का उदय → 'परा वाक्' ही दर्शन करती हुई 'पश्यन्ती वाक्' बन जाती है। हृदय राज्य में 'मध्यमा' के भेदाभेद भूमि पर उतर कर यही वाक् शक्ति भेदभूमि में पदार्पण करके (शब्दार्थ की पृथकता को स्थापित करते हुये) 'वैखरी वाक्' बन जाती है। आज्ञाचक्र के बाद बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना एवं उन्मना— ये भी शक्ति के ही विभिन्न रूप हैं।

महामाया (मायातीत माया) की सीमा को अतिक्रान्त करने पर तुर्यातीतावस्था की दो भूमियाँ आती हैं— उन्मनी एवं महाबिन्दु। सिसृक्षु परमात्मा की इच्छा एक प्रकार का स्पन्द या कम्पन है। उपनिषदों में इसे 'एजन' कहा गया है। शब्द और नाद इसी कम्पन के मूर्त रूप हैं। 'स्पन्द' शक्ति है, गति है; किन्तु यदि केवल गति ही रहे और स्थिति न रहे तो स्पन्द (कम्पन) सम्भव नहीं होगा: अतः गति के साथ स्थिति भी आवश्यक है।

'नाद' ही गति है, 'बिन्दु' ही स्थिति है, गति + स्थिति का ही परिणाम है— जगत्। सृष्टि के लिये गत्यात्मक 'नाद' एवं स्थित्यात्मक 'बिन्दु' दोनों आवश्यक हैं। यह प्रथम स्पन्दस्वरूप 'नाद' कौन था? ॐ ही प्रथम स्पन्द है, प्रथम नाद है, शक्ति की प्रथम अभिव्यक्ति है। यह ब्रह्माण्डव्यापी एवं कभी भी न रुकने वाला (अखण्ड ध्वनित) नाद प्रतिक्षण नित्यस्पन्दित है। अ, उ, म, बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना एवं उन्मना— अपनी इन १२ कलाओं से ॐकार पृथ्वी से लेकर शिवपर्यन्त समस्त तत्त्वों एवं भुवनों में व्याप्त है। नाद के सारे रूप शक्ति के ही रूप हैं।

भक्ति के विभिन्न प्रकार

नवधाभक्ति— भक्तिशास्त्र में 'नवधा भक्ति' का भी उल्लेख किया गया है, जो नौ प्रकार की है— श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन।[1]

रूपगोस्वामी का भक्ति का विभाजन (भक्तिरसामृतसिन्धु)
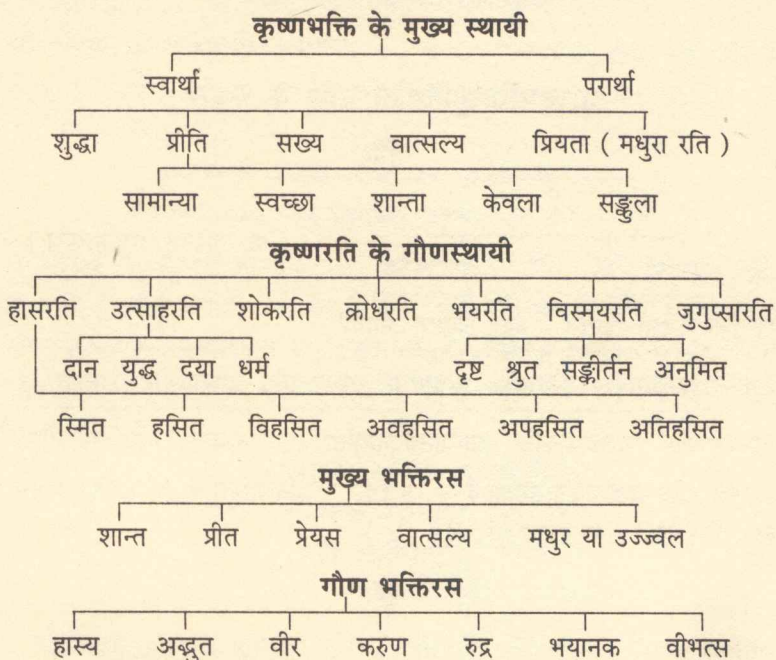
नारद की प्रेमरूपा भक्ति कर्म, ज्ञान एवं योग तीनों से श्रेष्ठतर है— 'सा तु कर्म-ज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।' यह साधनरूपा नहीं, फलरूपा है (फलरूपत्वात्)। यह अमृत-स्वरूपा, निष्कामा, निरोधरूपा, अनन्यरूपा, अनिर्वचनीया, अवाच्या, शान्तिरूपा, परमा-नन्दरूपा (शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च), लोकचिन्ताविरक्ता, सर्वार्पणरूपा, दास्यभक्ति-कान्ताभक्तिप्रधाना एवं यम-नियमनिष्ठा है।

बोपदेवकृत भक्ति का विभाजन
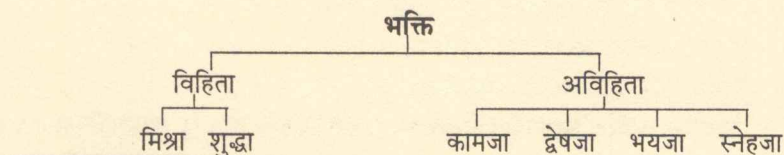
१. भक्तिरसायन (मधुसूदन सरस्वती)
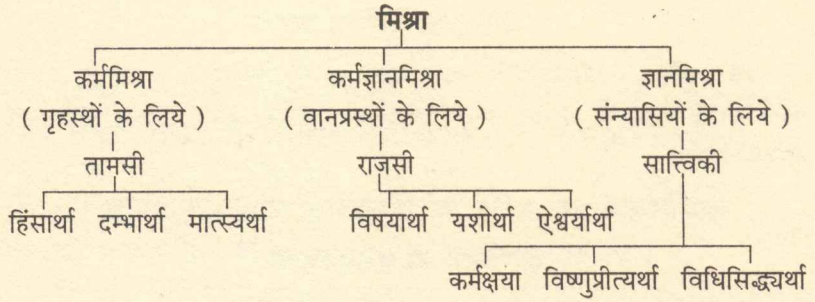
नारदभक्तिसूत्रविहित भक्ति के प्रकार
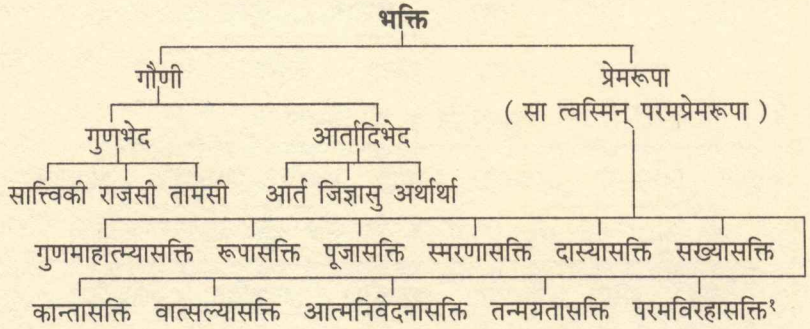
यह भक्ति श्रद्धा-विश्वासमूला है— 'य इदं .... विश्वसिति श्रद्धत्ते स प्रेष्ठं लभते स प्रेष्ठं लभत इति' (नारदभक्तिसूत्र, सूत्र-८४)।

---

१. 'नारदस्तु तदर्पिताखिला-चारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति'। (नारदभक्तिसूत्र-१९)
— यथा व्रजगोपिकानाम्। (नारदभक्तिसूत्र-२१)

षष्टि अध्याय

मनस्तत्त्व, ज्ञानतत्त्व और ज्ञान-साधना

आचार्य गौड़पाद ने 'सुभगोदयस्तुति' में मनस्तत्त्व को ही साधना का मूल तत्त्व मानते हुये कहा है— 'मनस्तत्त्वं जित्वा नयनमथ नासाग्रघटितम्' आदि।

'मन ब्रह्म है।' तैत्तिरीयोपनिषद् (३-४) में कहा गया है कि उसने यह जाना कि मन ब्रह्म है (मनो ब्रह्मेति व्यजानात्)। आचार्य गौड़पाद मन पर विजय प्राप्त करने को साधना का मेरुदण्ड मानते हैं—

मनोमार्गं जित्वा मरुत इह नाडीगणजुषो।
निरुध्यार्कं सेन्दुं दहनमपि सञ्ज्वाल्य शिखया।।

भगवती त्रिपुरसुन्दरी को मनस्तत्त्व, व्योमतत्त्व, वायुतत्त्व, अग्नितत्त्व एवं भूमि-तत्त्व आदि भी कहा गया है। भाव यह है कि भगवती मनस्तत्त्व के रूप में आज्ञाचक्र में स्थित मनस्तत्त्व हैं, आकाशतत्त्व में (विशुद्ध चक्र में) स्थित हैं आदि। मनस्तत्त्व भगवती का स्वस्वरूप ही है। भगवती महात्रिपुरसुन्दरी स्वयं मनस्तत्त्व हैं। आचार्य शङ्कर सौन्दर्य-लहरी में कहते हैं—

मनस्त्वं व्योमस्त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां न हि परम्।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा
चिदानन्दाकारं शिवयुवतिभावेन विभृषे।।

योगिराज अरविन्द घोष की दृष्टि— 'मन' कोई स्वतन्त्र और मौलिक तत्त्व नहीं है; प्रत्युत ऋत्-चित् या अतिमानस की एक अन्तिम क्रियामात्र है; अत: जहाँ कहीं मन है, वहाँ अतिमानस भी अवश्य होगा। 'विश्वमन' को अपने निजी एकत्व का बोध रहता है; किन्तु उसे यह संवित् नहीं रहती कि उसका मूलाधार आत्मा में है।

'मन' स्वरूपत: ऐसी चेतना है, जो मित और सीमित करती है, अविभाज्य वस्तुओं के रूपों को काटती और अपने अन्दर इस भाँति समाये रखती है; मानो प्रत्येक एक पृथक् एक पृथक् अखण्ड हो। उसका कार्य है— अनन्तता को सदैव सान्त की अभि-धाओं में अनूदित करना, मापना, सीमित करना और खण्ड-खण्ड करना। वह सत्ता को समग्रों में काटता जाता है, नित्य लघुतर समग्रों में, अणुओं में और उन अणुओं को आदि परमाणुओं में काटता जाता है एवं उसकी चले तो वह उस आदि परमाणु को शून्यता में विलीन ही कर दे। जब अतिमानसिक क्रिया विभक्त मन को पराभूत, नीरव एवं निष्क्रिय कर देती है, तभी मन वस्तुओं के सत्य तक वापस जा सकता है।

अरविन्द की प्राणविषयक दृष्टि— प्राण एवं मन का सम्बन्ध है। प्राण एक अच्छा करण है; किन्तु बुरा स्वामी है। प्राण की हत्या नहीं करना है, उसे नष्ट नहीं करना है; प्रत्युत चैत्य एवं आध्यात्मिक नियन्त्रण के द्वारा विशुद्ध एवं रूपान्तरित करना है। प्राणसत्ता के चार भाग हैं—

१. प्रथम मनोमय प्राण है, जो प्राणसत्ता के भावों, कामनाओं, आवेगों, संवेद-नाओं एवं अन्यान्य क्रिया को विचार, वाणी या अन्य रूप से मानसिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

२. भावात्मक प्राण द्वितीय प्राण है, जो प्रेम, हर्ष, शोक, घृणा एवं अन्यान्य प्रकार के विभिन्न हृद्गत भावों का अधिष्ठान है।

३. 'केन्द्रीय प्राण' महत्त्वाकांक्षा, गर्व, भय, प्रतिष्ठाकांक्षा, आकर्षण और विकर्षण जैसी सबलतर प्राणिक लालसाओं और प्रतिक्रियाओं, नाना प्रकार की कामनाओं एवं आवेगों आदि का अधिष्ठान है तथा अनेक प्राणिक शक्तियों का क्षेत्र है।

४. 'निम्नतर प्राण' अन्तिम एवं चतुर्थ प्राण है। यह छोटी-छोटी कामनाओं और हृद्गत भावों में ऐसी कामनाओं एवं भावों में व्यस्त रहता है, जो दैनिक जीवन के अधि-कांश भाग का निर्माण करते हैं; यथा— भोजनेच्छा, कामवासना, लड़ाई-झगड़े, प्रतिष्ठा की इच्छा, निन्दा होने पर क्रोध, सभी प्रकार की तुच्छ इच्छायें, सामान्य पसन्द एवं नापसन्दगी आदि असङ्गत जमात।

मनस्तत्त्व— योगिराज अरविन्द घोष कहते हैं कि यदि हमें महत्तर गम्भीरतर एवं यथार्थ ज्ञान चाहिये तो मन को एक अन्य चेतना के लिये स्थान खाली करना होगा, जो मन का अतिक्रमण करके मन को परिपूर्ण करेगी या उससे आगे छलाँग लगाकर उसकी क्रियाओं को उल्टा मोड़ देकर सुधारेगी। मन तो मार्ग है। मन मञ्जिल नहीं है।

The Life Divine में श्री अरविन्द ने मनस्तत्त्व की सूक्ष्म मीमांसा की है और उसके स्थूल एवं दिव्य दोनों रूपों की व्याख्या की है।

श्री अरविन्द घोष का कथन है कि मन एक इन्द्रिय की तुच्छ सीमा तक ही यात्रा नहीं करता; प्रत्युत वह ऊर्ध्व चेतना में प्रविष्ट होकर उच्चतर मन, आलोकित मन, अधि-मानस एवं अतिमानस तक की यात्रा करता है। मन का कार्य है— स्वयम्भू सद्वस्तु का कोई अङ्ग अनिर्दिष्ट रूप से काट लेना, माप को समग्र करना, फिर समग्र का अङ्गों में विश्लेषण करना। मन एक अखण्ड सार्वभौम, सर्वव्यापक एवं समष्टिभूत एकात्मक सत्ता है।

व्यावहारिक धरातल पर तो मन की खण्डित, एकदेशीय, मित व्याप्त, व्यष्टिगत एवं अनन्तरूपात्मक सत्ता अनुभव में आती है; क्योंकि जितने जीव हैं, सबके पृथक्-पृथक् मन हैं; किन्तु तत्त्वतः मन अखण्ड एवं सार्वभौम सत्ता है।

विचार-संक्रमण (Thought transference) में एक मनुष्य का विचार सुदूरस्थ

किसी भी व्यक्ति के पास पहुँच जाता है। यदि मन प्रत्येक प्राणी में पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र होता और जो मेरा मन है, उसका दूसरे मन के साथ कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं होता तो मेरे मन की बात उस सुदूरस्थ व्यक्ति के मन तक विना किसी साधन के कैसे पहुँच जाती?

स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि— सामान्यतया किसी के विचार दूसरे के पास सीधे नहीं पहुँच जाते; प्रत्युत विचार को आकाशतत्त्व के स्पन्दनों में परिणत होना पड़ता है। ये स्पन्दन पुनः दूसरे के मस्तिष्क में पहुँचते हैं। वहाँ पुनः इन स्पन्दनों का प्रेषक के अपने विचारों में रूपान्तर होता है और इस प्रकार प्रेषक का विचार ग्रहीता के पास पहुँचता है। यहाँ प्रथमतः विचार विश्लिष्ट होकर आकाशतत्त्व में मिल जाता है और फिर उसी का वहाँ संश्लेषण हो जाता है। इस प्रकार का चक्राकार कार्यक्रम चलता रहता है; किन्तु विचार-संक्रमण में इस प्रकार की कोई चक्राकार क्रिया नहीं होती। इसमें प्रेषक का विचार सीधा-सीधा दूसरे ग्रहीता के पास पहुँच जाता है। स्पष्ट है कि मन एक अखण्ड वस्तु है। मन विश्वव्यापी है। आपका मन, मेरा मन— ये सब विभिन्न मन उस समष्टि मन के अंशमात्र हैं; मानों समुद्र पर उठनेवाली छोटी-छोटी लहरें हैं और इस अखण्डता के कारण ही हम अपने विचारों को एकदम सीधे विना किसी माध्यम के आपस में संक्रमित कर सकते हैं।[१] हम सबके मन उस एक ही समष्टि मन के अंशमात्र हैं। जिसे एक ढेले का ज्ञान हो गया, उसने दुनिया की सारी मिट्ट जान ली। जो अपने मन को जानता है और स्वाधीन रखता है, वह दूसरों के मनों का रहस्य भी पहचानता है और उन पर अपनी हुकूमत भी चला सकता है।[२] एक आन्तरिक मन, एक आन्तरिक प्राण, एक आन्तरिक सूक्ष्म भौतिक सत्ता हमारे बाह्यतल के मन, प्राण या देह की अपेक्षा अपनी शक्यताओं में विशालतर है, अधिक सबल है। उसमें विश्वशक्तियों, विश्वगतियों और विश्व के पदार्थों के साथ अपरोक्ष सम्पर्क की, उनके अपरोक्ष अनुभव की और उनकी ओर सीधे उन्मीलन की, उन पर अपरोक्ष क्रिया करने की और व्यक्तिगत मन एवं प्राण को विस्तृत करने की सामर्थ्य है।[३]

---

१. स्वामी विवेकानन्द : मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की सफलतायें।

२. स्वामी विवेकानन्द : मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की सफलतायें।

३. अरविन्द घोष : The Life Divine

एकषष्टि अध्याय

शाक्तदर्शन में ज्ञान का स्वरूप

अद्वैतवादी आचार्य शङ्कर ने ज्ञान का स्वरूप प्रस्तुत करते हुये कहा हैं— 'ब्रह्म सत्यम्, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापर:।'

शाक्तों ने शङ्कराचार्य के ज्ञानसिद्धान्त की मायावादी (विश्वमिथ्यात्व) दृष्टि को तो स्वीकार नहीं किया; किन्तु 'ब्रह्म सत्यम्' (शक्ति सत्यम्) तथा 'जीवो ब्रह्मैव नापर:' (जीव: शक्त्येव नापर:) को अवश्य स्वीकार कर लिया। शाक्तों की दृष्टि में जगत् मिथ्या नहीं है; क्योंकि वह तो शक्तिस्फार है, शक्ति का परिणाम है, शक्ति का रूपान्तरण है; तथापि शाक्त भी अद्वैत वेदान्तियों की भाँति अद्वैतवाद के पक्षधर हैं। 'शाक्तदर्शनम्' की दृष्टि में—

१. सारे लिङ्गशरीर कर्म के बन्धन में बँधे हुये हैं। इस बन्धन का कारण मात्र अज्ञान है। अज्ञान के रज्जु से बँध कर प्रत्येक प्राणी कालचक्र का दासानुदास है।

२. ज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाता है; किन्तु कर्मों के द्वारा अज्ञान का नाश कभी नहीं होता। उपासना से भी अज्ञान का नाश नहीं होता। निष्काम कर्मों द्वारा ही (बन्धनों के मूल कारण) मलों से विमुक्ति हो पाना सम्भव है। उपासना की कृतार्थता मात्र विक्षेपों को शान्त करने में है, न कि ज्ञानोदय में। अज्ञानावरणों के उन्मोचन में केवल ज्ञान ही सहायक है—

'कर्मबध्यो लिङ्गदेह:'। 'अज्ञानमयं कारणम्'। (शाक्तदर्शनम्-४.१.१०-११)
'अज्ञानेन कर्मबध्यो जीव: कालात्मकं चक्रं युञ्जति।' (शाक्तदर्शनम्-४.१.१२)
'ज्ञानेनाज्ञाननाश:। न कर्मणा। नोपासनेन'। (शाक्तदर्शनम्-४.१.१५)
'मलमोचने निष्काम कर्म। विक्षेपमुपासनम्। (शाक्तदर्शनम्-४.१.१७)
'अज्ञानरूपावरणमोचने ज्ञानमेव' (शाक्तदर्शनम्-४.१.१८)

३. मलों का नाश कर्मों से करना काम्य नहीं है,[१] तथापि कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करने से मलों का नाश हो जाता है।[२]

४. उपासना का प्रयोजन केवल विक्षेपों को शान्त करना है।[३]

५. ज्ञान अज्ञानावरणों के नाश का सर्वोच्च उपाय है।[४]

६. स्वत: कर्मों का त्याग करना उचित नहीं; क्योंकि ज्ञानोदय होने पर कर्म स्वयमेव परित्यक्त हो जाते हैं।[५]

७. ज्ञान का अधिकारी केवल योगी होता है (क्योंकि वह केवल वाचिक ज्ञान का

---

१. मलनाशाय कर्म न काम्यम् (४.३.२)।
२. कर्मकाण्डं मलनाशाय।
३. उपासनं विक्षेपशान्त्यै।
४. ज्ञानमावरणनाशाय।
५. न स्वयं त्यजेत्कर्म। ज्ञानारूढे च्युतिं स्वयमेव (३.३.२)।

ज्ञानी नहीं होता; प्रत्युत ज्ञानस्वरूप प्रत्यक् चैतन्य की अपरोक्षानुभूतिरूप ज्ञान का ज्ञानी होता है)।[1]

'योगी' केवल उसे कहते हैं, जो निर्मल एवं निश्चल अन्त:करण वाला होता है और उसका कर्तव्य आवरणभङ्गमात्र शेष रहता है।[2] यम से ध्यानपर्यन्त सप्ताङ्ग योगी के बाह्य साधनाङ्ग हैं। मुख्य साधनाङ्ग महावाक्य है।[3]

८. केवल मूलाविद्या के नाश होने पर भी ब्रह्मप्राप्तिरूप मुक्ति सम्भव है—
'मूलाविद्यानाशद्वारा ब्रह्मप्राप्तिर्मुक्तिः।' (शाक्तदर्शनम्-५.१.८)

९. वास्तविक ज्ञानी तो केवल वह है, जो मुक्त हो चुका हो— 'मुक्तो ज्ञानी' (शाक्त-दर्शनम्-५.१.१३)। अविद्याजन्य ज्ञान भी 'ज्ञान' कहलाता तो है; किन्तु यह भेद-ज्ञान है; जबकि वास्तविक ज्ञान मात्र अभेदज्ञान है— 'अविद्याजन्यं भेदज्ञानम्' (शाक्तदर्शनम्-५.१.१५)।

१०. ज्ञान से अज्ञान का नाश तो होता ही है; साथ ही उससे दु:खों की निवृत्ति एवं आनन्दाप्ति भी होती है— 'ज्ञानेनाज्ञाननाशः' (५.१.१४)। ज्ञानेन दु:खनिवृत्त्यानन्द-प्राप्तिः' (५.१.१८-१९)। ज्ञानी ही मुक्त होता है; किन्तु देहत्रय से ऊपर उठकर आत्मा को शक्ति के रूप में साक्षात्कृत करना भी उसके लिये आवश्यक है।[4]

११. सद्रूप आत्मा में ही यह बन्धनरूप अध्यास स्थित है और जगत् अपने व्याव-हारिक तथा भेदात्मक स्वरूप में मात्र अध्यास के कारण है— 'सद्रूपात्मनि बन्धाध्यासः (१८), जगदध्यासेन (१९)। ज्ञान के द्वारा ही अध्यास का ध्वंस सम्भव हो पाता है।[5]

१२. जीवात्मा एवं परमात्मा में अभेद है—इत्याकारक ज्ञान ही ज्ञान है— 'जीवेशाभेदबोधकं ज्ञानम्' (५.४.२)।

१३. बहिर्मुखी प्राणियों में विषयों के प्रति इच्छा होती है; किन्तु ज्ञानियों को तो विषयों में भी समाधि की अनुभूति होती है।

१४ .जहाँ तक व्यावहारिक भेदात्मक जगत् है, वह तो रज्जु में सर्प की भाँति मिथ्या है— 'जगन्मिथ्या' (१५), 'न जगत् पारमार्थें' (१६), 'भात्यज्ञानेन रज्जुसर्पवत्' (१७)।

१५. जलाकाशवत् जीव है। मेघाकाशवत् ईश्वर है। घटाकाशवत् कूटस्थ है। ईश्वर कौन है? 'भुवनेश्वरी'— 'ईश्वरो भुवनेश्वरी' (६.१.१३)।

१६. विना ज्ञान के सिद्धि सम्भव नहीं है— 'न सिद्धिर्ज्ञानं विना' (७.१.११)। इस ऐक्यावबोधरूप ज्ञान का साधन महावाक्यों का मनन-निदिध्यासन है। आत्मा के

---

१. योगी ज्ञानाधिकारी।

२. निर्मलनिश्चलान्त:करणोपेतो योगी। केवलावरणोपेतः।

३. बाह्यं सप्त। साक्षान्महावाक्यं मुख्यम्।

४. शाक्तदर्शनम् (५.१.२०)।

५. ज्ञानेनाध्यासनाशः (५.२.२०)।

अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है। सांसारिक ज्ञान के पूर्व भी आत्मा ही ब्रह्म है— ऐसी अनुभूति होती है; क्योंकि ब्रह्म एवं आत्मा में कोई भेद नहीं है।[१]

१७. अद्वैतभावनास्वरूप निर्विकल्प समाधि-समायुक्त साधक (स्थूल-सूक्ष्म-कारण) प्रपञ्चत्रय की वासनाओं से विरहित होकर स्वानन्दभवन (ब्रह्मलोक) में प्रवेश करते हैं।[२]

१८. जो ज्ञान दिव्य ज्ञान प्रदान कर सके, वही यथार्थ ज्ञान है। ज्ञानसिद्धि आनन्द से अभिन्न है। यह ज्ञान आनन्दभवन है और यह आनन्दभवन मात्र मणिद्वीप है[३] और इसी आनन्दभवनस्वरूप मणिद्वीप में निवास मुक्ति है।[४]

१९. जो अद्वैतावस्थानसमाधिस्थ है, वही ज्ञानी है। अद्वैतभावनारूप समाधि में स्थित योगी ही ज्ञानयोगी है। 'तत् + त्वं' पदार्थों के शोधन में पारङ्गत योगी ही ज्ञाननिष्ठ कहलाता है।

महावाक्यानुसार जो ज्ञान का उदय होता है, वही ज्ञान है; वाचक ज्ञान 'ज्ञान' नहीं है (११.१.१-४)। यह हयग्रीव विद्या ब्रह्मैक्यदायिनी है— 'इयं हयग्रीवविद्या ब्रह्मैक्य-दायिनी' (१८.४.२४)।

२०. जो लोग वेदविरुद्ध न भी हों तो भी यदि तन्त्रमार्ग में दीक्षित हैं तो वे ज्ञान-मार्गी नहीं है। वे भक्तिमार्गी तो हो सकते हैं; किन्तु ज्ञानमार्गी नहीं हो सकते। तन्त्रमार्ग केवल उपासनामार्ग है।

२१. विद्याओं में पञ्चदशी विद्या ही विद्या (मुख्य विद्या) है— 'विद्या पञ्चदशी' (१७.३.११)। ज्ञानवर्णी कभी भी तन्त्रमार्ग में दीक्षित नहीं हुआ करते।

२२. 'अन्तःकरणवृत्त्यामारूढब्रह्मप्रकाशो ज्ञानम्' (१६.१.५) अर्थात् अन्तःकरण की वृत्तियों में आरूढ़ ब्रह्म का जो प्रकाश है, वही 'ज्ञान' है। यही यथार्थ ज्ञान का स्वरूप है।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में 'ज्ञान' का स्वरूप यह बताया गया है कि 'समस्त विश्वसत्तात्मक वैभव या समस्त जगत्-विस्ताररूप वैभव मेरा ही है, मैं ही विश्वात्मा हूँ, मैं ही जगत् हूँ'— इस महेश्वरत्व की अनुभूति ही ज्ञान है अथवा 'प्रत्यभिज्ञा' ही ज्ञान है—

सर्वो ममाऽयं विभव इत्येवं परिजानतः।
विश्वात्मानो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता।।

'मैं और ब्रह्म अभिन्न हैं तथा जगत् के भी ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण मैं भी जगत् से अभिन्न हूँ, जगत् भी मेरा रूप है और ब्रह्म भी'— यही द्विमुखी 'प्रत्यभिज्ञा' ज्ञान है। यही त्रिकानुमोदित ज्ञान है।

▼

१. 'ऐक्यज्ञानसिद्ध्यै विचार्यो महावाक्यप्रबन्धः, आत्मातिरिक्तमिदं मिथ्या, ज्ञानात्पूर्वमपि आत्मा ब्रह्म, न भेदो ब्रह्मात्मनोः।' (शाक्तदर्शनम्-७.२-१६,१७,१९,२२)

२. शाक्तदर्शनम् (१०.३.१४)।

३. ज्ञानसिद्धिः सानन्दम्। तदानन्दभवनम्। तदानन्दं मणिद्वीप एव (१३)।

४. अतो मणिद्वीपवासो मुक्तिरेवेति हयग्रीवः (१०.४.१८)।

द्वाषष्टि अध्याय
शाक्तदर्शन में प्रतिपादित योग-साधना

कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग एवं ज्ञानमार्ग अर्थात् इन तीनों ही मार्गों में योग स्वीकृत नहीं है।

शङ्कराचार्य के अद्वैतवादी ज्ञानमार्ग में तथा उनके शारीरक भाष्य में योग की साधना का कहीं भी प्रतिपादन नहीं किया गया है। भक्तिमार्ग में भी योगसाधना स्वीकृत नहीं है। इसी प्रकार की स्थिति मीमांसकों के कर्ममार्ग की भी है। इतना होने पर भी परमात्म-साक्षात्कार या स्वरूपावस्थान (निर्वाण, कैवल्य, मुक्ति या मोक्ष) की साधना में योग-साधना वैदिक, पौराणिक एवं सूत्रकाल से अद्यावधि अविच्छिन्न धारा के रूप में अखण्डित स्वरूप में प्रवाहित होती चली आ रही है।

हयग्रीवोक्त योगसाधना की दृष्टि— शाक्त एवं शैव दोनों सम्प्रदायों ने अपने साधना-मार्ग में ज्ञान, भक्ति, कर्म, उपासना एवं योग सभी साधनों का उपयोग किया है। यद्यपि उन्होंने योग के दर्शन को (उसके दार्शनिक सिद्धान्तपक्ष को) तो स्वीकार नहीं किया; किन्तु उसकी साधना-पद्धति (अष्टाङ्ग योग) को स्वीकार कर लिया तथा इस दिशा में अपनी मौलिक स्थापनाओं द्वारा योग-साधनाओं के आयाम को और अधिक विस्तृत स्वरूप प्रदान किया।

यह ध्यातव्य बिन्दु है कि शाक्तों ने योगदर्शन को वेदबाह्य मानकर उसका त्याग कर दिया। उन्होंने सांख्य, पातञ्जल, कापिल, गाणप, सौर, शाक्त, (वाममार्गी शाक्त) शैव, पाशुपत, भैरव, पाञ्चरात्र, सात्त्वत, भागवत एवं षड्विध बौद्ध मतों को वेदबाह्य घोषित करके 'साङ्ख्य-पातञ्जल-कापिल-गाणप-सौर-शाक्त-शैव-पाशुपत-भैरव-पाञ्चरात्र-सात्वत-भागवत-बौद्धादीनि वेदबाह्यान्येव' (१८.२.३१)[१] इस वाक्य द्वारा यद्यपि इनको त्याज्य कहा है, तथापि साधना की योग-पद्धति को निश्चितरूपेण स्वीकार कर लिया है।

आचार्य हयग्रीव का मत—

कर्ममार्ग	: 'कर्मकाण्डं मलनाशाय।'	(४.४.७)
उपासनामार्ग	: 'उपासनं विक्षेपशान्त्यैः।'	(४.४.८)
ज्ञानमार्ग	: 'ज्ञानमावरणनाशाय।'	(४.४.९)
योगमार्ग	: 'विषयेभ्यश्चित्तवृत्तिनिरोधो योगः।'	(१३.२.१)
	'चित्तं पञ्च।'	(१३.२.२)

'अहं देवी न चान्योऽस्मि' की अनुभूति ही शाक्तज्ञान का स्वस्वरूप है।

आचार्य हयग्रीव का योगमार्ग— आचार्य हयग्रीव ने 'शाक्तदर्शनम्' के त्रयोदश

---

१. शाक्तदर्शनम् (हयग्रीव)

एवं चतुर्दश अध्याय के अपने ४-४ पादों में (८ पादों में) तथा पञ्चदश अध्याय के प्रथम एवं द्वितीय पादों में योगसाधना का सविस्तार विवेचन किया है। उन्होंने १५वें अध्याय के तृतीय पाद में राजयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, कर्मयोग, कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, हठयोगी आदि की तुलना भी प्रस्तुत की है। इस प्रकार आचार्य हयग्रीव स्वीकार करते हैं कि शाक्तों के तान्त्रिक मार्ग में तथा भुवनसुन्दरी की उपासना में ज्ञान-भक्ति एवं योग का मणिकाञ्चन योग ही प्रशस्त है; न कि एकाङ्गी साधना।

योग-साधना की हयग्रीवोक्त विवेचना इस प्रकार है—

योगाधिकारी कौन है? चतुष्टयवैराग्यसम्पन्न ही योग का अधिकारी है— 'चतुष्टय-वैराग्यसम्पन्नो योगाधिकारी' (१३.१.१)।

वैराग्य योगी तीन प्रकार के होते हैं[1]— हठयोगी, मन्त्रयोगी एवं राजयोगी। इन्हें ही क्रमश: अष्टांग योगी, मन्त्रमार्गी एवं राजमार्गी भी कहा जाता है।[2] इन समस्त योगियों में राजयोगी सर्वोच्च होता है।

योग के ८ अङ्ग हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और सविकल्प समाधि।[3] यहाँ पर 'यम' का तात्पर्य पातञ्जल यम से नहीं लेना चाहिये। पतञ्जलि ने तो 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा: यमा:।' कहकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप गुणों या व्रतों को यम में परिगणित किया है। पतञ्जलि और हयग्रीव का तुलनात्मक विवेचन निम्नवत् है—

पातञ्जल योगसम्मत 'यम' : अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह।

हयग्रीवोक्त 'यम' : सर्वं खल्विदं ब्रह्म (यह सब कुछ ब्रह्म ही है)— ऐसा मानकर इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण-त्याग करना ही यम है— 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति विषयेभ्य इन्द्रियनिग्रहो यम:' (१३.१.११)।

पातञ्जल योगसम्मत 'नियम' : 'शौचसन्तोषतप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा:' (शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान ही नियम हैं)।

हयग्रीवोक्त 'नियम' : अन्त:करण की वृत्तियों को जगत् से निगृहीत करके ब्रह्म को अपने चिन्तन का विषय बनाना ही नियम है— 'अन्त:करणवृत्तिप्रपञ्चान्निगृह्य ब्रह्म-विषयीकरणं नियम:' (१३.१.१२)।

पातञ्जल योगसम्मत 'प्राणायाम' : आसन की सिद्धि होने के उपरान्त श्वास एवं

---

१. 'हठराजमन्त्रयोगीति।' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.५)

२. 'हठमार्गादष्टाङ्गपरो हठयोगी', 'राजमार्गाद्राजयोगी', 'मन्त्रमार्गान्मन्त्रयोगी।' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.६-८)

३. 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसविकल्पसमाधयोऽष्टाङ्गानि योगस्य', 'राज-योगस्तम:।' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.९-१०)

प्रश्वास की गति का रुक जाना ही प्राणायाम है— 'तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:' (योगसूत्र-२.४९)।

हयग्रीवोक्त 'प्राणायाम' : चित्तादिक सभी भावों को ब्रह्मभावन के द्वारा निरुद्ध करना ही प्राणायाम है— 'चित्तादिसर्वभावान् ब्रह्मभावनद्वारा निरोध: प्राणायाम:' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.१४)। राजयोग का प्राणायाम 'चतुर्थ प्राणायाम' कहलाता है, जिसमें बाहर-भीतर के विषयों का त्याग कर देने से अपने-आप प्राणायाम होने लगता है और यही है— चतुर्थ प्राणायाम ('बाह्याभ्यान्तरविषयापेक्षी चतुर्थ:' (योगसूत्र : साधनपाद-२.५१)।

पातञ्जल योगसम्मत 'आसन' : सुखपूर्वक निश्चल रूप में बैठने का नाम ही आसन है— 'स्थिरसुखमासनम् (योगसूत्र-२.४३)।

हयग्रीवोक्त 'आसन' : सुखपूर्वक ब्रह्मचिन्तनप्रद स्थिति में आसीन होना ही आसन है— 'सुखेन ब्रह्मचिन्तनप्रदस्थितिरासनम्' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.१३)।

पातञ्जल योगसम्मत 'पूरक-कुम्भक-रेचक' : उक्त प्राणायाम बाह्यवृत्ति (रेचक), आभ्यन्तरवृत्ति (पूरक) एवं स्तम्भवृति (कुम्भक) तीन प्रकार का होता है तथा वह देश, काल एवं संख्या द्वारा सम्यक् रूप से देखा जाता हुआ लम्बा एवं हल्का होता जाता है— 'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभि: परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म:' (योगसूत्र-२.५०)।

हयग्रीवोक्त 'पूरक' : 'मैं ब्रह्म हूँ'— इस प्रकार की वृत्ति ही पूरक है— 'अहं ब्रह्मेति वृत्ति: पूरक:' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.१५)।

हयग्रीवोक्त 'रेचक' : 'अनात्मप्रपञ्च का निषेध ही रेचक है— 'अनात्मप्रपञ्चनिषेधो रेचक:' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.१६)।

हयग्रीवोक्त 'कुम्भक' : अखण्डाकार निश्चल स्थिति ही कुम्भक है— 'अखण्डाकार-वृत्त्या निश्चलस्थिति: कुम्भक:' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.१७)।

पातञ्जल योगसम्मत 'प्रत्याहार' : अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर जो इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार-सा हो जाना है, वही प्रत्याहार है— 'स्वविषय-सम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार:' (योगसूत्र-५४)।

हयग्रीवोक्त 'प्रत्याहार' : शब्दादि पञ्च महाविषयों में भी अपनी आत्मा का साक्षात्कार होने लगना ही प्रत्याहार है— 'शब्दादिविषयेष्वप्यात्मदर्शनं प्रत्याहार:' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.१८)।

पातञ्जल योगसम्मत 'धारणा' : शरीर के बाहर या भीतर कहीं भी किसी एक देश में चित्त को ठहराना धारणा कहलाता है— 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (योगसूत्र-३.१)।

हयग्रीवोक्त 'धारणा' : मनोगत विषयों में ब्रह्मदर्शन का अनुसन्धान करना ही धारणा है— 'मनोविषयेषु ब्रह्मदर्शनानुसन्धानं धारणा' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.१९)।

पातञ्जल योगसम्मत 'ध्यान' : जहाँ भी चित्त को नियोजित किया जाय, स्थिर किया

जाय, उसी में वृत्ति का एक तार चलना ध्यान है— 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (योग-सूत्र-३.२)।

हयग्रीवोक्त 'ध्यान' : 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्याकारक अखण्डाकार वृत्ति में निश्चल स्थिति की संज्ञा ध्यान है— 'अहं ब्रह्म इत्यखण्डाकारवृत्त्यां निश्चलस्थितिर्ध्यानम्' (शाक्तदर्शनम्-१३.१.२०)।

पातञ्जल योगसम्मत 'समाधि' : महर्षि पतञ्जलि ने समाधि को पारिभाषित करते हुये कहा है कि जब ध्यान में केवल ध्येयमात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है तब वही ध्यान ही समाधि कहलाने लगता है— 'तदेवार्थ-मात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' (योगसूत्र-३.३)।

हयग्रीवोक्त 'समाधि' : त्रिपुटी के राहित्य के कारण जो साधक में अखण्डाकार वृत्ति का उदय होता है, वही समाधि है— 'त्रिपुटीराहित्याखण्डाकारवृत्तिः समाधिः' (शाक्त-दर्शनम्-१३.१.२१)।

प्रत्याहार की अन्य दृष्टि से व्याख्या— इन्द्रियाँ जिन-जिन विषयों संलग्न हैं, उन्हें उन-उन विषयों से प्रत्याहृत करके स्थिर करना ही प्रत्याहार है— 'इन्द्रियाणां बलादाहरणं विषयेषु प्रत्याहारः' (शाक्तदर्शनम्-१४.३.१)।

प्रत्ययाहार की पद्धति है क्या? आचार्य हयग्रीव कहते हैं— प्राणायाम के बल से समस्त शरीर को वायु से परिपूरित करके शरीर के उन-उन स्थानों का वायु के द्वारा निरोध करना प्रत्याहार है— 'आपादतलमस्तकमनिलमापूर्य पादद्वयाधारनाभिहृत्कण्ठतालु-ललाटभ्रूमध्यमूर्ध्नि निरोधश्च' (शाक्तदर्शनम्-१४.३.२)।

धारण की मौलिक व्याख्या— आभ्यन्तर बीजस्मरणपूर्वक बाह्य भूतों में चित्त-संस्थापन ही धारणा है— 'बाह्यभूतानि क्रमेणाभ्यन्तरबीजानुस्मरणपूर्वं धारणं धारणा' (शाक्तदर्शनम्-१४.३.३)। पञ्चभूतों में पञ्चदेवों की स्थापना भी धारणा है— 'पञ्चभूतेषु पञ्चदेवान्।'

चक्र	भूत	गुण	देवता	वर्ण	
१. मूलाधार	पृथ्वी	गन्ध	गणपति	व-श-ष-स	
२. स्वाधिष्ठान	जल	रस	ब्रह्मा	—	योनिपीठ
३. मणिपूरक	अग्नि	रूप	विष्णु	डादि कान्त	उड्डीयान पीठ
४. अनाहत	वायु	स्पर्श	रुद्र	कादि ठान्त	
५. विशुद्धाख्य	आकाश	शब्द	महेश	षोडश स्वर	

'मूलवह्निशिखाग्रे मूलप्रकृतिः' मूलाधार में। (शाक्तदर्शनम्-१४.३.३)

मूलाधार में ही कुण्डलिनी भी रहती है—

'मूले कुण्डलिनी।' (शाक्तदर्शनम्-१४.३६)

मूलाधार में ही कामदायिनी पीठ है।

तालुमूल में जालन्धर पीठ है—
'तालुमूलं जालन्धरम्।' (शाक्तदर्शनम्-१४.४.१८)

आज्ञाचक्र (द्विदलात्मक) में सदाशिव निवास करते हैं—
'आज्ञा द्विदलम्।' 'सदाशिवः।' (शाक्तदर्शनम्-१४.३.२१-२२)

ब्रह्मरन्ध्र एवं सहस्रार अभिन्न हैं और उसमें परा शक्ति निवास करती है—
'ब्रह्मरन्ध्रसहस्रारम्।' (शाक्तदर्शनम्-१४.३.३२)
'देवता परा शक्तिः।' (शाक्तदर्शनम्-१४.३.२४)

१. सात्त्विकी : विष्णु देवता।
२. तामसी : रुद्र देवता।
— : शक्तिपुत्रव्यावहारब्रह्मगणपति।
३. राजसी : ब्रह्मा।

ब्रह्मरन्ध्र के नीचे स्थित षट्चक्रों में बीजमन्त्रों का ध्यान

१. मूलाधार में ॐकार का ध्यान : 'ॐकारमाधारे।'[१]
२. स्वाधिष्ठान में हकार का ध्यान : 'हकारं स्वाधिष्ठाने।'[२]
३. मणिपूर में रेफ का ध्यान : 'रेफं मणिपूरे।'[३]
४. अनाहत में ईकार का ध्यान : 'ईकारमनाहते।'[४]
५. विशुद्धि में (मकाररूप) बिन्दु का ध्यान : 'बिन्दुं विशुद्ध्याम्।'[५]
६. आज्ञाचक्र में (अनुरणनात्मक) ध्वनि का ध्यान : 'ध्वनिमाज्ञायाम्।'
७. ब्रह्मरन्ध्र में सतार माया का ध्यान : 'सतारं माया ब्रह्मरन्ध्रे।'

इस प्रकार के ध्यान से कुण्डलिनी का ऊर्ध्वोत्थान एवं अधोनयन किया जा सकता है— 'कुण्डलोर्ध्वनयनाधस्थापनात्मकं सकृद्ध्यानम्।'[६]

चक्र और उसके गुण—

१. मूलाधार : सत्त्वगुण।
२. नाभिचक्र : रजोगुण।
३. दृक्चक्र : तमोगुण।
४. ब्रह्मरन्ध्र : सत्त्वोद्रिक्त।

---

१. शाक्तदर्शनम्-१४.४.१
२. शाक्तदर्शनम्-१४.४.२
३. शाक्तदर्शनम्-१४.४.३
४. शाक्तदर्शनम्-१४.४.४
५. शाक्तदर्शनम्-१४.४.५
६. शाक्तदर्शनम्-१४.४.८

चक्र	देवता	नाद	संख्या
१. मूलाधार	गणपति	प्रणव	३०००
२. नाभिचक्र	ब्रह्मा	हकार	१००
३. हृदयस्थ अनाहतचक्र	विष्णु	रेफ	१००
४. दृगस्थ आज्ञाचक्र	रुद्र	ईकार	१००
५. ब्रह्मरन्ध	शक्ति	ह्रींकार	६००००

(शाक्तदर्शनम्-१५.१)

आचार्य हयग्रीव ने अपने 'शाक्तदर्शनम्' (१४.४.७-८) में कुण्डलिनी के ध्याना-नन्तर समाधि की व्याख्या करके यह सिद्ध किया है कि कुण्डलिनी के ध्यान से समाधि की भी प्राप्ति होती है।

ध्यान— षट्चक्रों में गुणों, देवों, मन्त्राक्षरों की संख्या बताकर आचार्य हयग्रीव ने 'ध्यान' की विशिष्ट विवेचना की है। उनका कथन है कि समस्त चक्रों, उनके गुणों, अधिष्ठाता देवताओं, मन्त्राक्षरों आदि का ध्यान ही 'ध्यान' है— 'ध्यानमेतत्' (शाक्तदर्शनम्-१५.१.२२)। प्रत्येक चक्र में मन्त्राक्षरों की पूर्वोक्त संख्या में आवृत्तिरूप जो जप है, वही 'मन्त्रयोग' है (शाक्तदर्शनम्-१५.१.२०)।

समाधि— परमात्मा एवं जीवात्मा की एकता के प्रति जो संविदुत्पत्ति है, वही समाधि है— 'परजीवैकतां प्रति संविदुत्पत्तिः समाधिः' (शाक्तदर्शनम्-१४.४.९)।

जीवात्मा एवं परमात्मा में एकता की एकता का भावन ही समाधि है— 'ऐक्य-भावनं समाधिः' (शाक्तदर्शनम्-१५.१.२३)।

जीवात्मा एवं परमात्मा में ऐक्यानुसन्धान ही समाधि है— 'ऐक्यानुसन्धानं समाधिः' (शाक्तदर्शनम्-१५.१.३३)।

आचार्य हयग्रीव ने 'मूलेन प्राणायामः' (शाक्तदर्शनम्-१५.१.२८) कहकर मन में मन्त्र-जप करते हुये प्राणायाम करने का निर्देश दिया है। उन्होंने प्रत्याहार को 'मन्त्र-सन्ध्या' और धारणा को 'अर्चन' कहा है। सारांश यह कि आचार्य हयग्रीव का योगमार्ग पतञ्जलि के योगमार्ग के समान सम्प्रदायातीत साधना-प्रणाली के स्थान पर शक्ति-साधना की एक विशिष्ट सम्प्रदायानुगत योग-प्रणाली के रूप में प्रस्तुत हुआ है, जिसमें प्रत्या-हार, धारणा एवं ध्यान सामान्य (समस्त सम्प्रदायों एवं साधन-पथों में ग्राह्य तथा सम्प्र-दायविशेष की प्रणाली से परे) साधना-पद्धति के रूप में गृहीत न होकर एक विशिष्ट साधना के अनुकूल आकारित होकर नूतन कलेवर धारण करके प्रस्तुत हुआ है। जैसे कि 'प्राणायाम' को प्राणों का आयाममात्र नहीं; प्रत्युत मन्त्र-जप का अङ्ग बनाकर प्रस्तुत

किया गया। प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान— सभी मन्त्रसाधना के साधन के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

'ध्यानं जपेन, मूलेन प्राणायामः' तथा 'ॐकारमाधारे, हकारं स्वाधिष्ठाने, रेफं मणिपूरे, ईकारमनाहते, बिन्दुं विशुद्ध्यां, ध्वनिमाज्ञायाम्' आदि निर्देशों द्वारा प्राणायामों, ध्यानों एवं चक्रों में मन्त्र-जप आवश्यक कर दिया है। यह पातञ्जल योग के प्राणायाम एवं ध्यान के स्वरूप से पृथक् योगस्वरूप है। यही बात 'आधारे प्रणवः, नाभौ हकारः, हृदि रेफः, दृशि ईकारः, ह्रीङ्कारो रन्ध्रे, त्रिसाहस्त्रसङ्ख्यान्तं वृत्तिराधारे, सहस्त्रं नाभौ, हृदि दृशि च, षट्साहस्त्रे रन्ध्रे, वृत्तिरेषा मन्त्रयोगः, एष एकः, ध्यानमेतत्' (शाक्तदर्शनम्-१५.१) सूत्रों द्वारा भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है।

तन्त्र के प्रति नव्य दृष्टि— वैसे तो सम्पूर्ण शाक्त सम्प्रदाय (चाहे वह 'कौल' हो, 'मिश्र' हो या 'समय' हो) तान्त्रिक है; तथापि आचार्य हयग्रीव ने शाक्तदर्शनम् में तन्त्र को निषिद्ध, अग्राह्य एवं त्याज्य माना है। यही दृष्टि 'समयाचार' या 'समयमार्ग' की भी है। हयग्रीव कहते हैं— 'न कदापि तान्त्रिकान्' (१६.२.२२); 'न कर्मवर्णत्रयजास्ताङ्कार्हाः' (१७.२.१); 'वामिनो निन्द्याः' (१७.२.४), 'मधुमांसबलिभगार्चनपरा वामिनः' (१७.२.५), 'मधुमांसवर्जितशूद्राऽवरास्तेभ्यः' (१७.२.७), 'प्रच्छन्ना वामिनः' (१७.२.८); 'मद्यं तीर्थं, शुद्धं मांसं, मद्यपात्रं पद्मं, रक्तलशुनं न्यासः, श्वेतं शुकः, दीक्षितो मद्यकर्ता, भैरवीचक्रस्थचाण्डालाद्या अपि ब्राह्मणाः, जारो योगी, योगिनी जारिणी रजस्वला पूजनीया— एवमादिसिद्धान्तपरा वामिनः निन्द्याः।'

आचार्य हयग्रीव तो यहाँ तक कहते हैं कि वेद से अविरुद्ध होने पर भी तन्त्र-दीक्षित ज्ञानमार्गी नहीं कहे जा सकते; भले ही वे ज्ञानी कहे जायँ या माने जायँ— 'वेदाविरोध-मार्गेणापि तन्त्रदीक्षिता न ज्ञानमार्गिणः (१), भक्तिमार्गिण इति (२)।

'उपासनं केवलं तन्त्रमार्गात् (१७.३.४), न ते महाशाक्ताः (९), श्रीशाक्ता इति, विद्या पञ्चदशी (२१), नाधिकारो ब्रह्मविद्यायाम् (१२), वामोत्तराः दीक्षितादीक्षितभेदात् शाक्ताः श्रेष्ठ्याः क्रमशः' (१५)— आदि सभी सूत्र वाममार्गी शाक्तों एवं शैवों को निन्द्य घोषित करके 'ब्रह्मविद्यामार्ग' को श्रेष्ठतम घोषित करते है और इस मार्ग को अद्वैतवादी होने का प्रतिपादन करते हैं— 'अद्वैतं ब्रह्मविद्यामार्गमेव' (१७.३.१६)।

इसी प्रकार आचार्य हयग्रीव ने साङ्ख्य, पातञ्जल, कापिल, गाणप, सौर, शाक्त, शैव, पाशुपत, भैरव, पाञ्चरात्र, सात्वत, भागवत एवं षड्विध बौद्धों एवं अन्य को वेदबाह्य मानकर उनको अग्राह्य माना है।

आचार्य हयग्रीव शाक्तों को भी हेय, त्याज्य, निन्द्य एवं वेदबाह्य मानते हैं; फिर भी शाक्तदर्शनम् में आचार्य हयग्रीव को रहस्यकर्ता, विद्याकर्ता, शाक्तगुरु एवं शाक्तपरमा-चार्य कहा गया है—

१. 'हयग्रीवो रहस्यकर्ता विद्याकर्ता च शाक्तगुरुः' (१८.४.५)।

२. 'शाक्तपरमाचार्यो हयग्रीवः' (१८.४.१२)।

३. 'हयग्रीवरूपिणः शाक्ताचार्याः' (१८.४.१४)।

'शाक्तज्ञानी न पुनरावर्तते' (१८.४.१४) भी कहा गया है।

शाक्त सम्प्रदाय के गुरु— शाक्तों का गुरु ब्रह्मा-विष्णु आदि को बताया गया है और गुरुश्रेणी का विभाजन इस प्रकार करके उन्हें महिमान्वित भी किया गया है—

१. दिव्यौघ गुरु : 'दिवौको गुरवः— शिव, स्कन्द, ब्रह्मा, विष्णु— 'शिवस्कन्द-ब्रह्मेन्द्रविष्णवो दिवौको गुरवः शाक्तस्य' (१८.४.१)।

२. सिद्धौघ गुरु : दुर्वासा, औशनस, हयग्रीव, बादरि, नन्दी।

३. मानवौघ गुरु : सुमेध, दौर्ग आदि।

४. सिद्धान्त गुरु : हयग्रीव।

५. शाक्तवक्तृ गुरु : कुम्भज।

६. शाक्तपरमाचार्य : हयग्रीव।

७. मानवौघ : 'स्वगुरुमपि हयग्रीवरूपेण।'

८. हयग्रीव : पञ्चदेवात्मक।

९. पञ्चदेव : 'ब्रह्मविष्णुरुद्रस्कन्देन्द्राः पञ्च देवाः।'

अन्त में इस 'शाक्तदर्शनम्' को 'ब्रह्मैक्यदायिनी' भी कहा गया है— 'इयं हयग्रीव-विद्या ब्रह्मैक्यदायिनी' (१८.४.२४)। इतना ही नहीं; शाक्ताचार्य हयग्रीव ने अपने ग्रन्थ का नाम भी 'शाक्तदर्शनम्' रक्खा है; फिर शाक्तदर्शन को निन्द्य क्यों माना? तान्त्रिक होने पर भी उन्होंने तन्त्रमत को हेय क्यों माना? स्पष्ट है कि उनके काल में तन्त्र एवं शाक्त सम्प्रदाय (शाक्तमत) इतना दूषित हो गया रहा होगा कि अपने को उन भ्रष्ट तान्त्रिकों एवं शाक्तों से पृथक् दिखाने हेतु ही उन्होंने उनको निन्द्य एवं हेय माना। मध्ययुग में शाक्त इतने भ्रष्ट हो गये थे कि कबीर को उन्हें 'कुत्तों से भी ज्यादा अधम' कहना पड़ा। कबीर कहते हैं— 'साकत से सुनहा भला।' इन्हीं तथ्यों को दृष्टि में रखकर आचार्य हयग्रीव ने शाक्तमत को 'हयग्रीवविद्या' कहा, न कि 'शाक्तमत'। उन्होंने इसे 'हयग्रीव ब्रह्मविद्या' कहा।

▼

त्रयःषष्टि अध्याय

हयग्रीव-प्रतिपादित शाक्तदर्शन में योगस्वरूप की नव्य दृष्टि

ऋषिप्रवर हयग्रीव पातञ्जल योग के अष्टाङ्गों के स्वरूप से पूर्वपरिचित थे; फिर भी उन्होंने उन्हें नये अर्थ प्रदान करके प्रस्तुत किया और इस नव्य दृष्टि द्वारा योग का ज्ञान एवं अद्वैत वेदान्त के साथ सम्मिलन कराया। १३हवें अध्याय के प्रथम पाद में उन्होंने योग के आठों अङ्गों को जिन नये अर्थों को प्रदान करके पारिभाषित किया, उन्हीं आठ अङ्गों को उन्होंने उसी 'शाक्तदर्शनम्' के १३हवें अध्याय के तृतीय पाद में ही पुनः पारिभाषित करते हुये पतञ्जलिप्रतिपादित अर्थों में भी निरूपित किया। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आचार्य हयग्रीव यह कहना चाहते हैं कि ऋषि पतञ्जलि ने योग के जिन अष्टाङ्गों को जिन अर्थों के प्रकाश में देखा, वे स्थूल हैं और स्थूल दृष्टि से उन्हें इन अर्थों में भी गृहीत किया जा सकता है; किन्तु उनका यथार्थ अर्थ तो वही है, जिसमें उन्हें ब्रह्मदर्शन के प्रकाश में प्रत्यक्षीकृत किया जा सके और वे अर्थ मैंने दिये हैं। अतः वे ही ग्राह्य हैं।

पतञ्जलि ने 'यमों' में इन व्रतों को परिगणित किया— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तप तथा 'नियमों' में इन व्रतों की स्थिति माना— शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान।

आचार्य हयग्रीव ने इन सभी यमों-नियमों को भी अपने शाक्तदर्शनम् के तेरहवें अध्याय के तृतीय पाद में पारिभाषित किया है।[१]

आसन— आचार्य पतञ्जलि ने तो 'स्थिरसुखमासनम्' (२.४६) के अतिरिक्त

---

१. 'अहिंसाद्याः यमाः दश।
यज्ञव्यतिरिक्तविषयेषु हिंसावर्जनमहिंसा।
दृष्टश्रुतज्ञानोक्तिः सत्यम्।
पारकीयनिवृत्तिरस्तेयम्।
परस्त्रीवर्जनं ब्रह्मचर्यम्।
भूतानुज्ञा दया।
शत्रुमित्रैकस्थितिरार्जवम्।
शत्रुपीडायामपि क्षोभनिवृत्तिः क्षमा।
विज्ञाननिष्पत्तिर्धृतिः।
त्रिभागोदरभोजनं मिताहारः।
स्वदेहमलमोचनं शौचम्।
सन्तोषाद्या नियमा दश।
यदृच्छालाभप्रीतिः सन्तोषः।
श्रौतस्मार्तविश्वास आस्तिक्यम्।
सत्पात्रे दीयमानं दानम्।
शत्त्यर्चनमीश-पूजनम्।
व्रतैः शरीरशोषणं तपः।
कुत्सितकर्मलज्जा ह्रीः।
वैदिकश्रद्धा नतिः।
मन्त्राभ्यासो जपः।
व्रतदिवसेषु नियमस्थितिर्व्रतः।

(शाक्तदर्शनम्-१३.३.२-२२)

आसन के विषय में (अपने परिणामों एवं लाभों के अतिरिक्त) कुछ कहा ही नहीं; किन्तु आचार्य हयग्रीव ने १३हवें अध्याय के चतुर्थ पाद में इसका पृथक् रूप से भी विवेचन किया है। पतञ्जलि राजयोगी हैं; अत: उनकी दृष्टि में योगसाधना में आसनों का विशेष महत्त्व नहीं है। हयग्रीव भी 'राजयोगस्तम:' (१०) कहकर राजयोग को ही महत्त्व देते हैं; तथापि वे साधना में आसनों को महत्त्वहीन भी नहीं मानते। अत: वे इस पाद में पद्मा-सन, वीरासन, भद्रासन, सुखासन का उल्लेख करके तथा उन्हें पारिभाषित करते हुये सम्भवत: यह बताना चाहते हैं कि राजयोग में भी इन आसनों का महत्त्व है।

चित्तवृत्तियों के सन्दर्भ में महर्षि पतञ्जलि का मत

पञ्च श्रेणी में विभक्त वृत्तियाँ

(असंख्य चित्तवृत्तियों में प्रधान चित्तवृत्तियाँ)
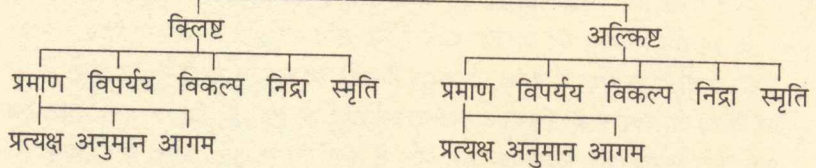
ये सभी क्लिष्ट और अक्लिष्ट के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं अर्थात् प्रमाण क्लिष्ट-प्रमाण अक्लिष्ट, विपर्यय क्लिष्ट-विपर्यय अल्किष्ट, विकल्प क्लिष्ट-विकल्प अक्लिष्ट, निद्रा क्लिष्ट-निद्रा अक्लिष्ट, स्मृति क्लिष्ट-स्मृति अक्लिष्ट। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम केवल एक-एक ही होते हैं अर्थात् क्लिष्ट के केवल क्लिष्ट और अक्लिष्ट के केवल अक्लिष्ट।

आचार्य हयग्रीवोक्त वृत्ति-विभाजन— आचार्य हयग्रीव ने चित्तवृत्तियों का विभाजन पतञ्जलि का अनुसरण करके नहीं किया। उनके अनुसार वृत्तियों का विभाजन इस प्रकार है—

वृत्ति-श्रेणी
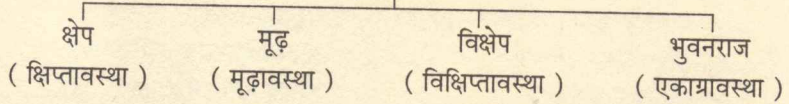
पातञ्जल सूत्रवृत्ति में नागेश भट्ट ने इन चित्तवृत्तियों का नामकरण इस प्रकार किया है— क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, निरुद्ध और एकाग्र। 'शाक्तदर्शनम्' के तेरहवें अध्याय के द्वितीय पाद में हयग्रीव कहते हैं— 'चित्तं पञ्च (२), क्षेपमूढयोर्नाधिकारो योगे (३), अभ्यासयोगमयो विक्षेप: (४), एकाग्रभूमिकामयो भुवनराज: (५)।

नाड़ीयोग— पातञ्जल योग में नाड़ीयोग का उल्लेख नहीं है। नाड़ीयोग तान्त्रिकों का अपना सन्धान है। हयग्रीवोक्त योग में नाड़ीमण्डल की विवेचना मिलती है, जो निम्ना-नुसार है—

१. सर्वोत्पत्ति का मूलाधार जो वह्निशिखाग्रग 'मूलाधार' चक्र है, उसी में नाड़ी-कन्द है, कुण्डलिनी है और व्यवहार ब्रह्मसाक्षी गजानन है।[1]

२. नाड़ियों की संख्या ७२००० है और उसमें मुख्य नाडियाँ १४ हैं। उनमें भी सर्वप्रमुख सुषुम्ना ब्रह्मनाड़ी स्थित है। कन्द के ऊर्ध्व में तो कुण्डलिनी शक्ति स्थित है; किन्तु समस्त नाड़ियों के मध्य में योगसिद्धिदा सुषुम्ना स्थित है।[2]

३. (हयग्रीव ने १४हवें अध्याय में कहा है)— सुषुम्ना के दोनों पार्श्वों में 'इड़ा-पिङ्गला' नाड़ियाँ स्थित हैं। पृष्ठभाग के पार्श्वों में 'कुहू' एवं 'सरस्वती' नाड़ियाँ स्थित हैं। इसी प्रकार 'गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी' आदि नाड़ियाँ भी स्थित हैं। कुहू-हस्तिजिह्वा के मध्य में 'विश्वोदरा', कुहू-यशस्विनी के मध्य में 'वरुणा', पूषा-सरस्वती के मध्य में 'यशस्विनी' और गान्धार-सरस्वती के मध्य में 'शंखिनी' स्थित है। 'इड़ा' वाम नासा के अन्त तक गई है। दक्षिण नासा के अन्त तक 'पिङ्गला' नाड़ी गई है। 'यश-स्विनी' वाम पादाङ्गुष्ठान्त, 'पूषा' वामाक्ष्यन्त, 'पयस्विनी' याम्यकर्णान्त, 'सरस्वती' जिह्वान्त, 'हस्तिजिह्वा' सव्यपादाङ्गुष्ठान्त, 'शंखिनी' सव्यकर्णान्त, 'गान्धारी' सव्यनेत्रान्त तथा 'विश्वोदरा' कन्दान्तर में स्थित है।

कुण्डलिनी शक्ति— पतञ्जलि के राजयोग में (योगसूत्र में) कुण्डलिनी शक्ति का कोई उल्लेख नहीं मिलता; किन्तु तान्त्रिक योग में मिलता है। आचार्य हयग्रीव की योग-पद्धति में भी इसका उल्लेख है; यथा—

१. 'तत्रैव कुण्डलिनी शक्तिः (१३.४.१०), कन्दोर्ध्वे कुण्डलिनी' (१३.४.१७)।

२. 'ब्रह्मरन्ध्रमुखं स्वमुखेन समावेष्ट्य कन्दपार्श्वेषु निरुध्य संस्थिता कुण्डलिनी' (१३.४.१)।

३. 'आधाररोधनेन वायुदीप्तो वह्नी रुहति कुण्डलीम्' (१४.२.१८)।

४. 'मूले कुण्डलिनी' (१४.३.६)।

नागेशभट्ट ने योगसूत्रवृत्ति में ब्रह्मनाड़ी को सुषुम्ना की शाखा कहा है; जबकि हयग्रीव ने उसे सुषुम्ना से अभिन्न माना है। अन्य ग्रन्थों में सुषुम्ना के भीतर स्थित अनेक नाड़ियों के भीतर ब्रह्मनाड़ी को माना गया है।

वृहदारण्यकोपनिषद् में ७२००० नाड़ियों का उल्लेख है। छान्दोग्योपनिषद् एवं काठकोपनिषद् में १०१ नाड़ियों का उल्लेख किया गया है।

प्राण-सञ्चार एवं प्राणविज्ञान— आचार्य हयग्रीव ने प्राण-सञ्चार एवं उसके

---

१. शाक्तदर्शनम् : 'वह्निशिखाग्रगो मूलाधारः (७), तस्मात्सर्वोत्पत्ति (८), तत्रैव कुण्डलिनी शक्ति (१०), व्यवहारसाक्षी गजाननः (११), आधारे नाडीकन्दम्' (१२)।

२. शाक्तदर्शनम् : 'नाड्यो द्विसप्ततिसहस्राणि (१३), चतुर्दश मुख्या (१४), सुषुम्ना ब्रह्मनाड़ी (१५), सुषुम्ना योगसिद्धिदा' (१८)।

विज्ञान पर भी प्रकाश डाला है; जबकि पतञ्जलि ने इस पर विशेष प्रकाश नहीं डाला तथा १० प्राणों का तो उल्लेख भी नहीं किया।

आचार्य हयग्रीव कहते हैं कि १० वायु हैं। वायु का सञ्चारक नाड़ीसमूह है। इनमें ५ मुख्य वायु (प्राण) हैं। इनमें भी प्राण एवं अपान प्रवर है— 'प्राणापानौ प्रवरौ।' इनमें भी प्राण तो पूज्य है— 'पूज्य: प्राण:' (१४.२.५)।

प्राणायाम— इन्हीं प्राणों एवं नाड़ियों की सहायता से प्राणायाम निष्पन्न किया जाता है। योगचूड़ामणि उपनिषद् में कहा गया है—

इडापिङ्गलासुषुम्ना: प्राणमार्गे च संस्थिता:।
सततं प्राणवाहिन्य: सोमसूर्याग्निदेवता:।।

हृदि प्राण: स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले।
समानो नाभिदेशे तु उदान: कण्ठमध्यग:।।

व्यान: सर्वशरीरे तु प्रधाना पञ्च वायव:।
उद्गारे नाग आख्यात: कूर्म उन्मीलने तथा।।

कृकर: क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे।
न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जय:।।

आचार्य पतञ्जलि ने प्राणायाम को मन्त्र के साथ नहीं जोड़ा; किन्तु आचार्य हयग्रीव ने तान्त्रिक विधान के अनुसार प्राणायाम के साथ मन्त्रयोग का भी सम्मिलन करा दिया। उनका कथन है कि 'रेचकपूरककुम्भकात्मक: प्राणायाम:' (१४.२.७) अर्थात् प्राणायाम के तीन अंग हैं— रेचक, कुम्भक एवं पूरक; किन्तु ये मात्र प्राणायाम के अङ्गमात्र नहीं हैं; प्रत्युत मन्त्रयोग के भी अङ्गस्वरूप या साधनस्वरूप हैं।

आचार्य हयग्रीव कहते हैं—

१. सोलह मात्राओं द्वारा हकारस्मरणपूर्वक प्राणाकर्षण ही 'पूरक' है—
'हकार-स्मरणपूर्वं कर्षणं षोडशमात्रै: पूरक:।'
२. चौंसठ मात्राओं द्वारा रेफ के साथ प्राणवायु को रोकना ही 'कुभक' है—
'रेफस्य चतु:षष्ट्या तु मात्रया कुम्भक:' (१४.२.१०)।
३. बत्तीस मात्राओं द्वारा ईकार के साथ प्राण का बहि:निस्सारण ही 'रेचक' है—
'ईकाररस्य द्वात्रिंशन्मात्रया रेचक:।'

पूरक : 'ह'। कुम्भक : 'रेफ'। रेचक : 'ई' = 'ह्रीं' मन्त्र। (ह्रीं = लक्ष्मी का मन्त्र)।
'वसिष्ठसंहिता' = १६ पूरक, ६४ कुम्भक एवं ३२ रेचक।

क्रम-व्युत्क्रम— मूलमन्त्र का जप। पूरक में वेदसंख्या = ४। कुम्भक में कला = १६। रेचक में वसु = ८; कहा भी गया है— 'पूरके वेदसङ्ख्या, कला कुम्भके, वसु रेचके' (शाक्तदर्शनम्-१४.२.१४-१६)।

अपानवायु का ऊर्ध्वगमन कष्टसाध्य होने पर भी आनन्दप्रद होता है— 'अपानोर्ध्वनयन आनन्दः' (१४.२.१७)।

पूरक-कुम्भक-रेचक करते समय हकार-रेफ एवं ईकार मन्त्राक्षरों का अनुरणन अनुभव में आना चाहिये।

'धारणे मूलमन्त्रजपः' (१४.२.१३) सूत्र में 'धारणे' शब्द योगसूत्रकार के 'चतुर्थ' शब्द का बोधक है, जिसमें बाहर एवं भीतर के विषयों का त्याग कर देने से अपने-आप ही इष्ट-चिन्तन में लयीभूत (काल + संख्या के ज्ञान के विना ही अपने-आप होने वाली) प्राण की गति अकस्मात् किसी देश रुक जाती है। यह स्वयम्भू प्राणायाम राजयोग का प्राणायाम है।[१]

इस प्राणायाम-विधान से ये निम्न परिणाम घटित होते हैं—

क. 'आधाररोधनेन वायुदीप्तो वह्नी रुहति कुण्डलीम्' (१८)।

ख. 'सुषुम्नाया वायुर्वह्निनोर्ध्वं गच्छति' (१९)।

ग. 'वायुर्जितः' (२०)।

घ. 'तेन चित्तशुद्धिः' (२१)।

चित्तशुद्धि ही प्राणायाम का प्रधान उद्देश्य है; किन्तु यदि 'ह्रीं' मन्त्र के साथ इसे निष्पादित किया जाय तो इसके द्वारा मन्त्रयोग भी सिद्ध हो जाता है। यही शाक्तदर्शनम् का निष्कर्ष है।

▼

---

१. महामहोपाध्याय काशीनाथ वासुदेव अभ्यङ्कर : मिताक्षरा।
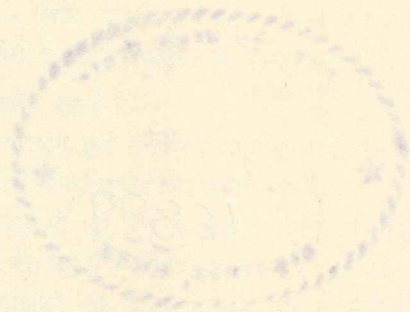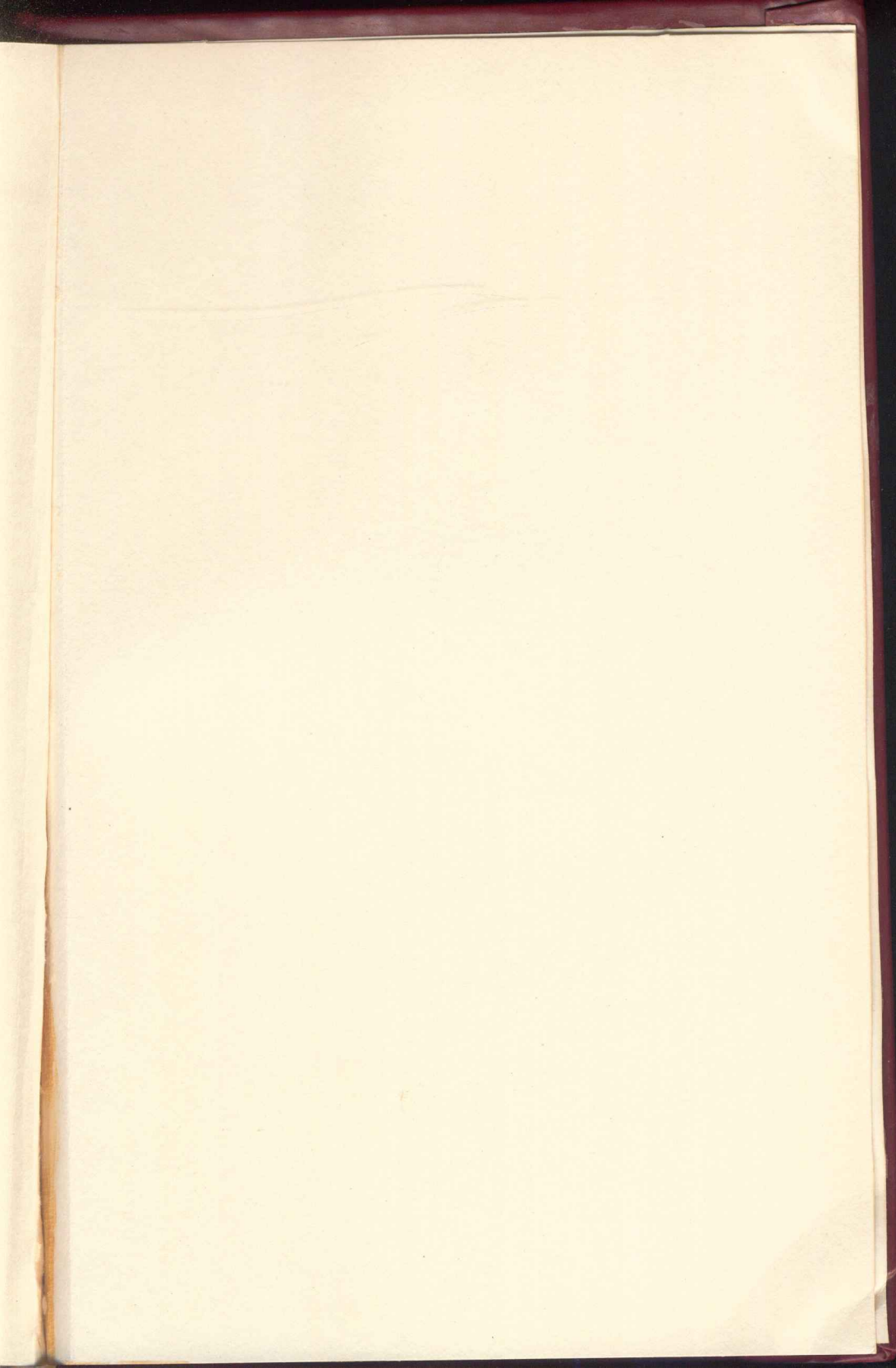
ग्रन्थ-सन्दर्भ

वेदों की प्राचीनतम एवं गुह्यतम रहस्यविद्याओं में अन्यतम, सिद्धियों के रत्नाकर एवं मोक्ष के अन्यतम साधन 'श्रीविद्या' में निहित 'श्री' शब्द शकार, रकार, ईकार एवं बिन्दु का कल्पवृक्ष है। यही 'षोडशी कला', भगवती त्रिपुरसुन्दरी, दश महाविद्याओं में षोडशी महाविद्या या श्रीविद्या भी है। त्रिपुरसुन्दरी, राजराजेश्वरी, ललिता, कामेश्वरी, त्रिपुरा, महात्रिपुरसुन्दरी, सुभगा, बालत्रिपुरसुन्दरी आदि नामों से इसी की उपासना की जाती है। आदि शङ्कराचार्य, भास्करराय, पुण्यानन्दनाथ आदि इसके परमोपासक रहे हैं। पौराणिक दृष्टि से इसके द्वादश सम्प्रदाय एवं द्वादश उपासक हैं, जिसका यन्त्र 'श्रीयन्त्र' कहलाता है। महाविद्याओं के दो कुलों– कालीकुल और श्रीकुल में से श्रीविद्या श्रीकुल से सम्बद्ध है। श्रीयन्त्र के मुख्यतः तीन सम्प्रदाय हैं– हयग्रीव सम्प्रदाय, आनन्दभैरव सम्प्रदाय और दक्षिणामूर्ति सम्प्रदाय। श्रीयन्त्र के अन्तरतम में स्थित 'बिन्दु' ही है– भगवती त्रिपुरसुन्दरी का स्वरूप, आसन एवं धाम और यही है– ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड, मायाण्ड एवं शक्त्यण्ड का उद्भव-केन्द्र। सृष्टि के रेखात्मक चित्र के साथ-साथ अनन्त देवी-देवताओं, शक्तियों, रचनास्तरों, लोकों तथा आध्यात्मिक सूक्ष्ममण्डलों का निवासस्थान भी 'श्रीयन्त्र' ही है। देवी एवं उनके यन्त्र की आराधना का सर्वोत्तम भाव दिव्यभाव होता है।

अद्वैतवादी दर्शन में विश्वास रखने वाले श्रीसम्प्रदाय की अनुभूति एवं काम्य है– 'अहं देवी न चान्योऽस्मि'। श्रीविद्या-साधनापथ में भक्ति, ज्ञान एवं योग– तीनों ही स्वीकृत हैं। षट्चक्रवेधन-द्वारा मूलाधारस्थ कुलशक्ति को जागृत कर उसके वियुक्त प्रियतम 'अकुल' से उसका सम्मिलन कराना भी एक साधन-पथ है तथा 'ज्ञानोत्तरा भक्ति' के द्वारा विश्वात्मा का अपनी आत्मा के रूप में साक्षात्कार करना भी एक साधन-पथ है। ये दोनों ही पथ श्रीविद्या में स्वीकृत हैं। श्रीविद्या की साधना में 'बहिर्याग' से उत्कृष्टतर 'अन्तर्याग' का ही आत्मीकरण माना जाता है और महात्रिपुरसुन्दरी समस्त प्राणियों की आत्मा हैं। वे विश्वातीत भी हैं और विश्वमय भी। यथार्थतः तो वे 'कामेश्वर' भी हैं और 'कामेश्वरी' भी।

बैन्दवस्थान-स्थित सहस्रदल कमल में भगवती की पूजा ही आदर्श पूजा है। बैन्दव-पुर ही 'चिन्तामणि-गृह' है। सामयिकों के मत में इसी चिन्तामणि गृह में या सहस्रदल कमल में भगवती की पूजा की जानी चाहिये; न कि बाह्य पीठ आदि पर।

अङ्ग-उपाङ्गसहित श्रीविद्या और उसकी साधना का प्रतिपादक प्रकृत **श्रीविद्या-साधना** ग्रन्थ तज्जिज्ञासुओं एवं समुपासकों के लिये अवश्यमेव पठनीय, मननीय एवं संग्रहणीय है।

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी